आरम्

वेदोऽखिलो धर्म मूलम् ॥ १

साप्ताहिक

"दिवाकर" का वेदाङ्क

[दीपावलि सवत १९९२ वि का विशेषाङ्क]

मुख्य सपादक—श्री प० नरदेव शास्त्री
वेदतीर्थ

प्रकाशक तथा सचालक
आर्यसमाज आगरा ।

कार्तिक १९९२ वि०
अक्टूबर १९३५ ई०

सपादक—विष्णुदत्त कपूर एम० ए०
साहित्याचार्य

मूल्य ४)

प्रकाशक—पं० ज्वालाप्रसाद शास्त्री
साहित्याचार्य
आर्यसमाज, आगरा।

मुद्रक—पं० किशोरीलाल शर्मा
मैनेजर
दिवाकर प्रेस आगरा।

* ओ३म् *

विषय—सूची

ॐ तत्सत्

वन्दे वेद-मातरम्

वरदा-वेदमाता

स्तुता मया वरदा वेदमाता,
प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्।
आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्त्तिं द्रविणं
ब्रह्मवर्चसम्।
मह्यं दत्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्॥

(अथर्व १६-७-७१-१)

मै ने वरदा = वर देने वाली वेदमाता = गायत्री अथवा सावित्री मन्त्र का भली भाँति ध्यान-पूर्वक स्तवन किया है, जो कि मनुष्य की बुद्धि को सात्विक कर्मों मे प्रेरित और द्विजों को पवित्र करने वाली है। उसी गायत्री को प्रेरणा करो कि वह हमें तुम्हे, सब को आयु, प्राण, प्रजा, पशु, कीर्त्ति, धन, और ब्रह्मतेज को दे देवे, अथवा देती रहे। हे ऋषि-मुनि-महर्षियो, मन्त्रद्राष्टाओ, मन्त्रद्रष्ट्रिओ, उसी गायत्री का उपदेश, यथार्थ उपदेश मुझे देकर, परम्परा की रक्षा द्वारा ब्रह्मलोक को प्राप्त कीजिये, ब्रह्मलोक को जाइये-हे वेद मातः- हमे वर दो, हम को शुभ कर्मों मे प्रेरित करो, हम को पवित्र करो।

ॐ ॐ ॐ

नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ

* ओ३म *

नमः परम–ऋषिभ्यः

नमः परम–ऋषिभ्यः

(वैदिक–ऋषि)

मधुच्छन्दाः, मधुच्छन्द का पुत्र जेता, कण्व का पुत्र मेधातिथि, अजागर्त्त के पुत्र शुनःशेप, विश्वामित्र का पुत्र कृत्रिम, देवरात, अङ्गिरस का पुत्र हिरण्यस्तूप, घौर, घोर का पुत्र कण्व, प्रस्कण्व, (कण्व का पुत्र), अङ्गिरस का पुत्र सव्य, नोधा, पराशर, गोतम राहूगण, अङ्गिरस कुत्स, ऋज्र, आशव, अम्बरीष, सहदेव, भयमान, सुराधस, आप्त्यत्रित, कक्षीवान, दीर्घतमस का पुत्र कक्षीवान, औशिक पुत्र कक्षीवान, भावयव्य, ब्रह्मवादिनी रामशा परुच्छेप, दीर्घतमा, अगस्त्य, मित्रावरुण का पुत्र अगस्त्य, लोपामुद्रा, अङ्गिरस के पुत्र शौनहोत्र, भार्गव गृत्समद, सोमाहुति, गृत्समद का पुत्र कूर्म, गाथी विश्वामित्र, विश्वामित्र का पुत्र ऋषभ, कात्य उत्कील, विश्वामित्र का पुत्र कत, कुशिकपुत्र गाथी, भरत के पुत्र देवश्रवा, देवरात, प्रजापति, वाच्य, वामदेव, पुरुकुत्स का पुत्र त्रसदस्यु, पुरुमीढ, अजमीढ (सुहुपुत्र), आत्रेय बुधव गविष्ठिर, आत्रेय कुमार, वृश, आत्रेय वसुश्रुत, आत्रेय इष, आत्रेय मय, आत्रेय सुतम्भर आङ्गिरस वरुण, आत्रेय पुरु, द्वितोमृक्तवाह (आत्रेय) आत्रेय वव्रि, प्रयस्वन्त अत्रयः, आत्रेय सस, आत्रेय विश्वसाम, द्युम्न विश्वचर्षणि, बन्धु, सुबन्धु, श्रुतबन्धु, विप्रबन्धु आदि बन्धुगण, वसुयव आत्रेयाः, त्र्यरुण, सदस्यु, अश्वमेध, विश्ववारा आत्रेयी, गौरवीति, बभ्रु, अवस्यु, गातु, संवरण, प्रभुवसु, अवत्सार काश्यप, सदापृण, प्रतिक्षत्र, प्रतिरथ, प्रतिभानु, प्रतिप्रभ, स्वस्त्यात्रेय, श्यावाश्व, श्रुतिविद्, अर्चनाना, रातहव्य, यजत, उरुचक्रि, बाहुवृक्त, पौर, सत्यश्रवा, श्याव, एवयामरुद्, भारद्वाज, सुहोत्र, शुनहोत्र, नर, शंयु, गर्ग, ऋजिश्वा, पायु, वसिष्ठ, अग्निपुत्रकुमार, प्रगाथ, मेधातिथि, प्रियमेध, मध्यतिथि, देवातिथि, ब्रह्मातिथि, वत्स, पुनर्वत्स सध्वंस, शशकर्ण, प्रगाथ, पर्वत, नारद, गोषूक्ति, अश्वसूक्ति, इरिम्बिठि, सोभरि, विश्वमना, वैयश्व, वैवस्वत मनु नीपातिथि, श्यावाश्व, नाभाक, विरूप, त्रिशोक, वशोश्व्य, त्रित, पुष्टिगु आयुः श्रुष्टिगु, मेध्यः, मातरिश्वा, कृश, पृषध्र, सुपर्ण, प्रगथ का पुत्र भर्ग, मत्स्य, मान्य, प्रियमेध, पुरुहन्मा, सुदीति, पुरुमीढ, गोपवन, विरूप, कुरुसुति, कृत्नु, एकद्यू, कुसीदी, उशना, कृष्ण, नोधा, नृमेध, पुरुषमेध, अपाला आत्रेयी, श्रुतकक्ष, सुकक्ष, बिन्दु, पूतदक्ष, तिरश्वी, रेभ, नेम, जमदग्नि, प्रयोगसहस के पुत्र बृहस्पति वसिष्ठ, सोभरि, मधुच्छन्दा, हिरण्यस्तूप, असित, देवल, प्रभूवसु, रहूगण, बृहन्मति, अयास्य, कवि, उचथ्य, अवत्सार, अमहीयु, निध्रुवि, काश्यप, वैखानस, पवित्र, वत्सप्रि, रेणु, हरिमन्त, वसु, वेन, वाच्य, प्रतर्दन, इन्द्रप्रमति, वृषगण, मन्यु, उपमन्यु, व्याघ्रपाद, वसुक्र, कर्णश्रुत, मृडीक, अम्बरीष, रेभ, सूनु, अन्वीगु, ययाति, नहुष, मनु (सांवरण) चक्षु, सप्तर्षय, गौरवीति, शक्ति, उरु, उर्ध्वसद्मा, कृतयशाः, ऋणञ्चय, त्र्यरुण, त्रसदस्यु, अनानत, शिशु, त्रिशिरा, हविर्धान, विवस्वान, मनु, यम, शंखोपायन, दमन, यामायन देवश्रवा, संकुसुक, मथित, च्यवन, विमद, वसुकृद्, इन्द्र, संवाद, कवष ऐलूष, अक्ष, लुश, अभितपा, घोषाकक्षीवती, सुहस्त्य, वत्सप्रि, सप्तगु, इन्द्रो वैकुण्ठः, सौचीक अग्नि, देवाः, नाभानेदिष्ठ, गय, वसुकर्ण, सुमित्र, दाक्षायणी

अदिति सिन्धुक्षित्, जरत्कर्ण, स्यूमरश्मि, वैश्वानर, विश्वकर्मा, सूर्यासावित्री, वृषाकपि, इन्द्राणी, मूर्धन्वान्, रेणु, नारायण, अरुण, शार्यात, अर्बुद, वरु, भिषग् देवापि, वभ्र, दुवस्यु, बुध, मुद्गल, अप्रतिरथ, अष्टक, भूतांश, दिव्य सरमा देवशुनी, राम, जुहूर्ब्रह्मजाया, उद्ध्वनाभा, अष्ट्रादंष्ट्र, शतप्रभेदन, सध्रि, घर्म; उपस्तुत, भिक्षु, उरुक्षय, लव, बृहद्दिव, चित्रमहा, वेन, रात्रि भारद्वाजी विहव्य, यज्ञ, सुकीर्त्ति, शकपूत, सुदास्, मान्धाता, मुनयः, अङ्ग, विश्वावसु, शार्ङ्ग, सुपर्ण, देवमुनि, सुवेद, पृथु, मृडीक, श्रद्धाकामयानी, शास देवजामयः, शची, पूरण, विहृहा, प्रचेताः, कपोत, शवर, बिभ्राट्, संवर्त्त, ध्रुव, अभीवर्त्त

आदि आदि ऋग्वेद के पुरुष-ऋषि और स्त्री-ऋषियों को नमस्कार कि जिन्होंने अपने अपने समय में अपने शिष्य प्रशिष्यों को वेद प्रकाश द्वारा आल्हादित किया।

इसी प्रकार जिन पुरुष-ऋषि और स्त्री-ऋषियों ने यजुः, साम, अथर्ववेदों का मन्त्रद्रष्टृत्व प्राप्त किया था, उन को भी बार बार प्रणाम।

यदि इनका प्रकाश गुरु शिष्य—परम्परा द्वारा न पहुँचता तो संसार अन्धकार में ही रह जाता। उन परम्परागत ऋषि महर्षियों को भी नमस्कार जिन्होंने वेदमन्त्रों के साथ साथ मन्त्रद्रष्टा अथवा मन्त्रद्रष्ट्री ऋषियों के नाम लिखने की परिपाटी चला कर अपने गुरु-ऋषियों की स्मृति को संसार में अमर कर दिया—इसी लिये हम कहते हैं कि नमः परम-ऋषिभ्यः, नमः परम-ऋषिभ्यः

—नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ

प्रारम्भिक-वक्तव्य

हम

परम्परा क्रम से हम ऋग्वेदी ब्राह्मण हैं।
ऋग्वेद हमारा वेद है।
आश्वलायन संहिता—हमारी शाखा है।
आश्वलायन—हमारा श्रौतसूत्र है।
आश्वलायन—हमारा गृह्यसूत्र है।
ऐतरेय ब्राह्मण—हमारा ब्राह्मण है।
ऐतरेयोपनिषद्—हमारी उपनिषद् है।
ऐतरेयारण्यक—हमारे पूर्व पुरातन पुरुषों का आरण्यक है—
गोत्र—हमारा वत्स है।

जिन गुरुओं की कृपा से हम स्वाध्याय (स्व, अध्याय = स्ववेद = ऋग्वेद) को अध्ययन करके अपनी परम्परा रख सके उन गुरुओं को नम —उन गुरुओं को नम।

वेदांक

हम को स्वप्न में भी ध्यान नहीं था कि हमको दिवाकर के वेदाङ्क का संपादन करना पड़ेगा। इधर हम द्रोणगिरि शिखर पर एक रम्य आश्रम में रहते हैं और शान्ति सुख समाधान द्वारा मन की शक्ति को प्रोल्लसित करते हुए—तन्मे मन शिवसंकल्पमस्तु का अभ्यास करते रहते हैं—एक दिन यहीं आश्रम में अचानक 'दिवाकर' संपादक प्रियवर विष्णुदत्त शास्त्री पहुंचे। आगमन प्रयोजन के पूछने पर आपने बतलाया कि दिवाकर के 'वेदाङ्क' में हम से सहायता प्राप्त करने के हेतु ही उनका आगमन हुआ है। हम असमञ्जस में पड़ गये। इसके कई कारण थे जिनके उल्लेख की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। मुख्य कारण समय की न्यूनता और कार्य की गुरुतरता थी। जब विष्णुदत्तजी ने बतलाया कि बहुत सा कार्य हो गया है और केवल थोड़े से सहारे की आवश्यकता है तब हमने स्वीकृति दे दी—अथवा यूँ कहिए कि स्वीकृति देनी पड़ी। क्योंकि यदि भगवान् भक्तों के वश में रहते हैं तो गुरुजन भी सच्छिष्यों के वश में रहते हैं—मनने कहा कि जब विष्णुदत्त शास्त्री इतना कष्ट उठाकर मसूरी आये हैं और उनका यह प्रथम प्रणय है तो उसको भङ्ग करना अनुचित है। श्री विष्णुदत्तजी को हम किसी प्रकार निषेधपरक उत्तर दे ही देते पर भय यह था कि कहीं पण्डित श्रीराम शर्मा, श्री ज्वालाप्रसाद शास्त्री भी आ धमके तो फिर क्या होगा? यही सोचकर हमने अनुमति दे दी। हमने यह भी समझा कि अनायास ही वेदचर्चा का अवसर मिल रहा है इसलिए भी इस पवित्र कार्य को स्वीकार किया।

अब

यह कार्य दो ही प्रकार से सम्पन्न हो सकता था। एक तो आदि से अन्त तक हम ही इस वेदाङ्क के कलेवर को भरते। दूसरी बात यह कि समस्त भारत से विशिष्ट पुरुषों के लेख मगाकर वेदाङ्क की शोभा बढाते। पहला प्रकार साध्य नहीं था। दूसरे प्रकार के लिये पर्याप्त समय नहीं था। तथापि हमने एक ही दिन में एक सौ साठ पत्र भिन्न भिन्न प्रदेशों के विद्वानों के पास भेजे। आगरे से सम्पादक विष्णुदत्त शास्त्री ने भी विद्वानों से पत्रव्यवहार किया। इस प्रकार यह अङ्क तैयार हुआ है। जैसा भी है जिस रूप में भी है, वाचक वृन्द को सप्रेम समर्पित है और आशा करते हैं कि इसको वे स्वयं मधुर बनालेंगे—।

अच्छा तो यही था कि हम जैसे लोग समस्त संसार की चिन्ता छोड़कर वेदशास्त्राभ्यास तथा अध्ययनाध्यापन में ही लगे रहते किन्तु देश की वर्तमान परिस्थिति में सब ध्यान और दिशा में देना पड़ रहा है। तथापि जब कभी उधर से अवकाश

मिलता है तब लेखनी और वाणी द्वारा इधर को स्वल्प-स्वल्प सेवा कर ही देते हैं—फिर काल के अनुभव के पश्चात् हम इस निश्चय पर पहुंचे हैं कि

शस्त्रेण 'रक्षिते' राष्ट्रे,
शास्त्र चिन्ता प्रवर्तते ॥

शस्त्र और शास्त्र दोनों साथ-साथ रहें और न्यायपूर्वक, धर्मपूर्वक रहें तब वेद तेजस्वी बन जाते हैं।

जब

गुरु और शिष्य—

सहनाववतु, सह नौ भुनक्तु,
सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्विनावधीत मस्तु
मा विद्विषावहै ॥ (तैत्तिरीय)

इसका पाठ नित्यप्रति करके अध्ययनाध्यापन म प्रवृत्त होते हैं तब वेद प्रसन्न होते हैं।

मूर्खों के हाथो मे पड़ कर वेद रोने लगते है कि कहीं य हमारा नाश न कर डाले।

बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदा
मामय 'प्रहरिष्यति ॥

वह दिन कहां है?

अब वह दिन कहाँ हैं जब कि भारतवर्ष मे द्रोणाचार्य जैसे ब्राह्मण हों और वे मुक्तकण्ठ से ससार को कह सकें कि—

अग्रतश्चतुरो 'वेदा,
पृष्ठत 'सशर धनु।
इदं 'ब्राह्ममिदं क्षात्रम्,
शापादपि, शरादपि ॥

हे लोगो, देखा, ये चार वेद हमारे सामने रक्खे हुए हैं और पीठ पर यह तर्कस और धनुष रक्खा हुआ है। ये वेद हमारे ब्रह्मतेज के द्योतक हैं और यह तर्कस और धनुष क्षात्रतेज का द्योतक है। इस लिए दोनों तेज हमारे पास विद्यमान हैं, शास्त्र से मानते हो तो मानो, इसी मे तुम्हारा भला है नहीं तो, दूसरे तेज से भी हम काम लेना जानते हैं—

स्वामी दयानन्द सरस्वती ब्रह्मतेज के प्रतिनिधि स्वरूप थे—

वे शास्त्र से ही शस्त्रों के अन्याय का प्रतीकार करना चाहते थे वे शस्त्र को शास्त्र की अधीनता मे लाना चाहते थे—

उनके अधीत वेद शास्त्र तेजस्वी थे, इसीलिए अकेले इतना बड़ा कार्य कर गये। आओ, वाचकवृन्द, इस अवसर पर उस पुण्यश्लोक तेजस्वी, वर्चस्वी स्वामी का कृतज्ञतापूर्वक स्मरण करें क्योंकि इस युग में—इस वैज्ञानिक युग में—स्वामीजी की कृपा से ही हमारा मस्तिष्क और हृदय बदल गया है। उन्हीं की कृपा से वेद शास्त्रों की ओर हमारी प्रवृत्ति बढ चली है, उन्हीं की कृपा से भारतवर्ष अपने स्वरूप को पहिचानने में सफल हो सका है—यह सब उन्हीं के विद्या और तप का प्रभाव है—

आज

आर्यसमाज के सामने दो प्रश्न हैं या तो तप—तप—तप (तप करो, तप करो, तप करो) अन्यथा पत—पत—पत (गिरो—गिरो—गिरो और खूब गिरो)—देखें आर्यसमाज क्या करता है। तपन के अभाव मे पतन तो अवश्यम्भावी है—

सत्यं च मे श्रद्धा च मे,
(यजु १८५)

मुझे क्या चाहिए

मुझे कुछ नहीं चाहिए, चाहिए केवल सत्य और श्रद्धा जिसके बल पर मैं स्वस्थान पर बैठे बैठे ससार की अलभ्य से अलभ्य वस्तु प्राप्त कर सकता हूँ। प्राप्त तो कर सकता हूँ पर, मुझ मे वह अटल सत्य और श्रद्धा हो तब न? अब प्रातःकाल उठ कर श्रद्धा देवी का श्रद्धा पूर्वक आह्वान करूं तब न? वह वैदिक समय कितना पवित्र और सुखकर रहा होगा जब प्राचीन ऋषि-मुनि-महात्मा प्रातःकाल उठकर 'पुरा शकुनिवादात्' पौं फटने के पहले ही, पक्षियों के शब्दों के पहले ही, ब्राह्म मुहूर्त के प्रसङ्ग पर—

'प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे'

इत्यादि प्रातरनुवाक द्वारा श्रद्धापूर्वक देवताओं का आह्वान करते रहते थे, श्रद्धापूर्वक—

श्रद्धयाऽग्निः समिध्यते,
श्रद्धया हूयते हविः।
श्रद्धां भगस्य मूर्धनि
वचसा वेदयामसि ॥ १ ॥
प्रियं श्रद्धे ददतः,
प्रियं श्रद्धे दिदासतः।
प्रियं भोजेषु यज्वसु,
इदं म उदितं कृधि ॥ २ ॥
यथा देवा असुरेषु,
श्रद्धा मुग्रेषु चक्रिरे।
एवं भोजेषु यज्वसु,
अस्माक मुदितं कृधि ॥ ३ ॥
श्रद्धां देवा यजमाना,
वायुगोपा उपासते।
श्रद्धां हृदय्यया कूत्या,
श्रद्धया विन्दते वसु ॥ ४ ॥
श्रद्धां प्रात र्हवामहे,
श्रद्धां मध्यन्दिनं परि।
श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि,
श्रद्धे श्रद्धापयेह नः ॥ ५ ॥

(ऋ० १०-१२-१५१)

श्रद्धा देवी का आह्वान करके कहते होंगे—श्रद्धे! हम तेरा आह्वान प्रातःकाल करते हैं, मध्याह्न मे करते हैं, फिर सायंकाल सूर्यास्त के समय तुझे बुलाते हैं, श्रद्धे! तू ही अपने मे हमारी श्रद्धा करा। यज्ञ करने करवाने वाले देव=विद्वान पहले तेरी ही उपासना करते है फिर उनके सब कार्य सिद्ध होते हैं, हृदयान्तस्तल के गूढ अभिप्राय सिद्ध होते हैं, संसार के समस्त ऐश्वर्य प्राप्त होते हैं। देव तेरा ही आश्रय लेकर असुरों के विनाश के लिए उनके पीछे पड़ जाते हैं तब कहीं वे उन पर विजय पाते हैं, श्रद्धापूर्वक जो अग्नि का समिन्धन करेगा उसी का यज्ञ सफल होता है, श्रद्धा पूर्वक जो कोई हवि देता है उसी की हवि सफल होती है—श्रद्धा समस्त ऐश्वर्य के सिर पर है—उसी का श्रद्धायुक्त वाणी द्वारा आह्वान करे, उसी को वचसा=वेदों से जानें। श्रद्धापूर्वक देने वाले का ही प्रिय होता है, श्रद्धापूर्वक देने की इच्छा रखने वाले का ही भला होता है, समस्त प्रकार के भोग ऐश्वर्य देने वाले यज्ञो में भी तभी प्रिय होता है जब सब कार्य विधि-विधान पूर्वक, श्रद्धापूर्वक हो, इसलिए श्रद्धे! मेरा कहना मान, श्रद्धे हमारा कहना मान, अपने सच्चे स्वरूप को प्रकट करके तू ही अपने में श्रद्धा करा।

वेद श्रद्धा से ही सुलझेंगे

वेद ईश्वर के=परब्रह्म के निःश्वसित हैं, ऋषि मुनि महात्मा भी वेदो के आश्रय से ही श्वास—प्रश्वास लेते रहे हैं, आर्य जाति को वेदो का ही समाश्वासन रहा है, आर्य संस्कृति अब भी वेदो के नाम पर ही जीवित, कुछ जागृत है—जब यह बात है तो वेदो का ज्ञान आर्य जाति के लिये, संसार के कल्याण के लिये आवश्यक, अपरिहार्य है—और वे वेद तब सुलझेंगे जब श्रद्धा होगी, जब आर्य जाति के बच्चे विद्या और तप का आश्रय लेकर वेद के स्वरूप को जानने का भरसक यत्न करेंगे—

वेद किन से प्रसन्न रहते है

हृदा तुष्टेषु मनसो जवेषु
यद्ब्राह्मणा संयजन्ते सखायः।
अत्राह त्वं विजहु र्वेद्याभि
रोह ब्रह्माणो विचरन्त्यु त्वे ॥

(ऋ०–१०–६–७१)

जब विद्या–तपोयुक्त ब्राह्मण प्रसन्न हृदय से मन की गति को वेदो मे लगाते हैं तब उनकी प्रतिभा जागृत होती है और वेद उनके मित्र बनकर स्वरूप को पूर्ण रूप से प्रकट करते हैं—अन्यो की ओर वेद झाँकते भी नहीं—

यस्तित्याज सचिविदं सखायं
न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति।
यदीं शृणोति; अलकं शृणोति,
न हि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम् ॥

(ऋ०–१०–६–७१)

जिसने सत्य का ज्ञान करा देने वाले सखा=वेद को छोड़ा उसका फिर वेद ज्ञान में क्या अधि-

कार है, क्या भाग है। यदि वेदो का नाम लेता है तो वह खाली नाम ही नाम है; वह सुकृतका, कल्याण का पन्था = मार्ग नही जान सकता।

वेद ऋषियों की दृष्टि में

ऋषि-मुनि-महात्मा ध्यानावस्थित होकर अभि-ध्यान करते रहते थे तब उनको वेदों का अथवा जिस जिस भी वेद मन्त्र पर वे दृष्टि डालते थे उस उस वेद मन्त्र के अर्थ का यथार्थ भान होता था। पुरातन काल में इसी प्रकार ऋषिगण अपने अनुभव अपने शिष्यो को बतला गये और उनके शिष्य-गणो ने उन अनुभवो को लेखबद्ध किया—उसी के आधार पर हम कह सकते है कि ऋषियों की दृष्टि मे, सब ऋषियो की दृष्टि में नहीं, मन्त्र द्रष्टा ऋषियो की दृष्टि मे वेद मनुष्योपयोगी सम्पूर्ण ज्ञान का भण्डार है, इसी लिए सृष्टि के आदि मे ऋषियों के हृदय मे प्रकट हुए और परम्परा से आज तक आ रहे है। जब हम यह ध्यान करते हैं कि वेदो की यह पवित्र धरोहर बराबर सृष्टि की आदि मे चली आ रही है जो कि अनन्त सम्पत्ति है तब हृदय एक अपूर्व भाव से भर जाता है और हम यह सोचने लगते है कि आर्य संस्कृति के उपासको का कितना बड़ा उत्तरदायित्त्व है जिसको पूरा न करने से हम किस गहरे गर्त्त (गड़े) मे जा पड़ेगे—। केवल भारतीय आत्माओ के उद्धारार्थ नहीं, अपितु संसार की समस्त आत्माओ के उद्धारार्थ इस धरोहर की रक्षा करने के लिए दीक्षा लेने की आवश्यकता है—

वेदों मे क्या हैं

इसका उत्तर यही है कि क्या नहीं है ? मनुष्य संसार मे आता है अथवा कर्मानुसार फल भोगने के लिए आता है तो उसका मार्ग-दर्शक कोई न कोई होना ही चाहिए। वह यदि स्वीय अल्पज्ञता से संसार मे भटकता ही रहा तो फिर मनुष्य जन्म सार्थक तो न हुआ—'पुरुषविद्याऽनित्यत्त्वात् कर्म सम्पत्ति मंत्रो वेदे' (निरुक्त) जब पुरुष की विद्या, पुरुष का ज्ञान सीमित रहा तब वह कर्त्तव्याकर्त्तव्य को कैसे जान सकेगा ? इसीलिए वेद में विधि निषेध रूप में कर्त्तव्याकर्त्तव्य के प्रबोधन द्वारा कर्मफल का दिग्दर्शन कराते हुए ईश्वरीय ज्ञान का दिग्दर्शन कराया है।

वेदों का विस्तार

चार वेद, उसकी ग्यारह सौ सत्ताईस शाखाएँ अर्थात् 'चत्वारो वेदाः साङ्गाः सरहस्याः" (महा-भाष्य) आदि मिलाकर वेदों का इतना अधिक विस्तार है कि उसको लेखनी वर्णन नहीं कर सकती। यह तो हुई अपरा विद्या की बात। परा विद्या इससे परे है। इसीलिए अपरा से परा जानने की बात कही गई है। अब तो वेदो के और उसकी शाखाओं के अनेक भाष्य मिलते हैं पर जब पुरातन काल में वेदो को वेदो से ही जानने की प्रथा थी तब वेद अत्यन्त तेजस्वी रूप मे थे इसमे तनिक भी सन्देह नही।

यदि

यदि वेद केवल ऋषियो की कृति होती, यदि वेद केवल उनकी यात्रा के वर्णनात्मक मन्त्र भाग होते, ऋषि मुनियों के स्वप्न होते, वैदिक सभ्यता का इति-हास होता तो ऋषि मुनियो को क्या आवश्यकता थी कि वे उनको इतना महत्त्व देते, उनकी इतनी पूजा करते—उसके एक एक अक्षर को सस्वर कण्ठ-स्थ रखकर वेदो की अनन्त परामपरा को स्थिर रखते; क्या आवश्यकता थी कि ब्राह्मणकार, धर्म शास्त्रकार, उपनिषत्कार, शास्त्रकार वेदो को समानरूप से श्रद्धा-पूर्वक सिर झुकाते। वेदो की परम्परा को रखने वाले ब्राह्मण शाखा-प्रशाखा की इस प्रकार रक्षा करते और उनके लिए प्राण तक देते—वेदों के आभ्यन्तर तथा बाह्य पुष्ट प्रमाण इसी बात के द्योतक हैं कि वेद ईश्वरीय ज्ञान है और मनुष्य मात्र के कल्याणार्थ ही उनकी सृष्टि हुई है। जो आधुनिक विद्वान् वेदो को ऐतिहासिक रूप देकर वेदो को और ही दृष्टि से देखते हैं वे वेदो के गौरव को घटाते हैं, उनको अत्यु-च्चासन से नीचे लाते हैं।

भगवान् शंकराचार्य के काल तक तो वेद उसी उच्चासन पर रहे जहाँ कि मन्वादि महर्षि मानते थे

फिर शनैः शनैः अर्वाचीन विद्वानों की दृष्टि से वेद अर्वाचीन दिखलाई देने लगे—इस युग में स्वामी दयानन्द ही एक ऐसे प्रबल तेजस्वी महापुरुष आचार्य हुए जिन्होंने वेदों को उसी स्थान पर बैठाने का उद्योग किया—नहीं नहीं वेद तो उसी उच्चासन पर थे किन्तु अर्वाचीन विद्वानों की दृष्टि में ऐसे अर्वाचीन भासते थे—कि जहाँ मन्वादि महर्षि मानते थे। उन्होंने प्राचीन ऋषि मुनियों के शब्दों में ही वेदों को समझा समझाया और अर्वाचीन समस्त आक्षेपों, कल्पनाओं और सिद्धान्तों का खण्डन कर डाला—वेदों को ऐतिहासिक रूप देने से वेद एक जाति के, एक राष्ट्र के, एक देश के बन जाते हैं और उनका वह व्यापक स्वरूप नहीं रहता—उस दशा मे भी संसार भर के कल्याण करने की शक्ति उसमें रहती है सही किन्तु वेदो का वह उच्चस्थान नहीं रहता—ईश्वरीय ज्ञान किसी देश विशेष, जाति विशेष, राष्ट्रविशेष, से बँधा न रहना चाहिए, किसी देश की भाषा विशेष से बँधा न रहना चाहिए। जो लोग समझ रहे हैं कि वेद संस्कृत भाषा में हैं और संस्कृत आर्यों की भाषा थी इसलिए वेद आर्यों के हैं, वे भूलते है। वेद तो वेद-वाणी में हैं जिससे देववाणी उत्पन्न हुई। देववाणी ही संस्कृत है और देववाणी का वेदवाणी से सम्बन्ध होने से वह उसके निकट पड़ती है यह बात ठीक है। वेदवाणी से अन्य अनेक वाणियों की उत्पत्ति हुई है। देववाणी संसार की समस्त भाषाओं की नानी है—केवल शब्द साम्य, अक्षरसाम्य, नाम-साम्य के बल पर वेदों को अर्वाचीन सिद्ध करने का प्रयत्न अनुचित है—पाश्चात्य विद्वानों की वेदनिर्वचन पद्धति पौरस्त्य-निर्वचन पद्धति से सर्वथा भिन्न है। (वेदनिर्वचन वैदिक पद्धति से ही होना चाहिये)—इसीलिए तो अर्वाचीन तथा वर्त्तमान पाश्चात्य दृष्टि से वेदों को देखने वाले पाश्चात्य तथा भारतीय विद्वान वेदों का गौरव तो बढ़ाते हैं पर उनको उस अत्युच्च गौरव स्थली पर बैठाने में असमर्थ हैं जहाँ कि मन्वादि महर्षि मानते हैं। यही हमारा मतभेद है। जो विद्वान ग्रीक लैटिन आदि भाषाओं की धातुओं से हमारे वेदो के शब्दो का निर्वचन करते हैं वे वेद मन्थन की विधि नहीं जानते इसीलिए हम उनकी बातों को नहीं मानते।

कोई वेदो से यह सिद्ध करते हैं कि आर्य लोग मध्य एशिया से समस्त संसार में फैले—गये—उन्हीं की यात्रा व सभ्यता का वर्णन वेदो मे है। कोई आर्यों को उत्तरीय ध्रुव में लेजाकर बैठाते हैं, फिर उनको भारत मे लाते हैं, कोई आर्यों को ईरान से यहाँ लाते हैं, कोई अफगानिस्तान से लेकर भारत तक बहने वाली इक्कीस नदियों का साम्य वर्त्तमान नदियों से जोड़ कर आर्यों को वहाँ से यहाँ लाते हैं, कोई पंजाब की पाँच नदियों के प्रदेश मे आर्यों को ला बैठाते हैं—कोई इसमें ग्रीस और सीरिया की सभ्यता का आभास देख रहे हैं। यह सब इसीलिए है कि वेदमन्थन वैदिक दृष्टि और पद्धतियों से नहीं हो रहा—इस विषय मे इस छोटे से वेदाङ्क मे हम अधिक नहीं लिख सकते—भूगर्भविद्या विशारद अब शनैः शनैः वेदो का काल बढ़ा रहे हैं और यदि यह प्रगति रही तो वह समय दूर नहीं है जब वे वेदो के ही शब्दो मे कह सकेगे कि—

शतं तेऽयुतं हायनान्,
द्वे युगे त्रीणि चत्वारि कृण्म ।
इन्द्राग्नी विश्वेदेवाः
तेऽनु मन्यन्ता महृणीयमाना. ॥

द्वे युगे (२) त्रीणि (३) चत्वारि (४) इत्यादि अर्थात् "अङ्कानां वामतो गतिः" इस रीति से ४३२ × शत (१००) × अयुत (१००००) = ४३२००००००० वर्ष हटो पीछे पीछे। क्या लिए बैठे हो हजार, दो हजार, चार हजार, छह हजार वर्षों को—

स्वामी दयानन्द का उपकार

स्वामी दयानन्द का यही बड़ा भारी उपकार है कि वे वेदों को निष्कलंक करके वेदों को उसी स्थान पर ला बैठाते हैं जो स्थान कि उनके अनुरूप है। जब और जहाँ भी—प्रथम प्रथम मनुष्य सृष्टि हुई वहीं-वेदों का प्रथम प्रथम प्रादुर्भाव हुआ—इस समय तक छह मन्वन्तर हो चुके हैं और सातवाँ वैवस्वत चल रहा है—

बीता हुआ काल

सतयुग—	१७२८०००	
त्रेता	१२९६०००	एक चतुर्युगी
द्वापर	८६४०००	
कलि	४३२०००	

३०६७२०००० = एक मन्वन्तर
× ६
१८४०३२०००० = छह मन्वन्तर का काल बीत गया.

वैवस्वत मनु का भुगता हुआ काल १२०५३२६६६
१८६०८५३६६६

स्वामीजी के हिसाब से संवत् १९३३ तक १९६०८५३९७६ वर्ष होते हैं इसमें संवत् १९९२ तक के और ५९ वर्ष मिला कर आज तक के १९६०८५-३०३५ इतने वर्ष होते हैं—अर्थात् वेद काल को सृष्टि काल तक पीछे ले जाना पड़ेगा—भला ऐसे वेदों में मध्य एशिया उत्तर ध्रुव, ईरान टर्कीस्थान, पंजाब, आर्यावर्त्त, ग्रीस सीरिया आदि का क्या काम? यह केवल नामसाम्य के भ्रम हैं और कुछ नहीं। रामायण महाभारत तथा अन्य काव्य ग्रन्थों में नरदेव शब्द प्राय आया है उसको देख कर इन पंक्तियों का लेखक यह समझ कर खुश होने लगे कि यह नाम उसका ही है अथवा लेखक की मृत्यु के पश्चात् उसके शिष्य यही समझने लगे कि नरदेव शास्त्री तो महाभारत के पहले हुए इत्यादि तो यह कोई तर्क सगत बात न होगी। इसी प्रकार वेदों में आधुनिक अथवा अर्वाचीन नामों के साथ मिलते जुलते ऋषि-मुनि, नदी-नाले, पर्वत प्रदेश, के नामों को देखकर वेदों को अर्वाचीन रूप देना और उनको इतिहास कोटि में लाने का प्रयत्न करना कोई शूरता का काम नहीं—शूरता तो इसी में है कि वेदों को तदुचित उच्चस्थान पर ही बैठाया जाय—संक्षेप में हम यही कहना चाहते हैं—

फिर आप हम से पूछ सकते हैं

कि आपने ऊपर अथर्ववेद के मन्त्र से सृष्टि उत्पत्ति का काल ४३२००००००० वर्ष सिद्ध करने की चेष्टा की है और स्वामीजी के लेखानुसार १९६०८५-३०३५ वर्ष होते हैं। स्वामीजी ने चतुर्युगी आदि की गणना की है उसमें मनुस्मृति आदि का आधार है।

> चत्वार्याहुः सहस्राणि।
> वर्षाणां तु कृतं युगं॥
> तस्य तावच्छती संध्या।
> संध्यांशश्च तथाविधः॥ ६९॥
> इतरेषु ससंध्येषु।
> ससंध्यांशेषु च त्रिषु॥
> एकापायेन वर्त्तन्ते।
> सहस्राणि शतानि च॥ ७०॥
> यदेतत्परिसंख्यातम्।
> आदावेव चतुर्युगम्॥
> एतद्द्वादशसाहस्रं।
> देवानां युगमुच्यते॥ ७१॥
> दैविकानां युगानां तु।
> सहस्रं परिसंख्यया॥
> ब्राह्ममेकमहर्ज्ञेयं।
> तावतीं रात्रिमेव च॥ ७२॥
> तद्वै युगसहस्रान्तं।
> ब्राह्मं पुण्यमहर्विदुः॥
> रात्रिं च तावतीमेव।
> तेऽहोरात्रविदो जनाः॥ ७३॥
> (प्रथमाध्याय)

हम तो यह मानते हैं "शतं तेऽयुतं"

यह मन्त्र ब्रह्मदिन ब्रह्मरात्रि का प्रमाण बतलाता है। अर्थात् समस्त सृष्टि-प्रलय-चक्र ४३२०००००००० का है—इसमें उसमें से आगे का काल छोड़ दिया जाय तो शेष काल बतलायेगा कि सृष्टि कब हुई, उसीसे पता चलेगा कि वेद काल कौनसा है।

स्व० गुरुवर स्वामीआत्मानन्दजी महाराज ने इस मन्त्र का निराला ही अर्थ किया है वह यह कि—

इन्द्र अग्नि विश्वेदेव हमको अनुमति देवे कि उनकी कृपा से हम १००, सौ २०० दोसौ ३०० तीन सौ ४०० चारसौ १००० सहस्र १०००० दश सहस्र वर्ष की आयु ऐसे कर्मों को करते हुए भोगें—

परन्तु इस अर्थ में एक बड़ी विपत्ति है कि इतनी बड़ी आयु हो सकेगी कि नहीं—'जीवेम शरदः शतम्' इस मन्त्र में वेद मनुष्यकी सौ वर्ष की आयु बतलाता है और "भूयश्च शरदः शतात्" यह भी कहता है और सौ वर्ष से भी अधिक आयु के लिये प्रार्थना है। उपनिषद में एक सौ बीस वर्ष की आयु का उल्लेख है। वर्तमान समय में भी डेढ़ सौ वर्ष की आयु के मनुष्य मिले हैं, योगी योग बल से सौ, दोसौ, तीन सौ, चारसौ वर्ष तक जी सकते होंगे पर मनुष्य का यह भौतिक शरीर योग बल पर सहस्र दश सहस्र वर्ष तक जीवित रह सकेगा कि नहीं यह विचारणीय है।

संगति तो ठीक बैठती है

'शत ते युत' इस अथर्वमन्त्र के उल्लेख में हमने तेऽयुतं इन दो शब्दों का छेद ते + अयुतं करके और प्रकार का अर्थ किया है किन्तु एक प्रसिद्ध वैदिक विद्वान का मत है कि ते + अयुत ऐसा छेद न किया जाय और ते युतं ऐसा ही समझ कर उस मन्त्र का यह अर्थ किया जाय कि इन्द्र, अग्नि तथा विश्वेदेव हम पर अनुग्रह करें जिससे हम शत (१००) द्वे (२००) त्रीणि (३००) चत्वारि (४००) हायनान (वर्ष) ऐसे बिताये जिसमें हमको किसी विषय में लज्जित न होना पड़े—शुभ जीवन व्यतीत करें। संगति तो ठीक बैठती है। हमने पूर्व वक्तव्य में शत × अयुत × ४३२ इस प्रकार ४३२००००००० वर्ष लगाये हैं, उसमें इतना समझ लीजिये कि शत × अयुत नहीं किन्तु शत और अयुत के मध्य में सहस्र का अध्याहार करके सहस्र × अयुत × ४३२ है। 'शत' का सम्बन्ध केवल मनुष्य की आयु में लगाना चाहिये और द्वे, त्रीणि, चत्वारि के साथ जोड़ कर संगति लगा लेनी चाहिए। इस मन्त्र पर अन्य विद्वान अपने अपने विचार प्रकट कर सकते हैं।

वेद में क्या है

(१) एक परमात्मा का वर्णन है।
(२) उसकी सत्ता और महत्ता का वर्णन है।
(३) वही चराचर जगत का स्वामी है।
(४) उसके विराट् स्वरूप का वर्णन है।
(५) प्रकृति और उसकी सोलह विकृतियों का उल्लेख है।
(६) जीवात्मा के लिए ही यह दृश्य (विकृतिमय जगत) है।
(७) वही कर्म फल भोगता है।
(८) वही जन्म मरण के चक्र में आता है।
(९) वही मोक्ष मार्ग प्राप्त कर सकता है।
(१०) किस प्रकार जीवन व्यतीत करना चाहिए इत्यादि का उल्लेख है।
(११) कौटुम्बिक जीवन—
(१२) सामुदायिक जीवन—
(१३) व्यक्तिगत प्रार्थना—
(१४) समष्टिरूप की प्रार्थना—
(१५) मन की गति इन्द्रिय दमन की युक्ति,
(१६) पंच महाभूत, पंच तन्मात्रा आदि का उल्लेख।
(१७) अग्नि-वायु-इन्द्र देवता के कार्य का वर्णन।
(१८) तेतीस देवताओं का वर्णन।
(१९) ऋतु चक्र, सवत्सर चक्र।
(२०) आठ वसु, एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य।
(२१) द्वादश मास—
(२२) शारीर विज्ञान—
(२३) आत्म विज्ञान—
(२४) मनोविज्ञान—
(२५) परा विद्या का मूल।
(२६) परमात्मा ही वेद ज्ञान का प्रेरक।
(२७) वाचो विज्ञान
(२८) विद्वान की शक्ति
(२९) सभा विज्ञान—कई प्रकार की सभाएँ।
(३०) राजा का कर्त्तव्य, प्रजा का कर्त्तव्य, परस्पर सम्बन्ध—
(३१) भूः (पृथिवी) भुवः (अन्तरिक्ष) स्वः (सूर्यलोक।
(३२) मूल प्रकृति, सृष्टि—उत्पत्ति के पूर्व की दशा
(३३) मनुष्य की अभिकांक्षाएँ और उनकी पूर्त्ति का साधन यज्ञ—

(३४) आधिदैविक देवासुर संग्राम,
(३५) आध्यात्मिक देवासुरसंग्राम—
(३६) आधिभौतिक देवासुर संग्राम—

इत्यादि इत्यादि सैकड़ों विषयों पर प्रकाश है। वेद नाम ही ज्ञान-विज्ञान का है, वह जिस पुस्तक में हो वह पुस्तक वेद नाम से प्रचलित है। पहले सब वेद कण्ठपरम्परा में ही सीखे-सिखाये जाते थे—कई युग तक यही प्रथा रही। फिर जैसे जैसे धारणा शक्ति का ह्रास होता गया वेद कण्ठस्थ भी रहे और पुस्तक रूप में भी प्रचलित हुए। अब तो कुल परम्परा के वैदिकों के यहाँ ही अपने अपने वेद कण्ठस्थ करने व रखने की प्रथा है। किन्हीं कुलों में तत्तद् वेदों के ब्राह्मण ग्रन्थ श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र भी सस्वर कण्ठस्थ रखने की चाल अब तक है। धन्य हैं इनके जो परम्परा से वैदिक वाङ्मय की रक्षा करते चले आये हैं—

वेदों पर आक्षेप

आज ही वेदों पर कोई आक्षेप कर रहे हैं यह बात नहीं, निरुक्त समय में भी वेदों पर भर पेट आक्षेप करने वालों का एक प्रबल पक्ष था, वेदों में इतिहास मानने वालों का भी एक पक्ष था, वेदों को सर्वथा यज्ञपरक मानने वालों का भी एक पक्ष था देवताओं को चेतन मानने वालों का भी एक पक्ष था देवताओं को अचेतन, कर्मात्मक और उनके स्वामी अधिष्ठाता को चेतन मानने वालों का भी एक पक्ष था—इस प्रकार अर्वाचीन काल में वेदों के विषय में अनेक विप्रतिपत्तियां रही हैं। सब से प्राचीन सर्व संमत, आदरणीय मत यही रहा है कि वेद अपौरुषेय है, यदि ईश्वर को पुरुष माना जाय तो पौरुषेय भी कह सकते हैं किन्तु यदि पुरुष शब्द से ऋषि-मुनि लिये जायँ तो उस अर्थ में पौरुषेय नहीं है—

आक्षेपों का थोड़ासा दिग्दर्शन

(१) वेद मन्त्र निरर्थक हैं।
(२) ब्राह्मण ग्रन्थों की सहायता के बिना इनका अर्थ ही नहीं बन सकता—
(३) इनमें परस्पर विरोध है—
(४) इनमें अत्युक्ति है।
(५) इनमें पुनरुक्ति है।
(६) मन्त्रों के शब्द अस्पष्ट हैं।
(७) वेद पौरुषेय हैं—
(८) वेदों में इतिहास है।

'इत्यादि इत्यादि।

निरुक्तकार ने प्राय इन आक्षेपों का निरसन कर दिया है और केवल अन्य पक्षों के दिग्दर्शनार्थ उन उन पक्षों का उल्लेख किया है। निरुक्तकार स्वयं कहते और मानते हैं कि—

तद्यदेनाँस्तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भ्वभ्यानर्षत, तदृषीणामृषित्वमिति विज्ञायते। तपस्यमान ऋषियों के हृदयों में स्वयम्भू ब्रह्म (वेद) प्रकट हुए। यही ऋषियो

वेदों की यही विशेषता है

वेदों की यही विशेषता है कि उसमें अनृत, व्याघात और पुनरुक्ति दोष नहीं है—वह किसी देश विशेष, काल विशेष, जातिविशेष, राष्ट्रविशेष भाषा-विशेष में बद्ध नहीं।

यह क्यों

लोग पूछ सकते हैं कि एक ही वेदमन्त्र के इतने भिन्न भिन्न अर्थ क्यों होते हैं। वही चारों वेद फिर भाष्यकारों के भाष्यों में इतना अन्तर क्यों? प्रत्येक वेदमन्त्र के तीन ही प्रकार के अर्थ हो सकते हैं, आधिदैविक आध्यात्मिक, आधिभौतिक। यह तो भाष्यकार अथवा मन्त्रद्रष्टा ऋषि की विद्या तपस्या पर निर्भर है कि वह किस प्रकार की दृष्टि देगा, वेदमन्त्रों में किस भाव से प्रवेश करेगा—

निरुक्त के शब्दों में हम कहेंगे कि—

"यथा जानपदीषु विद्यातः पुरुषविशेषो भवति पारोवर्य्यवित्सु तु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति'

जैसे सामान्य जनता में विद्याविशेष से पुरुष की ख्याति होती है वैसे ही पारावारवेदी वेदज्ञों में जो भी जितना भी अधिक विद्वान तपस्वी होगा उसी की बात प्रमाण मानी जायगी

ऋचोऽक्षरे परमे व्योमन्—

इस मन्त्र की विवक्ति के अवसर पर निरुक्तकार ने लिखा है कि—

"मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन् को न ऋषिर्भविष्यतीति तेभ्य एतं तर्कमृषिं प्रायच्छन् मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहमभ्यूढम् तस्माद्यदेव किं च नानूचानोऽभ्यूहति, आर्षं तद्भवति ॥

जब ऋषि संसार से विरक्त होकर जाने लगे तब मनुष्यों ने देवों से पूछा कि अब तक तो ऋषि हमे अर्थ बतलाते थे, वेदों का तत्त्व समझाते रहते थे, अब हमारे ऋषि कौन होंगे तब ऋषियों ने कहा कि हम तुम्हें तर्क-ऋषि दे जाते है, इन से काम लेना, इन्हीं का आश्रय लेकर ऊहना करना, मंत्रार्थ चिंता करना—इसीलिये तब से अनूचान = विद्यातपोयुक्त वेदज्ञ जो कुछ ऊहना करता चला आया है वही आर्ष माना जाता रहा है।

वेदार्थप्रकार क्या है

क्या केवल तर्क से काम चल जायगा—इसका उत्तर भी निरुक्तकार स्वयं स्पष्ट रूप से देते हैं—

अयं मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहोऽभ्यूढः, अपिश्रुतितः अपि तर्कतः, न तु पृथक्त्वेन मन्त्रा निर्वक्तव्या, प्रकरणश एव तु निर्वक्तव्याः, न ह्येषु प्रत्यक्षमस्ति, अनृषेरतपसो वा। पारोवर्य्यवित्सु तु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवतीत्युक्तं पुरस्तात ॥

यह मन्त्रार्थ चिन्ता के लिये ऊहना का प्रकार है। वेदार्थ की ऊहना श्रुति अर्थात् स्वयं वेदों से और तर्क से भी होनी चाहिए। केवल श्रुति से नहीं और न केवल तर्क से। दोनों के आश्रय से अर्थ होना चाहिए और प्रकरण भी देख लेना चाहिए। स्मरण रहे अनृषि और अतपस्वी को मन्त्रार्थ प्रत्यक्ष नहीं होते—

इस दृष्टि से

साधारण विद्वान अथवा अनृषि और अतपस्वी को वेदभाष्य करने का कोई अधिकार नहीं, यदि कोई अनधिकार चेष्टा करेगा तो सर्वथा असफल रहेगा, उपहास का पात्र बनेगा—

इसलिए

वेदों का सत्य अविकलस्वरूप जानने के लिये तपोदीक्षा की अत्यन्त आवश्यकता है।

आज कल के वेदभाष्यकार

आज कल वेदभाष्यकार इतने सस्ते हो गये हैं कि इस विषय मे हम कुछ कहना नहीं चाहते। न उतनी विद्या, तप और धृष्टता इतनी कि अपने को वेद भाष्यकार लिखने में तनिक भी नहीं सकुचाते—ऐसे वेदभाष्यकार और उनके भाष्यों का उतना भी मूल्य नहीं जिन कागज़ों पर कि वे भाष्य छापे गये हैं—

क्या करना चाहिए

वेदों मे आस्था हो और लगाने के लिए जीवन हो तो एक सुरम्य आश्रम स्थापन करके (कहीं हिमालय में) वहाँ दस बीस-तीस विद्वान रहे तप तपे, और संमिलित बुद्धि से काम लेवे तब वेदों का प्रकाश होगा, तभी आर्यसमाज वेद विषय मे कुछ कर सकेगा।

अथवा

गुरुकुलों से निकलने वाले ब्रह्मचारी संसार की चिन्ता को छोड कर वेदों के लिए ही गले, खपे, जीवन अर्पण करे। जिस प्रकार सस्ते भाव से आज कल काम चल रहा है इससे न तो वेद प्रसन्न होंगे और न ही वेदोद्धार होगा—

आर्यसमाज के सामने बहुत काम पड़ा है

वेदों के उद्धार के साथ ब्राह्मण ग्रन्थ और कर्मकाण्ड के ग्रन्थों का भी उद्धार परमावश्यक है—यज्ञ-पुरुष की खोज भी परमावश्यक है। दस-दस, बीस-बीस विद्वान निष्ठापूर्वक कहीं बैठें, और मन्त्रार्थचिन्ता करे तब तो कुछ हो—

और आप ?

और लोग पूछ सकते हैं कि आपभी इस कार्य में क्यों नहीं जुटते। सविनय उत्तर यह है कि शास्त्रीय दृष्टि से पचास वर्ष की आयु वाला पुरुष संसार के लिये निकम्मा हो जाता है, और अंगरेजी

दृष्टि से पचपनसाल वाला पेन्शन में निकाला जाता है। इस दृष्टि से हमारी आयु का पचपनवाँ वर्ष चल रहा है और हम आर्यसमाज से अथवा समस्त सार्वजनिक कार्यों से पेन्शन पाने के पूर्ण अधिकारी हो गये हैं—अब तो यह काम नई तेजस्वी पीढ़ी का है और उन्हीं से आशा भी करनी चाहिये।

आर्य भाइयों से निवेदन

स्वा० दयानंद का उद्देश्य वेदों द्वारा संसार भर के कल्याण करने का था—इसीलिए आर्यसमाज की स्थापना हुई थी, और आर्यसमाज ने वेदों के विषय में अब तक जो कुछ किया वह शाब्दिक कार्य ही है। वेद प्रचार का नाम भी खूब चला। वेदों का नाम भी खूब लिया गया और लिया जा रहा है। वेदोद्धारार्थ प्राचीन शिक्षणालयों की सृष्टि भी हुई किन्तु आज भी हम नि:संकोच यह कह सकते हैं कि अनृषि, अतपस्वी, अश्रद्धालु, ब्रह्मचारिवृन्द इस विषय में कुछ नहीं कर सके हैं, प्रत्युत बहुत से वेदविरुद्ध सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने में भी नहीं हिचकिचा रहे हैं—वेदों का प्रचार प्रसार विद्या और तप से ही होगा। वेदों का प्रकाश तेजस्वी गुरु शिष्यों द्वारा किये गये तेजस्वी अध्ययनाध्यापन द्वारा होगा—हमको बहुत खेद होता है जब हम देखते हैं कि आर्यों की सन्तान पाश्चात्य रंग ढंग पर पल रही है अथवा जा रही है। आर्यों का धनबल, जनबल, तपोबल आङ्ग्ल शिक्षणालयों पर खर्च हो रहा है, प्राचीन शिक्षा के उद्धारार्थ जो संस्थाएँ खुली हुई हैं वह एक तो संख्या में दस पाँच हैं फिर उनमें भी खिचड़ी पक रही हैं, विशुद्ध वैदिक पद्धति की शिक्षा-दीक्षा नहीं, विद्वानों का यथार्थ आदर नहीं, वह तप नहीं, श्रद्धा नहीं, भक्ति नहीं, मूर्खमण्डली के अधीन पलते रहने वाले विद्वान क्या तो विद्यादान करेंगे और क्या तपोदीक्षा लेंगे। गुरु शिष्य भाव नष्ट हो रहा है—ऐसी दशा में लेखक को सन्देह है कि आर्यसमाज अब तक जो कुछ कर सका है उससे कुछ अधिक कर सकेगा, हमको तनिक भी सन्देह नहीं है कि संसार फिर वेदों के प्रकाश द्वारा आह्लादित होगा, फिर आर्य संस्कृति और आर्यसभ्यता का उद्धार होगा, फिर आर्यों का मुख उज्ज्वल होगा, फिर आर्यावर्त्त के ऋषिमुनि संसार को चरित्र शिक्षा देने में समर्थ होंगे, फिर आर्यावर्त्त के गुरु संसार के गुरु होंगे, फिर वेदशास्त्रों की विजय होगी, फिर उच्छृङ्खल शास्त्र वेदशास्त्र के अधीन रहकर संसार भर के अनाचार अत्याचार के नष्ट करने में समर्थ होंगे।—पर यह सब कुछ वर्त्तमान आर्यसमाज कर सकेगा इस विषय में हमको सन्देह है, बड़ा भारी सन्देह है—

फिर करेगा कौन ?

इसका उत्तर हम से कोई पूछे तो हम यही कहेंगे कि भारत के जिस कोने में भी सच्चे गुरु और शिष्य सद्भाव से बैठकर "मम चित्तमनु चित्तं तेऽस्तु" कहकर बैठेंगे, "सहनाववतु" की पद्धति का अवलम्बन करेंगे, विद्या और तप को उग्रता से अपनायेंगे, गुरु-शिष्यों के बीच में तीसरा कोई न होगा, और जहाँ निरुक्त के कथनानुसार तपोनिधि गुरु विद्यानिधि शिष्य को वेद पढ़ायेंगे वहीं वेद सफल होंगे, तेजस्वी होंगे हमको तो इन कमेटी-कुलों से तनिक भी आशा नहीं, जहाँ कठिनता से अब तक कुछ वेदांगों का कुछ शास्त्रों का उद्धार हो सका है, जहाँ वेदशास्त्र बिकते हैं, जहाँ गुरु-शिष्यों में सौमनस्य नहीं रहता, जहाँ गुरु स्वतन्त्र नहीं रहते, जहाँ गुरुओं को स्वजीविका के कारण शरीर मन वचन कर्म को बेचना पड़ता है वहाँ कुछ नहीं होगा, वहाँ वेदोद्धार नहीं होगा—वहाँ अब तक जो कुछ हुआ, हो गया।

देखो

एक विरजानन्द ने एक दयानन्द की भर मथुरा के बाजार पीठ थोपी और संसार ने एक सच्चे गुरु के एक सच्चे शिष्य का चमत्कार देख लिया—

विद्या ब्राह्मण के पास आई और बोली

विद्या ह वै ब्राह्मण माजगाम
गोपाय मा शेवधिष्टे ऽहमस्मि।
असूयकायानृजवे ऽयताय
न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम्

यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्तम्,
मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम्।
यस्ते न द्रुह्येत्कतमच्च नाह,
तस्मै मां ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन्॥

हे विद्वन् गुरो! मेरी रक्षा करो

गुरु—क्यों क्या हुआ?

विद्या—तुम तो अधिकारी अनधिकारी सब को पढ़ाते हो।

गुरु—इससे क्या हुआ, विद्या के तो सब अधिकारी हैं।

विद्या—यह तो ठीक है पर ज़रा यह तो देखलिया करो कि ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य का ठीक पालन तो करता है, मेधावी तो है? तपस्वी तो है, द्रोही तो नहीं है, निन्दक तो नहीं है, शुद्ध तो है, अप्रमत्त तो है, सरल तो है, शठ तो नहीं है? इन बातों को अच्छी तरह जाँच पड़ताल करो और फिर पढ़ाओ तो विद्या सफल होगी, वेद सफल होंगे; नहीं तो राग्य के ढंग से 'अग्नये स्वाहा, सोमाय स्वाहा; समझो।

और विद्या शिष्य से बोली

य आतृणत्त्य वितथेन कर्णा—
वदुःखं कुर्व्वन अमृतं संप्रयच्छन।
तं मन्येत पितरं मातरं च,
तस्मै न द्रुह्येत्कतमच्च नाह॥

अध्यापिता ये गुरुं नाद्रियन्ते,
विप्रा वाचा मनसा कर्मणा वा।
यथैव ते न गुरो भोजनीयाः,
तथैव तान्न भुनक्ति श्रुतं तत्॥

हे शिष्यो

जो गुरु सत्यज्ञान द्वारा, कर्णों को तनिक भी पीडा न पहुँचाता हुआ, असत्य, अज्ञान, अनृत के फँदों को काटता है उस गुरु को तुम माता पिता जानो और स्मरण रक्खो, किसी दशा में भी उससे द्रोह न करो—

और

जो शिष्य मन वचन कर्म से अपने गुरुओं का आदर नहीं करते जैसे गुरु उनकी पालना नहीं करता वैसे उनसे अधीत वेदशास्त्र भी तो उनका साथ नहीं देता, सब परिश्रम विफल हो जाता है।

इसलिए

हम सब गुरु और सब शिष्यों से प्रार्थना करते हुए इस सम्पादकीय वक्तव्य को समाप्त करते हैं कि विद्या की बात का ध्यान रखते हुए वेदों का स्वाध्याय, प्रचार, प्रसार, प्रकाश करने में तत्पर रहो तभी आपको यह तर्पण करने का अधिकार होगा कि "वेदास्तृप्यन्ताम्"—

नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ
मुख्य सम्पादक 'वेदाङ्क'

व्यवस्थापक का वक्तव्य

मरे कलकत्त से लौटने पर भाद्रपद कृष्णा ४ सायकाल को समाज मन्दिर में टहलते समय श्री० परिडत विष्णुदत्त जी एम० ए० साहित्याचाय सम्पादक दिवाकर ने यकायक दिवाकर का वेदाङ्क निकालने का जिकर किया। मैंने उसे एक हसी की सी बात समझ हाँ कह दिया परन्तु जब दूसरे दिन दिवाकर के अन्तिम प्रष्ठ पर मोटे मोटे अक्षरो म दिवाली क अवसर पर वेदाङ्क निकालने का विज्ञापन देखा तब मेरे आश्चय का ठिकाना न रहा। मैंने सम्पादक जी से कहा महाराज अभी तो मशीन तक नहा आई हैं और आप वेदाङ्क का नोटिस निकाल बैठे यह क्या गजब कर दिया। उन्होने अपने सरल स्वभाव से कह दिया सब भगवान भला करेंगे। अब हो ही क्या सकता था तीर हाथ से निकल चुका था डेढ सौ से अधिक कापियाँ आगर मे ही बट चुकी थीं तब होश आया। बगाल मे बाढ का दौर दौरा था तार पर तार खटकाये गय तब कहीं २० दिन मे मशीन आई उसके पश्चात् श्री महा शीतलप्रसाद जी मशीनमेन की काय चातुरता तथा अनथक परिश्रम से १४ दिन मे मशीन फिट हो गई। उसके बाद बिजली रानी की करीब ० दिन तक सेवा करनी पडी तब कहीं मशीन चालू हुई। इसी दर्मियान मे नया टाईप ढलवाना नये केस नये चेस नये फर्मे नये रेक्स नये बार्डर नये स्टिक ग ाि सब कुछ नया सामान जुटाना पड़ा इन सब कार्यों मे कार सुदी १० आ गई और वेदाङ्क के लिए केवल २० दिन रह गए। इसी अर्से मे हमारे सुयोग्य सम्पादक जी ने एक बड मार्के का काम यह किया कि श्री प नरदेवजी शास्त्री वेदतीर्थ के पास मन्सूरी दौडे गए और उनको मुख्य सम्पादक का भार सोप आए अब श्री वेदतीर्थ जी के विद्युत् गति से लेख पर लेख गिरने और फरमान पर फरमान द्वारा शिखर से निकलने शुरू हुए। श्री सम्पादकजी मे भी श्री परिडत श्रीरामजी शर्मा क सहयोग से नई स्फूर्ति आ गई। मैं इन वेदज्ञ सस्कृत महारथियो की एक दम चढाइ को देख कर हाथ पैर छोडने ही को था कि इतने मे श्री पडित ज्वालाप्रसादजी शास्त्री साहित्याचाय प्रकाशक दिवाकर तथा वयोवृद्ध श्री बा० वैजनाथ जी सहायक मन्त्री आर्यसमाज आगरा ने मेरा हाथ पकड डूबते से बचा दिया। दूसरी तरफ प्रेस के मैनेजर श्री प० किशोरीलाल जी शर्मा जिनका मैं एक नया आदमी प्रेस के काम से अनभिज्ञ लडका समझे बैठा था उन्होने अजीब ही छटा दिखलाई यह उन ही के परिश्रम का फल है कि १५ दिन के अन्दर —जहाँ छपाइ का काम चालू करते समय हर बात की कमी थी —इस दिवाकर के वेदाङ्क का जो अच्छा या बुरा जैसा है पाठका क सामने है ठडा करके दिखला दिया अन्त में तेरी दया बिन का समरथ है कर दीनन को पार

अपने सब सहयोगियों तथा प्रातः स्मरणीय पूज्य पण्डित नरदेव जी शास्त्री वेदतीर्थ तथा सुयोग्य लेखकों को धन्यवाद देता हुआ ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि वह आर्यसमाज आगरा को बल तथा सुबुद्धि दे कि वह "वेद-दिवाकर" महर्षि दयानन्द के इन वाक्यों को कि वेदों का पढना पढ़ाना सुनना सुनाना आर्यों का परम धर्म है"; तथा शहीदे-धर्म पं० लेखराम का मरते समय का यह वाक्य कि लेखनी का कार्य बन्द न हो पूरा करने में समर्थ करे।

शोभाराम
व्यवस्थापक "दिवाकर"

* ओ३म् *

दिवाकर — दीपावली १९९४ वि० का — विशेषांक

वेदांक

नहि सत्यात्परो धर्मो नानृतात्पातकं परम् ।
नहि सत्यात्परं ज्ञानं तस्मात् सत्यं समाचरेत् ॥

भाग १ { आगरा, कार्त्तिक कृष्ण ३० (दीपावली) ता० २६-१०-३७ ई० } अंक २८, २९

हे देव सवितः !

ओ३म् भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो ।
देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात् ॥
यजु ३६-३

(छप्पय छन्द)

[गायत्री छन्दसामहम्—गीता]

ओ३म सच्चिदानन्द, ब्रह्म व्यापक नामी है ।
"भूः" अस्तित्व निकन्द, "भुव" चेतन स्वामी है ॥
"स्वः" आनन्द स्वरूप, जगज्जनिता सविता है ।
"देव" दिव्य गुणरूप, 'वरेण्य' वन्द्य पिता है ॥
उस 'भर्ग' रूप भगवान का, ध्यान आज हम सब धरें ।
प्रभु प्रेरणा गुरु ज्ञान की, बुद्धि हमारी में करें ॥

अनुवादक—सूर्य देव शर्म्मा साहित्यालंकार एम० ए०

राष्ट्र-उपासना

ओ३म्, आब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामाराष्ट्रे राजन्यः शूरऽइषव्योऽति व्याधी महारथो जायताम् । दोग्ध्री धेनुर्वोढा नड्वा नाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु, फलवत्यो न ऽओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम् ॥ यजुः । २२-२२ ॥

दिग्पाल छन्द

ब्रह्मन ! स्वराष्ट्र में हों, द्विज ब्रह्म तेज धारी ।
क्षत्री महारथी हों, अरिदल-विनाश कारी ॥
होवें दुधार गायें, पशु अश्व आशुवाही ।
आधार राष्ट्र की हों, नारी सुभग सदा ही ॥
जय शील सभ्य योद्धा, यजमान पुत्र होवें ।
इच्छानुसार बरसें, पर्जन्य पाप धोवें ॥
फल फूल से लदी हों, औषधि अमोघ सारी ।
हों योग क्षेम कारी, स्वाधीनता हमारी ॥

अयि, भुवन मन मोहिनी,
निर्मल सूर्य करोज्ज्वल धरणी ।
जनक जननी-जननी ॥ १ ॥

अयि, नीलसिन्धु जल धौत चरणतल,
अनिलविकंपित श्यामलअञ्चल ।
अम्बा चुम्बितभाल हिमाचल,
अयि, शुभ्र तुषार किरीटिनी ॥ २ ॥

प्रथम-प्रभात-उदय तव गगने,
प्रथम -साम--रव तव तपोवने ।
प्रथम प्रचारित तव नतभवने,
नव वेद-काव्य-वाहिनी ॥ ३ ॥

चिरकल्याणमयी तुमई माँ धन्य,
देश-विदेशे वितरित अन्न ।
जान्हवी यमुना विगलित करुणा,
पुण्य-पीयूषस्तनपायिनी ॥ ४ ॥

अयि, भुवन मन मोहिनी

—* कविसम्राट् रवीन्द्रनाथ टगोर विरचित तथा प्रगीत *—

व्यासपर्वत के उच्च शिखर से

महामना मालवीयजी से बातचीत

वेद तथा अध्यात्मचर्चा

भारत भूषण महामना श्री पण्डित मदन मोहन मालवीय जी स्वास्थ्य संपादनार्थ काशी से मसूरी शैलशिखर पर पधारे हैं, कल ता० १४ १० ३४ को हम उनके दर्शनार्थ हाइलैण्ड (High land) नामक निवास स्थल पर पहुँचे थे। दोनों ओर से 'ब्राह्मण कुशलं पृच्छेत्' के अनुसार कुशल प्रश्न होने पर अनेक धार्मिक, राजनैतिक, इतिहास, पुराण, भागवत, वेद, यज्ञ, उपनिषद् आदि विषयों पर बहुत देर तक चर्चा रही। यद्यपि मालवीयजी अत्यन्त कृश थे तथापि जब वे चर्चा चलाते थे तो उस चर्चा को सुनकर कोई यह नहीं कह सकता था कि वे रुग्ण हैं—उनके मुख से सरस्वती की धारा अव्याहत तथा अस्खलित रूप मे प्रवाहित होती दिखलाई पड़ती थी। आपने पुराण और वेदो का समन्वय दिखलाने के लिए भागवत अष्टमस्कन्ध के अदिति के तप की कथा, गजेन्द्रमोक्ष की स्तवनकथा, महाभारत आदि की कतिपय कथाओ का अध्यात्मपरक अनुपम अर्थ किया और प्रसगवश गायत्री मन्त्र पर भी अत्यन्त भावपूर्ण प्रकाश डाला—

उनकी व्याख्या

ॐ (परमात्मा का नाम) भू भुव, स्व ये तीनो पद केवल उपलक्षण मात्र हैं ॐ मह ॐजन, ॐतप, ॐसत्यं इन चारों लोकों को मिलाकर सप्त लोको के के बोधक हैं—

भू =तलातल से लेकर हिमालय के उच्चतम शिखर तक जितने भी जरायुज, अण्डज, स्वेदज उद्भिज्ज चेतन प्राणी हैं—

भुव अन्तरिक्षस्थ जितने भी प्राणी हैं

स्व =सूर्य—चन्द्र नक्षत्र तथा असंख्य तारागण इतस्ततः

तत् =वह सब

सवितुर्वरेण्यं भर्ग उस जगन्नियन्ता के वरेण्य= स्वीकार करने योग्य, देखने योग्य अनुभव करने योग्य तेज है अर्थात् उसी के दिव्य तेज के कारण यह सब कुछ है।

वह सविता कैसा है देवस्य=दिव्य तेजोयुक्त जो कि आन्तरिक चक्षु द्वारा अभिगम्य है

धीमहि—आओ उसी दिव्य तेज का ध्यान करें

और

धियो यो न प्रचोदयात्=वही उस हमारी बुद्धि को प्रेरणा करने वाला है वही उस बुद्धि को सविता देव के तेज का अनुभव करने के लिए प्रेरित करे अर्थात् उसकी कृपा के बिना उसके दिव्य तेज के दर्शन नहीं हो सकते—

आपने बतलाया कि इस गायत्री मन्त्र मे सविता का अर्थ सूर्य नहीं है जैसा कि प्राय लोग समझे बैठे हैं। यहाँ सकल ब्रह्माण्ड के उत्पादक परमात्मा का ही ग्रहण करना चाहिये इसीलिए इस गायत्री मन्त्र को सावित्री मन्त्र भी कहते हैं। इसी गूढ अभिप्राय के अन्तर्गत होने के कारण स्वय वेद ने गायत्री मन्त्र को वेद माता कहा है—

स्तुता मया वरदा वेद माता प्रचोदयन्ती द्विजानाम् ॥

इत्यादि। आपने यह भी कहा कि इस गायत्री मन्त्र में कोई "तत्" पद का अर्थ तस्य प्रष्ठयन्त करते हैं सो ठीक नहीं उसको प्रथमान्त ही रखना चाहिए।

इस प्रकार व्याख्या करके आपने "वासना द्वासुदेवस्य" इस वाक्य की लम्बी व्याख्या की जो कि सर्वथा आध्यात्मिक व्याख्या थी। उपनिषदों के प्रमाणों की झड़ी लगादी।

आपने कहा कि पुराण और वेद के समन्वय की बड़ी आवश्यकता है—उनका पुरातन पुण्य वंश चतुर्वेदियों का है इसलिए वे चारो वेदोंका थोड़ा-थोड़ा स्वाध्याय करते रहते हैं और इस अर्वाचीन समय में उनका वंश शुक्ल यजुर्वेदियो का है और उनकी शाखा है माध्यन्दिनी—आपने हम से पूछा कि स्वामी दयानन्दजी तो यज्ञो मे पशु बलि नहीं मानते थे हमने, कहा नहीं, और वे जिन अर्थों को लगाते हैं जैसे "अश्वं वैराग्रम"

उन अर्थों की शतपथादि भी पुष्टि करते हैं। महामना मालवीयजी ने कहा कि मैं स्वामीजी के विशुद्ध अभिप्राय को समझता हूं किन्तु वर्त्तमान यज्ञ यागादि मे जो पशुबलि आदि का उल्लेख है उनसे छुटकारा पाना ही पड़ेगा। वैसे तो कलिवर्ज्य होने मे आजकल हिंसा निषिद्ध है ही।

वेद-विषयक चर्चा चलने पर प्रातःकाल की सूर्य किरण से किस प्रकार क्षयरोग नष्ट होता है इसका प्रसंग आया। हमने ऋग्वेद का दशम मण्डल का इसी विषय का एक सूक्त बतलाया। आपने कहा अथर्व मे भी सूक्त आता है। इसी प्रकार अथर्व के अनेक सूक्तों की चर्चा रही—

आपने कहा मसूरी शैल व्यास पर्वत का एक अंग है और अत्यन्त पावन शिखर है। यहाँ आकर जब उस शिखर से अनन्त आकाश की ओर दृष्टि डालकर उस बूढ़े बाबा महर्षि व्यास का ध्यान करता हूँ तो मेरा मन उस आध्यात्मिक मण्डल मे स्वच्छन्द विचरने लगता है। आपने भागवत के गजेन्द्रमोक्ष प्रकरण की स्तुति का विस्तृत वर्णन करके बतलाया कि इससे बढ़ कर भावपूर्ण स्तुति क्या हो सकती है।

आपने हम से पूछा कि पुराणों का भी अध्ययन मनन किया करते हो अथवा नहीं। पास के बैठे हुए एक विद्वान् ने कहा कि ये सामाजिक विचार के हैं इसलिए उस दृष्टि से पुराणों को नहीं देखते जिस दृष्टि से आप देखते हैं। हमने कहा उनमें बहुत परस्पर विरोध है। श्री मालवीय जी ने कहा कि जरा हमारी दृष्टि से भी अध्ययन कीजिये और कई प्रकरण की सुन्दर आध्यात्मिक संगति लगाकर पूछा कि कहो इसमे क्या कहते हो। हमने कहा इस प्रकार के आध्यात्मिक अर्थों मे तो विवाद का स्थान ही नहीं रहता।

अपनी दिनचर्या के विषय मे आपने बतलाया कि वे प्रतिदिन किस प्रकार सन्ध्या जपादि करते हैं—इस प्रकार महामना मालवीयजी के साथ लगभग ढाई घण्टे तक अनेक विषयों पर चर्चा रही। यह चर्चा और भी चलती किन्तु आपके स्वास्थ्य का ध्यान रखकर हमने ही इस चर्चा को बन्द करने की प्रार्थना की आपने कहा कि हम शनैः शनैः वेदों का स्वाध्याय बढ़ा रहे हैं और चाहते हैं कि वेद और पुराणो का समन्वय यथार्थरूप मे जनता के सम्मुख रक्खें—भगवद्गीता के विषयमें आपने कहा कि इस विषय मे उनके पास बहुत मसाला है किन्तु समयाभाव मे उसके प्रकाशन का अवसर ही नहीं मिलता—

म—आपने कई वर्ष पूर्व कहा था कि हम अपने जीवन काल मे दो पुस्तक प्रकाशित करना चाहते हैं—अभी तक आपने उनका प्रकाशन नहीं किया।

मालवीयजी—समय ही कहांमिला क्या करूं। मेरे पितामह ८७ वर्ष तक जीवित रहे थे मै भी ईश्वर की इच्छा हुई, तो उतने वर्ष की अवस्था तक जीऊंगा ही और यत्न करूंगा कि जो कुछ मेरे पास अध्यात्म विषयक पूंजी है प्रकाशित करूं। यदि इस जन्म मे पूर्ण न कर सका तो फिर आगामी जन्म मे सही।

हम—यदि आप छः मास भी ऐसे एकान्त स्थान में निवास करें तो बहुत कार्य हो सकता है

मालवीयजी—ठीक है पर समय मिले तब न—चाहता हूं इधर पुण्य पर्वतों में फिरूँ और कोई दिव्य महात्मा मुझे आशीर्वाद देवे तो मेरा कार्य पूर्ण हो—

फिर जिक्र चला रामचन्द्र शर्मा के विषय मे। आपने कहा कि मैं जब काशी से कलकत्ते की ओर गया तब मेरे मन ने कह दिया था कि रामचन्द्र शर्मा को अनशन से परावृत्त करने मे मैं सफल हूँगा। वहां जाना आवश्यक ही था।

जब हम उनसे (मालवीय जी से) अनुज्ञा लेकर चलने लगे तब उन्होंने फिर कहा कि भागवतादि ग्रन्थों को हमारी दृष्टि से देखो और पूछा कि भागवत भी कभी देखा है अथवा नहीं। हमने कहा कि भागवत को हमने देखा है और छात्रावस्था में जब हम काशी में थे तब हमने भागवत के वेद स्तुति प्रकरण का विशेष रूप से अध्ययन किया था।

* नोट—इस बात चीत मे श्रीमहामना मालवीय का अभिप्राय समझने मे अविकल रूपेण सब बात लिखने में कोई त्रुटि रह गई हो तो वह हमारी ही भूल समझी जानी चाहिये।

नरदेवशास्त्री वेदतीर्थ (मंसूरी)

From

ST JOHN'S COLLEG
AGRA

THE REV T D SULLY M A
Principal

Telegraphic address---"**Education**"

4th Oct 1935

Dear Sir,

Thank you for your letter of the 29th Sept. which I received yesterday. I am glad to see that you are getting out a special Diwali number of your "Divakar" and I trust that it may be an encouragement and stimulus to really scholarly study in the realm of Vedic literature and further exploration of the vast range of subjects which you enumerate in your leaflet

I wish we colud do more to check the sad decline in Sanskrit studies which is such a conspicuous feature of our modern University education in these times

Yours Sincerely
T. D Sully.
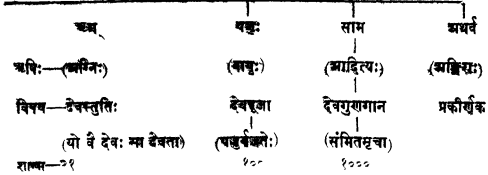
अथर्व मे प्रकीर्णक है अर्थात ऋक्-यजु—साम का ही विषय भिन्न भिन्न रूप मे आया है इसी लिए उसमे देवस्तुति देवपूजा सगतिकरण दान देवगुणगान होने से वेद चार होने पर भी सबको मिलाकर विषय पर ध्यान रख कर वेदत्रयी कहलाती है। ज्ञान कर्म उपासना भेद मे भी वेद तीन हैं।
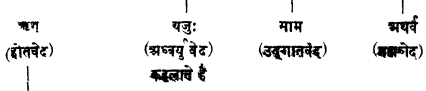
आठ अष्टकों के कारण ऋग्वेद का नाम अष्टकवती है और दश मण्डलों के कारण दशतयी अथवा दशातयी भी कहते हैं—

इस प्रकार सोलह ऋत्विजों द्वारा यज्ञ प्रवृत्त होता है।

वैदिक पहेली

चत्वारि शृंगा त्रयो अस्य पादाः,
द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य—
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति,
महोदेवो मर्त्यां आविवेश ॥
(ऋ० ४-५८-३)

एक वृषभ है जिसके चार सींग हैं और तीन पैर दो सिर है, और सात हाथ, तीन जगह बंधा हुआ है? इस पहेली को बूझिये तो सही—

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि,
तानि विदु ब्राह्मणा ये मनीषिण ।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति,
तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति
(ऋ० १-२२-४५)

वाक् परिमित पद चार ही है, मनीषी ब्राह्मण ही उनको जानते हैं। तीन तो गुफा में छुपे हैं चौथे को मनुष्य बोलते हैं—कहो वे चार पद क्या हैं। इस मन्त्र में कौन सा गूढ़ार्थ छुपा हुआ है? मनुष्य जिस चौथी वाणी का प्रयोग करते हैं उसका नाम क्या है छुपी हुई तीन वाचाओं के भी क्या क्या नाम हैं यह क्या है? हम इसका अर्थ नहीं करेंगे—

चत्वारिंशद्दशरथस्य शोणाः,
सहस्रस्याग्रे श्रेणिं नयन्ति ॥
मदच्युतः कृशनावतो अत्यान् ।
कक्षीवन्त उदमृक्षन्त पज्राः ॥
(ऋ० १-१२६-४)

चत्वारो मा पैजवनस्य दानाः,
स्मदिष्टय कृशनिनो निरेके ।
ऋज्रासो मा पृथिविष्ठाः,
सुदासस्तोकं तोकाय श्रवसे वहन्ति ॥
(ऋ० ७-१८-२३)

चतुस्त्रिंशद्वाजिनो देवबन्धो,
वङ्क्रीरश्वस्य स्वधितिः समेति ॥
अच्छिद्रा गात्रा वयुना कृणोति,
परुष्परुरनुघुष्या विशस्त ॥
(ऋ० १-२२-१८)

उपर्युक्त मन्त्रों में क्रम से ४०, ४, ३४ क्या हैं।

विद्वान् लोग बूझें

अथर्व की कुण्डलियां

सरूपा नाम ते माता,
सरूपा नाम ते पिता।
सरूपकृत त्वमोषधे,
मा सरूपमिदं कृधि॥
(प्रथम काण्ड)

येनस्तत्पश्यन् परमं गुहा यद्
यत्र विश्वं भवत्येकरूपम्
(द्वितीय काण्ड)

दशवृक्ष मुञ्च म रक्षसो ग्राह्या,
अधि यैनं जग्राह पर्वसु।
अथो य एन वनस्पते,
जीवानां लोकमुन्नय॥
(तृतीय काण्ड)

सहस्रशृङ्गो वृषभो य समुद्रादुदाचरत्।
(चतुर्थकाण्ड)

रात्री माता नभ पिता,
अर्यमा ते पितामह।
सिलाची नाम वा असि,
सा देवानामसि स्वसा॥
(पञ्चमकाण्ड)

अलसालासि पूर्वा,
सिलाञ्जालास्युत्तरा।
नीलागलसाला॥
(षष्ठकाण्ड)

शिवस्त एका अशिवास्त एका,
सर्वा बिभर्षि सुमनस्यमान।
तिस्रो वाचो निहिता अन्तरेऽस्मिन्,
तासामेका विपपातानु घोषम्॥
(सप्तम काण्ड)

के नेमा भूमिमौर्णोत्
केन पर्यभवद्दिवम्।
केनाभि मन्हा पर्वतान्,
केन कर्माणि पूरुष॥
(दशमण्डल)

अहमस्मि सहमान
उत्तरो नाम भूम्याम्।
अभीषाडस्मि विश्वाषाड्,
आशामाशां विषासहि॥
(द्वादशकाण्ड)

स वा ऋग्भ्यो जायत
तस्मादृचोजायन्त॥
(त्रयोदशकाण्ड)

यद्दुष्कृतं यच्छमल
विवाह वहतौ च यत् ।
त सभलस्य कम्बल
मृज्मह दुरित वयम् ॥
(चतुर्दश काण्ड)

अमति मन प्रतिष्ठित
सति भूत प्रतिष्ठितम ॥

भूत ह भय आहित,
भव्य भूत प्रतिष्ठितम् ॥
(सप्तदश काण्ड)

इन्द बध्नामि त मणि
दीर्घायुत्वाय तजसे ।
दर्भ सपत्नदम्भन
द्विषतस्तपन हृद ॥
(एकोनविंश काण्ड)

सन्देश

क्या शरीर और क्या समुदाय—समय समय पर जाँच और सफाई होने से ही नीरोग रहती है—हिन्दू समाज में बहुत हानिकारक बातें और खराबियाँ आ गई हैं उनके सुधार की बड़ी आवश्यकता है। यह वेद और वैराग की शिक्षा ग्रहण करने और आधुनिक बजाड़ बातों को छोड़ने से ही हो सकता है। वेदों की शुद्ध और सात्विक शिक्षा और जीवनी फिर समाज और मनुष्यों के उद्धार के लिये जरूरी है।

दीवान बहादुर हरबिलास शारदा
अजमेर

ऋग्वेदियों के लिए विचारणीय सूक्त

हृद्रोग को दूर करने वाला सूर्य

उद्यन्नद्य मित्रमह आरोहन्नुत्तरां दिवम्।
हृद्रोगं मम सूर्य, हरिमाणं च नाशय॥
[ऋ० १-५०-११]

दारिद्र्यनाशन सूक्त

अरायिकाणे विकटे, गिरिं गच्छ सदान्वे
शिरिम्बिठस्य सत्वभिस्तेभिष्ट्वा चातयामसि—
(ऋ० १०-१५५

राजयक्ष्मघ्न सूक्त

मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय,
कमज्ञातयक्ष्मादुत राजयक्ष्मात्।
ग्राहिर्जग्राह यदि वैतदेनम
तस्या इन्द्राग्नी प्रमुमुक्तमेनम्॥
(ऋ० १० १६१)

प्रभसंस्रावे प्राश्चित्तम्

ब्रह्मणाग्नि स विदानो, रक्षोहा बाधतामितः।
अमीवा यस्ते गर्भं, दुर्णामा योनिमाशये
(ऋ० १०-१६२)

यक्ष्मघ्न सूक्त

(ऋ० १० १६३)

अक्षीभ्यां ते नासिकाभ्यां,
कर्णाभ्यां छुबुकादधि।
यक्ष्म शीर्षण्य मस्तिष्काद्,
जिह्वाया विवृहा मिते॥

सपत्नघ्न सूक्त

ऋषभ मां समानाना
सपत्नाना विषासहिम्
हन्तारं शत्रुणा कृधि
विराज गोपति गवाम्॥
(ऋ० १० सूक्त १६६)

कपोतोपहतौ प्रायश्चित्तम्

देवा कपोत इषतो यद्
इच्छन्दूतो निर्ऋत्या इदमाजगाम।
तस्मा अर्चाम कृणवाम निष्कृति
शं नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे॥
(ऋ० १०-१६५)

प्रश्न यहाँ कपोत से क्या अभिप्राय है ?

नरदेव शास्त्री वेद तीर्थ
महाविद्यालय ज्वालापुर

वैदिक ज्ञान तथा यज्ञप्रक्रिया

(ले०—श्री विष्णुदत्त कपूर)

भगवान मनु का वचन है'—

कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता ।
काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिक. ।।

"काम अर्थात् अनेक प्रकार की इच्छाओं मे लीन रहना अच्छा नहीं है और इस संसार मे 'बिना कामना किये रहना भी सम्भव नहीं है; अतः वैदिक स्वाध्याय और वैदिक कर्मयोग की कामना करनी चाहिये।" मनुस्मृति का यह वाक्य उस मार्ग की ओर सङ्केत करता है जो लोक और परलोक दोनो का साधन है और जिसका अनुसरण करने से अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों सुलभ हो जाते हैं। इच्छा का होना और इन्द्रियों का कर्म मे प्रवृत्त होना प्रकृति का अटल नियम है, उसे रोकना सम्भव नहीं

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्य कर्मकृत
कार्यते ह्यवश कर्म सर्व. प्रकृतिजैर्गुणै ।।गीता।।

अर्थात् कोई व्यक्ति एक क्षण भी बिना कार्य किये नहीं रह सकता, अपने स्वभावानुकूल गुणो से विवश होकर उसे कर्म करना ही पड़ता है। जब वह कर्म करता है तो उस कर्म का मूल भी होना ही चाहिये। वह मूल मन की गति और चेष्टा मे है जिसे कामना कहते हैं। तात्पर्य यह है कि जहां कर्म मे प्रवृत्त होना स्वाभाविक है वहाँ उस कर्म की मूल-भूत कामना का होना भी नैसर्गिक एवम अपरिहार्य नियम है—

अकामस्य क्रिया काचित् दृश्यते नेह कर्हिचित
यद्यद्धि कुरुते किञ्चित् तत्कामस्य चेष्टितम ।।मनुः।।

बिना कामना के संसार मे कोई भी क्रिया दृष्टिगोचर नहीं होती; जो कोई जो कुछ भी करता है वह सब कामना अर्थात् इच्छा का ही फल है। जब कामना और कर्म हमारे जीवन मे इतने घनिष्ठ रूप से ओत-प्रोत हैं और उनके जाल मे जकड़े हुये हैं तब हमे स्वतन्त्रता किस अंश मे है यह प्रश्न सभी विचारशील व्यक्तियों के चित्त मे उदित होता है और इसको यथार्थरूप से समझ लेने पर ही मानव जीवन की सफलता निर्भर है। भगवान् कृष्ण ने प्रकृति के काम—कर्म-मूलक अटल नियम को छिपा कर ईश्वरार्पण बुद्धि से यज्ञार्थ कर्म करने को ही आत्मिक स्वतन्त्रता का क्षेत्र माना है—तात्पर्य यह है कि प्रकृति के नियम में बँधकर मनुष्य को मन से कामना और शरीर से कर्म अवश्य करने पड़ते हैं परन्तु उसकी आत्मा को इतनी स्वतन्त्रता भी प्राप्त है कि वह कर्मों की दिशा को तथा उसके स्वरूप को बदल दे। आत्मस्वातन्त्र्य के रहस्य को जानने वाला व्यक्ति भी प्रकृति नियम के अनुसार कर्म करता है परन्तु उसकी मानसिक और शारीरिक चेष्टाये सुव्यवस्थित सुनियन्त्रित और स्वच्छ होनी चाहियें। वह तभी हो सकती है जब आत्मा के स्थान में परमात्मा और स्वार्थ के स्थान में परार्थ की भावना जागृत हो। जब 'अहम्' के स्थान मे "भगवान्' और स्वार्थ-मूलक कर्मों के स्थान मे परार्थ, अर्थात् यज्ञ रूप कर्म, जीवन के अंग हो जायं तभी आत्मज्ञान के स्वतन्त्र क्षेत्र में प्रवेश सम्भव है।

यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचार ॥ गीता ॥

यह गीता का श्लोक आत्म स्वातन्त्र्य चाहने वाले व्यक्ति के अनुरूप कर्मों का उपदेश देता है।

'काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः।

यह मनु का कथन भी ऊपर लिखे अभिप्राय को ही प्रकट करता है। 'वेदाधिगम' का अर्थ वेद में निहित भगवान् को जानने से है और 'कर्मयोग' शब्द यज्ञार्थ कर्मों की ओर सङ्केत करता है।

स्वाध्यायेन जपैर्होमै स्त्रैविद्येनेज्यया सुतै.।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्यं ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ॥मनुः॥

इस श्लोक मे प्रकारान्तर से उसी अर्थ का वर्णन है। संसार के सभी महापुरुष विचार करने के अन्तर इसी परिणाम पर पहुंचे कि जीवन की कृतकृत्यता भगवदाराधन के भाव से किये गये यज्ञार्थ कर्म करने में हैं। इसी का नाम कर्ममय प्रकृति पर विजय है और यही समस्त परिश्रमों का उच्चतम ध्येय है। भगवान् और यज्ञ को स्वरूप इतना व्यापक और गहन है कि उसका वर्णन सृष्टि के आदि से लेकर अब तक किया जा रहा है और भविष्य मे भी प्रलय काल तक किया जाता रहेगा। फिर भी वह मनुष्य की क्षुद्र मनन और वर्णन शक्ति की सीमा मे आ सकेगा इसमे सन्देह है। संक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि अहंकार से ऊपर विशुद्ध ज्ञान ही भगवान् का स्वरूप है। यज्ञकर्म में उन सब कर्मों का समावेश है जिनमें 'स्व'—को छोड़कर 'पर' हित-साधन की भावना विद्यमान रहती है। जहाँ कोई पुण्यात्मा किसी व्यक्ति, समाज, राष्ट्र या विश्व के लिए किसी रूप में आत्म समर्पण कर रहा हो वहाँ यज्ञ का अनुष्ठान हो रहा है यही समझना चाहिये। अपने से बड़े देवों की पूजा करना, परमात्मा मे आत्मा की संगति बैठाना और समष्टि की व्यष्टि में आहुति देना यह तथा इस प्रकार की अन्य क्रियायें यज्ञ हैं। 'यज्ञ' के इस व्यापक अर्थ के आधार पर ही ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, अतिथि यज्ञ, भूतयज्ञ, द्रव्ययज्ञ तपोयज्ञ, योगयज्ञ, आदि सहस्रों छोटे बड़े यज्ञों का वर्णन प्राच्य ग्रन्थो में पाया जाता है। इन सब में एक रहस्य छिपा है और वह है अपनी क्षुद्र वस्तु को लोक-कल्याण के विशाल कुण्ड में स्वाहा कर देना।

वेदो की महिमा और उन्हें इतने उच्च आसन पर बैठाने का यही कारण है कि उनमे भगवान और यज्ञ के व्यापक स्वरूप का वर्णन हैं। छोटे से छोटे पदार्थ से लेकर विशाल सौर मण्डल तक भिन्न भिन्न रूप में प्रकाशित होने वाली भागवती सत्ता का वर्णन हृदयग्राही मधुर और संयत भाषा में हमे वहाँ प्राप्त होता है। इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, अर्यमादि अनेक देवताओं का व्यष्टि और समष्टि रूप से किया हुआ रोचक एवं वैज्ञानिक वर्णन चित्त तन्तु को उस अलौकिक शक्ति के साथ संयुक्त कर देता है।

शं नो मित्र शं वरुणः शंनो भवत्वर्यमा शं न इन्द्रो बृहस्पतिः श विष्णुरुरुक्रमः। ऋ० १-१४-६०।

तान् पूर्वया नि दा हूमहे वयं भगं मित्रमदिति दक्षमस्रिधम्। अर्यमणं वरुणं सोम मश्विना सर स्वती नः सुभगा मयस्करत् ॥

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्व-वेदाः। स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ऋ० १-१४-८६।

इत्यादि देवस्तुतियाँ तथा स्वस्तिवाचन प्रथम अंश रूप मे विकीर्ण भगवान् की विभिन्नता तथा अनेकता को प्रकट करते हुये से मालूम होते हैं परन्तुः—अन्ततो गत्वा यह स्पष्ट प्रतीत होने लगता है कि इन सब का निर्देश एक व्यापक शक्ति की ओर है:—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः सुपर्णो गुरुत्मान। एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्नि यमं मातरिश्वानमाहुः ॥

तदेवाग्निस्तदादित्य स्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ॥
यजु० ३२।१॥

सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति। ऋग्वेद० १०।११४।४॥

इत्यादि मन्त्र उस अविकल एवं परिपूर्ण देव की विभूति का वर्णन करते हैं जिसमें खण्ड रूप से सम-

करते हुए समस्त देव सागर में तरङ्ग और बुद्बुदों की भांति एकाकार हो जाते हैं। उसी नाना रूप से विराजमान अनिर्वचनीय सत्ता को आध्यात्मिक आधिदैविक आधिभौतिक तथा वैज्ञानिक आलङ्कारिक पौराणिक आदि विविध निरूपण शैलियों द्वारा व्यक्त करते हुए वेद भगवान् स्पष्ट घोषित करते हैं कि वेदस्थ समस्त ऋचाओं का अन्तिम ध्येय उसी अमर तत्त्व की खोज और उसकी प्राप्ति है। इस जिज्ञासा के बिना ऋचाओं का अध्ययन निरर्थक है:—

ऋचोऽक्षरे परमे व्योमन्
यस्मिन् देवा अधिविश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति
य इत्तद्विदुरमृतास्ते भवन्ति

"ऋचः" पद यहाँ उपलक्षणमात्र समझना चाहिये। केवल ऋग्वेद के ही नहीं किन्तु 'ऋचः' पद से निर्विशेष वेद मन्त्र यहाँ अभिप्रेत हैं। इसी प्रकार:—

अर्चत प्रार्चत प्रियमेधासो अर्चत।
अर्चन्तु पुत्रका उत पुरं नधृष्ण्वर्चत॥
अथर्व० २०-४२-५॥

तमुपष्टुहि योऽन्तः सिन्धौ सूनुः।
सत्यस्य युवानम द्रोघवाचं सुशेवम्॥
अथर्व० ६।१।२॥

इत्यादि मन्त्र देवों के देव, सूक्ष्मतम तत्त्व परमात्मा को ही जानने का आदेश देते हैं।

अन्तिम ध्येय की ओर संकेत करने के साथ ही वेद उन साधनों का भी निरूपण बड़ी मार्मिकता के साथ करते हैं जिनके द्वारा उसकी प्राप्ति होना सम्भव है। वैयक्तिक जीवन को सामाजिक जीवन की वेदी पर, सामाजिक जीवन को राष्ट्रीय जीवन की वेदी पर, राष्ट्रीय जीवन को विश्वकल्याण की वेदी पर अर्पण करने की क्रमशः बढ़ती हुई यज्ञ प्रक्रिया को पूर्ण करने के लिये साधारण अग्निहोत्र से लेकर विश्वजित् और अभिजित् तक की यज्ञ परिपाटी का बीज वेदों में उपलब्ध होता है। वस्तुतः अपने व्यापक अर्थ में यज्ञ को ही वेदों ने प्रकृति और पुरुष की प्राप्ति का अथवा ऐहिक और पारलौकिक सुख का साधन माना है।

आयुर्यज्ञेन कल्पतां, प्राणो यज्ञेन कल्पतां चक्षुर्यज्ञेन कल्पतां, श्रोत्रं यज्ञेन कल्पतां, मनोयज्ञेन कल्पताम् आत्मा यज्ञेन कल्पतां, ब्रह्मायज्ञेन कल्पतां, ज्योतिर्यज्ञेन कल्पतां, पृष्ठं यज्ञेन कल्पतां, यज्ञो यज्ञेन कल्पतां, स्तोमश्च यजुश्च ऋक् च सामच बृहच्चरथन्तरञ्च। स्वर्देवा अगन्मामृता अभूम प्रजापतेः प्रजा अभूम वेट् स्वाहा। (यजु० १८-२९) यजुर्वेद के इस मन्त्र से यज्ञशब्द के विशाल वैदिक अर्थ का अनुमान किया जा सकता है

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हवि र्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मै व तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥गीता॥

इस अन्तिम ब्रह्मयज्ञ की साधना के लिये जिन अङ्गभूत भौतिक यज्ञों का विधान है उनसे व्यक्ति समाज और राष्ट्र पूर्णरूप से उन्नत और समृद्ध हो सकते हैं। यज्ञ का अनुष्ठान करने वाला यजमान-

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्। इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि ॥यजु० १।५॥

इस मन्त्र से यज्ञ की दीक्षा तथा व्रत को ग्रहण करता हुआ अनृत से सत्य की ओर अग्रसर होता है। यज्ञ मे भाग लेने वाले समाज में—

सङ्गच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते॥
ऋ० ८।८।३६।२

इस मन्त्र के अनुसार सहगमन सहभाषण तथा सहमनस्कता के भाव जिनके आधार पर समाज संगठन निर्भर है, स्वतः उत्पन्न हो जाते हैं।

भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विद स्तपोदीक्षामुप निषेदुरग्रे। ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उपसंनमन्तु ॥अथर्व १६।४१।१॥

यह मन्त्र स्पष्ट रूप से वर्णन कर रहा है कि प्राचीन ऋषियों ने तप और यज्ञदीक्षा का आश्रय लेकर राष्ट्ररचना की जिसके फलस्वरूप राष्ट्र बलवान् और ओजस्वी हुआ। वैदिक यज्ञ परम्परा का जहाँ अनुभव गम्य परोक्ष आध्यात्मिक फल है वहाँ व्यक्ति समाज और राष्ट्र का भौतिक अभ्युदय भी एक

अभिलषणीय फल है। इस प्रकार अभ्युदय और निःश्रेयस प्रदान करने वाले यज्ञों का वर्णन करते हुए वेद हमारे वैयक्तिक, सामाजिक और राष्ट्रीय उत्थान के लिये बहुमूल्य सामग्री प्रदान करते हैं।

जैसा कि मनुस्मृति और गीता के आधार पर ऊपर कहा गया है मनुष्य जीवन का उद्देश्य ईश्वर के स्वरूप को जानना और आत्मस्वातन्त्र्य का अवलम्बन करके काम्य कर्मों के स्थान में यज्ञार्थ कर्म करना है। वेद मनुष्य जीवन के इस कर्त्तव्य अथवा उद्देश्य की ओर संकेत करने वाले भूमण्डल के आदि ग्रन्थ हैं। वेदों को इस दृष्टि से पढ़कर आध्यात्मिक ज्ञान तथा वैयक्तिक सामाजिक और राष्ट्रीय उत्थान के लिये आवश्यक सामग्री का संकलन करना वर्तमान समय का बड़ा महत्वपूर्ण कार्य है। यदि वेदों का इस लोककल्याण तथा व्यावहारिक जीवन के हित की भावना से अनुसन्धान किया जाय तो साहित्य वृद्धि के साथ साथ राष्ट्र की श्री वृद्धि भी हो सकेगी।

आर्य समाज का उत्तरदायित्व

प्रिन्सिपल दीवानचन्द्र एम० ए० कानपुर का

सन्देश*

आर्य समाज जब वेद की बात करता है तब उसके ऊपर बड़ा भारी उत्तरदायित्व आता है। ऐतिहासिक तथा पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि मे वेद अत्यन्त प्राचीन पुस्तक हैं किन्तु आर्य-समाज जिस प्रकार वेदों को मानता है उस प्रकार मानने के लिये अभी न तो ऐतिहासिक वर्ग तैयार है और न ही पाश्चात्य विद्वान् तैयार हैं। युक्ति, प्रमाण, ज्ञान विज्ञान द्वारा अपनी बात को मनवाने के लिए अभी आर्य समाज पर इसका अधिकतर उत्तर दायित्व है विशेषत उन संस्थाओं पर जिनका जन्म ही प्राचीन शिक्षा के उद्धारार्थ हुआ है और जो प्राचीन रीति पर चलायी जा रही हैं। इस विषय में अब तक जो प्रयत्न हुए हैं उनको सन्तोषजनक नहीं कहा जा सकता। इन संस्थाओं से पालित-पोषित शिक्षित दीक्षित स्नातक ब्रह्मचारी ही जब वेदविषयक संदेहों को लेकर निकलते हैं तो अन्यों की क्या कथा है। अभी इस विषय में जितनी विद्या और जितना तप प्राचीन रीति की संस्थाओं में होना चाहिये उतना नहीं दिखलाई पड़ रहा है। पाश्चात्य विद्वान् आदि भी निश्चय मार्ग में आ रहे हैं और वेद-विषयक नई नई कल्पनाओं को निकाल रहे हैं जिनकी उनकी लगन तथा अन्वेषक बुद्धि द्वारा प्रयत्नों की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करनी पड़ेगी। क्या ही अच्छा हो गुरुकुलों से निकलने वाले ब्रह्मचारी स्नातक होवें जो वेदों का ही व्रत लेकर जन्म भर वेदों में ही तन-मन अर्पण करें। ऐसे स्नातकों की संख्या जितनी भी अधिक होगी आर्य जगत् तथा संसार का उतना ही कल्याण होगा। पाश्चात्य विद्वान् वेदविषयक ज्ञान प्राप्त करने के लिए इतने उत्सुक हैं कि वे वेदों की पहेली को हल करने के लिये सब कुछ करने के लिये तैयार हैं—जब उनको और कोई रास्ता नहीं मिलता तब वे अपने ढंग से ही वेदों की खोज कर के कुछ निकालते हैं। इसमें उनका दोष नहीं—दोष है हम लोगों का जो उनकी जिज्ञासा को तृप्त करने की शक्ति नहीं रखते—हममें अधिक विद्या हो, धुन हो, ज्ञान विज्ञान हो, तब हम उनकी जिज्ञासाओं को तृप्त कर सकेंगे। मैं यह प्रसन्नता पूर्वक देख रहा हूँ कि सनातन धर्मी पण्डितों मे (जिन्होंने पाश्चात्य शिक्षा पद्धति का भी अनुभव लिया है) भी वेदविषयक बहुत जागृति हो रही है और अब अन्वेषक बुद्धि से काम ले रहे हैं। और यह भी स्पष्ट है कि उनके प्रयत्न आर्यसामाजिक लोगों के प्रयत्नों की अपेक्षा अधिक हैं। आर्य समाज मे इस विषय में पण्डितों द्वारा आज तक सम्मिलित प्रयत्न हुआ ही नहीं—दस बीस विद्वान इसी विषय में जुट जावें तो कैसी अच्छी बात होगी।

---

* यह है मौखिक संदेश प्रिन्सिपल दीवान चन्द्र जी एम० ए० का जो कि उन्होंने मसूरी मे श्री० प० नरदेव शास्त्री वेद तीर्थ मुख्य संपादक 'वेदाङ्क' को दिया है।

ईश्वर और उसकी भक्ति

ले०—श्री० स्वामी परमानन्दजी महाराज आगरा

(१) ईश्वर का एकत्व

एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति

ईश्वर के एक होते हुए भी विद्वान लोग उसके भिन्न-भिन्न गुण कर्मों के कारण उसका अनेक प्रकार से वर्णन करते हैं।

एकं ज्योतिर्बहुधा विभाति।

वह एक ज्योति होते हुए भी अनेक प्रकार से प्रकट हो रही है।

तत्र को मोह क शोक एकत्व मनुपश्यत।

जो उस प्रभु का एकत्व देखते हैं, उनको शोक दुःख और मोह अज्ञान कहाँ? अर्थात कहीं भी नहीं।

न तं विदाथ य इमा जजान।

तुम उस प्रभु को नहीं जानते, जिसने यह चरा चर जगत उत्पन्न किया है।

(२) ईश्वर भक्ति का फल

तमेव विद्वान् न विभाय मृत्यो.।

उस प्रभु को ही जान कर मनुष्य मृत्यु से नहीं डरता।

तमेव विदित्वाति मृत्युमेति। नान्य पन्था विद्यतेऽयनाय।

उसी प्रभु को जान कर मनुष्य मृत्यु का उल्लंघन करता है। उसके (प्रभु के,) जानने के अतिरिक्त मुक्ति का कोई मार्ग नहीं है।

यत्र सोमः सदमित् तत्रभद्रम्।

जहाँ शान्तिस्वरूप परमात्मा है, वहीं कल्याण है।

(३) [illegible]

सपर्यगाच्छुक्रमकाय मव्रण मस्नाविरं शुद्धम पाप विद्धम्। कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः।

वह तेजोमय स्थूल-सूक्ष्म और कारण शरीर रहित व्रणादि दोषों तथा स्नायुबन्धनों से शून्य, पवित्र, निष्कलंक, क्रान्तिकारी, अन्तर्यामी, सर्वव्यापक (स्वयंभू) जिसकी सत्ता अपने आप है, प्रभु सर्वत्र प्राप्त करने योग्य है।

स ओत प्रोतश्च विभु: प्रजासु।

वह व्यापक परमेश्वर सब प्रजा में ओत प्रोत है।

तस्मिन्ह तस्थुभुवनानि विश्वा।

उसी प्रभु के आधार पर सम्पूर्ण लोक ठहरे हुए हैं।

तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्र:।

उसी प्रभु से चारों दिशाएँ जीवित हैं।

प्रत्यङ् जना स्तिष्ठति सर्वतो मुख.

वह परमेश्वर सर्वतोमुख होकर सर्वत्र वर्तमान है।

ओ३म खंब्रह्म।

वह रक्षक प्रभु आकाश की तरह सर्वत्र व्याप्त है।

वेदों में नवधाभक्ति

१—आत्मसमर्पण

तस्य तेभक्तिवास: स्याम।

हे प्रभु हम-सब तेरे भक्त हों॥

ओ३म् यदग्ने स्यामहंत्वं, त्वंवाघास्या: अहम्। स्युष्टे सत्या इहा शिषः॥ ऋग्वेद।

पदच्छेद—अग्ने, यत्, त्वम्, अहम्, स्याम्, वा, घा, अहम, त्वम, स्याः, इह, ते, आशिषः, सत्याः, स्युः।

हे अग्ने, प्रकाश स्वरूप, गति प्रद, सर्वज्ञ, सच्चिदानन्द, पूजनीय प्रभो आपको मैं आत्मसमर्पण

करता हूँ। प्रभो, जो तुम हो वह मैं हो जाऊँ अथवा जो मैं हूँ वह तुम हो जाओ। तब मेरे लिए तेरी आशिषेसत्य हो, यही मेरी कामना है।

(इमे त इन्द्र ते वयम्) हे इन्द्र ये भक्त लोग और हम सब तेरे हैं। (त्वम स्माक तव स्मसि) हे इन्द्र तू हमारा है और हम तेरे हैं। (मा भूम निष्ट या इव) हम कभी दूसरे के न बन (कदामृडीक सुमना अभिख्यम्) मैं कब उस सुखदायक प्रभु के दर्शन करूँगा।

सख्य भाव

त्वं जामिर्जनानामग्ने मित्रोऽसि प्रिय ।
सखा सखिभ्य ईड्य ।

हे प्रकाशमय पूजनीय प्रभो, तुम जनो के बन्धु हो, प्रियमित्र हो उपासक मित्रो के लिए प्रभो आप सच्चे सखा हो।

(सन इन्द्र शिव सखा) वह इन्द्र ही हमारा कल्याणकारी मित्र है। (न यस्य हन्यते सखा न जीयते कदाचन) परमेश्वर का मित्र न कभी मारा जाता है और न कभी जीता जा सकता है। (तवे द्विसख्यममृतम्) प्रभो तेरी ही मित्रता अमृत है। (देवास्त इन्द्र सख्याय येमिरे) हे इन्द्र, विद्वान् लोग तेरी मित्रता चाहते हैं। (त्व न ऊति त्वमिन्न आप्यम्) हे इन्द्र, तू ही हमारा रक्षक और तू ही हमारा बन्धु है।

पाद-सेवन

तद्विष्णो परमपदं सदा पश्यन्तिसूरय ।
दिवीव चक्षुराततम्।

विष्णु के उस परमपद को ज्ञानी लोग सदा उसी प्रकार देखते हैं, जिस प्रकार खुले हुए नेत्र आकाश में सूर्य को प्रत्यक्ष देखते हैं। यहाँ विष्णु के परमपद का अर्थ है विष्णु का स्वरूप। यही कृष्ण महाराज का धाम था। कृष्ण महाराज ने स्वय गीता में कहा है—

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावक ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥

४—प्रेम भक्ति

प्रिय नो अस्तु विश्पतिर्होता मन्द्रो वरेण्य ।
प्रिया स्वग्नयो वयम् ॥

मानवी पूजा का रक्षक सुख सामग्री का प्रदाता समर्पित हवि का ग्रहीता आनन्द स्वरूप प्रभु वरण करने योग्य है। वह प्रभु हमारे लिए प्यारा हो। हम उपासक लोग उसके प्रेम मे निमग्न हो कर उसके प्रिय हों।

५—स्मरण

ओ३म् क्रतोस्मर ओ३म् क्लिबेस्मर ॥

हे क्रतो, (जीवात्मा) बल प्राप्ति के लिए रक्षक प्रभु का बारबार स्मरण कर।

६—अर्चन या पूजा

अभिप्र गोपति गिरा इन्दुमर्चयथाविदे ।
सूनू सत्यस्य स पतिम् ॥

हे उपासक तू अपनी वाणी द्वारा पृथ्वी के पालक सर्व ऐश्वर्य सम्पन्न, सर्व शक्तिमान् तथा सत्य के द्वारा जिसका प्रकाश होता है ऐसे सत्य के पालक इन्द्र की पूजा कर।

(सहस्र साकमर्चत) हजारो एक साथ मिल कर प्रभु की पूजा करो। (यज्ञेन यज्ञ मयजन्त देवा) विद्वान् लोग यज्ञादि शुभकर्मों द्वारा यज्ञ स्वरूप विष्णु का पूजन करते हैं।

७—कीर्तन या स्तुति

ममध्वरेषुईडते देव मर्ता अमर्त्यम् ।
यविष्ठ्य मानुषे जने ॥

जितने भी यज्ञादिक शुभ कर्म है उनमें धार्मिक लोग दिव्य गुण सम्पन्न, अविनाशी प्रभु की ही स्तुति करते हैं। वही प्रभु प्रत्येक मनुष्य के लिए पूजनीय है।

सखायो ब्रह्मवाह से प्रगायत। स हिन प्रमति मंही।

हे मित्रो, प्रकृति के सञ्चालन करने वाले प्रभु के ही गुणो का कीर्तन करो, वही हमारा महान् बुद्धि बल है।

(तमु ष्टवाम य इमा जजान) उस परमात्मा की ही स्तुति करें जिसने यह समस्त सृष्टि उत्पन्न की है। (सत्यमिद्वा उतं वयमिन्द्रं स्तवाम नानृतम्) हम उस सच्चे इन्द्र ही की स्तुति करें किसी झूठे की नहीं।

८—नमन या वन्दन

तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः।

उस ज्येष्ठ ब्रह्म के लिए नमस्कार है।

ओ३म् नमः सायं नमः प्रातर्नमो रात्र्या नमो दिवा।

भवाय च शर्वाय चोभाभ्यामकरं नमः ॥

जगत् के उत्पादक और दुःख विनाशक उभय गुण सम्पन्न ईश्वर के लिये सायंकाल, प्रातःकाल रात्रि में और दिन में नमस्कार करता हूँ।

नमस्ते भगवन्नस्तु यतः स्वः समीहसे।

हे भगवन् आपके लिये नमस्कार है क्योंकि आप अपनी सत्ता में ही सृष्ट्युत्पत्ति आदि की चेष्टा करते हैं।

यजाम इन्नमसा वृद्धमिन्द्रम्।

हम नमन द्वारा उस महान् इन्द्र की पूजा करते हैं।

९—श्रवण—

परमात्मा के सत्स्वरूप का, उसके गुण कर्म स्वभाव का जिन पुस्तकों में यथार्थ वर्णन हो, ऐसे ग्रन्थों का गुरु मुख से सुनना श्रवण भक्ति कहाती है।

न पापासो मनामहे नारायासो न जल्हव।

हे परमात्मन्! हम, पाप, दरिद्रता और द्वेष से मुक्त रहकर तेरी भक्ति करें।

अथर्व वेद और भक्ति मार्ग

(श्री पं० गोपालजी बी० ए० मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ)

पश्चिमीय विद्वानो के मतानुसार अथर्व-वेद एक जादू टोने का वेद है—कई विद्वान इसे आयुर्वेद का एक भाग समझते हैं। यह तो मालूम नहीं हो सका कि उन के यह भाव किस प्रकार बन गए—परन्तु जो साधारण संस्कृत भी जानता है और कुछ थोड़ा सा परमार्थ का अनुभव रखता है—वह अथर्ववेद के विषय मे ऐसा व्यर्थ उपहास नहीं कर सकता—अथर्ववेद शब्द का यदि अर्थ भी देखा जाय तो भी स्पष्ट है कि वह एक अध्यात्म वेद है। अ + थर्व का अर्थ चञ्चलता का न रहना यह स्पष्ट है, और यदि अथ + अर्वन इस प्रकार इसे रक्खें तब भी इसका अर्थ है—"अब इस ओर" यह अर्थ भी इस बात का द्योतक है कि अथर्व-वेद आत्मा को साक्षात् करने का एक महत्व पूर्ण वेद है। अध्यात्म विद्या का स्रोत हमे अथर्ववेद प्रतीत होता है।

अथर्ववेद का दूसरा सूक्त पढ़ जाइए उसमे किस सुन्दरता से अपना तथा भगवान का साक्षात करने के साधनों पर विचार किया गया है।

"वेनस्तत् पश्यन् परमं गुहा यद्यत्र विश्वं भवत्येक रूपम्"

'इस टुकड़े का भाव कितना उत्तम है। उस परम भगवान् को कौन देख सकता है, उसे देख सकता है "वेनः"। वेन का अर्थ है, विचार से देखना। भक्ति करना, सेवा करना, भगवान् को वही देख सकता है, जो विचार से भगवान की भक्ति करता है. अन्ध श्रद्धा, अविद्या का मूल मन्त्र है। सत्य श्रद्धा तभी पैदा होती है—जब बुद्धि रूपी कपाट खुल जाते हैं। जो वस्तु बुद्धि से मापी नहीं गई उसका प्रभाव क्षणिक है जिसका एक बार बुद्धि द्वारा अवगाहन हो चुका है उसका प्रभाव हमेशा के लिये रह जाता है। "श्रद्धा मयोऽयं पुरुषः" 'श्रद्धावान् लभते ज्ञानं" इत्यादि भगवान कृष्ण के वाक्य सार्थक हो सकते हैं जब मनुष्य बुद्धि का आश्रय ले। इसी लिये वेद ने "वेनः" शब्द देकर सारे भ्रमों को दूर कर दिया है। वेनः शब्द का अर्थ है बुद्धि से प्रेरित हुआ भक्त। पश्चिमीय तत्ववेत्ताओं ने भी इसका विवेचन करते हुए तीन मतों का उल्लेख किया है। एक मत है। Hedonism जो केवल हृदय के भावो पर आश्रित है। दूसरा मत है Rationalism जो केवल बुद्धि-परक है। इन दो मतों को यदि पृथक २ रखा जावे—तो वह दोनो त्रुटि पूर्ण हैं परन्तु जब इन दोनो को मिला दिया जाता है अर्थात् हृदय और बुद्धि इन दोनो का समन्वय होने से एक नई शक्ति उत्पन्न होती है जिसका नाम है Endomorism—यह तीसरा मत "वेनः" शब्द को प्रगट करता है हृदय अकेला अन्धा है। बुद्धि अकेली शुष्क है इन दोनो के मिल जाने से जो विकास होता है वह वेन शब्द से वेद मे जाहिर किया गया है। इसी वेद मन्त्र के दूसरे टुकड़े मे "व्रा" शब्द आता है। व्रा का अर्थ है—"व्रती" जो पुरुप अपने आप व्रत धारण करता है और फिर यदि वह किसी व्रत को तोड़ता है तो स्वयं अपने आप को सजा देता है। साधारण मनुष्य दूसरों को उपदेश देना जानता है परन्तु अपने आप को उपदेश देने वाला विरला ही कोई महात्मा होता है। पहले तो अपने आपको उपदेश देना कठिन है यदि कोई दे भी दे तो उस पर अमल न करने का दण्ड भोगने को कोई तैयार नहीं होता। महात्मा गान्धी एक महापुरुष हैं जो वेद के अनुसार "व्रा" कहलाने योग्य हैं। वह न केवल स्वयं दण्ड अपने आपको

देते हैं, प्रत्युत यदि उनके साथी भी कोई अपराधी हों उनका दण्ड भी अपने ऊपर लेने को तैयार रहते हैं।

परन्तु साधारण मनुष्य ऐसा करने के लिये तैयार नहीं—भगवान् का साक्षात् कार तो वही कर सकता है जो उपरोक्त प्रकार से व्रती हो, अगले वेद मन्त्र में शब्द "गन्धर्वः" पड़ा है, गां धारयतीति, अर्थात् जिसका बोली पर संयम है। जब मनुष्य को भगवान् का साक्षात होने लगता है तब मनुष्य चुप रहना अधिक पसन्द करता है तब सुनता ज्यादा है और बोलता कम है। इसलिये उन्हे 'मुनि' कहा जाता है।

ऐसे सुन्दर तथा स्पष्ट मन्त्रो के अनर्थ करके पश्चिमीय विद्वानो को क्या लाभ हुआ यह हमारी समझ मे नहीं आता।

जिस मन्त्र की हमने व्याख्या की है उसका सारांश यह है।

भगवान को देखने के तीन अधिकारी है।

(१) वेनः जो बुद्धि युक्त होकर भगवान की आराधना करता है।

(२) व्रा = जो व्रती है दृढ़ संकल्प वाला है।

(३) गन्धर्व जो कम बोलता है जिसका बोली पर संयम है।

दिवाकर का स्वागत

(सन्देश)

(ले०—लक्ष्मीकान्त मिश्र अध्यापक घनानन्द हाई स्कूल मसूरी)

यद्यपि हम सनातन धर्मी हैं तथापि हम आर्य-समाज के वेदविषयक प्रयत्नो मे सहमत है। वेद आर्य-समाज के ही हैं सो यह बात नही, आर्य-समाज की स्थापना के पूर्व भी कट्टर सनातन-धर्मी पण्डित कुल परम्परा से वेदो की रक्षा करते रहे थे। वेद आर्य-समाजी तथा सनातन धर्मियो की सम्मिलित सम्पत्ति है। वैसे देखा जाय तो आर्य-समाजी लोग तथा सनातन-धर्मी दोनो ही सनातन-धर्मी ही है। क्योकि सनातन धर्म उसको कहते हैं जो सदा से चला आता हो—वेद सनातन हैं वेद प्रतिपादित धर्म सनातन है इसलिये वेद को किसी रूप मे भी मानने वाले सब सनातन धर्मी हैं। वेद सार्वभौम धर्म के प्रतिपादक है—जो कि "मित्रस्य चक्षुषा समीक्षा महे" की शिक्षा देते है,

प्रियं मा कृणु देवेषु
प्रियं राजसु मा कृणु।

की बात कहते है।

हम दिवाकर के वेदाङ्क विषयक प्रयत्न का हृदय से स्वागत करते हैं। पर हम आर्य-सामाजिक भाइयो से एक बात अवश्य कहेगे कि—

वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च
नियमाश्च तपांसिच
न विप्रदुष्टभावस्य,
सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित्॥ मनु॥

प्रत्येक कार्य मे भाव शुद्धिका ध्यान रक्खे तभी सफलता मिलेगी—।

ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः ।

ले० श्री त्यागानन्दजी कुलपति गुरुकुल अयोध्या

अयि ! विद्यारण्य सद्विचार प्रसून परिमला वासितमानमवसना. ! अहो !! निगमागम व्यालोडन सम्प्राप्त तत्वरसिका यथा किलात्र क्षितितले पुरा विचार तर्क सूर्यभेश्या ज्ञानतमिस्राविततिं निशित पापनापदोदूयमानानान्धर्म्म सरणीविरुद्धानाचार कण्टक विद्ध सर्वांगाना ज्ञनकदम्बाना मुद्धाराय सम्पन्न मनोरथा स्वपराक्रमालंकरणाकर्षण समर्था अथवा वितथादर्शगाथा ज्ञानविज्ञान बलप्रबल सनाथा पुरातना स्सन्तो महान्तोऽवतेरु स्तथैवास्याः प्रि यम्वदाया निखिल विश्वसुखदाया भारत्या जनन्या एव कुक्षेर्म्भगवानानन्द कन्दो दयानन्दो महर्षिरपि समस्त प्रशस्त विवेकालोक राहित्ये न पंकिलान्दुस्तरा न्दु:खनिम्भंरा सम्प्रदाय पद्धति न्निर्माय तत्रैव सुत्रजन्तूनिव निवद्धान वन्वमिकाऽहमहमिका प्रकथन मात्र भूपणा न्दलदलायमाना न्मोक्ष क्षमयमानोऽवततारेति नाविदितमस्ति विश्व प्रावल्यमनुसरता मखिलतत्व चातुलानां सुधारसुधा वपुकाणांम्भावुकानां हठकानन वहिर्मुखानां सज्जनानां सामञ्जस्य सुखानाम् ।

सच महनीया योद्धा विवेकसंगरे युयुत्सून्प्रतिभटाननाना शास्त्रास्त्र प्रहरणे नापि माफल्य मभिवाञ्छतः ब्रह्मतेजो वलम्वल मिति समुद्घोषेणैव वशीकुर्वन वशिष्ठता मथवा ध्यात्म भिषग्वरः स यत्नैवा सत्य प्रलयंकर रशतै स्सहस्रैर्वा दलपति भिस्सहयुध्वा तर्ककौशलो विशालो भवतीति वैदिक धर्म धुरन्धरत्व मलञ्चकार । ज्ञानेनविना नच कश्चनाऽपि प्रयाजनीय प्रांगणेऽस्मोघत्वंलभेतेति ममुपदिश्य सर्वतोऽभिषिषेच च निखिलानपि किंकर्त्तव्यता विमूढान्देशीयान् विदेशीयानप्यमूढे वैदिकेपथि । तदाप्रभृति सम्पन्नोऽयमेवाध्वा सरलश्चममुन्नतिलक्ष्म्यायिति समनुसरन्तो धावन्तश्च वहुशोऽवलोक्यन्ते वैदिकाना मेव प्राच्याना मभिमुखम् प्रभावेणमहर्षे रेवेति तत् ।। कथन्नाम तद्गुण गरिमा गीयेता स्माभिरिति अहह ।। अप्रतिमस्तवगुण महिमा महर्षे ।।

अयि ! विवेक ! परन्तप ? यत्त्वया विनयमेत्यमहर्षिशिरोगतम । तत इदम्प्रभया समलङ्कृ तम्प्रति दिशान्नितरां समलंकृतम ।।१।।

कथय किञ्चिदय ज्ञनमण्डले घनरवो विरवे प्रतिश्रूयते । जहित आलस मग्रसरा बुधा अपि कृपेय मितिध्वनतां सदा ।।२।।

गरलमेत्यच धर्म धुरन्धरे दिशि दिशि पृथित न्धवलं यशः ; मनुकुलै रमलं कमलं यथा ज्ञविधुरै भ्रमरैः परिगीयते ।। ३ ।।

किमिति मत्य मियम्वसुधा सुधां घृणितस्वाद्य मवाप्य सुजीविकाम । परिददाति समुन्नति कारिणां स्पृकृति रेव सदैव महीयसाम ।। ४ ।।

यदि महर्षि मनस्य विभावसोर्भवतु अंग. ! पराजय शकिता । अथ विपन्नजगज्जनता विभो ! नच निरासयितुञ्च तम प्रभु. ।। ५ ।।

त्यागानन्द कुल पतिः

THE REVELATION OF THE VEDAS

By

Professor P, K Acharya, I E S, M A (Ca'.) Ph D (Leyden) D Litt (London)

University Professor of Sanskrit and Head of the Oriental Departmen,

Allahbad University

That the Vedas or the collections of Hymns under the titles of Rik, Yajus Sam, and Atharva Angirasa were not created by any human agency is a belief which is shared by hundreds of thousand faithful Indians There were, however, some specially chosen Rishis to whom and to whose sons and disciples the revelation was made and they are collectively known as schools or families who formed a sort of agency and possessed the monopoly But these Rishis are technically stated to be the seers (द्रष्टा) This in the restricted sense should imply those persons to whom the hymns revealed ' themselves presumably as they now exist Thus the metres, accents and all other morphological features of language were included in the forms in which the hymns are stated to have been revealed with or without the divine agency even the human agency being altogether absent These seers, therefore, should be considered different from poets like even Valmiki or Vyasa, who are credited with what is known as poetic ' inspiration rather than the divine ' revelation ' which was reserved for the seers only

So far as the form of the language is concerned there is however hardly any difference between the revealed hymns and the inspired poems. Of the subject matters of the hymns and of the poems the difference is not one of substance or essence but merely of variety While the hymns are mostly lyrical and do not run to chapters and cantoes, the poems may comprise a single stanza or may be an epic like the Mahabharata or the Ramayana or may be a huge Mahakavya The poetic creations are sometimes qualified as artificial imaginary or fanciful to distinguish them from those compositions which are natural, historical or truthful It would be an useless endeavour to pick up particular hymns and poems, to place them side by side, to analyse, compare and contrast them in order to show that both a hymn and a poem may be equally artificial or natural While some of the poems are unquestionably based upon historical facts, none of the hymns can be stated to have any real historical back-ground in the ordinary sense of the term Tradition plays a great part almost equally with regard to hymns and poems. Thus the poems can not be indiscriminately banned as wholly imaginary or fanciful, nor the hymns can be indiscriminately stated to be truthful, if by the term ' truth one is to understand a correspondence between one's thought and deed, that is, the correspondence of what we think and what we see, hear, smell, taste

or feel by touch Indeed the conception of God himself appears to have been a matter of some sort of sense-perception for those who claim a direct communion with what is beyond the scope of mind and and word Lastly, the motive or the spirit of all hymns do not appear to be spiritual or even religious, because they do not always deal with extra-mundane things, ritualistic observance, or even prayers for earthly good or benefit for the incorporeal soul Nor do all poems deal with stories like those of the Arabian nights or of the ten princes There are poems dealing with prayers for the good of the body and the soul, for advantages in this world as well as in the next There are also poems discussing philosophical problems In fact all religious practice and functions are laid down in poems or metrical verses of Manu, Yajnavalkya and others

Thus in respect of form, matter and spirit the divine hymns and the human poems can hardly be distinguished Naturally, therefore, the question arises in what sense the Vedic hymns are to be understood as uncreated or revealed. It would be a useless argument to say that while similar poems have been composep by several inspired poets no body has endeavoured or succeeded in giving out the so-called revealed hymns Merely from the point of view of composition, it is, however, neither impossible nor difficult to compose similar hymns with all the features of Vedic ones by those who are gifted.

The beginning of all original elements are equally unknown and unknowable, be they either the earlier heat, light, air, earth, water etc , or the later atoms and ether, or the modern electron etc., The mere unknown beginning of the hymns need not necessarily make them uncreated or revealed The Sanskrit term 'apaurusheya' would in fact be same as 'beginning-less' But the terms 'revealed' and 'inspired' would equally require some one to reveal or to inspire And this revealer or inspirer must have been really unknown to those who received the revelation or inspiration for the first time It is really difficult to analyse properly the process of our own composition No doubt we gather a stock of words by mere imitation at our infancy and learn lexicon and grammar etc later on And this stock of words revealed themselves to the writers of compositions in a mysterious way in almost innumerable manners

Thus it is the first words which need revelation from some unknown source Hence the idenity of word with God the ultimate Creator becomes necessary In other words when the articulate child utters the first word he really gets the revelation It would be the result of a mere mechanical investigation to say that those who possess a certain type of organs can utter a sound, and others not so gifted can not do so The words must be there to revea themselves through certain machineryl. When these words are revealed they may be composed into hymns or poems It would be idle to think that while the Seers (Rishis) uttered the revealed hymns they fully understood what they said or what

the revelation actually meant or was intended for, but the first poet Valmiki or an infant child, a bird and an insect had no idea of what they were muttering. In each and every one of these instances the uttering of a word or sound must have been induced by some desire. A sound may be meaningless only objectively, it is never meaningless subjectively. For the inability of the listener to understand, a word should not be considered void or meaningless.

Thus the revealed hymns would merely imply that the Seers composed with great facility like first rate poets the originless (apaurusheya) words into poems under different metres. The only difference between Seers and Poets appears to be that while the source of words was unknown to the former, the latter partly knew the source of their stock. But so far as the skill of composition is concerned it may be equally claimed by the Seers and the Poets.

The ' Veda ,, however not in the sense of Samhita or collection of hymns known as Rik, Yajus and Saman, but in the sense of ultimate ' knowledge ' of God may have been revealed to some chosen Rishi like Buddha of later age.

———

वेदों का पुनरुद्धार

लेखक—श्री० वयोवृद्ध ज्ञानवृद्ध चौबे रामदुलारेलालजी एम० ए० एल एल० बी० एडवोकेट फतेहपुर यू० पी०

अर्वाचीन समय मे महर्षि दयानन्द के भारत भूमि मे धार्मिक रंग मंच पर आने से पूर्व वेदो की कथा अकथनीय थी। नाम तो सुनाई देता था परन्तु रूप कहीं दिखाई नहीं देता था। किसी देव मन्दिर की भित्ति अथवा पुस्तकालय मे ऋग० यजु० साम० एवं अथर्व० चतुर्मुखी मूर्ति का दर्शन आकाश पुष्पवत हो रहा था। काशी, कन्नौज, काश्मीर मे भी एक तक चतुरानन दृष्टिगोचर नहीं होता था परिणाम स्वरूप लोगो की धारणा यह हो रही थी कि कलिकाल मे वेद भगवान लोप हो गये है। अलबत्ता किन्हीं किन्ही ब्राह्मणो मे कुलाचार के रूप से वेदो के कुल भागो को मुखाग्र करने की प्रथा विद्यमान थी। योरुप प्रदेशो मे विद्यानुराग के बढ़ने से किन्ही किन्हो संस्कृतज्ञो ने वेद के पठन पाठन का अनुष्ठान धैर्य पूर्वक करना आरम्भ किया हुआ था। परन्तु उनका दृष्टिकोण अन्य ही था। पाश्चात्य विद्वानों की प्रायः यह धारणा चली आती है कि वर्त्तमान पाश्चात्य सभ्यता सर्वोच्च है। मानव सृष्टि का प्रादुर्भाव वानरो से हुआ इसको ६००० वा ७००० वर्ष से अधिक नहीं हुये कि मनुष्य शनैः शनैः वर्त्तमान सभ्यावस्था को पहुँचा। पाश्चात्य विद्वान तथा उनके अनुयायी इसी विचार धारा से प्रभावित अनेक विषयो के मनन मे प्रवृत्त हुआ करते है। पुरातत्ववेत्ताओ के नवकालीन आविष्कारो का कि मनुष्य जाति को विद्यमानता इससे कहीं अधिक प्राचीन है अब तक उपर्युक्त विचार धारा को क्रियात्मक रूप से प्रभावित नहीं कर सके है। इसी कारण पाश्चात्य विद्वानो ने वेद के प्रादुर्भाव के काल निर्माण ही मे केवल समीपता दिखलाई वरम इतने पुरातन वेद मे कई दार्शनिक एवं वैज्ञानिक विचारोका समावेश हो सकता है यह विश्वास करना असम्भव सा कर दिया उनका जो वेदो के स्वाध्याय के लिए सामग्री प्राप्त हुई वह सायण, महीधर, इत्यादि के नवीन भाष्य तथा पौराणिक साहित्य था, ऐसी दशा मे

उन्होंने वेदों को गड़रियों के गीत, प्राकृतिक पदार्थ, नदी पहाड़-सूर्य-चन्द्र-जल-वायु इत्यादि के अनेकानेक उद्गारों का संग्रह ठहराया तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। घृणित हिंसा परक कर्मकाण्ड का पोषक तथा अनादरणीय बतलाया तो क्या अचम्भा है।

विक्रमी सम्वत् के द्वितीय पाद में ऋषि के उपदेश तथा सत्यार्थप्रकाश, ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका आदि उनके रचे ग्रन्थों ने वेदों के महत्व के पुनरुद्धार मे मनुष्यों की विचारधारा में विप्लव उत्पन्न कर दिया। इनके वेद-भाष्य ने जो वेदार्थ सम्बन्धी उथल पुथल मचादी वह बड़ी अपूर्व है,

(१) क्या मंत्र भाग केवल चारों संहिता श्रुति है अथवा ब्राह्मण ग्रन्थ वेदों की शाखायें भी?
(२) वेद सम्बन्धी ऋषि तथा देवताओं से क्या प्रयोजन है?
(३) वेदों के प्रादुर्भाव को कितना समय हुआ?
(४) वेदार्थ शैली क्या है? वेद शब्द यौगिक है अथवा रूढ़ि?
(५) वेदों में इतिहास भी है अथवा इतिहासाभास आलंकारिक वर्णन है?
(६) सायणाचार्य इत्यादि के वेदभाष्य कहां तक प्रामाणिक हो सकते हैं?
(७) प्राचीनतर वेद भाष्यों के प्राप्त करने का उद्योग चल रहा है।
(८) वेद पौरुषेय है अथवा अपौरुषेय?
(९) वैदिक धर्म का क्या महत्व है? वेदों मे दार्शनिक तथा वैज्ञानिक विचारों तथा श्रेष्ठतम का वर्णन कहां तक है? इत्यादि इत्यादि अनेक प्रश्न उठ रहे है तथा उनका समाधान भी हो रहा है।

वेद के गौरव के विषय में आर्यसमाज की धारणा उसके तीसरे नियम मे स्पष्ट है—वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है, वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्यों का परमधर्म है।

इस विषय का स्पष्टीकरण तथा उपर्युक्त प्रश्न सम्बन्धी मीमांसा प्रकाण्ड पाण्डित्य तथा उच्च दार्शनिक विचारों की बात है जिस पर अनेक पुस्तकें लिखी जा रही हैं और लिखी जा सकती हैं। परन्तु उपर्युक्त नियम की पुष्टि में सर्वोच्च दार्शनिक विचारों, वैज्ञानिक सिद्धान्तों का दिग्दर्शन वेदों के कुछेक मन्त्रों से ही हो सकता है जो स्थाली पुलाक न्याय से वेदों के महत्वको भली भाँति स्थापित कर उनके प्रति विरोधी विचारों के निराकरण के लिये पर्याप्त हैं। मानवजाति मे चोटी के विद्वानों, उच्च कोटि के विचारशीलों के जिन प्रश्नों ने उथल पुथल मचाया या मचा रक्खा है वे ईश्वर, जीव तथा प्रकृति सम्बन्धी हैं। हम क्या हैं? यह संसार क्याहै? इसका प्रादुर्भाव तथा संचालन किस केन्द्रीभूत सत्ता के आश्रित है? उस सत्ता व शक्ति का स्वरूप एवं लक्षण क्या है? सारा ज्ञान सार्वभौमिक सिद्धान्त तथा कर्तव्याकर्त्तव्य निरूपण व्यवस्था सबका सम्बन्ध उपर्युक्त प्रश्नों के समाधान से ही है—इन सब विषयों का तत्वज्ञान वेदों में सूक्ष्म रीति से परन्तु स्पष्ट शब्दों मे कराया गया है, इसका बोध एक साधारण बुद्धि का पुरुष भी—कि जिसने कुछ भी इस विषय मे मनन किया है—कर सकता है।

त्रय केशिन ऋतुथा विचक्षते संवत्सरे वपत एक एषाम्। विश्व मेको अभिचष्टे शचीभि र्ध्राजिरेकस्य ददृशे न रूपम्॥ ऋ० १।१६४।४४

तीन प्रकाशमय पदार्थ नियमानुसार विविध रूप से अपना ज्ञान करा रहे है। इस अद्भुत संसार की विचित्रता तथा नियमितता के अवलोकन से भाँति भाँति की अद्भुत बात नियमबद्ध घटनाओं, क्षण क्षण परिवर्त्ती एवं सुव्यवस्थित पदार्थों, आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक नियम शृंखलाओं के विचारणीय गूढ़ रहस्यों के तत्व बोध से तीन भौतिक संत्ताओं का प्रबोध होता है—इन तीन में से एक वह सत्ता है जो इस विकराल शाखा प्रतिशाखा युक्त वृक्ष रूपी विश्व का काल भूमि मे बीज बोती है। स्वभाविक ज्ञान, बल, क्रिया रूपी वीर्य द्वारा एक नियमित अवधि के लिये इस विश्व को रचता है। विकसित करता है जो भाव से प्रादुर्भाव में लाता है। वीर्य को काल मे

वपन करना बड़े रहस्य पूर्ण एवं गूढ़ाशय बोधक शब्द हैं। वीर्य वपन करने से प्रयोजन शक्ति प्रदान करना है, निश्चल मे प्रारम्भिक गति स्थापन करना है। वाष्पवाद (ने बुलाष्योरी) इसके बहुत पीछे की बात है। काल में इस वीर्य को बोना बतला रहा है कि यह संसार स्वरूप मे नित्य नहीं है एक अवधि के लिये निर्मित है जैसे विश्ववर्त्ती सब पदार्थों तथा सारी घटनाओं की कोई न कोई अवधि हुआ करती है उसी प्रकार संसार की भी एक अवधि है और एक अपनी शक्तियों से संसार को दोनों ओर से देखता है। अर्थात् दूसरी सत्ता वह है कि जो अपने स्वाभाविक गुणों, ज्ञातृत्व, कर्तृत्व द्वारा इस विश्व को दो दृष्टि कोण से देखता है स्वयं देखने की क्रिया करता है अर्थात् उसमे ज्ञान तथा क्रिया और इच्छा है। इच्छा स्वतंत्रताकी बोधक हुआ करती है परतंत्र क्रिया के करने में स्वतन्त्रता नहीं हुआ करती है। भावार्थ यह हुआ कि ईश्वर के सृष्टि रचना करने पर जीव के ज्ञातृत्व एवं कर्तृत्व मे साथकता भान होने लगती है। मन्त्र मे यह नहीं कहा कि दूसरी सत्ता अर्थात् जीव मे प्रथम सत्ता अर्थात् इश्वर ज्ञान एवम् क्रिया को स्थापन करता है। इससे स्पष्ट है कि ये गुण नैमित्तिक नहीं वरन स्वाभाविक हैं। दोनों ओर से देखने का प्रयोजन यह है कि जीव मनुष्य योनि पाकर इस विश्व को दो दृष्टि कोण से देखता है एक आधिभौतिक दूसरा आध्यात्मिक एक प्रवृत्ति दूसरी निवृत्ति बंधन तथा मोक्ष दोनो अवस्थाओं का अनुभव करता है। जीव समर्थ है, स्वतन्त्र है, चाहे तो वह अभ्युदय, निश्रेयस दोनों मे सिद्धि प्राप्त कर सकता है। संसार उसके लिये एक सप्रयोजन वस्तु है। एक का वेग दीखता है परन्तु रूप नहीं दीखता यह तीसरी सत्ता है कि जो अपनी गति प्रगति के कारण नाना रूप धारण करती है परन्तु स्वयं उसका क्या रूप है यह सर्वथा अज्ञात है। मनुष्य की अपेक्षा वह अज्ञेय है पदार्थ तत्ववेत्ता वैज्ञानिक लोग अब इस परिणाम को पहुँचे हैं कि इस संसार का उपादान कारण अनेक तत्वों का संग्रह नहीं है तत्व केवल एक है जो कि निरीक्षण, परीक्षण का कदापि विषय नहीं हो सकता। उसकी अन्तिम दशा जो मनुष्य को ज्ञात हो सकती है वह गति मात्र अथवा शक्ति है। दृश्य जगत उस शक्ति का कार्य रूप है—शक्ति तथा कार्य परस्पर एक दूसरे में परिवर्त्तित हो सकते हैं—इन्हीं तीनो सत्ताओं के तत्वज्ञान मे सारे के सारे दार्शनिक वैज्ञानिक लवलीन रहते है। पारावार पाने में अशक्त हैं, कोई इनमें से केवल प्रथम का कोई तृतीय का अनन्य भक्त है यहां तक कि यातो अन्य सत्ताओं के अस्तित्व से उदासीन बन जाता है अथवा इनको विसार देता है। पाश्चात्य तथा पौरस्त्य अद्वैतवादियों के दृष्टि कोण से सारे का सारा विश्व प्रथम सत्ता का ही दृश्यरूप से पसार है इनके आपस के मन्तव्य भेद से असंख्यात अणुरूप चैतन्य शक्तियाँ उसी एक अग्निपुंज की चिनगारियां है दूसरो की विचार दृष्टि से उसीकी छाया रूपी शक्ति का अध्यारोप है—प्रकृतिवादियो के मन्तव्यानुसार यह संसार मूल कारण प्रकृति का प्रपंच है विकास है परन्तु स्वयं उसका क्या रूप क्या लक्षण है ? बतलाने मे असमर्थ है मूक है। एक अन्य प्रकार की विचार शैली भी पाई जाती है कि जिसके अनुसार द्वितीय तथा तृतीय सत्ताओं का ही खेल यह सारा संसार है यह लोग विश्वस्थितिकी कोई अवधि नहीं मानते परन्तु उपर्युक्त वेद मंत्रबतलाता है कि निमित्त कारण तथा उपादान कारण भिन्न भिन्न सत्तायें हैं एक चेतन दूसरी जड़ लक्षण युक्त है एक तीसरी सत्ता है जो अपने लाभालाभ के लिये इस जगत मे प्रयत्नवान है। यहां पर जीवों के इन सहधर्मी होने के कारण कर्तृत्व, ज्ञातृत्व, तथा भोक्तृत्व में सहधर्मी स्वाभाविक गुणों में समानता रखने के कारण एकीकृत रूप से वर्णन किया है। व्यावहारिक भाषा में भी ऐसा ही प्रयोग होता है। इसी प्रकार के वेदो मे अनेक मन्त्र आये हैं कि जिनमे से किन्हीं मे विश्वरचना, रचना प्रकार, ईश्वर, जीव तथा प्रकृति सम्बन्ध, पदार्थ-विज्ञान, सामाजिक संगठन, कर्त्तव्याकर्तव्य निरुपण, मनुष्य जीवन का लक्ष्य उसकी प्राप्ति के साधन, इत्यादि इत्यादि का वर्णन बड़ी उत्तमता से किया गया है सिद्धांत दूसरे शब्दों में परा अपरा विद्या सम्बन्धी सर्व आचार विचारों का वर्णन स्वरूप से रहस्यपूर्ण शब्दों में किया गया है। इससे सिद्ध है कि वेद तत्वज्ञान के अगाध विचारधारा अपरम्पार एवं उनको भण्डार उनकी महत्ता सर्वथा निर्विकार है।

वैदिक भूगोल

ले० श्री० प्र० क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय, एम० ए० अध्यापक, प्रयाग विश्वविद्यालय

दृष्टि भेद

(हम वेदाङ्क के पाठकों का ध्यान इस लेख की ओर आकर्षित करते हैं क्योंकि अत्यन्त विचार परिस्कृत लेख है—नरदेवशास्त्री)

भूर्भुवः स्वरिमे लोका यतो जन्मादि लेभिरे ।
तं ध्यात्वा भारतस्यास्य निवेशः श्रौत उच्यते ॥

वेद शब्द से मन्त्र, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् का ग्रहण होता है। अत वैदिक भूगोल जानने के लिये हमें मन्त्रादिक वेद के चारो विभाग का उपयोग करना चाहिये। श्रौत सूत्र गृह्य सूत्र और धर्म सूत्र स्मार्त ग्रन्थ हैं वेद नहीं हैं। इस कारण से उनमें जो भौगोलिक बातें पाई जाती हैं उनका उपयोग यहाँ नहीं किया जायगा। परन्तु स्मार्त ग्रन्थ होने पर भी यास्क के निरुक्त का उपयोग किया जायगा कारण यह है कि वह वैदिक शब्द और व्याख्यान है।

वेद में जगत् का विभाग तीन लोकों म किया गया है। वे तीन लोक पुराणादिक की तरह पृथिवी, स्वर्ग और पाताल नहीं हैं परन्तु (१) पृथिवी (२) अन्तरिक्ष अर्थात वायु लोक और (३) द्युलोक अथवा स्वर्ग हैं। मेघ, विद्युत् और वायु अन्तरिक्ष में हैं और सूर्य है स्वर्ग में। 'स्वर्' शब्द सूर्य और स्वर्ग दोनों के लिये आता है। ब्राह्मणों मे कहीं कहीं इन तीन लोकों के लिये 'भूः' 'भुवः' और 'स्वः' ये तीन नाम ("महाव्याहृति") आये हैं। ऋक् संहिता में पृथिवी अन्तरिक्ष और द्युलोक भी तीन तीन विभागों मे विभक्त पाये जाते हैं। परन्तु कहीं कहीं तो "तीन पृथिवी" या "तीन द्युलोक" पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक के लिये आया है। वैदिक शब्द कोश "निघण्टु" में देवताओं के नाम तीन विभाग में दिए हुए हैं, प्रथम में पृथिवी मे रहने वाले देवता हैं, द्वितीय में अन्तरिक्ष में रहने वाले और तृतीय में स्वर्ग वासी देवता हैं। यही लोक विभाग वैदिक साहित्य में सर्वत्र पाया जाता है।

इनमे पृथिवी ही से हम लोगों का कार्य है। "पृथिवी" या "पृथ्वी" शब्द का अर्थ है 'विशाल'। ऐसे उसी अर्थ में "मही" शब्द आया है और यास्क के मत से पृथिवी के पर्याय रूप "गो" शब्द का यही अर्थ है ("गौरिति पृथिव्या नामधेयम। यद् दूरङ्गता भवति")। पृथिवी की गति के विषय में कोई श्रौत प्रमाण नहीं है। पृथिवी चक्र की तरह वृत्ताकार है यह ऋक्संहिता के मन्त्रों से स्पष्ट है। ऋक्संहिता १०-८९-४ मे कहा गया है कि इन्द्र ने पृथिवी और द्युलोक को दृढ़ किया है जैसे कि दो चक्र अक्ष के द्वारा दृढ़ रूप से घृत होते हैं। परन्तु पृथिवी गोलाकार भी है और उसके दूसरे तरफ आकाश है ऐसा प्रमाण वेद में कहीं नहीं मिलता है। सूर्य का उदय अस्तमन होता है तब सूर्य कहाँ जाता है और कैसे पुनः पूर्व दिशा में आ जाता है यह प्रश्न वेद मे कहीं २ उठाया गया है (यथा ऋ० सं० १।२४।७) परन्तु इस प्रश्न की बड़ी विचित्र मीमांसा ऐतरेय ब्राह्मण ३।४४ में की गई है। वहाँ सूर्य के विषय में कहा गया है कि "वह कभी अस्त नहीं होता है, न उदित होता है। लोग जो समझते हैं कि सूर्य अस्त होता है वह ऐसा है कि दिन के अन्त को पहुँच कर सूर्य अपने को पलट लेता है और रात्रि को नीचे करके और दिन को ऊपर करके (फिर लौट आता है), और जो लोग समझते हैं कि वह प्रातःकाल में उदित होता है वह ऐसा है कि सूर्य रात्रि के अन्त को पाकर अपने को (फिर) घुमा लेता है, और दिन को नीचे करके

और रात्रि को ऊपर करके (पश्चिम की ओर चलता है)। वास्तव में वह कभी अस्त नहीं होता है।" इसका अर्थ यह है कि सूर्य के एक भाग में दिन या प्रकाश है और दूसरे में रात्रि या अन्धकार है। सूर्य जब पूरब से पश्चिम की ओर चलता है तब प्रकाश वाला भाग हमारी तरफ रहता है और अन्धकार वाला भाग ऊपर। इससे हमें दिन को प्रकाश मिलता है। पश्चिमाकाश को पहुँच कर सूर्य अन्धकार वाला अंश हमारी तरफ और प्रकाश वाला अंश देवों की तरफ करके पूर्व दिशा में लौट आता है। इससे रात्रि को पृथिवी अन्धकार में रहती है। ऋक्संहिता १।११५-५, ५।८१।४, ६।६।१, ७।८०।१, १०।३७।३, प्रभृति का यही तात्पर्य सा विदित होता है। ऐतरेय ब्राह्मण ८।२५ में कहा गया है कि समुद्र से पृथिवी घिरी हुई है परन्तु पुराण की तरह पृथिवी का द्वीपों में विभाग वेद में नहीं पाया जाता है।

इस पृथिवी का बहुत अल्प भाग वेद युग में आर्यों को ज्ञात था। ऋक्संहिता में जितने भौगोलिक नाम पाए जाते हैं वे सब पञ्जाब, काश्मीर और अफगानिस्तान के हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि आर्य लोग उस समय इन स्थानों में रहते थे और इनके बाहर किसी देश से विशेष सम्बन्ध नहीं रखते थे। क्रमशः आर्य लोग मध्यदेश की ओर बढ़े। ऋक्संहिता ३।३३ और ३।५३ से विदित होता है कि पञ्जाब के दक्षिण की ओर बढ़ने में विश्वामित्र अग्रणी था। वह तृत्सु-भरत वंश के सुदास् राजा को और उनके लोगों को लेकर विपाश् (व्यास) और शुतुद्री (सतलज) नदी पार होकर मध्यदेश के ओर आया। और २ आर्य के लोग बाद को क्रम से इधर को बढ़े। कुरुक्षेत्र के आसपास में सदियों तक प्रधान २ आर्य जातियाँ रहीं और यहीं यजुर्वेद और ब्राह्मणों के युग की सभ्यता का केन्द्र था। शतपथ ब्राह्मण के प्रथम काण्ड चतुर्थ अध्याय के प्रथम कांड से इस देश से पूर्व की ओर आर्यों के बढ़ने की सूचना हमें मिलती है। सरस्वती के तट पर विदेघ माथव नाम का राजा था, जिसका पुरोहित था गोतम राहूगण। ये दोनों अग्नि वैश्वानर को अनुसरण करते हुए सदानीरा नदी के तट तक पहुंचे। अग्नि वहाँ रुक गया और राजा विदेघ माथव सदानीरा के उस पार जाकर रहने लगा। शतपथ ब्राह्मण कहता है कि यह सदानीरा नदी कोसल और विदेह राष्ट्र की सीमा है। यद्यपि पहिले ब्राह्मण लोग इस नदी के पूर्व में नहीं रहते थे शतपथ ब्राह्मण के समय उसके पूर्व पार में बहुत से ब्राह्मण रहते थे और वहाँ यज्ञ करते थे (श० ब्रा० ११।४। १४।१६)। ब्राह्मण युग में पूर्व भारत में आर्य निवास बहुत कम था। परन्तु क्रमशः ब्राह्मण्य सभ्यता सम्पूर्ण आर्यावर्त में फैल गई। शतपथ ब्राह्मण के चतुर्दश काण्ड के अन्तर्गत बृहदारण्यक उपनिषद् में हम देखते हैं कि विदेहराज जनक ब्रह्मविद्या का एक बड़ा भारी भक्त था। विन्ध्य के दक्षिण में वैदिक सभ्यता का प्रसार होने में काफी विलम्ब हुआ था।

स्वर्गत लोकमान्य बाल गङ्गाधर तिलक महाशय के मत में वैदिक आर्य लोग सुमेरु (North Pole) में आये थे और उनके प्राचीन ग्रन्थों में उस पुराने सुमेरु निवास का गन्ध मिलता है।* परन्तु बिना पक्षपात से जब हम इस विषय पर विचार करते हैं तब हमें मालूम होता है कि इस मत के लिये कोई प्रमाण नहीं है। तिलक महाशय ने अवश्य ही बहुत से प्रमाण का उद्धार किया है परन्तु वे सब प्रमाण न होकर प्रमाणाभास हैं। वेद के वचनों से अपने अनुकूल अर्थ करने के लिये आपने बड़ी खींचातानी की है, उनकी व्याख्या में तो सब से बड़ा दोष यह है कि व्याख्या करने के समय उपक्रम और उपसंहार के ऊपर कुछ भी ध्यान नहीं दिया गया। ऋक्संहिता प्रभृति से जिन अंशों का उद्धार करके तिलक महाशय ने सुमेरु निवास की पूर्व स्मृति सिद्ध करने का प्रयत्न किया है उनका अर्थ वैसा नहीं है। वैदिक साहित्य भर में केवल तैत्तिरीय आरण्यक में मेरु का ज्ञान पाया जाता है और यह तैत्तिरीय आरण्यक बहुत ही अर्वाचीन ग्रन्थ है।†

* B. G. Tilak, Arctic Home in the Vedas.

† तैत्तिरीय आरण्यक स्मृति तक का नाम लेता है, "स्मृतिः प्रत्यक्षमैतिह्यमनुमानश्चतुष्टयम्। एतैरादित्यमण्डलं सर्वैरेव विधास्यते॥" (१।२।१)। यह आरण्यक की भाषा भी बहुत अर्वाचीन है।

वैसे पार्सी धर्म ग्रन्थ आवेस्ता के जिस भाग में ("वेन्दिदाद") मेरु के विषय में कथन है वह भी आवेस्ता का सब से अर्वाचीन भाग है।[1] ऐसे अर्वाचीन ग्रन्थो के प्रमाण से चलना और पुराणों के आधार पर वेद का अर्थ करना एक ही समान है। पुराणों में तो सुमेरु का ज्ञान अति स्पष्ट है। परन्तु इससे तो यह सिद्ध नहीं होता है कि वेद के पूर्व काल मे आर्य लोग सुमेरु मे रहते थे और वेद मे सुमेरु निवास की छाया है। इसी रूप से जर्मन पण्डित हिलब्रान्त * या ब्रुनहोफर $ का यह दिखाने का प्रयत्न कि ऋग्वेद के कुछ अंश भारतवर्ष के बाहर ईराण या मध्य एशिया में रचे गये, सर्वथा निष्फल है। वेद मे तिब्बत मङ्गोलिया, चीन-देश प्रभृति के उल्लेख है; यह दिखाने के लिये पण्डित उमेशचन्द्र विद्यारत्न का प्रयत्न ‡ भी विफल हुआ है। डाक्टर अविनाशचन्द्र दास ने ऋग्वेद के समय पंजाब की जैसी भौगोलिक परिस्थिति समझी है वह भी सर्वथा निराधार है। ?

पृथ्वी मे सब से स्थिर वस्तु पर्वत है। नदी प्रभृति बदल जाती है परन्तु पर्वत बदलता नहीं। !

[1] वेन्दिदाद का काल लगभग ख्रीष्ट पूर्व द्वितीय या तृतीय शताब्दी के इधर ही है।

* Alfred Hillebrandt, Vedische Mythologie.

$ Hermann Brunnhofer, Urgeschicthe der Arier in Vorder-und Central Aasien.

‡ ऋग्वेदभाष्योपोद्घातप्रकरणम्। Rigveda Samhita part I'

? Rigvedic India। आप के मत से उस समय राजपूताना एक बड़ा भारी समुद्र था और सरस्वती नदी उस समुद्र मे आकर गिरती थी। इनके मत का खण्डन मैंने Calcutt Review, May, 1922. पृष्ठ ३१७-३२२ में संक्षेप से किया है।

! देखिये उत्तररामचरित २।२७ "पहिले जहाँ नदियों का सोता था वहाँ इस समय बालू है जहां वृक्ष घने थे इस समय कम हो गये, जहाँ कम थे अब घने हो गये। बहुत दिन के बाद देखा हुआ वन 'वही है' यह पर्वतों के अवस्थान से हम दृढ़ रूप से जान सकते हैं।"

संस्कृत में पर्वत को भूधर (अर्थात् पृथ्वी को धारण करने वाला) भी कहते है। इस "पर्वत" या गिरि का और अलग अलग पहाड़ो के नाम वेद कई बार आये हैं। कहीं तो बादलों को रूपक के द्वारा पर्वत करके व्यपदेश किया गया है। वेदाङ्ग निघण्टु (१।१०) मे तो पर्वत और गिरि शब्द साक्षात् मेघ के पर्याय रूप मे दिये हैं। क्षितिज मे मेघ कुछ पर्वत सा दीखता है। इससे वैदिक कवियों को मेघ पर्वत-रूपक की सामग्री मिल गई। पुराण की तरह कृष्ण यजुर्वेद की काठक संहिता (३६।७) और मैत्रायणीय संहिता (१।१०।१३) मे यह आख्यायिका है कि पूर्वकाल मे पर्वतो के पक्ष थे, उनके बल से वे उड़ कर जहाँ इच्छा होती थी वहाँ उतरते थे इससे पृथ्वी बहुत ढीली रही; इन्द्र ने उन पक्षो को काट दिये और पृथ्वी को दृढ़ किया। यह आख्यायिका वार्षिक इन्द्र-वृत्र-युद्ध (= वर्षा) के रूपक से बनी हुई कवि कल्पना मात्र है, भूगोल के अज्ञान से उत्पन्न नहीं मालूम होता है। अस्तु इन रूपकों से यह बात सिद्ध होती है कि वैदिक आर्य लोग पर्वत से परिचित थे और पर्वत से उनका प्रेम भी था। पर्वतों से नदियो की उत्पत्ति के उल्लेख कई जगह पर आये हैं। पर्वतो मे रहने वाले भयंकर जानवरों (सिंह ?) का भी उल्लेख है। परन्तु पर्वत विशेष के नाम वेद मे बहुत ही कम हैं। "हिमालय" नाम नहीं है परन्तु "हिमवन्त" शब्द है। यह भी कई जगह पर पर्वत सामान्य के अर्थ मे आया है, परन्तु कई स्थान पर अवश्य ही हिमालय पर्वतश्रेणी के अर्थ मे आया है। खेद की बात यह है कि हिमवत् पर्वत का विस्तार वैदिक आर्य लोग कहां से कहां तक समझते थे यह जानने के लिये कोई उपाय नहीं है। वेद में और एक पर्वत का नाम आया है, मूजवत्। मूजवत् शब्द एक जाति के अर्थ मे भी आया है। मूजवत् शब्द का पर्वत अर्थ करने के लिये हमारे लिये प्रमाण हैं यास्क। ऋक्संहिता १०।३४।१ में सोम को मौजवत (= मूजवत् वाला) कहा गया है। निरुक्त ६।८ में इस मन्त्र की व्याख्या करते समय यास्क ने कहा है कि मौजवत का अर्थ है मूजवत् पर्वत में जात। इस पर्वत से वहां के

निवासियों का नाम मूजवत् हुआ होगा । मूजवत् पर्वत कहां था यह जानने के लिये कोई उपाय नहीं है । परन्तु अथर्ववेद संहिता ५।२२ तैत्तिरीय संहिता १।८।६।२ प्रभृति के कथन से यह हम अनुमान कर सकते हैं कि मूजवत् गान्धार या बाल्हीक देश की ओर उत्तराखण्ड में कहीं दूर देश पर था। हिमालय में एक त्रिककुभ् नाम के त्रिकूट पर्वत का कई जगह पर उल्लेख आया है। वहां से एक खास अंजन आता था। शतपथ ब्राह्मण १।८।१।६ में कहा गया है कि महा-ओघ (Flood) के हट जाने पर मनु की नाव उत्तरगिरि (=हिमालय ?) की जिस जगह पर उतरी वह 'मनोरवसर्पण' (मनु का उतार) नाम से प्रसिद्ध है। इसकी परिस्थिति हमें मालूम नहीं है। तैत्तिरीय आरण्यक १।३१ में हम और तीन पर्वतों के नाम पाते हैं, सुदर्शन, क्रौञ्च और मैनाग। इनमें से क्रौञ्च और मनाग (मैनाक इस आकार से) के नाम पुराण में पाये जाते हैं । सुदर्शन कौन पर्वत है यह स्पष्ट नहीं है। परन्तु परवर्ती साहित्य में जब सुदर्शन मेरु के पर्याय रूप में आता है, यह असम्भव नहीं है कि यहां सुदर्शन का अर्थ मेरु ही है। यह तैत्तिरीय आरण्यक बहुत ही अर्वाचीन ग्रन्थ है, इसमें पुराण में या परवर्ती संस्कृत साहित्य के प्रयोग से मेल खाना कुछ असम्भव नहीं है। तै० आ० १।३१ में कहा गया है कि इन तीन पर्वतों में वैश्रवण (कुबेर या कुबेरपुत्र) का नगर है। तैत्तिरीय आरण्यक १।७ में महामेरु का नाम स्पष्ट रूप से लिया गया है, और यह कहा गया है कि कश्यप नाम का अष्टम सूर्य उस पर्वत को छोड़ता नहीं है, उसके चारों ओर घूमता है । इससे सिद्ध होता है कि इस महामेरु से सुमेरू (North Pole) को समझना चाहिए।

देशों की सीमा निर्देश के लिये पर्वत की तरह समुद्र भी बड़ा उपयोगी है। वेद में समुद्र का नाम कई जगह पर आया है। यद्यपि वैदिक युग में आर्य लोग समुद्र के तट पर नहीं रहते थे, तथापि साक्षात् या परम्परा से समुद्र का ज्ञान इन लोगों को था । नदियों के समुद्र में पहुंचने का उल्लेख ऋकसंहिता १।७१।७, १।१६३।१, १।१६०।७, ३।३६।७, ३।४६।४, ४।२१।३, ५।५५।५, ५।८५।६, ६।३६।३, ७।४६।२ ७।९५।२, ८।६४।२५, ६।८८।६ और ६।१०८। १६ में है । ऋकसंहिता १।४७।६, अथर्वसंहिता १६।३८।२ में समुद्रजात वस्तुओं का और अथर्वसंहिता ४।१० में समुद्र में उत्पन्न मुक्ता ("शङ्ख कृशन") का उल्लेख है । कहीं-कहीं आकाश को समुद्र रूप से कल्पना की गई है और नीचे का और ऊपर का ये दो समुद्र का उल्लेख है (यथा, ऋ० सं० ७।६।७, १०।६८।५, अ० सं० ११।५,६ ?) । तुग्र के पुत्र भुज्यु के विषय में एक आख्यायिका ऋकसंहिता की कई जगह पर आई है (१।११६।३, १० इत्यादि), जिससे विदित होता है कि समुद्र यात्रा में भुज्यु बड़ी विपत्ति में पड़ा और अश्विकुमारों ने उसे बचा कर किनारे पर पहुंचाया । कोई खास समुद्र का नाम वेद में नहीं मिलता है केवल ऋकसंहिता १०।१३६।५, शतपथ ब्राह्मण १।६।३।११ प्रभृति कुछ अल्प स्थलों में पूर्व और पश्चिम इन दो समुद्रों का उल्लेख आया है। यह उल्लेख बहुत ही अस्पष्ट है ।

परन्तु नदियों के विषय में वेद में बहुत कुछ सामग्री हमें मिल जाती है। 'सिन्धु' शब्द परवर्ती काल के संस्कृत में समुद्र के अर्थ में आया है, किन्तु ऋग्वेद संहिता में इसका अर्थ है "नदी" या एक खास नदी—सिन्धु नद या Indus । नदी के लिये वेद में और कई शब्द आये हैं, यथा "नदी" "स्रवन" इत्यादि। ऋकसंहिता एवं और वेदों में जिस रूप से नदियों का उल्लेख आया है उससे हमें विदित होता है कि वैदिक आर्य लोग नदी के बड़े भक्त थे और उनकी आबादी नदियों के तट पर बसी हुई थी । इस नदी मातृक देश के निवासियों के लिये यह बहुत ही उचित बात है। वेदों में, खास ऋकसंहिता में, बहुत सी नदियों के नाम आये है । उनमें से कुछ नाम तो आज तक वैसे ही हैं और कुछ में परिवर्तन हो गया है। परन्तु जिन नदियों के वेद में आजकल की तरह नाम हैं उनमें से कुछ तो अवश्य ही आजकल इन नामों से प्रसिद्ध नदियां

से भिन्न थी। आर्य लोग ज्यों-ज्यों आगे बढ़े त्यों-त्यो उनको नई-नई नदियां और नए-नए देश मिले। औपनिवेशिकों में प्रायः यह प्रवृत्ति होती है कि वे स्थान से पुराने देश के नाम का उपयोग करते हैं। जैसे कि अंग्रेजों ने अमरीका देश मे इंग्लैण्ड के यार्क (York) शहर के अनुसार एक शहर का नाम रक्खा न्यू यार्क (New York), आस्ट्रेलिया मे वेल्स (Wales) के अनुकरण से एक देश का नाम रक्खा न्यू साउथ वेल्स (New South Wales), जैसे इंगलैण्ड के केम्ब्रिज (Camdridge) की नकल मे अमरीका देश के मेसाचूसेटस [Massachussets] प्रदेश मे शहर है केम्ब्रिज [Cambridge], जैसे कि हमारे मथुरा या मथुरा शहर की नकल मे दक्षिण से है मदुरा, पञ्जाब की इरावती [रावि] नदी के अनुकरण से ब्रह्मदेश मे एक नदी का नाम हुआ 'इरावदी' जैसे कि अङ्ग देश की चम्पा के अनुकरण से बृहत्तर भारत मे हिन्दू औपनिवेशिकों ने अन्नाम देश का नाम रक्खा 'चम्पा'। इस प्रकार से वेद मे आधुनिक सरस्वती, सरयू, गोमती और यमुना से भिन्न सरस्वती, सरयू गोमती और यमुना नदी पाई जाती है। मैं आगे इस का विस्तार करूँगा।

नदियों के विषय में मै एक बात पहिले ही कह देना चाहता हूँ। लोग प्राचीन समय का नकशा खींचते वक्त नदियों की स्थिति इस समय की तरह समझ लेते हैं। परन्तु यह समझना बहुत ही भ्रमपूर्ण है। नदियों की धारा अकसर बदलती रहती हैं। मध्य एशिया की वक्षु (Oxus) नदी इस समय अरल (Aral) सागर मे पहुंचती है, परन्तु ग्रीक भौगोलिक स्ट्राबो (ख्री० पू० प्रथम शताब्दी) के समय में काश्यप (कास्पियन Caspian) सागर मे पहुँचती थी। * अरब लोगो ने जब पहिले पहल हिन्दुस्तान मे चढ़ाई की उस समय पञ्जाब के दक्षिण मे एक बड़ी भारी नदी थी, जिसका नाम था हकरा या वाहिन्दा। इस समय वह नदी बिलकुल सूख गई है, उसका पुराना मार्ग अभी तक नजर आता है। ‡ पंजाब की नदियों की धारा में और कई परिवर्तन में हो गए। वर्तमान काल में भी भारत की नदियों की धारा प्रायः बदलती हुई दीखती है। हमारे प्रयाग के सामने गंगाजी की परिस्थिति हर साल कुछ न कुछ बदलती रहती है। मेरे श्रीमान् गुरु जी महामहोपाध्याय डाक्टर गंगानाथ झा जी से मालूम हुआ कि उनके देश (दरभंगा) में एक कमला नाम की नदी है जो कि इसी साल मे कमला नाम की दूसरी एक नदी से मिल गई है, जिससे इसका पहिले कोई सम्बन्ध नहीं था। सिन्ध के "मोहनजो दड़ो" मे जो प्राचीन सभ्यता के भग्नावशेष मिले हैं उनका ध्यान से निरीक्षण करने से पता चला है कि सिन्धु नद उस समय शहर के किनारे ही पर था, परन्तु इस समय सिन्धु कई मील दूर को हट गया है + । सब देशों की जलवायु धीरे धीरे बदल जाती है इससे वर्षा मे परिवर्त्तन होता है और इस कारण से भी नदियों की धारा बदल जाती है ☧। इन कारणों मे वेद के समय कौन नदी कहाँ से बहती थी यह हम स्पष्ट रूप से नहीं जान सकते हैं।

सम्पूर्ण वैदिक साहित्य के भीतर ऋग्वेद संहिता मे सब से अधिक नदियों के नाम आते हैं। परन्तु "सब नदियों" इस अर्थ मे ऋक्संहिता में "सप्त सिन्धवः" या "सप्त स्रवतः" या ऐसे शब्द आये हैं,

* MacCrindle Ancient India as described by Classical Writers, pp 96-99

‡ देखिये H G Raverty, The Mihran of Sind and its Tributaries G. A S. B 1892 पृष्ठ १२५-५०८)। इसमें कई नक्शे हैं, जिन पर विशेष ध्यान देना चाहिये।

+ देखिये Mohenjodaro and the Indus Civilization Vol I, chapter I और नक्शा।

☧ Ellsworth Huntington की Pulse of Asia और Civilization and Climate देखिये। नदियो की धारा मे परिवर्तन होने मे और भी कारण होते हैं।

जिनका अर्थ है "सात नदियाँ"।? परन्तु नदियों की परन्तु नदियों की संख्या वास्तव में सात से कहीं अधिक है। लोग समझते हैं कि "सात" प्रधान प्रधान नदियों की संख्या है, परन्तु सात प्रधान नदी कौन हैं इसमें इतना मतभेद है कि हमें कोई व्यवस्था नहीं दीखती है। सायण तो सत का अर्थ जब "सात" समझते हैं तब "गंगादि सात नदियाँ" ऐसा अर्थ करते हैं गंगादि सात नदी मे सायण गंगा, यमुना, गोदावरी, सरस्वती, नर्मदा सिन्धु और कावेरी को समझते होंगे*। परन्तु गोदावरी, नर्मदा और कावेरी इन दक्षिण की नदियों के नाम ऋक्संहिता में कहीं भी नहीं आये हैं और गंगा का नाम केवल एक बार आया है। इस कारण से "सात नदियाँ" ये सात नदी नहीं हो सकती है। पंजाब की पाँच नदी और पूरब की सरस्वती और पश्चिम की सिन्धु, इन नदियों से भी संख्या पूरी नहीं की जा सकती है कारण यह है कि पंजाब मे और भी नदियाँ हैं जिनका उल्लेख ऋषियों ने किया है और सिन्धु के पश्चिम की सहायक नदियों के नाम कई बार आये हैं, उनको छोड़ने का हमे क्या अधिकार है? अतएव "सात नदियाँ" यह हमारे लिये एक बड़ी भारी समस्या है। शायद आर्य लोग पहिले जहाँ रहते थे वहाँ सात ही नदियाँ थीं इस कारण से "सप्त नदी" के अर्थ मे इन लोगों को "सात नदी" कहने की आदत पड़ गई होगी।

वेद में इन नदियों के नाम आये हैं—अनितभा, असिक्नी, आपया, आर्जीकीया, कुभा, क्रुमु, गंगा, गोमती, त्रिष्टामा, दृषद्वती, परुष्णी, मरुद्वृधा, मेहत्नू यमुना, यव्यावती, रथस्या, रसा, वरणावती, वितस्ता, विपाश्, विबाली, शुतुद्री, श्वेत्या, सदानीरा, सरयू, सरस्वती सिन्धु, सुदामा, सुवास्तु, सुषोमा और सुसर्तु। इनके अतिरिक्त और तीन नाम आये हैं, शिफा और हरियूपीया, वे कुछ लोगो के मत से नदी के नाम हैं, परन्तु इस विषय में हम निःसंशय नहीं हो सकते हैं। शतपथ ब्राह्मण में दो जगह पर (१२।८।१।१७ और १२।६।३।१) एक मनुष्य का नाम आया है, "रेवोत्तर" जिसका अर्थ जर्मन पण्डित वेबर ने "रेवा के उत्तर तट पर रहने वाला" ऐसा समझा है। उसके मत से यहाँ हम रेवा या नर्मदा का नाम पाते हैं। असिक्नी, कुभा, क्रुमु, गंगा, गोमती, परुष्णी, मरुद्वृधा, वितस्ता, विपाश्, शुतुद्री, सरस्वती, सिन्धु, सुवास्तु और सुषोमा कौन नदियाँ है इस विषय मे हम निःसंशय है, यव्यावती रथस्या वरणावती, विबाली, और सुदामा कौन नदी हैं यह हम जान नहीं सकते हैं और अनितभा, आपया, आर्जीकीया, त्रिष्टामा, दृषद्वती, मेहत्नू, ऋक्संहिता १०।७५।५ भिन्न अन्यस्थान मे आई हुई यमुना, रसा, श्वेत्या, सदानीरा, सरयू और सुसर्तु के विषय मे कुछ सन्देह हैं। नीचे इनके विषय मे विशेष विवरण दिया जा रहा है। नदियो मे सरस्वती का नाम सबसे अधिक आता है। ऋक्संहिता के १० म मण्डल का ७५ वाँ सूक्त नदी स्तुति नाम से प्रसिद्ध है। इसमें सिन्धु के तट पर रहने वाला कोई प्रैयमेध ने सिन्धु और उसकी सहायक नदियों की स्तुति की है। यहाँ एक स्थान पर बहुत सी नदियों के नाम पाये जाते है। उसकी पाँचवी ऋचा मे सिन्धु की पूर्वतट वाली सहायक नदियो के नाम क्रम से दिये हुए हैं और छठी मे पश्चिम तटवाली सहायक नदियों के और सिन्धु का नाम है।

? 'सिन्धु' शब्द का अर्थ यहाँ नदी है, समुद्र नहीं। ऋक्संहिता के केवल ५।११।५ और शायद ८।२५।१४ में 'सिन्धु' का अर्थ समुद्र है। अन्यत्र जहां जहाँ यह शब्द ऋक्संहिता में आया है वहाँ अर्थ है नदी या सिन्धु नद। पुराणों के युग में सिन्धु शब्द का समुद्र अर्थ अधिक प्रचलित होने से "सात सिन्धु (= "सात नदियाँ") "सात समुद्र" यह अर्थ पाया। पौराणिक भूगोल मे सात समुद्रों की कल्पना का मूल यही वैदिक शब्द के अर्थ समझने का भ्रम है।

*देखिये जलशुद्धि का मन्त्र, गंगे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति। नर्मदे सिन्धु कावेरि जलेऽस्मिन सन्निधिं कुरु॥

अनितभा—ऋक्संहिता ५।५३।६, यह सिन्धु के पश्चिम की कोई (सहायक नदी) होगी।

असिक्नी—ऋ० सं० ८।२०।२५,१०।७५।५ मे आया है। यास्क के निरुक्त (६।२६) से विदित होता है कि यह चन्द्रभागा या वर्तमान चीनाब है। ग्रीक लोग इस नदी को अक्षर विपर्यास करके "अकेसिनेस्" नाम से जानते थे।

आपया—केवल ऋक्संहिता ३।२३।४ मे आया है। इसके साथ सरस्वती और दृषद्वती के भी नाम आये हैं। अतः यह सरस्वती के साथ मिली हुई या उसके समीप की कोई नदी होगी। महाभारत (३।८३।६८) मे उल्लेख है कि आपया कुरुक्षेत्र की एक नदी है।

आर्जीकीया—ऋ० सं० १०।७५।५ मे वितस्ता और सुषोमा के बीच मे सिन्धु की एक पूर्वी सहायक नदी के रूप में इसका नाम आया है। वर्तमान काल की कौन नदी से इसका मिलान करना चाहिये यह निर्णय नहीं किया जा सकता है। यास्क के मत में (निरुक्त ६।२६) आर्जीकीया विपाश्=व्यास नदी है। परन्तु ऋ० सं० १०।७५।५ का क्रम इसका विरोध करता है।

कुभा—ऋ० सं० ५।५३।६, १०।७५।६। सिन्धु की एक पश्चिम वाली सहायक नदी—ग्रीकों की "कोफेन" वर्तमान "काबुल" नदी।

क्रुमु—ऋ० सं० ५।५३।६, १०।७५।६। यह भी वैसी एक नदी है—वर्तमान कुर्रम।

गङ्गा—ऋक्संहिता मे केवल १०।७५।५ पर आया है। कुछ लोगों का विचार है कि ऋ० सं० ६।४५।३१ का "उरुकक्षो न गाङ्ग्यः" में गङ्गा के तट पर रहने वाला उरुकक्ष नाम का पुरुष या गङ्गा के तट पर कोई विशाल वन, जो अर्थ हम समझे गङ्गा नदी का नाम यहाँ आता है। परन्तु इस स्थान में गंगा किसी नदी का नाम न होकर किसी स्त्री का नाम भी हो सकता है। अस्तु, ऋ० सं० १०।७५।५ में अवश्य प्रसिद्ध गंगा नदी का नाम लिखा गया है। यह सूक्त ऋग्वेद का बहुत अर्वाचीन भाग का है। आर्य लोगों को गङ्गा से परिचय बहुत बाद को हुआ था। शतपथ ब्राह्मण १३।५।४।११, जैमिनीय ब्राह्मण ३।१८३, व तैत्तिरीय आरण्यक २।१० में भी गंगा का नाम आया है।

गोमती—ऋ० सं० ८।२४।३० व १०।७५।६। ऋ० सं० १०।७५।६ से स्पष्ट विदित होता है कि यह सिन्धु की एक पश्चिमी सहायक नदी है—अफगानिस्तान देश की वर्तमान गोमाल नदी ऋ० सं० ८।२४।३० होगी, मध्यदेश की गुमती नहीं।

त्रिष्टामा—ऋ० सं० १०।७५।६ सिन्धु की कोई पश्चिमी सहायक नदी होगी।

दृषद्वती—ऋ० सं० ३।२३।४, ताण्ड्य महाब्राह्मण २५।१०।१४, १५ व २५।१३।२,४। सरस्वती के दक्षिण मे यह नदी है और सरस्वती से मिल जाती है। मनुजी के मत से सरस्वती और दृषद्वती के बीच का देश है ब्रह्मावर्त।

परुष्णी—ऋ० सं० ४।२२।२, ५।५२।६, ७।१८।८,६, ८।७४।१५ व १०।७५।५। निरुक्त ६।२६। से और ऋ० सं० १०।७५।५ मे दिया हुआ क्रम से हमें मालूम होता है कि परुष्णी है इरावती, अर्थात् वर्त्तमान रावी। ऋ० सं० ५।५२।६ का पुरिषिणी शब्द कदाचित परुष्णी के लिये आया होगा;* या तो यह शब्द सरयू के लिये विशेषण है।

मरुद्वृधा—ऋ० सं० १०।७५।५ मे असिक्नी (=चीनाव) और वितस्ता (=झेलम) के बीच में आती है। सर अरलस्टाइन के मत से यह वर्तमान काल मे मरुवर्दवन नाम की चीनाब की एक पश्चिम वाली सहायक नदी है‡।

मेहत्नु—ऋ० सं० १०।७५।६। सिन्धु की कोई पश्चिमी सहायक नदी होगी।

---

* देखिये मेरा लेख "The Identification of the Rigvedic River Sarasvati and some Connected Problems" (Calcutta University Journal of the Department of Letters Vol XV): पृष्ठ ४८

‡ Sir M Aurel Stein, On some River Names in the Rigveda (Bhandarkar Commemoration Volume), पृष्ठ २२-२५।

यमुना—ऋ० सं० ५।५२।१७, ७।१८।१९, १०।७५।५, अथर्व संहिता ४।६।१०, ऐतरेय ब्राह्मण ८।२३, शतपथ ब्राह्मण १३।५।४।११, ताण्ड्य महा ब्राह्मण ९।४।११, २५।१०।२३, २५।१३।४, जैमिनीय ब्राह्मण ३।१८३, आपस्तम्बीय एकाग्निकाण्ड २।११।१२। ऋ० सं० ५।५२।१७ वा ७।१८।१९ में यह परुष्णी = रावी के पास की कोई नदी सी मालूम होती है। अध्यापक हप्किन्स् के मत से यह परुष्णी से अभिन्न है। मेरा अनुमान यह है कि इन दो स्थान में "यमुना" असिक्नी = झेलम का दूसरा नाम है[1]। ऋक् संहिता १०।७५।५ और अथर्व संहिता प्रभृति में यह अवश्य वर्तमान यमुना ही है।

यव्यावती—ऋ० सं० ६।२७।६, ता० म० ब्रा० २५।७।२। यह कोई अज्ञात नदी है। सम्भव है कि यह पंजाब की कोई नदी है।

रथस्पा—जैमिनीय ब्राह्मण ३।२३४ में कोई अज्ञात नदी है।

रसा—ऋ० सं० १।११२।१२, ५।५३।९, १०।७५।६ (और ५।४१।१५, १०।१०८।१,२) जैमिनीय ब्राह्मण २।४४०। ऋ० सं० ५।५३।९ व १०।७५।६ से विदित होता है कि यह सिन्धु के पश्चिम तट की कोई सहायक नदी है। पार्सीयों के धर्म ग्रन्थ आवेस्ता में रसा नदी का नाम "रंहा" इस रूप में पाया जाता है। परन्तु ऋ० सं० ५।४१।१५ में यह कोई (नदियों का अभिमानी) देवता है और १०।१०८। १,२ में पृथिवी के अन्त में वर्तमान कोई काल्पनिक (mythical) नदी है।

वरणावती—अथर्व संहिता ४।७।१ में कोई अज्ञात नदी। सायण के मत से यह एक ओषधि का नाम है। कुछ लोगों के मत से यह काशी जी के पास की वरणा नदी है।

वितस्ता—ऋ० सं० १०।७५।५। यास्क ने (९।२६) इसका कोई स्पष्ट परिचय नहीं दिया है। परन्तु उल्लेख के क्रम से विदित होता है कि यह वर्तमान झेलम नदी है। यह नदी काश्मीर में अभी तक व्यथ नाम से प्रसिद्ध है। ग्रीक लोग इसे हीडास्पेस करके जानते थे।

विपाश्—ऋ० सं० ३।३३।१,२, ४।३०।११, गोपथ ब्राह्मण १।२।७ वर्तमान व्यास नदी है। यह नदी अरब अभियान के समय स्वतन्त्र धारा से हकरा पहुंचती थी।

विबाली—ऋ० सं० ४।३०।१२, यह कोई अज्ञात नदी है।

शुतुद्री—ऋ० सं० ३।३३।१, रामायण प्रभृति की शतद्रु और वर्तमान सतलज। अरब आक्रमण के समय यह नदी व्यास से न मिलकर सीधी हकरा को जाती थी।

श्वेत्या—ऋ० सं० १०।७५।६, सिन्धु की कोई पश्चिमी सहायक नदी।

सदानीरा—शतपथ ब्राह्मण १।४।१।१४ इत्यादि। शतपथ ब्राह्मण के कथन से विदित होता है कि उस समय यह नदी कोशल राष्ट्र और विदेहराष्ट्र की सीमा न थी। वर्तमान कौन नदी समझना चाहिये यह स्पष्ट नहीं ज्ञात होता है। बाद के कोशकारों के मत से सदानीरा और करतोया एक ही है। करतोया तो उत्तर बङ्ग की एक नदी है और विदेह देश के पूर्व में है, पश्चिम में नहीं। इस कारण से सदानीरा करतोया न होगी। जर्मन पण्डित वेबर के मत से यह गण्डक ही है।

सरयु—ऋ० सं० ४।३०।१८, ५।५३।९, व १०।६४।९, यह नदी कौन सी थी यह जानना कठिन है। १०।६४।९ में इसका नाम सरस्वती और सिन्धु के साथ आया है। परन्तु ऋ० सं० ५।५३।९ में रसा, (अनितभा), कुभा, क्रुमु और सिन्धु इन पश्चिमी नदियों के साथ आने से यह कोई पश्चिमी नदी सी विदित होती है। आवेस्ता में हम सरयू से अक्षरश समान हरोयू नदी का नाम पाते हैं जो कि वर्तमान हरीरूद है। ऋक्संहिता की सरयू भी शायद इस हरीरूद से अभिन्न है। अवध की सरयू तो नहीं हो सकती है, कारण उस समय आर्यों का अवध तक पहुँचने का कोई प्रमाण नहीं है और ऋक्संहिता में गङ्गा से पूर्व की कोई नदी का नाम नहीं है।

सरस्वती—ऋ० सं० १।३।१२, १।१६४।४९, २।३०।८, २।३२।८, २।४१।१८, ३।२३।४, ३।५४।१३, ५।४२।१२, ५।४३।११, ५।४६।२, ६।५०।१२, ६।५२।६,

[1] देखिये मेरा लेख "Identification of Sarasvati", पृष्ठ ४५-४८।

६।६१।१-७, १०, ११, १४, ७।६।५, ६।४५।११, ७।३६।६, ७।४०।४, ७।४०।३ ७।६५।१, २, ४-६, ८।६६।१, ३, ८।२१।१७, १८, वालखिल्य ६।४, ६।६७।३२, ६।८१।४, १०।१७, ७, ६, १०।३०।१२, १०।६४।६, १०।६५।१, १३, १०।७५।५, १०।१३१।५, १०।१४१।५, तैत्तिरीय संहिता ७।२।१।४, अथर्व संहिता ६।३०।१ (तैत्तिरीयब्राह्मण २।४।८।७, मन्त्र ब्राह्मण २।१।१६), ताण्ड्य महाब्राह्मण २५।१०।१, १६, जैमिनीय ब्राह्मण २।२६७, ३।१२०, ऐतरेय ब्राह्मण २।१६, शाङ्खायन ब्राह्मण १२।३, शतपथ ब्राह्मण १।४।१।१४, इत्यादि। ऋक्संहिता के सब सूक्त एक समय के नहीं है। विद्वानो का यह अभिमत है कि ऋक्संहिता में विभिन्न युग की रचनाये हैं और उनमे सब से प्राचीन और सब से अर्वाचीन मन्त्रों के काल मे बहुत ही अन्तर है। ऋक्संहिता के प्राचीन अंश में (यथा २।३०।८, ४।४३।११, ६।४१।७, ६।५२।६, ६।६१, ७।३६। ६, ७।६६।५, ७।६५, ७।६६,) "सरस्वती" नदी कुरुक्षेत्र देश की वर्तमान 'सरस्वती' नहीं है, परन्तु सिन्धु नद है* । ऋ० सं० ७।६५।२ और ७।६६।४-६ मे सरस्वती के साथ सरस्वान की स्तुति की गई है। मेरा अनुमान यह है कि सरस्वान सिन्धु नद ही के दक्षिण भाग का नाम है। सरस्वान् की स्तुति ऋ० सं० १। १६४।५२, व १०।६६।५ पर भी की गई है। परन्तु ऋ० सं० ३।२३।४, १०।६४।६, व १०।७५।५ मे और तैत्तिरीय संहिता, ताण्ड्य महाब्राह्मण प्रभृति ब्राह्मण व बाद के साहित्य मे नदी वाचक सरस्वती शब्द कुरुक्षेत्र की वर्तमान सरस्वती के लिये आया है। मेरा अनुमान यह है कि विश्वामित्र के साथ शुतुद्री (सतलज) के दक्षिण पार मे आये हुवे भरतों ने कुरुक्षेत्र की इस नदी को सरस्वती नाम से पुकारा और बाद को इसकी देखा देखी और आर्य जातियों ने सरस्वती नाम का प्रयोग वर्तमान सरस्वती के लिये किया। सब सिन्धु नद को जो कि सरस्वती और सिन्धु के दोनो नाम से प्रसिद्ध था लोग केवल सिन्धु नाम से कहने लगे। कुरुक्षेत्र की सरस्वती नदी आज कल पटियाला रियासत मे लुप्त हो गई हैं। पौराणिकों के मत से इसकी धारा जमीन के भीतर से आकर प्रयाग मे गङ्गा और जमुना के साथ सम्मिलित हुई है। परन्तु यह भ्रान्त मत है। ऋग्वेद के समय यह सरस्वती शायद सिन्धु से सम्मिलित होकर पश्चिम समुद्र को पहुँचती थी। ब्राह्मण युग मे कुछ अंश के लिये यह लुप्त होकर पुनः पश्चिम की ओर चलती थी। ताण्ड्य महाब्राह्मण में सरस्वती के विनशन का अर्थात लुप्त होने के स्थान का और जैमिनीय ब्राह्मण मे उसका उपमज्जन का अर्थात पुनः ऊपर निकल आने के स्थान का उल्लेख है। जैमिनीय ब्राह्मण में "सरस्वती का शैशव" का अर्थात जिस जगह पर सरस्वती क्षीण धारा से पहले पहल बहती है, उसका भी उल्लेख है। ऐतरेय ब्राह्मण प्रभृति से मालूम होता है कि सरस्वती से कुछ दूर पर मरुदेश (desert) था। अध्यापक मॉकडोनेल और कीथ के मत से) ऋग्वेद के सर्वत्र सरस्वती शब्द सरस्वती के लिए आया है, सिन्धु के लिये नहीं*। अन्य देवतावाची सरस्वती शब्द भी वेद मे आया है।

सिन्धु—ऋ० सं० १।१२६।१, ५।५३।६, ८।२०।२५, ८।२६।१८, १०।६४।६, व १०।७५।३, ७, ८, ६, अथर्वसंहिता १४।१।४३, (?), १६।३८।२, माध्यन्दिनसंहिता

* देखिये मेरा "The Identification of the Rigveda River Sarasvati and some connected problems"। आवेस्तां में और प्राचीन इराणी शिला लेख में सिन्धु के पूर्व तट वाला एक प्रान्त के लिये हरह्वइती (= Greek Arachosia) यह नाम आया है। इराणी हरह्वइती और सरस्वती एक ही शब्द है।

* देखिए Macdonell & Keith's Vedic Index, vol. II पृ०—४३४-७। इस लेख के लिए मुझे इस पुस्तक से और जर्मन पण्डित Zimmer की Altindisches Leben व Ludwig की Die Mantraliteratur (Rigveda, Bd. III) से बहुत सामिग्री मिली है।

८।४६।१ (?), जैमिनीय ब्राह्मण ३।८२, ३।२३७। पहले कहा गया है कि सिन्धु शब्द ऋक्संहिता में नदी सामान्य के लिए और दो स्थान पर समुद्र के लिए आया है। अथर्वसंहिता में भी कई स्थान पर (६।२४-१; ७।४५।१, १२।१।३, इत्यादि) समुद्र या नदी के अर्थ में आया है। एक खास नदी के लिए भी सिन्धु कई बार आया है। ऊपर उन स्थानों का उल्लेख किया गया। सिन्धु वर्तमान सिन्ध नद है। (प्राचीन इराणी लोग इसे हिन्दू कहते थे और ग्रीक् लोग इन्दस्। हिन्दू नदीनाम से वर्तमान हिन्दू और हिन्दुस्तान बने हैं, हिन्दू के पूर्व में रहनेवालों के लिए इराणी लोग हिन्दू शब्द प्रयोग करते थे, इससे हम लोग हिन्दू कहलाने लगे। वास्तव में हिन्दू देश नाम है, धर्म का नहीं। अमरीका देश के लोग इस देश के हिन्दू मुसलमान, ईसाई, सब के लिए जो हिन्दू शब्द का प्रयोग करते हैं वह ठीक ही है। ग्रीक इन्दस् से इन्डस् और इन्दिया नाम बने हैं।) सिन्धु नद के तट पर बहुत अच्छे घोड़े पाए जाते थे। इससे संस्कृत में अश्व के लिए सैन्धव शब्द आता है, ऋक्संहिता में भी सिन्धु देश के अश्वों का उल्लेख है। नमक के लिए भी सैन्धव शब्द बृहदारण्यक उपनिषद् २।४।१२, और ४।५।१३, में आया है। अथर्वसंहिता १९।३८।२, में सैन्धव गुग्गुलु का नाम आया है।

सुदामा—ताण्ड्य महाब्राह्मण २२।१८।७ में सुदामन नदी के उत्तर तट पर एक यज्ञ का उल्लेख आया है। यह कौन नदी है इसका पता नहीं लग सकता।

सुवास्तु—ऋ० सं० ८।१९।३७, यह सिन्धु नद की सहायक नदी कुभा की सहायक है। ग्रीको ने इसे सौआस्तस् कहा है और इसका वर्तमान नाम स्वात् यह है अफगानिस्तान में।

सुषोमा—ऋ० सं० १०।७५।५। यह सिन्धु की एक पश्चिमी सहायक नदी है। मेगास्थिनिस ने इसे सोयानष् (या सोआमस्) कहा है और वर्तमान नाम है सोहान।

सुसर्त्तु—ऋ० सं० १०।७५।६ में होने से यह सिन्धु की कोई पश्चिम वाली सहायक नदी होगी।

पहिले कहा गया है कि कुछ लोगों के मत से और दो नदी के नाम वेद में आये हैं, शिफा और हरियूपीया। ऋ० सं० १।१०४।३ में प्रार्थना की गई है कि असुर कुयव (=दुर्भिक्ष?) की दोनों स्त्री शिफा की धारा में मारी जायं। यह शिफा कोई नदी हो सकती है, कोई दूर के समुद्र होना भी असम्भव नहीं है। ऋक् संहिता ६।२७।५ में कहा गया है कि इन्द्र ने हरियूपीया पर अभ्यावर्ती चायमान के लिये वृचीवतों को मार डाला था और उसके बाद की ऋचा में कहा गया है कि यह लड़ाई यव्यावती में हुई थी। यव्यावती एक नदी का नाम है यह हम जानते है। सम्भव है कि हरियूपिया भी यही यव्यावती वा दूसरा नाम है जैसा कि सायणाचार्य ने कहा है जैसा कि जर्मन पण्डित लुदविग् के मत से हरियूपिया एक नगरी का नाम है। हिलब्रान्त के मत से यह अफगानिस्तान में कुरुम की सहायक नदी इर्याब या हलिआब है।

वेद साहित्य की नदियों के बारे में जो परिचय ऊपर दिया गया है इससे यह सिद्ध होता है कि ऋक् संहिता के समय में आर्य सभ्यता सम्पूर्ण पंजाब और अफगानिस्तान में फैली हुई थी, मध्य देश की ओर नहीं बढ़ी थी। परन्तु ब्राह्मण युग में सरस्वती, यमुना गङ्गा प्रभृति की ओर आर्य बढ़ आये थे और उनकी सभ्यता का केन्द्र था सरस्वती नदी और कुरुक्षेत्र देश।

पर्वत समुद्र और नदी के अतिरिक्त मरुदेश भी एक प्राकृतिक वस्तु है। सरस्वती के निकट मरुदेश का उल्लेख पहले किया गया है। ऋ० सं० १।३५।८ में तीन मरुभूमि का उल्लेख आता है। वह ऋचा यह है "अष्टौ व्यख्यत् ककुभः पृथिव्यास्त्री धन्व योजना सप्त सिन्धून्। हिरण्याक्षः सविता देव आगाद्दधद्रत्ना दाशुषे वार्याणि॥" (सुवर्ण की चक्षु वाला सवितृ देवता ने पृथिवी के आठ ऊंची जमीन, तीन जल हीन देश, सब समतट भूमि और सात नदियों को अच्छी तरह देखे है, अपने पूजको को अच्छे रत्न देता हुआ वह आया है)। यहां ककुभ् शब्द को सायण ने दिशा के अर्थ में लिखा है, कारण

कि संस्कृत में ककुभ् शब्द दिशा के अर्थ में आता है, परन्तु ऋक्संहिता की भाषा मे यह शब्द किसी ऊंची वस्तु—पहाड़ इत्यादि—के अर्थ में पाया जाता है। अतएव इस ऋचा मे आठ पहाड़ या पहाड़ी का उल्लेख समझना चाहिये। सायण ने धन्व का अर्थ अन्तरिक्ष अर्थात् लोक का किया है, कारण निघण्टु १।३ में धन्व शब्द अन्तरिक्ष के पर्याय रूप से आया है। परन्तु ऐतरेय ब्राह्मण २।१६ प्रभृति के प्रा.ण से स्पष्ट जान पड़ता है कि धन्व शब्द का अर्थ जलहीन देश अर्थात मरुदेश है। निघण्टु के ऐकपदिक (चतुर्थ अध्याय के धन्व शब्द का यही अर्थ होगा। ऋ०सं० १।३५।८ मे कहे हुए ये तीन मरुदेश कहाँ कहाँ थे यह हम जान नहीं सकते हैं।

प्राकृतिक वस्तु के बाद अब हम देखे मनुष्यकृत देश या नगर के उल्लेख वेद में कैसे आते हैं। वैदिक साहित्य मे खास देशों के लिये शब्द बहुत कम आये है अधिकतर जाति वाचक शब्द आये हैं जिनमे उन जाति का और उनके रहने के देश का अर्थ एक ही साथ निकलता है। संस्कृत मे ऐसे शब्दो को जनपद वाची कहते हैं। ये शब्द बहुवचन मे आते हैं। बाद के संस्कृत में भी देश के लिये अधिकतर ऐसे शब्द ही आते हैं। जब कोई जाति एक जगह से हटकर दूसरे स्थान पर चली जाती थी देश का नाम भी उनके साथ नये स्थान को पहुँचता था। इस कारण से अंग विदेह, काशी प्रभृति बाद के नाम के साथ मिले हुए नाम यद्यपि वेद मे आते हैं, हम इस बात का निर्णय नहीं कर सकते हैं कि वेद के समय मे वह जातियाँ कहाँ थी और वे देश कौन से रहे।

वेद में पूर्वादिक देश में रहने वालों के लिये सामान्य रूप से प्राच्य उदीच्य प्रभृति शब्द आये हैं ऐतरेय ब्राह्मण ८।१४ में ऐन्द्रमहाभिषेक के प्रसंग प्राच्य प्रभृति देश में राज्याभिषेक का उल्लेख है। वहाँ कहा गया है कि प्राच्यों (पूरब देश में रहने वालों) के राजा का अभिषेक "साम्राज्य" के लिए होता है, दक्षिण देश में सत्वतों के राजा का अभिषेक होता है "भौज्य" के लिए, पश्चिम में नीच्य (तरी में रहने वाले?) और अपाच्य (पश्चिम के रहने वाले) लोगों के राजा का अभिषेक होता है "स्वाराज्य" के लिए, उत्तर मे हिमवत् के उस पार जो उत्तरकुरु और उत्तरमद्र जनपद हैं उनके राजाओ का अभिषेक होता है "वैराज्य" के लिए और "ध्रुव मध्यम दिशा" मे जो कुरु पञ्चाल के राजा है उनका अभिषेक होता है राज्य के लिए। उदीच्यो के (अर्थात् उत्तर दिशा मे रहने वालो के) उल्लेख शतपथ ब्राह्मण ३।२।३।१५, ११।४। १।१, शाङ्खायन ब्राह्मण ७।६ गोपथ ब्राह्मण १।३।६ मे भी आता है। इन ब्राह्मणों की उक्ति से हमें ज्ञात होता है कि उदीच्यों की बोली बहुत शुद्ध थी। संस्कृत भाषा के सब से बड़े वैयाकरण पाणिनि उदीच्य ही थे क्योकि वर्तमान अटक के पास उनका जन्म हुआ था। प्राच्यों का नाम शतपथ ब्रा० १।७। ३।८ और १३।८।१।५ व १३।८।२।१ मे भी आता है। प्राच्य, उदीच्य प्रभृति के अतिरिक्त, ये (जाति या) जनपद वाची नाम वेद मे आते हैं; अङ्ग, अन्ध्र, कम्बोज काशी, कीकट, कुरु, कोसल, गन्धारि, चेदि, नैषिध, पञ्चाल, पारावत (?), पुण्ड्र बल्हीक, बाह्लीक, भरत, मगध, मत्स्य, मद्र, उत्तर मद्र, महावृष, वंग, विदेह, विदर्भ इत्यादि।

अंग—अ० सं० ५।२२।१४ मे गन्धारि और मगधो से और गोपथ ब्राह्मण २।६ में मगधों के साथ इनका नाम आता है। गोपथ के समय तक अंग लोग शायद पश्चिम बिहार को पहुंच गये थे।

अन्ध्र—ऐतरेय ब्राह्मण ७।१८ मे कहा गया है कि जब विश्वामित्र ने अजीगर्त्त के पुत्र शुनःशेप को पुत्ररूप से ग्रहण किया और उनको अपने पुत्रो मे ज्येष्ठ करके स्वीकार किया, तब विश्वामित्र के कुछ पुत्रो ने इस व्यवस्था को स्वीकार नहीं किया। तब ऋषि के शाप से वे लोग आन्ध्र, पुण्ड्र, शबर, पुलिन्द, मूतिब, इन उपान्तवासी दस्युजाति मे परिणत हो गए। इस से हम इतना ही जान सकते हैं कि आन्ध्र लोग आर्य निवास के बाहर उपान्त देश मे रहते थे। ऐतिहासिक काल मे ये लोग दक्षिणापथ के उत्तर भाग मे रहते

थे और इस समय मन्द्राज प्रान्त के उत्तर भाग आंध्र देश कहलाता है।

कम्बोज—वंश ब्राह्मण में कोई मद्रगार नाम के आचार्य का शिष्य काम्बोज औपमन्यव का नाम आया है। इससे यो अनुमान किया जा सकता है मद्र और कम्बोज ये लोग उत्तर देश के (भारतवर्ष के उत्तर पश्चिम के) रहने वाले थे।

काशी या काश्य—शतपथ ब्रा० १३।५।४।१६।२१, (अथर्वसंहिता पैप्पलाद शाखा की ५।२२।१४), जैमिनीय ब्राह्मण २।६२६, बृहदारण्यक उपनिषद् २।१।१ ३।८।२ कौषीतकी उपनिषद् ४।१, गोपथ ब्रा० १।२।६ इत्यादि। ब्राह्मण युग की काशी वर्तमान काशी से अभिन्न यह मानने के लिये कोई प्रमाण नहीं है, यद्यपि कोसलों के और विदेहों के साथ काशियों का नाम आया है। मेरा अनुमान है कि काशी लोग भरतवंश ही की एक शाखा थे, और धीरे-धीरे मध्य देश की पूरवी सीमा तक पहुंच गये।

कीकट—ऋ० सं० ३।५३।१४।निरुक्त ६।३२ से और ऋ० संहिता के शब्दों से पता चलता है कि यह विपाश और शुतुद्री के दक्षिण पार की कोई अनार्यों की भूमि थी, जहाँ गाय बहुत सी थी। बाद के कोशकारों के मत से कीकट और मगध पर्य्यायवाची शब्द हैं, परन्तु ऋक्संहिता का कीकट देश वर्तमान बिहार से बहुत दूर पर रहा होगा।

कुरु—कुरुओं का नाम ब्राह्मणों में सर्वत्र आता है। यद्यपि ऋक्संहिता में साक्षात् कुरु नाम नहीं आया है, एक मनुष्य का नाम कुरुश्रवण (१०।३३।४) व पूरु जाति के उल्लेख हैं। कुरु लोग भरतवंशीय अतएव पूरुवंशी थे। मेरा अनुमान है कि कुरु और पूरु (पुराणों में पुरु) एक ही शब्द हैं। ब्राह्मण युग के कुरुओं के देश पुराण के कुरुक्षेत्र से अभिन्न होगा। कुरुओं के साथ प्रायः और एक जाति का नाम आता है, पञ्चाल। ऐतरेय ब्राह्मण से ज्ञात होता है कि हिमवत् (हिमालय) के उत्तर को उत्तरकुरु लोग रहते थे (८।१४) और उनका देश देवक्षेत्र था (८।२३)

कोसल—शतपथ ब्राह्मण १।४।१।१७, १३।५।४।१९ जैमिनीय ब्राह्मण १।३२६, प्रश्नोपनिषद् ६।१ इनका नाम विदेहों के साथ-साथ आता है इस कारण से कोसल और विदेहों का निवास वैदिक युग में भी पास पास रहा होगा।

गन्धारि या गन्धार—ऋ० सं० १।१२६।७, अ० सं० ५।२२।१४, छान्दोग्य उपनिषद् ६।१४।१ गन्धारि और पुराण के गान्धार एक ही है। गान्धार की तरह गन्धारियों का देश वर्तमान कान्दाहार से अभिन्न होगा। ऋक्संहिता में इस देश के अच्छे पशम वाले भेड़ों का उल्लेख है। छान्दोग्य उपनिषद् की रचना जिस देश पर हुई थी वहां से गन्धार देश कुछ दूर पर आ गया ज्ञात होता है।

चेदि—चेदिराज कशु के दान की महिमा ऋ० सं० ८।५। ३७-३९ में गायी गई। चेदि राष्ट्र कहाँ था यह हम जान नहीं सकते हैं।

नैषिध—शतपथ ब्रा० २।३।२।१,२ में एक दक्षिण के राजा, नड नाम के, नैषिध कहे गये है। इससे नैषिधों का निवास दक्षिण में था ऐसा जान पड़ता है। बाद के युग में नैषध देश दक्षिण ही में था।

पञ्चाल—ब्राह्मणों में इनके नाम कई बार आये हैं। कुरुओं के पूरब की ओर ये लोग शायद रहते थे।

पारावत—कुछ लोगों के मत से ऋक्संहिता, ताण्ड्य महाब्राह्मण प्रभृति में आया हुआ यह शब्द एक जाति विशेष के लिये है। परन्तु मैं समझता हूँ कि यह शब्द दूर के रहने वालों के लिये सामान्य रूप से आया है *।

पुण्ड्र—ऐतरेय ब्राह्मण ७।१८ में अन्ध्र इत्यादि के साथ इनका नाम आया है। बाद के साहित्य में पुण्ड्र देश बिहार से अभिन्न सा ज्ञात होता है। हम बिहार के लिये पौण्ड्रवर्धन नाम बाद को पाते हैं।

बल्हिक—अ० सं० ५।२२।५, ७,९ से ज्ञात होता है कि ये उत्तर के रहने वाले थे। श० ब्रा० १२।९।३।३ में बाल्हिक प्रतीपीय करके एक पुरुष का नाम आता

* देखिये मेरा लेख "Identification of the Rigvedic River Sarasvati" पृष्ठ ३४-३६।

है। बल्हिक और बाद के वाल्हीक (बाल्ख ?) एक ही हैं।

वाहीक—श० ब्रा० १।७।३।८, कोई उत्तर पश्चिम की जाति। बाद को पञ्जाब में वाहीकों की स्थिति का प्रमाण हमें मिलता है।

भरत—ऋक्संहिता से लेकर भरतों का नाम वेद में सर्वत्र आता है। ये भरत लोग पूरुओं से सम्बद्ध थे। वैदिक युग में भरतों का कोई नियत स्थान निश्चित नहीं था। ऋ० सं० ७।१८ प्रभृति में तृत्सु भरत सुदास् राजा को परुष्णी के तट पर हम पाते हैं और ३।३३ व ३।५३ में विपाश और शुतुद्री पार करते हुए देखते हैं। ऋ० सं० ३।२२ में दो भारत राजपुत्र को हम सरस्वती, दृषद्वती प्रभृति के पास देखते हैं और जैमिनीय ब्राह्मण ३।२३७ में भरतों को सिन्धु के तट पर पाते हैं। ये भरत लोग आर्यों में सब से प्रथित थे। उनके नाम से इस देश का नाम बाद को भारतवर्ष हुआ है।

मगध—अ०सं० ५।२२।१४, वाजसनेय संहिता ३०। ५। २२, तैत्तिरीय ब्राह्मण ३। ४।१।१ इत्यादि। वैदिक युग में मगध लोग नाना कारण से बदनाम थे। स्मृतियों के युग में भी यह दशा थी। देखिये—अङ्ग, वङ्ग, कलिङ्ग, सुराष्ट्र और मगध देश में तीर्थ यात्रा के सिवाय जाने से फिर से उपनयनादिक संस्कार करके शुद्ध होना पड़ता है" (अङ्गवङ्गकलिङ्गेषु सौराष्ट्रमगधेषु च। तीर्थ-यात्रां विना गच्छन् पुनः संस्कारमर्हति ॥)। मगधों का गाना बजाना प्रभृति काम से सम्बन्ध था। माध्यन्दिन संहिता ३०।२२ में वेश्या जुआड़ी प्रभृति के साथ मागध का नाम लिया गया है। वेद के समय मगधों का देश उत्तर विहार ही में था कि उससे कुछ हटकर, यह हम जान नहीं सकते हैं।

मत्स्य—शतपथ ब्राह्मण १३।५।४।६, कौषीतकी उपनिषद् ४।१, गोपथ ब्राह्मण १।२।६। कुछ लोगों के मत से ऋ०सं० ७।१८।६ में इनका नाम आता है, परन्तु यह सत्य नहीं है। वेद के समय में ये लोग कहाँ रहते थे, जयपुर की ओर या अन्यत्र यह दुर्ज्ञेय है।

मद्र—बृहदारण्यक उपनिषद् ३।३।१, ३।७।१।१ पहले कहा गया है कि ऐ०ब्रा० में हिमालय के उत्तर के रहने वाले उत्तर मद्रों का नाम आता है।

महावृष—अ०सं० ५।२२।४,५,८, जैमिनीय ब्राह्मण ४।२३४, जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण ३।४०।२, छान्दोग्य उपनिषद् ४।२।५ इत्यादि। कोई उत्तर की ओर दूर में रहने वाली जाति।

वङ्ग—ऐतरेय आरण्यक २।१।१ में वङ्गावगधाः शब्द आता है जो कि वङ्गमगधाः के लिये भ्रान्त पाठ सा मालूम होता है। ऐतरेय आरण्यक बहुत अर्वाचीन पुस्तक है, वहां मगध के पास में वङ्ग का उल्लेख समुचित ही है।

विदेह—श० ब्रा० १।४।१।१० (विदेघ या विदेह दोनों आकृति में) बृहदारण्यक उपनिषद् की कई जगह पर, कौषीतकी उप० ४।१, ताण्ड्य महा ब्रा० २५।१०।१७ इत्यादि। कोसलों के साथ इसका नाम आता है। ऊपर देखिये।

विदर्भ—केवल जैमिनीय ब्राह्मण २।४४२ में इनका नाम पाते हैं। उस ब्राह्मण के समय में लोग वर्त्तमान विदर्भ (बरार) से कितनी दूरी पर थे यह दुर्ज्ञेय है।

इन जनपद वाची शब्दों के अतिरिक्त और भी कई देश या नगर वाची शब्द वैदिक साहित्य में आये हैं। उनका विवरण मैं नीचे संक्षेप में दे रहा हूँ।

काम्पिल—तैत्तिरीय संहिता ७।४।१६।१, मैत्रायणीय संहिता ३।१२।२०, काठक संहिता आश्वमेधिक ४।८, माध्यन्दिन संहिता २३।१८, तै० ब्राह्मण ३।६।६ श० ब्रा० १३।२।८।३ यह पञ्चाल देश की राजधानी सी मालूम होती है।

कारपचव—ता० म० ब्रा० २५।१०।२३, यमुना के तट पर कोई स्थान।

कारोटी—श० ब्रा० ६।५।२।१५, कोई स्थान या नदी जहां (या जिसके तट पर) तुर कावषेय ने अग्निचयन किया था।

कुरुक्षेत्र—कई जगह पर पुण्य भूमि करके इसका नाम आया है।

कौशाम्बी (?)—श० ब्रा० १२।२।२।१३ वा गोपथ ब्रा० १।२।२४ में एक पुरुष का "कौशाम्बेय" कर के नाम आया है। हरिस्वामी के मत से इसका अर्थ है "कौशाम्बी मे रहने वाला" परन्तु वास्तव मे "कुशाम्ब का पुत्र" यही समीचीन अर्थ मालूम होता है (देखिये ता० म० ब्रा० ८।६।८)।

तूर्घ्न—तै० आरण्यक ५।१।१, कुरुक्षेत्र के उत्तर का भाग।

त्रिप्लक्ष—ता० म० ब्रा० २५।१३।२, यमुना के पास का स्थान जहां दृषद्वती का अन्तर्धान होता है।

नाडपित्—श० ब्रा० १३।५।४।१३ "शकुन्तला नाडपित्यप्सरा भरतं दधे इत्यादि" मे यह सन्दिग्ध है कि द्वितीय और तृतीय शब्द को सन्धि का कैसे छेद होगा। अगर 'नाडपिति + अप्सराः' ऐसा छेद होगा तो अर्थ यह है कि नाडपित् नाम के कोई स्थान मे अप्सरा शकुन्तला ने भरत को प्रसव किया। परन्तु 'नाडपिती + अप्सराः' ऐसे छेद होगा तो नाडपिती शकुन्तला का विशेषण है और यहां किसी देश का नाम नहीं है।

नैमिश या नैमिष—काठक संहिता १०।६, ता० म० ब्रा० २५।६।४. जैमिनीय ब्राह्मण १।३६३, कौषीतकि ब्राह्मण २६।५, २८।४, छान्दोग्य उपनिषद् १।२।१३, यह एक पवित्र स्थान था, जहां बड़े-बड़े ऋषि लोग रहते थे। इस नैमिष वन में महाभारत का प्रथम प्रचार हुआ था। इसका वर्तमान नाम है निमसार।

[—ता० म० ब्रा० २५।१३।१, जैमिनीय ब्राह्मण २।३०० इत्यादि। कुरुक्षेत्र के पश्चिम में यह स्थान है।

लक्ष प्रास्रवण—ता० म० ब्रा० २५।१०।१६,२२ इत्यादि, यह विनशन से ४४ दिन के रास्ते मे है।

रैकपर्ण—छा० उप० ४।२।५, यह महावृषों के देश मे कोई स्थान है।

विनशन—ता० म० ब्रा० २५।१०।१, जै० उप० ४।२६ इत्यादि। यह सरस्वती नदी के अन्तर्धान का स्थान है।

साचीगुण—ऐ० ब्रा० ८।२३ यह भरतो के देश मे कोई स्थान सा मालूम होता है।

स्थूलार्म—ता० म० ब्रा० २५।१०।१८ यह कोई स्थान है जिसके उत्तर मे कोई ह्रद है। सायण कहता है कि यह सरस्वती का ह्रद है।

इनके अतिरिक्त और भी कई छोटे मोटे या सन्दिग्ध नाम वेद मे आते हैं। लेख के बहुत बढ़ जाने से मैंने उनका उल्लेख नहीं किया है। परन्तु अन्त में एक शब्द का नाम मुझे अवश्य ही लेना है जो कि ऋक्संहिता मे एक बार (८।२४।२७) पञ्जाब के लिये आया है—"सप्त सिन्धवः" अर्थात सात नदियो का देश। वेद में कहीं पञ्चनद शब्द नहीं आया है। आवेस्ता मे भी पञ्जाब या भारतवर्ष के लिये "हफ्त हिन्दव" शब्द आया है॥

(भूगोल-प्रयाग)

वेदों में विचार शक्ति

ले० डा० दुर्गाशंकर नागर-सपादक कल्पवृक्ष

ॐ यज्जाग्रतो दूर मुदैति, दैव तदु सुप्तस्य तथैवैति । दूरङ्गमं ज्योतिषा ज्योति रेकन्तन्मे मन शिवसंकल्पमस्तु ॥

जो मन जागृतावस्था में विस्तृत व्यवहार करता है, दूर २ भागता है सोते हुए में उसी प्रकार वही मन—भीतर अन्त करण में जाता है—जो वेग वाले पदार्थों मे अति वेगवान है, जो इन्द्रियों का प्रवर्तक है—वह मेरा मन अशुभ विचारो को छोड कर शुभ और कल्याणकारी विचार वाला हो

वेदो मे विचार शक्ति की बडी भारी महिमा गाई है, प्रत्येक विचार एक सूक्ष्म बीज के समान है, जिसमे महान वृक्ष को उत्पन्न करने की शक्ति कूट २ कर भरी हुई है, संसार मे जो कुछ दिखाई या सुनाई पडता है, वह सब विचार का ही प्रत्यक्ष रूप है। रेल, तार, बिजली, रेडियो, बेतार, गगनचुम्बी प्रासाद, यंत्र, वायुयान इत्यादि २ अनेक प्रकार के अद्भुत आविष्कार विचार ही के प्रत्यक्ष फल हैं।

विचार शक्ति उसे कहते हैं, जो स्वयं को और दूसरों को गति प्रदान करे। वह शक्ति विचार हैं जो सारे संसार को चला रहे हैं, विचार जिस अगाध कूप से निकलते हैं उसका स्रोत मन है। जिस यन्त्र द्वारा विचारो को बाहर निकाला जाता है वह मस्तिष्क है।

विचार क्या वस्तु है, इसको समझने के लिए हमे कंपन (Vibrations) के सिद्धान्त को समझना आवश्यक है, प्रत्येक वस्तु की तीन अवस्थाए होती हैं (१) ठोस (२) तरल (३) वाष्पवत, ठोस पदार्थ मे कंपन बहुत धीरे २ होता है, तरल मे उससे तीव्र गति से होता है, और वाष्पमय मे उसका कण २ तेजी से कंपन करता रहता है। किस प्रकार का कंपन है, और वह कितना प्रति सेकड होता है, इन दोनो की पृथक अवस्था व संयोग से सृष्टि चक्र चलता रहता है, और इसी को सृष्टि क्रम कहते हैं। फोनोग्राफ रिकार्ड को देखे तो मालूम होगा कि उस पर असंख्य लकीरे पड़ी हुई हैं, इससे यह सिद्ध होता है कि शब्द भी एक प्रकार के कंपन का ही परिणाम स्वरूप है, यदि कंपन की चाल वादन यंत्र पर दश लक्ष करदी जा सके तो गायन के बदले तरह २ के रंग दिखाई देने लगेगे, प्रकाश भी कंपन का फल है, यह फोटोग्राफी से प्रत्यक्ष सिद्ध है।

विचार भी प्रकृति के सूक्ष्मातिसूक्ष्म कंपन ही की एक अवस्था है, इसके अतिरिक्त और भी सूक्ष्म अवस्थाएं हैं, जिनको देखने की इन्द्रियें हमारे पास नहीं हैं, साइन्स तो अब उसका पता लगा रहा है, किन्तु वेदो मे विचार संकेत और शक्ति के सम्बन्ध मे ऐसे अनेको मन्त्र हैं, जिनके मनन और ध्यान से मनुष्य संसार का स्वामी बन जाता है, नूतन अद्भुत आविष्कार जिनको देखकर हम आश्चर्य करते हैं, वे सब मनुष्य के मन की रचना है।

जो मनुष्य अपने को असहाय, दीन हीन, मोहताज, और कमजोर समझते हैं, तो समझलो कि उन्होंने विचारों की शक्ति को नहीं समझा है।

अभी तक हमने वेदों का जैसा चाहिये महत्व नहीं समझा है, मनुष्य ने इस असीम शक्ति का उचित रूप से प्रयोग करना नही सीखा है।

जो लोग समझ रहे है कि संसार मे दुःख के सिवा सुख है ही नही उन्होने वेदो का स्वाध्याय करके उसके मर्म को नही समझा है, वेद का ईश्वरीय ज्ञान सिखाता है कि ससार सुखमय है, मनुष्य अपने भाग्य का स्रष्टा है, जो कुछ भी अपने को बनाना चाहता है बना सकता है, सब कुछ करने को समर्थ है।

वेदो में मानसिक सामर्थ्य—मनोबल-संकल्प-शक्ति (will power) आत्म-शक्ति (Soul-force)

अपूर्व मेधाशक्ति, धारणा शक्ति, स्मरण शक्ति बढ़ाने के ऐसे २ अद्वितीय मन्त्र भरे पड़े हैं, कि उनके चिंतन से, शरीर, मन, और आत्मा में नवीन नवीन बल, आरोग्य, ऐश्वर्य, पुरुषार्थ, प्रसन्नता और आनन्द के प्रवाह का संचार होने लगता है।

प्रत्येक मस्तिक में वह विघ्न विनाशिनी शक्ति विद्यमान है कि उसका उपयोग करने से सब विघ्न बाधाएँ दूर होकर मनुष्य उन्नति के शिखर पर पहुंच जाता है—

असंभव शब्द को लांघकर उसके परे जो सफलता की विशाल भूमि है उसमें प्रवेश करने का सामर्थ्य प्रत्येक मनुष्य के मस्तिष्क में है।

मोटरकार के एंजिन में जब तक पेट्रोल रहता है, तभी तक वह चल सकता है, किन्तु अग्नि कण के संयोग से जब तक वह उत्तेजित नहीं होता तब तक एंजिन से मोटरकार चलाने की शक्ति पैदा नहीं होती, यही दशा हमारे मन की है।

विचारों मे महान बल है, जीवन संचार करने वाले प्राण है. संसार की कोई वस्तु दुखदायक नहीं है, दुःखो से ही मनुष्य के चरित्र का सुधार होता है।

प्रोफेसर एल मरगेट्स ने ४० प्रकार के विष का पता लगाया है जो मनुष्यों के विचारो से शरीर में उत्पन्न होते है। ये परीक्षाएं उन्होंने मनुष्यों के श्वास, पसीना व रुधिर से की हैं, मनुष्य के श्वास, रुधिर, पसीना, नसे दांत और हड्डियां विचारों का प्रमाण और साक्षी देने वाली हैं। छोटा सा भी अच्छा या बुरा विचार शरीर के इन अंगो पर अंकित हो जाता है।

वैदिक मन्त्रो में Suggestion संकेत या सूचनाओं में अपूर्व सामर्थ्य हैं, किन्तु हमने इस विषय की ओर ध्यान ही नहीं दिया है।

पाश्चात्य देशो मे इस विषय की खूब उन्नति हो रही है, शारीरिक, मानसिक और आत्मिक उन्नति करने के लिये Suggestion का खूब उपयोग किया जा रहा है, यहां तक कि बड़े असाध्य रोग मानसिक शक्ति के प्रयोग से दूर किये जा रहे हैं।

हम सन्ध्या और अग्निहोत्र आदि नित्य-कर्म को एक बेगार सा टालने का काम समझते हैं और इसी लिये हमे कुछ लाभ नहीं होता, हम सन्ध्या और अग्निहोत्र का रहस्य क्या है इसको जानने का प्रयत्न नहीं करते।

सन्ध्या और अग्निहोत्र के प्रत्येक मन्त्र के अर्थ पर चित्त वृत्ति को अत्यन्त एकाग्र कर अर्थों को हृदयंगम करके विचारो को दूसरी तरफ न जाने देवे, स्वयं आत्म सूचना देने से ········ ··· ··· ··· साधक के दिन भर के व्यवहार मे सुख, सफलता और शान्ति का अनुभव होता है शरीर सदा नीरोग रहता है, मन सदा शांत रहता है और चेहरा सदा प्रफुल्लित रहता है और प्रभाव दूसरो पर विलक्षण प्रकार का पड़ता है, साधक मे विलक्षण शक्ति है, सन्ध्या और अग्निहोत्र का नित्य साधन करने वाला, जीवन पर विजय पर विजय लाभ करता है और उत्साह व आनन्द मय जीवन लाभकर जीवन सफल करता है।

मन पर अंकुश करने वाले पुरुष ही जीवन मे असाधारण विजय सम्पादन करते हैं।

यह महर्षि दयानन्द की कृपा और दया है कि हम लोगो को सन्ध्या और अग्निहोत्र का महत्व बतलाकर श्रेय मार्ग में हमे लगाया है। महर्षि की स्मृति हम इन नित्य शुभ कर्मों को दैनिक व्यवहार में लाकर ही जागृत रख सकते है, दूसरा अन्य मार्ग नहीं है।

ओ३म् यस्मिन्नृचः साम यजूँषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः। यस्मिंश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिव संकल्प मस्तु॥

जिस मन मे—जैसे रथ के पहिए के बीच के काष्ठ मे आरे लगे होते हैं वैसे ऋगवेदादि सब ओर से स्थित है, जिसमे प्राणियों का सर्व पदार्थ सम्बन्धी ज्ञान–सूत्र मे मणियो के समान संयुक्त है—वह मेरा मन कल्याणकारी वेदादि सत्य शास्त्रों का प्रचार रूप संकल्प वाला हो।

चातुर्वर्ण्य

लेखक—आचार्य श्री० काका कालेलकर

समाज का अर्थ है जीवन-सहयोग-द्वारा परस्पर सम्बद्ध व्यक्तियों का समुदाय। यह जीवन-सहयोग जितना व्यापक होगा उतना ही वह समाज बलवान होगा। सहयोग यदि संकुचित अथवा एकाङ्गी हुआ तो वह समाज क्षीण-वीर्य और रोगी होगा। सहयोग को व्यापक बनाने के लिए सहकारी घटकों मे विशेष प्रकार की योग्यता आवश्यक होती है। समाज में यदि कुछ लोग चारित्र्य-दुर्बल हुए तो उनके उद्धार के लिये शेष लोगो को अपना बलिदान करना पड़ता है। इस बलिदान के लिए जो आग्रह किया जाता है, वह सामाजिक जीवन के सत्य को लेकर होता है। इसी कारण उसे सत्य का आग्रह कहा गया है। जहां यह आग्रह नही होता, वहां ग्रेशम का क़ानून अपने आप लागू हो जाता है। कुछ लोगो के चरित्र-भ्रष्ट हो जाने पर शेष व्यक्तियो को टिक रहने के लिए उन्हीं के प्रवाह मे बहते जाकर खुद भी भ्रष्ट होना पड़ता है। इस ग्रेशम के कायदे से बचने के लिये उन सद्गुणो का संपादन विशेष सावधानी के साथ करना पड़ता है, जो संस्कृति के आधार स्तंभ कहे जा सकते हैं। इसी कारण इन गुणो को समाज की दैवी-सम्पत्ति कहा गया है।

चातुर्वर्ण्य की कल्पना प्रत्यक्ष वेद मे ही पाई जाने के कारण यह कहा जा सकता है कि वह हमारे समाज के ठेठ मूल से ही मौजूद है। किन्तु वेद मन्त्रों के काल-क्रम पर विचार करने वाले आधुनिक लोगों का कहना है कि चातुर्वर्ण्य की कल्पना दसवें मण्डल के पुरुषसूक्त में ही सर्व प्रथम दिखाई देती है, और यह मण्डल ऋग्वेद के मन्त्रों में एक दम अन्तिम और काल-क्रम की दृष्टि से अर्वाचीन है।

महाभारत में कहा गया है कि ठेठ मूल समय में जबकि समाज शुद्ध अवस्था मे था, तब एक ही देव, एक ही वेद और एक ही वर्ण था। और वह वर्ण था—'ब्राह्मण'। इसके बाद जैसे-जैसे समाज का-ह्रास होता गया, वैसे-वैसे वर्ण बढ़ते जाकर उनकी संख्या तीन और चार हो गई। इस कल्पना में बहुत कुछ तथ्यांश है।

मूल कल्पना के अनुसार सम्पूर्ण सामाजिक जिम्मेदारी को पहचानने वाला और समाज सेवा विषयक अपने कर्तव्य को पूरा करने वाला मनुष्य प्राणी ही ब्राह्मण था। इसके बाद सामाजिक जिम्मेदारियों के विषय में शिथिल और अपने साध्य के विषय मे जो बहुजन समाज अतिशय उत्सुक हुआ उसे वैश्य कहा जाने लगा। वैश्य शब्द का मूल अर्थ समाज ही है। यह वैश्य अथवा सामान्य मानव-समाज सम्पत्ति देकर दूसरे लोगों से सामाजिक काम करवाने लगा, इसी कारण ब्राह्मण और वैश्य का भेद उत्पन्न हो गया।

उपनिषदो मे ब्राह्मण और कृपण का भेद दिखाया गया है। ब्रह्म का अर्थ है अत्यन्त व्यापक और विराट् आकृति मे समाज का सनातन-स्वरूप। यदि इस अर्थ को लिया जाय तो ब्रह्मपरायण रहने वाला ब्राह्मण और उच्च संस्कृति का निर्वाह न कर सकने के कारण जो कृपा का पात्र है उसे कृपण मानना पड़ेगा।

महाभारत मे कहा गया है कि क्षत्रियो की उत्पत्ति ब्राह्मणों से हुई। इसी कारण क्षत्रियो का वीर्य कितना ही अमोघ क्यों न हो; ब्राह्मणों के सामने वह ठंडा पड़ ही जाता है। स्व योनौ उपशाम्यति

समाज की सेवा करने का अर्थ है, मुख्यतः समाज को उसके आदर्श का ज्ञान कराते हुए प्रत्येक को अपने २ कर्तव्यानुसार चलने की प्रेरणा करना। यह कर्म ब्राह्मण का है। समाज-व्यवस्था अथवा धर्म ब्राह्मणों के हाथ में ही सुरक्षित रह सकता है। ब्राह्मण की उत्पत्ति धर्म के लिये ही हुई है।—स तु धर्मार्थमुत्पन्नः। ब्राह्मणस्य तु देहोऽयं क्षुद्र कामाय नेष्यते। [मनुः] ब्राह्मण का यह शरीर किसी क्षुद्र विषयतृप्ति के लिए नहीं है। यदि भोग और ऐश्वर्य के पीछे किसी को पड़ना हो, तो वह काम कृपण के लिये ही हो सकता है। जब तक ब्राह्मण का शरीर है उसे संघर्ष [रगड़] सहन करनी ही होगी। इसके बाद शरीर के नष्ट हो जाने पर अपनी सेवा के बल पर तपश्चर्या के फलस्वरूप उसे समाज जीवन में अनन्त काल तक एक रस हो जाना चाहिए। उस समय समाज-सुख ही उसका सुख हो जाता है।

ब्राह्मणों के इस आदर्श के अनुसार उसे अपनी सेवा और स्वार्थ-त्याग के द्वारा समाज को तेजस्वी बनाये रखना चाहिए। यदि इतनी श्रद्धा न हो, या इतना धैर्य न हो सकता हो, तो मनुष्य अपने सामर्थ्य का उपयोग करके दूसरों को दबाकर रखना चाहेगा ही। इसी का नाम है 'ब्राह्मणों में से क्षत्रियों का उत्पन्न होना'। सत्य का आग्रह छूट कर सत्ता की धाक बैठने पर क्षत्रिय प्रधान हो ही जायगा।

किन्तु ऐसा होने पर भी ब्राह्मण-क्षत्रिय मिलकर समाज नेताओं की एक श्रेणि बन जाना और शेष विराट् वैश्य समाज के रूप में समाज व्यवस्था का दीर्घ काल तक चलते रहना स्वाभाविक ही था। इसके बाद जब ब्राह्मण-क्षत्रियों के दोष के कारण असंस्कारी अथवा ऐसे लोगों का समूह जिसमें संस्कार ग्रहण करने की शक्ति नहीं, धीरे २ इकट्ठा होने लगा, तब यह प्रश्न उत्पन्न होना अनिवार्य ही था कि उसे क्या काम बतलाया जाय? इस प्रकार बतलाया हुआ काम करने वाले लोगों से कोई भी व्यक्ति सिवाय परिचर्या के दूसरा काम ले ही क्या सकता था? एक पुरानी कहावत है कि "करने वाला मिल जाने पर करवा लेने वाला भी मिल ही जाता है" घोड़े को देखते ही मनुष्य के पैरों में अपने आप थकावट आ जाती है। और यदि घोड़ा न हो तो पालकी बनवाने की इच्छा होती है। इस प्रकार परिचर्या करने वाला वर्ग शूद्र के नाम से निर्माण हुआ वह समूह स्वतः तो अभागा है ही, किन्तु समाज को भी अभागा बनाता है। इसलिये ऐसा वर्ग समाज में जहां तक न हो, उतना ही अच्छा है।

किन्तु आज कल तो प्रायः सभी श्रमजीवियों को शूद्र मानने की प्रथा चल पड़ी है, जो एकदम अयथार्थ है। छोटे बड़े व्यवसाय अथवा मिहनत मजदूरी करने वाले लोग शूद्र नहीं वरन् वैश्य ही हैं। अंग्रेजी में जिसे Menial service कहते हैं, उसे करने वाले लोग ही शूद्र हो सकते है। उदाहरणार्थ शरीर को दबाना, पालकी उठाना, वेतन लेकर मन्दिर में पुजारी बनकर रहना, बर्त्तन माँजना, कपड़े धोना, चन्दन घिस कर देना, झाड़ू बुहारी करना आदि काम जो लोग करते हैं वे शूद्र हैं। कपड़े सीना, लकड़ी के सन्दूक बनाना, फूलों की माला बनाना, पुस्तकें लिख कर देना, जूते बनाना आदि काम करके पेट भरने वाले लोग वैश्य हैं।

जो काम सचमुच ही जिसके है उसे खुद करने चाहिये उन्हें यदि दूसरे के लिये करके कोई आजीविका प्राप्त करता है तो वह परिचारक है। इस प्रकार के कामों-द्वारा वह मनुष्य सामाजिक श्रम विभाग नहीं करता, वरन् लोगों के अहदीपन को उत्तेजन देता है और खुद वह समाज के आधीन (किंकर) हो जाता है। अहदी मनुष्य परिचारक पर अवलंबित रहने की आदत के कारण खुद भी एक प्रकार से आश्रित बन जाता है, इस बात को हमें भूल जाना न चाहिये।

किसी भी समाज में शूद्रवर्ग का अधिकार होना भयकारक है। क्योंकि शूद्र का अर्थ है संस्कार-शून्य, अतएव शूद्रों का अधिक होना ब्राह्मणों की अयोग्यता सिद्ध करता है। यूरोप में अंधे, गूंगे, बहरे, जड़-बुद्धि आदि विद्यार्थी को, जिन्हें कि शिक्षा देना कठिन होती है, शिक्षित बनाने की अनेक युक्तियां और पद्धतियां ढूंढ कर वहां के शिक्षा-शास्त्री अर्थात् ब्राह्मण अपने वर्णधर्म को कृतार्थ कर रहे हैं। जिन्हें विद्या

का 'अधिकार' नहीं था उन्हें इस प्रकार अधिकार देकर समाज पर से असंस्कारी लोगों का बोझ बे बहुत कुछ कम कर रहे हैं। किन्तु इसके विरुद्ध हमारे यहाँ के ब्राह्मण विद्या के लिये बेचैनी रखने वाले व्यक्तियों को भी यह कह कर कि" तुम्हें विद्याध्ययन करने का अधिकार ही नहीं है" अपनी अयोग्यता और कर्तव्यभ्रष्टता ही जग। जाहिर कर रहे हैं।

चातुर्वर्ण्य का इस दृष्टि से विचार करने पर एक ओर समाज-सेवक ब्राह्मण-क्षत्रियों का एक वर्ग और दूसरी ओर समाजपरिचारक के रूपमें रहने वाले मनुष्यो का दूसरा वर्ग होगा। इस प्रकार दो सिरे कायम करके अलग कर दिये जाने पर शेष जो विराट् भाग रह जाता है वही वैश्य वर्ग होगा। इन वैश्यो मे सब प्रकार के व्यवसायी लोगो का समावेश हो जाता है। वर्ण की दृष्टि से सब धन्धे समान हैं। एक एक धंदे के अनुसार जो भिन्न भिन्न जातियां निर्माण होगी, उन्हें वैश्य वर्ण का अंतर्विभाग कहा जा सकेगा। इन सब धन्धे वाले लोगों के रहन-सहन और विचार सरणी वैश्य पद्धति की होने के कारण उनमें विवाह-सम्बन्ध शास्त्रोक्त ही माने जायेंगे किन्तु फिर भी सामाजिक-जीवन की सुविधा की दृष्टि से प्रत्येक व्यवसाय के लोग स्वभावतः अपने व्यवसाय-धन्दे में की ही लड़की पसन्द करेंगे। यही रचना स्वाभाविक भी है। इसके लिए शास्त्राज्ञा की आवश्यकता नहीं।

वर्ण का अर्थ है आजीविका का धन्धा और वर्ण व्यवस्था का मतलब है प्रत्येक व्यक्ति का अपने परम्परागत धन्धे को चलाने और लोभवश या उकता कर उसे न छोड़ने का नियम। वर्ण-व्यवस्था के मूल में जो ये दो बातें हैं सही, फिर भी केवल इन दो बातों के लिए ही इतना आग्रह और इस प्रकार का विस्तार नहीं किया गया है। कुछ लोग ऐसे भी हैं जो यह कहते हैं कि समाज में स्पर्धा-होड़ का सिद्धान्त अवश्य होना चाहिए। किन्तु स्पर्धा की अनावश्यकता बतलाने वाला कोई नहीं मिलता। एक ही व्यवसाय धन्धे वाले परस्पर स्पर्धा करते ही रहेंगे, किन्तु उनके लिए मनमाना धन्धा करने की स्वतंत्रता रहनी आवश्यक है। प्रत्येक व्यक्ति अपने गुजारे के लिए जैसा भी उचित समझे, मार्ग निश्चित करले। इस प्रकार प्रत्येक के सावधान रहने पर समाज-हित स्वयमेव सिद्ध हो सकने की बात कहने वाला पक्ष (दल) ही स्पर्धाकारी सिद्ध होगा। किंतु इस प्रकार की स्पर्धा को समाज-द्रोही एवं संस्कृति विघातक सिद्ध करना कोई कठिन बात नहीं है। कोई भी आदमी किसी भी धन्धे को क्यों न करे, किन्तु उसे इसी दृष्टि को सामने रखना चाहिए कि इसके द्वारा समाज-हित का साधन किस प्रकार हो सकेगा। इस प्रकार व्यवसाय करते हुए अपने लिए केवल आवश्यक आजीविका, आवश्यकतानुसार ही निश्चिन्तता और आवश्यक अवकाश (फुर्सत) मिलने को पर्याप्त समझने की वृत्ति धारण करनी चाहिए। परिस्थिति से लाभ उठाकर अर्थात् लोगों की दुस्थिति और अज्ञान से साथ उठाकर जितना भी अधिक मुनाफा मिल सके उसे हलाल समझने की वृत्ति पहले नहीं थी। बीच में ही वह आ घुसी और उसी के कारण अनेक सामाजिक रोग उत्पन्न हो गये। इस मुनाफे की कल्पना को निर्मूल करके समाज सेवा के लिए ही धन्धे करने की कल्पना पूर्ववत रूढ़ कर देने पर यह कहा जा सकता है कि वर्ण-व्यवस्था की पुनः स्थापना हो गई।

एक ही व्यवसाय करने वाले विभिन्न परिवार उत्तम सेवा करने और माल को सुधारने के विषय मे निरन्तर स्पर्धा कर सकते हैं। व्यवसाय के महाजन ने आदर्श निश्चित कर दिया हो, उसे अपना स्त्व (अधिकार) समझ कर प्रत्येक व्यक्ति पालन करे और समस्त-समाज ने जो आजीविका निश्चित कर दी हो, उतने ही मे संतोष माने, तथा इस प्रकार आजीविका चलाने के पश्चात जो कुछ शारीरिक या बौद्धिक शक्ति विशेष रूप से अपने पास हो उसे निष्कामभाव से समाज-सेवा के लिए उपयोग मे लावे, यही वर्ण-व्यवस्था का आदर्श है। किन्तु इस का अर्थ यह नहीं हो सकता कि, कोई व्यक्ति व्यवसाय की दृष्टि से दर्जी होने के कारण किसी को उपदेश न करे या हित की चार बातें न कह सके।

अथवा कठिन प्रसंग उपस्थित होने पर आत्मीयों की रक्षा के लिए युद्ध अथवा सामना न करे। अलबत्ता दूसरे के धन्धे में घुसकर उसके व्यवसायियों के पेट पर पाँव रखने का प्रयत्न उसे कदापि न करना चाहिए।

जिन लोगों का धन्धा एक अथवा समान है, उनमें जीवन सहयोग अधिक होना स्वाभाविक है। विशेष रुचि के साथ भेंट के रूप में अच्छी-अच्छी वस्तुएं लेना सुख-दुःख की बातें कहना-सुनना, भोजन करना-कराना आदि लक्षण जीवन के सहयोग के हैं। परस्पर एक दूसरे के घर जाकर भोजन करना, व्यवसाय में एक-दूसरे को सहायता करना, सलाह देना, या लेना, लड़की लेकर या देकर शरीर सम्बन्ध स्थापित करना भी जीवन के सहयोग का लक्षण है। जिनका रहन-सहन और विचारधारा समान है उनमें तो यह सहयोग होगा ही।।

ददाति प्रतिगृह्णाति गुह्यमाख्याति पृच्छति।
भुङ्क्ते भोजयते चैव षड्विधं प्रीति-लक्षणम्॥

अपने ही वर्ण की लड़की से विवाह करने पर उसे प्रारंभ से ही अनुकूल रहन-सहन की प्राप्ति होगी, साथ ही अपने घर और व्यवसाय मे भी स्वाभाविक रूप से उसका अधिकाधिक उपयोग हो सकेगा; परस्पर प्रेम करना सरल हो जायगा। और इस प्रकार वह अधिक उत्कृष्ट सिद्ध होगी, साथ ही इस प्रकार के दम्पत्ति से उत्पन्न सन्तान को भी अत्यन्त उचित पारिवारिक वातावरण भी मिल सकेगा। इस प्रकार व्यवसाय, जीवन-क्रम, प्रेम, सन्तति और समाज की दृष्टि से सवर्ण-विवाह ही उचित है; किन्तु इसका अर्थ यह नहीं हो सकता कि नियम तोड़ कर यदि किसी ने अपने वर्ण से बाहर विवाह किया, तो वह पाप अथवा अनाचार हो गया। पौष्टिक आहार छोड़ कर कोई भी यदि निकृष्ट आहार भक्षण करेगा, तो वह अपनी ही हानि कर लेगा, यहां तक तो ठीक है। किन्तु इसके विरुद्ध समाज यह कभी नहीं कह सकता कि उसने कोई महान् पातक किया अथवा धर्म डुबा दिया। क्योंकि वर्ण-बाह्य विवाह करने से वर्ण-व्यवस्था तो कभी डूब नहीं सकती। जब तक विवाह होते ही स्त्री अपने पति के परिवार मे प्रवेश करती और पति की आजीविका में भाग लेती है, तब तक पति का वर्ण ही पत्नी का भी वर्ण होने की बात सहज सिद्ध है, भले ही उसके माता-पिता का वर्ण कोई-सा भी क्यों न हो! महाभारत मे ऐसे अनेक विवाहों का उल्लेख मिलता है, जिन्हे हम आज असवर्ण-विवाह कह सकते हैं, किन्तु उसमे उनका अभिनन्दन ही किया गया है।

वर्ण कितने हों?

वर्ण चार ही क्यों होने चाहिए, यह एक बड़े महत्त्व का प्रश्न है। गीता के समय में यह चर्चा उत्पन्न नहीं हुई थी। किन्तु मूल मे एक ही वर्ण के तीन हुये और आगे चल कर चार हो गये। पर इसके बाद यह कहने का प्रसंग आ उपस्थित हुआ कि वर्ण चार ही हो सकते हैं, पांच नहीं। जब यह प्रश्न सामने आया कि वर्णबाह्य 'व्रात्य' लोगों की क्या व्यवस्था की जाय? और जिन्हे विधर्मियों एवं विदेशियों की वर्ण-व्यवस्था का ज्ञान ही नहीं है, उनसे कैसे व्यवहार किया जाय? तब, जो भी ये प्रश्न यद्यपि पीछे से उत्पन्न हुए, किन्तु फिर भी शुतुरमुर्ग के समान रेत में सिर घुसेड़ कर अपने को सुरक्षित समझने की बुद्धिमत्ता समाज में शेष थी, अतएव जो व्यवस्था बतलाई गई, वह समाज के लिये घातक सिद्ध हुई।

तथ्य वार्ता

ले० वयोवृद्ध वीतराग तीथद्रष्टा श्री स्वामी सर्वदानन्दजी महाराज

यथार्थरूप से आर्य बनने का यत्न करो इसमे तुम्हारा हित यश और समाज का गौरव है। वेद की दृष्टि मे मनुष्य के दो भेद हैं एक आर्य दूसरा दस्यु है। जिसकी उक्ति और कृति मे समानता विचार और आचार मे अभिन्नता, कर्त्तव्य और मन्तव्य मे एकता हो वह आर्य है।

अपने मुख मे अपनी प्रशसा नहीं करता है सुख दु:खादि द्वन्दों मे जो समान रहता है जोश म आकर कटु वचन मुख मे कभी नहीं कहता है वह आर्य है। जिसको विद्या से प्यार है भले पुरुषों का जिसके मन म सत्कार है सबका हित चिन्तक और उदार है वह आर्य्य है। सृष्टिक्रम की जिसको पहचान है जिसका उज्वल विज्ञान है जो स्वभाव मे निरभिमान है वह आर्य्य है।

प्रभु प्रेम मे जिसको अनुराग है, पक्षपात से जो वेलाग है, जिसके मन मे सच्चा त्याग है वह आर्य्य है। जिसने जीवन मृत्यु को जान लिया, असली बात को पहचान लिया निष्कामभाव से काम किया, वह आर्य है।

जिसके हाथ पवित्र है, भाव विचार विचित्र हैं। हितकर जिसके मित्र हैं वह आर्य है।

वृद्धो का सत्कार करे, अपने हित से उपकार करे जो, पीड़ित पुरुषो के कष्ट हरे वह आर्य है।

जिसका शरीर सबल होवे, प्रकृति सुन्दर सरल होवे, मन गम्भीर विमल होवे वह आर्य है।

जिनकी परस्पर प्रीति है हितकारक जिनकी नीति है और बुद्धि पूर्वक रीति है वह आर्य है। जो देश काल का ज्ञानी है निर्भीक सदा और दानी है जो फिर भी निरभिमानी है वह आर्य है। जो मूर्ति को देखकर तद्वान् की कीर्ति का तसवीर को देख कर उसकी तदवीर और चित्र को देख कर उसके चरित्र का सम्मान करता है वह आर्य है।

वेद की दृष्टि मे आर्य शब्द इन गुणों का गुणी है, यह हो सकता है कि किसी व्यक्ति में इन समस्त गुणो का सन्निपात न हो तथापि इनकी अधिकता जिस व्यक्ति में विद्यमान होगी वह प्रकृत आर्य पद-वाच्य है। ऐसे पुरुष सर्वत्र पाए जाते हैं। उनका चरित्रबल जिन देश वासियों या जिन जातियों में गति करने लगता है वह देश ज्ञानगौरव से चमक जाता है, नित्य नई उमग को लेकर आगे बढ़ता है उसका उत्साह कभी भग नहीं होता है। वह आलस्य और प्रमाद से सदा दूर रहता है। वह अपनी साध्वी शिक्षा से साधु स्वभाव सन्तान को उत्पन्न करता है और उत्तम सामग्री को उसके हाथ में देता है आगे २ यह क्रम बढता हुआ जब तक उक्त गुणों का मान करता रहेगा दुनियाँ की दौलत यश और कीर्त्ति साथ देती रहेगी और गुणो के दूर होते ही साथ छोड़ देगी।

आवश्यकता पड़ने पर कोई मनुष्य किसी को सहायता देता और कोई किसी से सहायता पाता है, ऐसा व्यवहार परस्पर होना ही चाहिये परन्तु विपत्ति के समय आर्य पुरुष मनुष्य की अपेक्षा परमेश्वर से-जिसकी कृपा का हाथ सब पर सदा समान है—सहायता की याचना करता है, उसकी कृपा से ही बिगड़े हुए कार्य सुधर जाते हैं और सुधरे हुये बिगड़ने नहीं पाते हैं। उसका यह निश्चय है अतएव आर्य पुरुष सम्पत्ति और विपत्ति में परमेश्वर को नहीं भूलता है।

ऋषि दयानन्द जी महाराज के हृदय मे इस आर्य शब्द का आदर था। देश अभी सुधरने ही न पाया था, कोई सुधारक सच्चा वेद प्रचारक अभी नहीं आया था, कि यह यौगिक शब्द शीघ्र ही रूढ दशा में परिवर्तित हो गया, अब इसकी दलदल से निकल कर फिर से संभालना कठिन हो रहा है।

दस्युभाव व्यक्ति इसके विपरीत होता है। उस का जीवन मनुष्य-समाज के लिये हितकर नहीं होता है। वह अन्य के सुख-दु:ख की चिन्ता न करता

हुआ स्वार्थ सिद्धि में सदैव तत्पर रहता है। उसकी विद्या किसी को सन्मार्ग दर्शाने के लिए नहीं होती, वह अपनी शारीरिक शक्ति से किसी को लाभ नहीं पहुँचाता है, उसका धन किसी शुभकार्य में व्यय नहीं होता है, उसके जीवन व्यवहार से संसार अनेक उपद्रवों का स्थान बन जाता है. कलह को जमाने बैर-विरोध के बढ़ाने में सदा अपने बल को लगाता है। पर-दोष-दर्शन में प्रवीण, अपनी प्रशंसा करने सुनने में नित्य विलीन रहता है, दूसरो को क्लेश में देख कर प्रसन्न होता है और किसी के उत्कर्ष यश और कीर्ति को सुनकर अकेला बैठ कर रोता है। अपने कथन का उसको पास नहीं होता है और ईश्वर का उसको विश्वास नहीं होता है। वस्तु नास्तिकता का पक्षपाती और विलासिता के जीवन का अनुयायी होता है। जिसका अन्तःकरण हत्याकारक दोषों से दूषित हो जाता है वह पुरुष दस्यु संज्ञा का संज्ञी बन जाता है। दोषों की अधिकता और गुणो की न्यूनता ही इस में प्रमाण है।

जिस देश या जाति मे इन दोषो की प्रवृत्ति अधिक हो जाती है वहां स्वाधीनता अपना स्वरुप नहीं दिखाती है, और आर्य्य भावो के उदय हो जाने से पराधीनता निकट नहीं आती है। चरित्रबल की न्यूनता से मनुष्य दस्यु और इसकी अधिकता से आर्य्य नाम का नामी हो जाता है, एक का जीवन स्वार्थमय और दूसरे का लोकहित के लिये होता है।

मेरे मित्र ? अब किञ्चित आर्य्य-समाज की प्रवृत्ति की ओर ध्यान दे, कि इसकी गति किधर को जा रही है। अधिकारलिप्सा ने इसको ऐसा घेरा है, जिसके कारण कहीं टंटा और कहीं बखेड़ा है, इधर झगड़ा है तो उधर झगोड़ा है यह सर्वत्र देखने में आरहा है, यह ऐसी उलझन कड़ी है जो सुलझने में ही नहीं आती है।

अनुमान से माना जाता है कि इसमें कुछ मिठास अवश्य है जिससे समस्त आर्य्य दल यह जानता हुआ कि परस्पर का वैमनस्य अच्छा नहीं होता है—फिर भी इसके छोड़ने में विवश है। आर्य्यसमाज का इसमें अपयश है दिनों-दिन जनता में अविश्वास बढ़ रहा है फिर भी आर्य्यसमाज अपने रूप को नहीं बदलता है। यह ईश्वर का कोप है या इसके सद्विचारों का विलोप है या किसी प्रलोभन के द्वारा असन्मार्ग में आरोप है, कुछ कहा नहीं जाता है। विचारने से यह पता चलता है कि कहीं-कहीं तो अल्प धन की मधुरता है, आर्य्य पुरुष मधुमक्खिका की भान्ति उसके इरद-गिरद चक्र लगाते रहते हैं। और कहीं कही आपस के मनोमालिन्य से किस से एक को गिराने और दूसरे को उसके स्थान पर लाने की चेष्टा होती है। और कहीं-कहीं जाति के जाल ने (जिस व्यर्थ की बात भाव तीन सात को पूरे यत्न से हटाने-मिटाने की इच्छा थी) आर्य्य-समाज को फँसा लिया है और कई एक भले पुरुष जानते हुए भी कि यह विच्छेद खेद का ही कारण है—दूसरो के प्रभाव से प्रभावित होकर इस ही अखाड़े के खिलाड़ी बन रहे हैं।

और भी देखा जाता है कि जातीय और प्रान्तीय भाव जो देश की बरबादी का एक प्रबल कारण था जिस दोष को मिटाने और सुभाव को बढ़ाने के लिये आर्य्यसमाज उद्योग कर रहा था वह मुर्झाया हुआ दोष फिर से सचेत होकर समाज को कुपथ मे लेजा रहा है। अब आर्य्यसमाज अचेत है। सुविचार काम नहीं करता है इसी से तो इस व्यर्थ की उधेड़ बुन को छोड़ने मे डरता है। इसका नाम जहालत है, इसका नाम भूल है यह पापों का बीज और दुखों का मूल है।

अन्यदपि—संप्रति कार्य्य संचालन के लिये प्रधान मन्त्र्यादि का नियुक्त करना सम्मति पर निर्भर है। कार्य निर्वाह की यह रीति यदि प्रीति और सुनीति के आधार पर हो तो साध्वी है और फलवती है।

परन्तु यह देश इस क्रम के महत्व को अभी ठीक प्रकार से नहीं जानता है। यह मार्ग सूक्ष्म है, इस पर चलने के सब अधिकारी नहीं हो सकते हैं। यह मार्ग यदि स्वच्छ रहे, इसमें दोष न आने पावे, तो यह शीघ्र ही अभ्युदय फल को सामने ले आता है। यदि भूल से असावधानता से इस मार्ग को मलिन कर दिया जावे तो खेद-प्रद बन्धन का कारण बन

आता है। आर्यसमाजी पाश्चात्य सभ्यता का अनुकरण कर रहे हैं, यह सत्य कथ है—कि जनसमाज को गुणग्राही होना चाहिये, इस साधु आचार के त्याग करने में समाज उन्नतिशील नहीं होता है; परन्तु यह स्मरण रहे कि जितनी शीघ्रता से वाह्य व्यवहार अनुष्ठान में आ सकता है, आभ्यन्तर गुणों का ग्रहण उतना ही कठिन और असम्भाव्य होता है, उन्नति का सम्बन्ध इन ही गुणों में है वाह्य व्यवहार से नहीं। आरम्भ में उनके निर्वाचन की रीति बड़ी ही स्वच्छ और उपक्रम बड़ा ही पवित्र था, उस बुद्धिपूर्वक कार्यक्रम का अभ्युदय फल उनके सामने है दिगन्त व्यापी यश के भागी हो रहे है, संप्रति उनके कार्य बड़े महत्वपूर्ण हैं जिस प्रकार चाहे अनुष्ठान में सर्व स्वतन्त्र हैं।

आर्यसमाज का छोटा-सा काम, अल्प आय, अधूरा व्यवसाय, इसका तो वैदिकधर्म का प्रचार प्रेम से सत्य का प्रसार करना ही ध्येय होना चाहिये था, अभी कोई काम ठीक होने ही नहीं पाया था कि एक विगाड़ को फैलाने वाली निर्वाचन की रीति नूतन ही खुल गई।

मेरे मित्र! रोगी की देख भाल और औषधि निर्माण के लिए अच्छे डाक्टर वैद्य या हकीम की आवश्यकता होती है। अधिक सम्मति से चुना हुआ योग्य वकील काम नहीं देता है। ठीक इसी प्रकार धर्म कार्य में तो धर्मात्मा पुरुष को ही नियुक्त करना होता है, उसके हाथ में जाकर धर्म सबल और सुन्दर होकर सर्व समाज पर अपना प्रभाव डालता है, दिनोंदिन उन्नति सामने आती, जन-समाज को निहाल कर दिखाती है परन्तु ऐसा धर्मात्मा वोट की चोट नहीं खाता है व्यर्थ अपने को बखेड़े में नहीं फँसाता है। यह निर्वाचन का प्रकार जिसको आर्य्यसमाज ने माना हुआ है ठीक प्रतीत नहीं होता है, कारण यह है कि इससे वैमनस्य बढ़ता जाता और मनोमालिन्य प्रतिसमय अपना बल दिखाता है फिर भला इस मार्ग का सहारा लेकर प्रामण्य की प्राप्ति कैसे हो सकती है।

जो मनुष्यसमाज २४ घंटों में दो बार द्वेष के त्यागने की प्रतिज्ञा करता है और फिर उसके ही विपरीत कार्यों का अनुसरण करता है वहां देव का कोप ही कहना चाहिये। कहीं कहीं ग्रामों के समाजों में कुविवाद तो नहीं है किन्तु परस्पर प्रेम की वहां भी न्यूनता है और विचार की कमी से वे अधिक हितकर सिद्ध नहीं होते हैं और जहाँ नागरिक लोगों में विचार का प्रकाश है वे परस्पर विवाद के प्रभाव में जा रहे हैं अतएव अब आगे बढ़ने की अपेक्षा गति पीछे को हो रही है और उन्नति की झलक अवनति के दबाव में आ रही है।

आर्यसमाज निर्वाचन के समय इतनी बनावट और सचाई की रुकावट से काम लेता है जो किसी प्रकार भी उचित नहीं जान पड़ता है। यदि यह कहा जावे तो ठीक ही होगा कि वर्ष भर के संध्यादि शुभ कर्मों का फल निर्वाचन के एक दिन में खो देता है। इतनी विकट समस्या हो गई है कि न छोड़े ही बनता और न ठीक ताना ही तनना है। किसी ने सत्य कहा है—

> नहीं तन्तु बिगड़ा है, बिगड़ी है तानी।
> मुसीबत की मशहूर, जग में कहानी॥

मेरे मित्र! सन्मार्ग में जाओ परस्पर विवाद को मिटाओ, कर्तव्य पालन में मन को लगाओ प्रेम को बढ़ाओ सफल हो जाओगे। (सुकृतः सुहस्तः) यह वेदवचन है। देश के सुधारने जनसमाज को उन्नति की ओर ले जाने में कामयाब वही हो सकते हैं जो शुभकर्मों के कर्ता हो और जिनके हाथ पवित्र होते हैं वह स्वयमेव उन्नत होकर दूसरों को उन्नति पथ में ले जाते हैं। आर्यसमाज वेदों को मानता हुआ उसके नियमों से कितना दूर हटता जाता है। ग्लानि है—

> जिस काम को करते पाकीजह हाथ।
> तरक्की सदा देती है उनका साथ॥
> कमजोर हाथों में जो काम जावे।
> करो यत्न लेकिन सुधरने न पावे॥
> बनने बिगड़ने का यही राज है।
> भले पुरुषों की यही आवाज है॥

शत्रु सब हर्सेंगे मित्रों को खेद होगा।
जब ग्रहनुमा तुम्हारा आपस का भेद होगा॥

ऋषि ने जो बीज बोया मत इसको तुम बिगाड़ो।
इस रम्य वाटिका को कर भूल मत उजाड़ो॥

वेद स्तुति

(रचयिता—श्री राकेशचन्द्र मंगल "राकेश" आगरा)

(१)

हे आदि ग्रन्थ! हे ग्रन्थ-राज!
हे परम शान्ति, सुख के समाज!
हे भव सागर के रत्न भव्य!
हे दिव्य! पूर्ण! हे सदा श्रव्य!

(२)

है कौन सुविद्या वह महान
अथवा ऐसा विज्ञान-ज्ञान,
जिसका तुम में हो ना निगमात्र,
जिसका तुम से होता न त्राण!

(३)

तुम सब प्रकार से शुभ अपाप
अक्षय, अनन्त अनुभूति कोष
तुम को पढ़ने पर पुण्य-पोष—
हैं कहाँ देखते असन्तोष!

(४)

था किन्तु तुम्हारा सत्प्रकाश
थे हुए बहुत से जन हताश,
पर कर महर्षि ने तिमिर—नाश,
फिर चमकाया निर्मलाकाश।

(५)

हे वृहत विश्व की महा-शान्ति!
है मची जगत मे क्लान्त क्रान्ति,
छायी है चारो ओर भ्रान्ति,
अब हरो हमारी भूरि भ्रान्ति।

श्रौतयज्ञों की वैदिकता

युधिष्ठिर मीमांसक (अजमेर)

माननीय पाठक वृन्द ! यज्ञ क्या है इसके बतलाने की आवश्यकता नहीं है। इस विषय पर अनेक सुयोग्य लेखक प्रकाश डाल चुके हैं। इस लेख के लिखने का इतना ही प्रयोजन है कि आर्यसमाज के अनेक विद्वान यह कहते तथा लिखते है कि ये श्रौत यज्ञ वैदिक नहीं हैं। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने ग्रन्थों मे कहीं पर भी इन यज्ञों के करने की आज्ञा या विधि नहीं लिखी। अतएव इनका प्रचार आर्यसमाज मे नहीं होना चाहिये। आर्यसमाजियो के लिये कर्मकाण्ड का एकमात्र ग्रन्थ संस्कारविधि ही है। प्रस्तुत लेख मे इन यज्ञो की वैदिकता दर्शाना ही हमारा मुख्य प्रयोजन है।

"यज्ञ शब्द पर विचार"

यज्ञ शब्द व्याकरणानुसार यज धातु से नङ् प्रत्यय होकर बनता है। यज धातु के देवपूजा सङ्गतिकरण तथा दान ये तीन अर्थ है। तदनुसार संसार मे जितने भी शुभकर्म हैं वे सब यज्ञ शब्द से कहलाने योग्य है तथापि यहां पर यह अर्थ अभिप्रेत नहीं है। यज्ञ शब्द यौगिक तथा योगरूढि भेद से दो प्रकार का है। योगरूढि यज्ञ शब्द से उन्हीं क्रियाओ का ग्रहण होता है जिनका विधान संहिता, ब्राह्मण, तथा श्रौत सूत्रो मे है। श्रौत सूत्रों में इस पारिभाषिक यज्ञ शब्द का अर्थ—"देवता के उद्देश्य से हविः का त्याग करना" लिखा है।

"यज्ञों की संख्या"

यद्यपि ये यज्ञ संख्या मे बहुत अधिक हैं तथापि वेद इन सब यज्ञों को २१ इक्कीस संख्या मे विभाजित करता है। अथर्ववेद के प्रथम मन्त्र मे कहा है "त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रत"। अर्थात् ३×७=२१ यज्ञ अनेक रूपों को धारण करके विचरते रहते हैं। इसका भाव यह है कि इन २१ इक्कीस यज्ञो की क्रियाएं ही समस्त यज्ञो मे की जाती हैं। अतः संक्षेप से यज्ञ २१ ही है। गोपथकार इसके लिये अन्य ऋचा का प्रमाण देता है "······भूय एव आमानं समतपत स एतं त्रिवृतं सप्त तन्तु मेकविंशति संस्थं यज्ञमपश्यत्। तदप्येतदृचोक्तम्—अग्निर्यज्ञं त्रिवृतं सप्ततन्तुमिति" [गो० ब्रा० पू० १।१२] इसी प्रकार ऋग्वेद मे एक मन्त्र आता है—"इमं नो अग्न उपयज्ञमेहि पञ्चयामं त्रिवृतं सप्ततन्तुम" [ऋ० १०।१२४।१]। अब यह प्रश्न उठता है कि वे २१ इक्कीस यज्ञ कौन से है इनका उत्तर गोपथकार देता है—"सप्त सुत्याः सप्त च पाकयज्ञाः, हविर्यज्ञाः सप्त तथैकविंशति [गो० पू० ५।२४] अर्थात् सात पाकयज्ञ, सात हविर्यज्ञ तथा सात सोमयज्ञ ये मिल कर यज्ञ की २१ संस्थाएं है। आगे इन २१ यज्ञो का नामतः उल्लेख किया है—"सायं प्रातर्होमौ स्थालीपाको नवश्च यः। बलिश्च पितृयज्ञश्चाष्टकाः सप्तमः पशुरित्येते पाकयज्ञाः। अग्न्याधेयमग्निहोत्रं पौर्णमास्यमावास्ये। नवेष्टिश्चातुर्मास्यानि पशुबन्धोऽत्र सप्तमइत्येते हविर्यज्ञाः। अग्निष्टोमोऽत्यग्निष्टोम उक्थ्यषोडशिमांस्ततः। वाजपेयोऽतिरात्राप्तोर्यामात्र सप्तम इत्येते सुत्याः॥" ॥ [गो० १५३]

पाकयज्ञ संस्था—प्रातर्होम, सायं होम, स्थालीपाक, बलिवैश्वदेव, पितृयज्ञ, अष्टका, पशु ॥

पाकयज्ञ—अग्न्याधेय, अग्निहोत्र, दर्श, पौर्णमास, नवसस्येष्टि, चातुर्मास्य, पशुबन्ध ॥

सोमयज्ञ—अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र, अप्तोर्याम ॥

[नोट—इन २१ संस्थाओ मे पशु और पशुबन्ध ये दो नाम आये है। यद्यपि वर्तमान पौराणिक याज्ञिक इनमे पशुहिंसा ही मानते हैं तथापि यह वैदिक सिद्धान्त के विरुद्ध है। इनके वास्तविक स्वरूप

पर विचार करना चाहिये। हमारा अपना विचार है कि इन यज्ञों में भी जो पशुहिंसा प्रतीत होती है वह गूढार्थ के न समझने से ही होती है। हम अपने विचार पुनः अवसर मिलने पर प्रकट करेंगे]

"यज्ञों के भेद"

यज्ञों के दो तरह के विभाग हैं यथा श्रौत और स्मार्त्त। पाकयज्ञ स्मार्त्त कहलाते हैं क्योंकि इनका स्पष्टतया विधान संहिता और ब्राह्मणों में उपलब्ध नहीं होता। पुनः श्रौत यज्ञों के भी प्रकृति तथा विकृति दो भेद हैं इसी प्रकार अवान्तर भेद अनेक हैं जिनकी यहां लिखने की विशेष आवश्यकता नहीं है।

"यज्ञों का स्वरूप"

ये श्रौत या स्मार्त्त यज्ञ क्या हैं इनका उत्तर भी प्रसङ्गवश यहां देना अनुचित न होगा। यज्ञ नाम उन क्रियाओं का है जिनके द्वारा हम आध्यात्मिक तथा आधिदैविक जगत् में होने वाली अप्रत्यक्ष क्रियाओं का प्रत्यक्ष करते हैं। यथा नाटक खेलने वाले लोग अप्रत्यक्ष ऐतिहासिक घटनाओं को रङ्गभूमि में प्रत्यक्ष रूप से दिखलाते हैं वैसे ही यज्ञ भी एक रङ्गभूमि है जहां हम अप्रत्यक्ष क्रियाओं का प्रत्यक्ष करते हैं। यद्यपि यह एक स्वतन्त्र विषय है तथापि हम अपने विचार की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिये पाठकों का ध्यान शतपथ की ओर आकृष्ट करते हैं। शतपथ में दर्शपौर्णमास के विषय में लिखा है—"एषा नु त्वेवा दर्शपौर्णमासयोः सम्पत्। अथाध्यात्मम्" [शत० पृ० ४५७] "एषा नु त्वेवा दर्शपौर्णमासयोर्मीमांसा। अथाध्यात्मम्" [शत० पृ० ४५९]। पाठक वृन्द इन प्रकरणों पर विचार करें। इतना ही नहीं शतपथ में स्थान स्थान पर याज्ञिक प्रक्रिया की समानता अध्यात्म तथा अधिदैव से दर्शाई है। यही कारण है कि यज्ञ में किञ्चित् भी अन्यथा होने पर प्रायश्चित्त का विधान है। अन्यथा प्रायश्चित्त का विधान निष्फल होता है। 'परोक्षप्रिया देवाः प्रत्यक्षद्विषः मनुष्याः' इस कहावत के अनुसार गोपथकार इन यज्ञों का प्रत्यक्ष कारण भी दर्शाते हैं "अथो भैषज्ययज्ञा वा एते यच्चातुर्मास्यानि। तस्मादृतुसन्धिषु प्रयुज्यन्ते। ऋतुसन्धिषु वै व्याधिर्जायते" [गो० ब्रा० पृ० ८४] अर्थात् चातुर्मास्य यज्ञ औषधरूप है। ऋतुओं की सन्धियों में रोग उत्पन्न होते हैं अतएव उनके निवारणार्थ यह यज्ञ ऋतुओं की सन्धियों में किये जाते हैं। इससे यह सिद्ध है कि यज्ञ लौकिक तथा पारलौकिक उभयविध कल्याण के सोपान हैं।

"श्रौतयज्ञ तथा स्वामी दयानन्द सरस्वती"

आर्यसमाज की दृष्टि में महर्षि दयानन्द को विशेष स्थान प्राप्त है अतः वे इन यज्ञों को वेदानुकूल तथा प्रामाणिक मानते हैं या नहीं यह विचारना भी आवश्यक है। जहां तक प्रक्रिया का सम्बन्ध है उन्होंने इन यज्ञों की प्रक्रिया का वर्णन अपने ग्रन्थों में नहीं किया। संस्कारविधि में जिन यज्ञ पात्रों के चित्र दिये हैं उन सबका काम संस्कारविधि में नहीं पड़ता अपितु अधिकांशतया उनका कार्य श्रौतयज्ञों में ही होता है अतः इससे प्रतीत होता है कि वे श्रौत यज्ञों पर भी कुछ प्रकाश डालना चाहते थे। ऋग्वेदादि-भाष्य भूमिका के प्रतिज्ञाविषय में लिखते हैं—'परन्त्वेतैर्वेदमन्त्रैः　　कर्मकाण्डविनियोजितैर्यत्रयत्राग्नि-होत्राद्यश्वमेधान्ते यद्यत् कर्त्तव्यं तत्तदत्र विस्तरतो न वर्णयिष्यते। कुतः। कर्मकाण्डानुष्ठानस्यैतरेयशत-पथब्राह्मणपूर्वमीमांसाश्रौतसूत्रादिषु यथार्थं विनि-योजितत्वात्"। अर्थात् वेदभाष्य में मन्त्रों का याज्ञिक अर्थ नहीं करेंगे क्योंकि ऐतरेयशतपथब्राह्मण पूर्वमीमांसा तथा श्रौत सूत्रों में इनका यथावत् विनि-योग लिखा हुआ है। यहां पर 'यथार्थं विनियोजि-तत्वात्' पद विशेष ध्यान देने योग्य है। यदि स्वामीजी महाराज श्रौत यज्ञों को प्रामाणिक न मानते तो इस प्रकार कभी नहीं लिखते। इसी प्रकार भूमिका के ग्रन्थ प्रामाण्याप्रामाण्यप्रकरण में भी—"श्रौतसूत्रा-द्यार्षविरुद्धास्त्रिकाण्डस्नानसूत्र परिशिष्टादयो ग्रन्थाः" श्रौतसूत्रों को प्रामाणिकमान कर तद्विरुद्ध त्रिकाण्ड-स्नानादि ग्रन्थों को हेय लिखा है। संस्कारविधि में वेदारम्भान्तर्गत पाठविधि में इन्हें पठनीय लिखा है यथा—"तत्पश्चात् बह्वृच् ऐतरेय ऋग्वेद का ब्राह्मण आश्वलायनकृत श्रौतसूत्र तथा गृह्यसूत्र ·····"

इत्यादि। इससे भी इनकी प्रामाणिकता सिद्ध है। प्रामाणिकता का अभिप्राय वेदानुकूलतया ही लेना चाहिये अतएव स्वामीजी महाराज ने उपर्युक्त स्थल पर टिप्पणी की है—"जो ब्राह्मण ग्रन्थ तथा श्रौत सूत्र हिंसापरक हों उनका प्रमाण नहीं करना चाहिये।" इतना होने पर भी इनकी प्रामाणिकता में कोई हानि नहीं पहुँचती। अतः स्वामी दयानन्द सरस्वती की दृष्टि से श्रौत यज्ञ वैदिक है॥

"श्रौतयज्ञ और वेद"

वेद इन यज्ञों को कितना आवश्यक समझता है इसके लिये अथर्व वेद का शाला सूक्त देखिये; वहां लिखा है—"हविर्धानमग्निशालं पत्नीनां सदनं सदः सदो देवानामसि देवि शाले।" [अ० ९।३।७] अर्थात् गृह में इतने विभाग होने चाहिये हविर्धान=यज्ञीय पदार्थ रखने का स्थान अग्निशाला=आहवनीयादि अग्नियों का स्थान, पत्नीनां सदः=स्त्रियों के बैठने का स्थान, देवानां सदः=पुरुषों के बैठने का स्थान। इस मन्त्र का यही अर्थ संस्कारविधि में भी है। जो मनुष्य श्रौत यज्ञ करना चाहता है उसे कम से कम आहवनीय, गार्हपत्य, तथा दक्षिणाग्नि इन तीन अग्नियों का स्थापन करना होता है। वेद में इनका नामत उल्लेख अथर्ववेद कां० ८ सूक्त १० तथा कां० १५ सू० ६ मं० १४ में है [लेख के विस्तार के डर से सर्वत्र मन्त्र उद्धृत न करेंगे] अग्न्याधेय या अग्न्याधान का वर्णन अथर्ववेद कां० ११ सू० ७ मं० ८ मे है।

हविर्यज्ञो मे मुख्य द्रव्य व्रीहि और यव हैं। कई एक महानुभाव यह कहते है कि यज्ञो का कार्य सुगन्ध करना है अतएव व्रीहि और यव यज्ञ मे डालना व्यर्थ है क्योंकि इनसे सुगन्ध नहीं होती उनमे हमारा निवेदन है कि यज्ञ का कार्य केवल वायु शुद्धि ही नहीं है। यह तो एक आनुषङ्गिक प्रयोजन है वास्तविक प्रयोजन अध्यात्म उन्नति है। यह पूर्व लिखा जा चुका है कि यज्ञ एक रंगमञ्च है अतएव इसके प्रत्येक पदार्थ तथा क्रियाएं अध्यात्म तथा अधिदेव जगत् के प्रतिनिधि हैं। यज्ञ मे जो व्रीहि और यव हैं वे अध्यात्म मे प्राण और अपान हैं, वेद कहता है—"प्राणापानौ व्रीहियवौ" [अथ० ११।४।१३] इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना उचित है।

यज्ञ में घृतादि प्रक्षेप के साधनीभूत ३ स्रुच् होते हैं, जुहू, उपभृत, ध्रुवा। यजुर्वेद अ० २ मं० ५ मे "घृताच्यसि जुहूर्नाम्ना ... । घृताच्यस्युपभृन्नाम्ना । घृताच्यसि ध्रुवा नाम्ना ... ।" इन तीनों का नाम स्पष्ट मिलता है। यज्ञ मे इन्हीं मन्त्रों द्वारा इन तीनों का यज्ञशाला में स्थापन भी होता है। इसी प्रकार अथर्व वेद कां० १४ सू० ४ मं० ५,६ में इनका उल्लेख है। अथर्ववेद कां० १८ सू० ४ मं० २ 'देवायज्ञमृतवः कल्पयन्ति हविः पुरोडाशं स्रुचो यज्ञायुधानि' में इन तीनों स्रुच् को यज्ञ के शस्त्र कहा है। यज्ञ में ब्रह्मा का आसन दक्षिण दिशा में होता है। वेद भी कहता है "ब्रह्मा दक्षिणतस्त्वेऽस्तु (अथ० १८।४।१७) सोम यागों में एक उत्तरवेदि होती है उसमें सदोमण्डप तथा हविर्धान मण्डप नाम के दो स्थान होते है इसी प्रकार एक यूप होता है (कहीं कहीं एकादश भी होते है) इनका वर्णन अथर्व वेदान्तर्गत पृथिवी सूक्त के ३८ वे मन्त्र मे निम्न प्रकार आता है—"यस्यां सदोहविर्धाने यूपो यस्यां निमीयते ..."। अर्थात्—स्वदेश भक्ति के भाव से भरित कोई भक्त मातृ-भूमि की महिमा का वर्णन करते हुए कहता है जिस भूमि पर अग्निष्टोमादि याग करने के लिये सदोमण्डप, हविर्धान मण्डप तथा यूप बनाया जाता है, जिस पर ऋग्वेदादि के वेत्ता मन्त्रों से स्तुति करते है, जिस पर ऋत्विग् लोग इन्द्र को सोम पिलाने के लिये यागादि कर्मों मे युक्त होते हैं उस मातृभूमि की महिमा बहुत बड़ी है। सोमयाग के साधनीभूत पात्नीवतग्रह तथा हारियोजन चमस का नाम यजुर्वेद अ० ८ मं० ९,११ में आता है। यजुर्वेद के १९ वें अध्याय में सौत्रामणि याग का वर्णन है। इसके १५-३० तक के मन्त्रो मे अनेक यज्ञीय पदार्थों तथा क्रियाओं का नाम आता है। हम यहां मन्त्रो को उद्धृत न कर के केवल नाम ही लिखते है। जो अधिक देखना चाहे उन मन्त्रो को देखें।

वे नाम ये हैं— सोम, आसन्दी, कुम्भी, सुराधानी, उत्तरवेदि, वेदि, यूप, हविर्धान, आग्नीध्र, पत्नीशाल, गार्हपत्य, प्रैप, आप्री, प्रयाज अनुयाज

वषट्कार, पशु, पुरोडाश, सामधेनी, याज्या, धानाः, करम्भ, सक्तु, परीवाप, पय., दधि, आमिक्षा, वाजिन, आश्रावण, प्रत्याश्रावण, यज ये यजामहे, द्रोण, कलश, स्थाली, अवभृथ, इडा, सूक्तवाक, शंयु(वाक) पत्नी संयाज, समिष्ट यजु., दीक्षा, दक्षिणा। पाठक वृन्द श्रौत इन नामों पर विचार करें। वेद में उन्हीं संज्ञाओं का उल्लेख है जिनका ब्राह्मण तथा श्रौत सूत्रकारों ने वर्णन किया है। बल्कि यों कहना चाहिये कि इन ग्रन्थों के बनाने वाले ऋषियों ने वेद के आधार पर ही इन यज्ञ प्रक्रियाओं को पल्लवित किया। इसके आगे २१ वें मन्त्र में कहा है—एतावद्रूपं यज्ञस्य यद्देवैर्ब्रह्मणा कृतम्। तदेतत्सर्वमाप्नोति यज्ञे सौत्रामणी सुते। अर्थात् देवों (ऋत्विग) और ब्रह्म के द्वारा रचे गये यज्ञों का इतना ही स्वरूप है। सौत्रामणि यज्ञ करने पर इन सब को प्राप्त कर लेता है। सोमयागों में उद्गातृ गण से गेय रथन्तर वैरूप वैराज आदि नाम के अनेक साम हैं। उनके स्तोमों की संख्या भी पृथक् पृथक् है। इन सामों का वर्णन ताण्ड्य ब्राह्मण में विस्तार से किया है। वेद में भी स्थल स्थल पर इन सामों का उल्लेख है। उदाहरणार्थ यजुर्वेद के पांच मन्त्रों के टुकड़े उद्धृत करते हैं—" रथन्तरं साम त्रिवृत्स्तोमः ।" बृहत्साम पञ्चदशस्तोम. । वैरूपं साम सप्तदशस्तोम । वैराजं सामैकविंशति स्तोम. । "शाक्वररैवते सामनी त्रिणवत्रयस्त्रिंशौ स्तोमौ" । [यजुः १०।१०-१४] इन मन्त्रों में क्रम से रथन्तर, बृहत्, वैराज, शाक्वर तथा रैवत इन ६ सामों का स्तोम संख्या के सहित उल्लेख किया गया है।

ऊपर हमने यज्ञीय पदार्थों तथा क्रियाओं के नाम वेद में दिखला दिये। वेद की ब्राह्मण और श्रौत सूत्रों में कितनी समानता है यह आप देख चुके। अब यज्ञ की प्रक्रिया का भी दिग्दर्शन वेद से कराया जाता है। अथर्ववेद के निम्नलिखित मन्त्रों में अतिथि यज्ञ की अग्निष्टोम से तुलना की गई है। विस्तार के भय से मन्त्रों का संक्षिप्त भावार्थ ही दिया जायगा।

यद्वा अतिथिपतिरतिथीन प्रतिपश्यति देवयजनं प्रेक्षते ॥३॥ यदभिवदति दीक्षामुपैति यदुदकं याचत्यपः प्रणयति ॥४॥ या एव यज्ञ आपः प्रणीयन्ते ता एव ता. ॥५॥ यत्तर्पणमाहरन्ति य एवाग्नीषोमीयः पशु र्बध्यते स एवसः ॥६॥ यदावसथान् कल्पयन्ति सदोहविर्धानान्येव तत् कल्पयन्ति ॥७॥ यदुपस्तृणन्ति बर्हिरेव तत् ॥८॥ य कशिपूपबर्हण माहरन्ति परिधय एवते ॥१०॥ यदाञ्जनाभ्यञ्जनमाहरन्त्याज्यमेव तत् ॥११॥ यत्पुरापरिवेशात् खादमाहरन्ति पुरोडाशावेव तौ ॥१२॥ यदशनकृतं ह्वयन्ति हविष्कृतमेवतद्ध्वयन्ति ॥१३॥ ये व्रीहयोयवा निरूप्यन्तेऽशव एवते॥१४॥ यान्युलूखल मुसलानि ग्रावाण एवते ॥१५॥ शूर्पं पवित्रं तुषा ऋजीषाभिषवणीरापः ॥१६॥ स्रुक् दर्वीर्नेक्षणमायवनं द्रोणकलशाः कुम्भ्यो वायव्यानि पात्राणीयमेव कृष्णाजिनम् ॥१७॥ [अथ० ६।६ (१)]

जो अतिथिपति (गृहस्वामी) अतिथियों को देखता है वह देवयजन भूमि के प्रेक्षण तुल्य है। जो उनको नमस्कार करना है वह दीक्षा ग्रहण के तुल्य है। उन को जल देना अप. प्रणयनवत् है। जो उनको तर्पण देता है वह अग्नीषोमीय पशु के बन्धन तुल्य है। उन के निवास के लिये गृह की व्यवस्था करना सदोमण्डप तथा हविर्धान मण्डप बनाने के तुल्य है। खाट पर चादर और तकिया रखना परिधि रखने के तुल्य है। अतिथियों के लिये अंजन तथा उबटन लाना आज्य (घृत) रखने के तुल्य है। जो भोजन से पूर्व जल पान कराना है वह पुरोडाश तुल्य है। जो भोजन बनाने वाले को बुलाता है वह मानो हविष्कृत (हवि बनाने वाले) को बुलाता है। भोज्य सामग्री में जो जौ और धान बर्ते जाते हैं वह मानो सोम के टुकड़े हैं। ऊखल और मूसल सोम कूटने के पत्थर तुल्य हैं। शूर्प पवित्र (दो कुशा विशेष) तुल्य, तुष ऋजीष तुल्य, जल अभिषवण के लिये जो जल विशेष है उसके तुल्य, कड़छी दर्वीतुल्य, घड़े द्रोणकलश तुल्य, भोज परोसने के पात्र वायव्यादि ग्रहों के तुल्य और भूमि कृष्णाजिनके तुल्य है।

उपहरति हवींष्यासादयति ॥३॥ तेषामासन्नानामतिथिरात्मन जुहोति ॥४॥ स्रुचा हस्तेन प्राणे यूपे स्रुक्कारेण वषट्कारेण ॥५॥ एतवै प्रियाश्चाप्रियाश्च-

र्त्विजः स्वर्गं लोकं गमयन्ति यदतिथयः ॥ ६ ॥ [अथ ६ । ६ (२)]

अतिथियों के लिये भोजन परोसना वेदि में हविः रखने के तुल्य है। उनके समीप में पड़ी हुई वस्तुओं में से अतिथि अपनी इच्छानुसार हस्तरूपी स्रुक् से स्रुकार (सड़प २) रूपी वषट्कार द्वारा अपने पेट में हवन करता है। ये ही प्रिय या अप्रिय अतिथि रूपी ऋत्विग् यजमान को स्वर्ग मे पहुँचाते हैं।

यत्क्षत्तारं ह्वयत्याश्रावयत्येव तत् ॥१॥ यत्प्रतिशृणोति प्रत्याश्रावयत्येव तत्॥२॥ यत्परिवेष्टारः पात्रहस्ताः पूर्वे चापरे च प्रपद्यन्ते चमसाध्वर्यव एव ते ॥३॥
[अथ० ६।६ (६)]

जो गृहस्वामी क्षत्ता को बुलाता है वह आश्रावण के तुल्य है। [अथ० ७।६।६] क्षत्ता का प्रत्युत्तर देना प्रत्याश्रावण तुल्य है। जो परिवेष्टा लोग हाथ में पात्र लेकर परोसने के लिए इधर उधर घूमते हैं वह चमसाध्वर्यु तुल्य है ॥इत्यादि इत्यादि ॥

पाठकवृन्द वेद के इन मन्त्रों पर विचार करें। वेद ने जहाँ अतिथियज्ञ की सोमयाग से तुलना कर के उसकी महत्ता को बतलाया वहाँ साथ ही सोमयाग की प्रक्रिया का भी स्पष्ट उल्लेख किया। इस वर्णन में सोमयाग की प्रायः समस्त मुख्य मुख्य क्रियाओं का समावेश हो गया है। क्या अब भी श्रौतयज्ञों की वैदिकता मे कोई सन्देह रह सकता है ?

इन श्रौतयज्ञों के नाम वेदों में अनेक स्थलों पर आये हैं उन सब का उल्लेख न करके अथर्ववेद के उच्छिष्टसूक्त मे जितने नाम पाये जाते हैं उनका वर्णन करके इस लेख को समाप्त करता हूँ।

महाव्रत, राजसूय, अग्निष्टोम अर्क, अश्वमेध; अग्न्याधेय, सत्र, अग्निहोत्र, एकरात्र, द्विरात्र, सद्यःक्री प्रक्री, उक्थ्य, चतूरात्र, पञ्चरात्र षड्रात्र, षोडशी, सप्तरात्र, विश्वजित्, अभिजित् सान्ह, त्रिरात्र, द्वादशाह, चतुर्होतारः, चातुर्मास्य, पशुबंध, इष्टियां [बहुवचन से समस्त नित्य नैमित्तिक इष्टियों का ग्रहण हो सकता है]
(अथ० ११।७।६-१६)

इसी प्रकार अथर्व ७।७६।३ मे दर्श और ७।८०।२ मे पौर्णमास का उल्लेख है।

श्रौत यज्ञों का जितना वर्णन मैंने वेद में पाया उतना संक्षेप से पाठको के संमुख उपस्थित कर दिया पाठक महानुभाव इस पर विचार करें और अपने विचार समय समय पर प्रकट करें। मेरा अपना विचार यह है कि ये समस्त श्रौतयाग वस्तुतः वैदिक हैं अतएव इनका प्रचार आर्यसमाज में निसन्देह होना चाहिये (पशुयाग का स्वरूप अवश्य विचारणीय है) जब तक इन यागो का विधि-पूर्वक प्रचार न होगा तब तक देश की सच्ची उन्नति कभी नहीं हो सकती। जो महानुभाव केवल आध्यात्मिक उन्नति के ही पुजारी हैं वे भी अपनी आध्यात्मिक उन्नति बिना यज्ञों के नहीं कर सकते। हमारा प्राचीन इतिहास बताता है कि समस्त अध्यात्मज्ञानी ऋषि-महर्षि इन यज्ञों का अनुष्ठान किया करते थे। इसी कारण से भारत की उन्नति थी। ज्यों ज्यो यज्ञो का ह्रास होता गया देश की भी अधोगति होती गई। हो भी क्यों न, जब कि वेदभगवान् स्पष्ट शब्दों कहतेहैं —"अयज्ञियो हतवर्चा भवति" (अथ० १२।२।३७) अर्थात् यज्ञ न करने वाला वर्चस्वी नहीं रहता। इसी प्रकार गोपथ ब्राह्मण मे भी लिखा है—"योऽयमनग्निकः स कुम्भे लोष्ठः तद्यथा कुम्भे लोष्ठः प्रक्षिप्तो नैवशौचार्थाय कल्पते नैव सस्यं निर्वर्तयति, एवमेवायं ब्राह्मणोऽनग्निकः। तस्य ब्राह्मणस्यानग्निकस्य नैव दैवं दद्यान्न पित्र्यं न चास्य स्वाध्यायाशिषो न यज्ञाशिषः स्वर्गङ्गमा भवन्ति"
[गो० पृ० ३४]

अर्थात्—जिसने अग्न्याधान नहीं किया है वह मनुष्य घड़े मे पड़े हुए मट्टी के ढेले के तुल्य है अर्थात् जैसे उस मिट्टी से न तो हाथ आदि धोये जा सकते हैं और न ही धान उत्पन्न हो सकता है इसी प्रकार अग्नि रहित मनुष्य भी देव और पितृ संबन्धी कर्म से रहित होता है स्वाध्याय तथा यज्ञ मे होने वाला फल उसे नहीं मिलता।

आजकल आर्यसमाज की बहुत ही भयानक परिस्थिति हो रही है। इन यज्ञों का यथावत् अनु-

ष्ठान करना तो दूर रहा इनकी आवश्यकता को ही नहीं समझना। कई एक विद्वान् इनके विरुद्ध प्रचार करते हैं। कई एक महानुभाव संस्कार विधि को ही बदलने पर कमर कसे बैठे हैं। उनकी दृष्टि में इसमें भी पाखण्ड है। अन्य महानुभाव संस्कार विधि में आये हुये गृह्यसूत्र के मन्त्रों के स्थान पर वेदमन्त्र रखने का प्रस्ताव करते हैं। क्या यह सब हमारी श्रद्धा की न्यूनता को प्रकट नहीं करते ? क्या वेद के अनन्य भक्त ऋषि महर्षि इतने मूर्ख और स्वाध्याय रहित थे कि उन्हें वेद मन्त्र उपलब्ध न हो सके और उन्होंने अपने वाक्यों को गृह्यसूत्रों में स्थान दिया ? क्या हम तत्तद्भाव से पूरित वेदमन्त्र ढूंढने में समर्थ हो सकेंगे ? मेरा अपना तो यही विश्वास है कि जिस यज्ञ की जैसी विधि प्राचीन ग्रन्थों में लिखी है उनको उसी विधि से यथावत् करने से ही लाभ होगा अन्यथा कुछ भी हाथ नहीं आयगा। कर्मकाण्ड श्रद्धा का विषय है सूखे तर्क से यहां काम नहीं चलता। वेद भगवान भी कहते हैं—श्रद्धया अग्निः समिध्यते श्रद्धयाहूयते हविः—अर्थात् श्रद्धाभक्ति से ही यज्ञादि कार्य हो सकते हैं। अंत में उस विश्वनियन्ता परमेश्वर से प्रार्थना करते हैं कि वह अपनी दयालुता से हम में श्रद्धा और भक्ति उत्पन्न करे जिससे हम वेद प्रतिपादित कर्मों का यथावत् अनुष्ठान कर सकें। ओशम्।

वेदस्तवनम्

श्रोता—लक्ष्मीकान्त त्रिपाठी (लखनऊ)

परिव्याऽवमविमानां, चन्द्रिकाऽध्यात्मसंपदाम् ।
नन्दिनी भारतीयानां, जयतां कापि भारती ॥ १ ॥

× × × × ×

अर्गला परिपन्थानां, विद्युत् पाखण्डयोगिनाम् ।
धाया दुर्मतिविद्रुमाणां, शोततां वेदभारती ॥ २ ॥

× × × × ×

तरङ्गमुक्ताञ्जलिधृतकूलिनी,
श्रुतिस्रवन्ती न न चित्ततूलिनी ।
रराज यत्र स्मृतिपद्मकुण्डली,
चुकूज षड्दर्शनहंसमण्डली ॥ ३ ॥

× × × × ×

यस्मिन् क्षणं समुदिते विकिरन्मयूखे
म्लानिं प्रतीच्यमतिमन्मतिचाकचिक्यम् ।
अर्घायते प्रतिकलश्च खलाः कलुल—
स्तस्मै नमस्त्रिदलवेददिवाकराय ॥ ४ ॥

"यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म"

सर्वेषां वा एष भूतानां सर्वेषां देवानामात्मा यद्यज्ञः श० १४-३-२-१.

ले० श्री० पं० रामदत्त शुक्ल एडवोकेट अधिष्ठाता धा०रा० प्रकाशन विभाग आ०प्र० नि० सभा यू०पी० लखनऊ

"वेदोऽखिलो धर्म मूलम" अखिल धर्म का मूल वेद है) भगवान मनु के इस सूत्र को स्मरण रखते हुए जब तैत्तिरीय ब्राह्मण का प्रसिद्ध वचन " अनंता वै वेदा: (तै० ब्रा-३-१०-११) वैदिक साहित्य के किसी स्वाध्यायशील व्यक्ति को सुनाया जाता है तो कुछ समय के लिये उसको हठात गम्भीर विचार करना पड़ता है। साधारणतया ऐहिक जीवन सम्बंधी जितने कर्तव्य कर्म हैं वे समस्त परिमित या निरुक्त हैं। या यों कहे कि उनको हम मर्यादित या सान्त नाम दे सकते है। उनकी गणना कर सकते हैं और उनका परिणाम भी बता सकते है। किन्तु अपने प्रत्यक्ष जीवन मे कोई भी ऐसी वस्तु अथवा घटना हमारे साक्षात अनुभव मे नही आती कि जिसके आधार पर हमको किसी अनन्त तत्व का ज्ञान हो सके। इसके अतिरिक्त तीन आयु पर्यन्त ब्रह्मचर्य धारण कर सतत वेदाध्ययन करने वाले महर्षि भरद्वाज से भी जब इन्द्र को यह कहना पड़ा कि तीन बड़े पर्वतो से तीन मुट्ठी मिट्टी की जो तुलना हो सकती है, उतना ही वेद का ज्ञान तुमको तीन जन्मो में हुआ है और शेष तो अनिरुक्त ही है, तो प्रायः सर्व आवश्यक साधन विहीन वर्तमान युग के वेद पाठियो को अनन्त वेद अथवा वेद प्रतिपादित सूक्ष्म रहस्यों का सम्पूर्ण ज्ञान हो सकता है, या नही, इसका अनुभव सहज मे ही किया जा सकता है। हां व्यावहारिक भाषा में किन्हीं परिमाणो द्वारा वेद अथवा धर्म आदि अनन्त तत्वों की निरुक्ति की जा सकती है।

व्यक्त, वचनीय, सान्त, ज्ञात, प्रमेय, निरुक्त, उक्त तथा स्थूल प्रत्यक्ष वर्णनों द्वारा अव्यक्त, अनिर्वचनीय, अनन्त, अज्ञात, अप्रमेय, अनिरुक्त, अनुक्त तथा सूक्ष्म परोक्ष रहस्यो का स्पष्ट प्रकाश करने का यथासम्भव उद्योग करना आर्य वैदिक संस्कृति का लक्ष्य है। समस्त उपलब्ध वैदिक साहित्य ग्रन्थो मे इस तथ्य की साक्षी मिलती है। अन्यत्र असुलभ इस वर्णन शैली को व्यक्त या प्रत्यक्ष निरुक्त तत्वप्रिय पाश्चात्य विद्वान और तदनुजीवी एतद्देशीय महानुभाव भी उनके स्वर में ही वैदिक परिभाषाओं को समझाने वाले ब्राह्मण साहित्य के लिये "Twaddle of the children & ravings of idiots" बच्चो का तुतलाना और बुद्धिहीनो का चीखना कहते हैं। इस धारणा का कारण पाश्चात्य एवं पौरस्त्य वैदिक संस्कृति का भेद ही है। ऐसी अवस्था में जब कि वैदिक पारिभाषिक ग्रन्थो को अध्ययन करने का कोई समुचित प्रयत्न न किया जाता हो अपितु अनेक भ्रमात्मक विचारो को स्वेच्छा पूर्वक प्रचारित किया जा रहा हो तो, वेद प्रतिपादित अनिरुक्त तत्वो को जानने मे विशेष कठिनाई होना अनिवार्य है।

वेदो मे अनेक ऐसे अनन्त मूल्यवान तत्वो का बीज रूप से संकेत मिलता है कि जिनका विस्तृत वर्णन अन्यान्य वेदानुकूल आर्ष ग्रन्थो मे प्राप्त होता है। इस समय वैदिक साहित्य का अधिक भाग अनुपलब्ध है। उदाहरणार्थ ११३१ शाखाओ मे से केवल १२ शाखायें प्राप्त होती हैं और उनमे से भी ४ $\frac{१}{२}$ भाष्योपेत हैं। शेष अभी अपने मूलस्वरूप मे ही विद्यमान हैं। यही दशा अन्य ग्रन्थों की भी है।

आवश्यक सामग्री के अभाव में जिन वैदिक तत्वों का वर्णन किया जायगा, अपूर्ण ही होगा, इसमें सन्देह नहीं है।

इस लेख का विषय "यज्ञ" है। यज्ञ को याजुषी श्रुति के प्रथम मंत्र में 'श्रेष्ठतमायकर्मणे" और इसका अर्थ शतपथ ब्राह्मण में 'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म" किया गया है (शत० १-७-१-५)। इसी प्रकार ऋग्वेद के प्रथम मंत्र में भी 'यज्ञस्य' शब्द आता है। अन्य वेदों और वेद शाखाओं में भी स्थान २ पर यज्ञों का वर्णन किया गया है। उन सब अवतरणों को क्रमानुसार देकर सबकी सूक्ष्म व्याख्या करने से ही एक बृहत्काय पुस्तक बन सकती है। प्रस्तुत लेख में तो केवल सूक्ष्मतम परिचयार्थ कतिपय बातों का उल्लेख किया जायगा।

यज् (देवपूजा, संगतिकरण, दान) धातु से नङ् प्रत्यय लगाकर यज्ञ शब्द बनता है। यास्काचार्य्य अपने निरुक्त (३-४-१७) में 'यज्ञनामान्युत्तराणि पञ्चदश [यज्ञः, वेनः, अध्वरः, मेधः, विदथः, नार्यः, सवनम्, होत्रा, इष्टिः, देवताता, मखः, विष्णुः, इन्दुः, प्रजापतिः, घर्म]। यज्ञः कस्मात् ? प्रख्यातं यजति कर्मेति नैरुक्ताःयाञ्चो भवतीति वा। यजुरुन्नो भवतीति वा । बहु कृष्णाजिन इत्यौपमन्यवः । यजूंष्येनं नयन्तीति वा (यज्ञ शब्द यजनार्थक प्रसिद्ध है। इसके द्वारा किसी वाञ्छित वस्तु की याचना की जाती है। यजुर्मन्त्रो से इसमे आहुतियां दी जाती है कि जिससे यह रसयुक्त बनता है। इसमें कृष्ण मृगचर्म का उपयोग होता है। अतः अजिनयुक्त होने से इसे यज्ञ कहा जाता है। इसको यजुर्मन्त्र ले जाते हैं अतः इसे यज्ञ कहते हैं]। इसके अतिरिक्त यास्क ने यज्ञ का अर्थ अग्नि (नि०-१२-४-४०-२८) और महादेव (४-१३-८) भी किया है।

अब इसके आगे हम ब्राह्मण ग्रन्थो के आधार पर यज्ञ शब्द के अर्थ देते हैं कि जिनके अनुसार यास्क ने अपने निर्वचन किये हैं। लेख के परिमित काय को दृष्टि में रखते हुए ही केवल उदाहरणार्थ कतिपय यज्ञवाची शब्दों को दिया जाता है। शेष बहुसंख्यक अर्थों को रुचि रखने वाले पाठक ब्राह्मण ग्रन्थों में ही देखने का कष्ट उठावें।

यज्ञो वै नमः
" वै स्वाहाकारः
यज्ञो वै भुज्युः
" " भगः
" वा ऋतस्ययोनिः
" वैमधुसारघम्
" " महिमा
" " देवानां मह.
एष वै महान्देवो यद्यज्ञ
यज्ञो वै बृहत्विपश्चित्
" वा अर्यमा
" वै तार्यम
" " वसु
" " विद्वद्रमुः
" " सुतर्मा
" " स्व.
" " सुम्नम
यज्ञोहि श्रेष्ठतमं कर्म
यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म
" " विट्
" " विशः
" " ब्रह्म
सैष त्रियीविद्या यज्ञ
एष वै प्रत्यक्षं यज्ञः यत्प्रजापतिः
यज्ञः प्रजापतिः
इन्द्रो यज्ञस्यात्मा
विष्णुर्यज्ञः
यज्ञो वै विष्णुः शिपिविष्टः
" " विष्णु वारुणः।
एतद्वै देवानामपराजितमायतनं यद्यज्ञः।
सर्वेषां वा एष भूतानां सर्वेषां देवानाम् आत्मा यद्यज्ञः।
यज्ञ उ देवानामात्मा।
यज्ञो वै अन्नम्।
यज्ञ उ देवानामन्नम्।
देवरथो वा एष यद्यज्ञः
त्रिवृद्धि यज्ञः।
पाङ्क्तो यज्ञः।
यज्ञो वा आभावयम्।

एष वै यज्ञो यदग्निः।
अग्नि वैं योनिर्यज्ञस्य।
शिर एतद्यज्ञस्य यदग्निः।
अग्नि वैं यज्ञमुखम्।
वाग्घि यज्ञः।
अयं वै यज्ञो योऽयं पवते।
संवत्सरो यज्ञः।
यज्ञ एव सविता।
स यः स यज्ञोऽसौ स आदित्यः।
यज्ञो वै यजमानभागः।
यजमानो वैं यज्ञः।
आत्मा वै यज्ञस्य यजमानोऽङ्गान्यृत्विजः।
आत्मा वैं यज्ञः।
पुरुषो वै यज्ञः।
पुरुषसम्मितो यज्ञः।
पशवो यज्ञः।
शरीरोन्मानो वै यज्ञः।
यज्ञो वै भुवनज्येष्ठः।
यज्ञो वै भुवनम्।
यज्ञो वै मनः।
आपो वै यज्ञः।
ऋतेरक्षः वै यज्ञः।
परोक्षं यज्ञः।
रेतो वा यज्ञः।
शिरो वै यज्ञस्यातिथ्यम्।
यज्ञो वै मैत्रावरुणः।
मनो वै यज्ञस्य मैत्रावरुणः।
विराड् वै यज्ञः।
आहुतिर्हि यज्ञः।
यज्ञो विकङ्कतः।
यज्ञेन वै देवा दिवमुपोदक्रामन्।
स्वर्गो वै लोको यज्ञः।
विराजो वै यज्ञः।
चक्षुषी वा एते यज्ञस्य यदाज्यभागौ।
एतद्वै प्रत्यक्षाद्यज्ञरूपं यद् घृतम्।
मृगचर्मा वै यज्ञः।
वातो वै यज्ञः।
इत्यादि २

उपर्युक्त ब्राह्मण वाक्यों से यज्ञ शब्द के अनेक महत्व पूर्ण और व्यापक आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक अर्थ किये गये हैं। किन्तु वैदिक परिभाषाओं के व्यापक अर्थों के स्थान पर केवल यज्ञ शब्द को द्रव्य यज्ञ में रूढ़ि रूप देकर मध्यकालीन भाष्यकारों ने अनेक भ्रमात्मक प्रथाओं के प्रतिपादन करने की पूर्ण चेष्टा की है। तथापि वैदिक साहित्य को ध्यान पूर्वक पढ़ने से प्रतीत होता है कि प्रत्येक वर्णनीय वस्तु को यज्ञशैली की परिभाषाओं में वर्णन करने की प्रथा को प्राचीन ऋषियों ने बहुत आदरणीय समझा था और इसी लिये द्रव्य यज्ञों के अतिरिक्त अनेक प्रकार के यज्ञो, उनके ऋत्विजों, सामग्री, यज्ञ-पात्र, वेदि आदि २ उपकरणों का भी याज्ञिक पारिभाषिक पदावली मे ही वर्णन किया है। यहां तक कि शान्ति पर्व में एक संग्राम यज्ञ का वर्णन दिया गया है कि जिसमें यज्ञ के सभी शब्दों का व्यवहार किया गया है।

प्रकृत लेख मे इच्छा रहते हुये भी आवसथ्याग्नि मे किये जाने वाले गृह्य यज्ञों का वर्णन, उनके करने की विधि, काल, स्थान, सामग्री, उपयोगिता, उनका रहस्य स्थानाभाव से नहीं दिया जा सकता है। और न आहवनीय, दक्षिणाग्नि तथा गार्हपत्याग्नियों में किये जाने वाले आधान अग्निहोत्र; दर्शपौर्णमास, आग्रायण चातुर्मास्य, पशुबन्ध, अग्निष्टोम, राजसूय, वाजपेय, अश्वमेध, पुरुषमेध, सर्वमेध, दक्षिणावन्त, अदक्षिणावन्त सहस्रदक्षिणादि श्रौत यज्ञों के विस्तृत उल्लेख का ही यह उपयुक्त स्थान है।

इन द्रव्ययज्ञों के क्रम को देखने से विदित होता है कि "इदमहमनृतात्सत्य मुपैमि" (यजु. १-५) [यह मैं (यजमान) अनृत से (छूटकर) सत्य को प्राप्त होंऊँ)] इस संकल्प को लेकर यजमान मनुष्य से देव बनने के लिये यज्ञदीक्षा लेता है। क्योंकि "सत्यंवै देवाः अनृतं मनुष्याः" इस सिद्धान्त को मान कर ही देवत्व की अभिलाषा करके यजमान देवों

के तुल्य यज्ञानुष्ठान करके सत्य स्वरूप बनने का इच्छुक होता है। दूसरे शब्दों में परिमित सामर्थ्य-धारी मनुष्य विष्णु (यज्ञ) की सहायता से अपरिमित विष्णु (सर्व व्यापक सर्व शक्तिमान) से साम्य प्राप्त करने का प्रयत्न करता है।

सर्गारम्भ मे प्रजापति ने यज्ञ द्वारा ही सृष्टिरचना की (सहयज्ञा = प्रजा सृष्ट्वा इत्यादि) अतः उसी की प्रतिकृति रूप मे मनुष्य भी अपने समस्त कर्तव्यो का अनुष्ठान यज्ञरूप से ही करके आधिदैविक "व्रतो (विश्वव्यापी नियमो (Cosmic Laws) तथा आध्यात्मिक धर्मो (Spiritual laws) को समझने मे समर्थ होकर प्रजापति को ही अपने जीवन का आदर्श बनाता है"। 'जिस प्रकार विद्यालय में देश देशान्तरों के मान चित्रों के साथ भौगोलिक पुस्तकों के अभ्यास से एक विद्यार्थी को विभिन्न देशों के विषय में ज्ञान प्राप्त होता है, उसी प्रकार प्रत्यक्ष यज्ञ कर्मों मे परोक्ष रहस्यों के समझने में यजमान समर्थ होता है।" इस बात के महत्त्व को वेही महानुभाव भली भांति समझ सकते हैं जो सूत्रग्रंथो मे वर्णित विविध यज्ञो की आधिदैविक और आध्यात्मिक व्याख्या आरण्यक उपनिषदादि मे देखे।

शीर्षक के शब्दो मे यज्ञ को श्रेष्ठतम कर्म कहा गया है। किन्तु उपनिषद् मे तो "प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः" कह कर यज्ञरूप नौकाओ को अदृढ़ कहा गया है। इसका समाधान कठिन नही है। जिन लोगो ने यज्ञ का संकुचित अर्थ ही मान रक्खा हो अर्थात् जो यज्ञ से द्रव्य यज्ञ के अतिरिक्त तपोयज्ञ, योग यज्ञ, स्वाध्याय-यज्ञ, ज्ञान यज्ञादि अनेक आधिदैविक आध्यात्मिक यज्ञो के महत्व और उनके प्रभाव को नही समझते उनके लिये केवल द्रव्य यज्ञ का सहारा अदृढ है। परन्तु जो मर्मज्ञ यज्ञ के ओत प्रोत व्यापक (विष्णु) अर्थ की ओर दृष्टि रखते हुये अपने जीवन को अनृत के स्थान पर सत्य स्वरूप देने का प्रयत्न करते हुये मर्त्यधर्मा मनुष्य कोटि से उन्नत होकर अमृतधर्मा देव कोटि को प्राप्त करना चाहते हैं, उनके लिये यह उपनिषद् का वाक्य नहीं लग सकता। इस प्रकार मनुष्य (वामन) यजमान यज्ञ (विष्णु) की सहायता से (विष्णु) बनने की आत्मनः चेष्टा करता है। सफल होने पर मृत्यु के पाश से छूट कर अमृतत्व लाभ करने में समर्थ होता है। क्योंकि ज्ञानान मुक्तिः बन्धोविपर्ययात "सांख्यकार कपिलाचार्य के सिद्धान्तानुसार ज्ञान से मुक्ति और अज्ञान से बन्ध होता है। ऐसी अवस्था में जब कि ज्ञान-यज्ञ द्वारा यजमान मुक्ति का अधिकारी बन सकता है तो फिर इससे बढ़कर और कौनसा कर्म होगा जिसका अनुष्ठान मनुष्य करे और किस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये? अतः निष्कर्ष यही निकलता है कि परमोच्च आदर्श अमृतत्व या मोक्ष है और उसके प्राप्त करने के लिये जिस कर्म का अनुष्ठान किया जाता है, उसको ही श्रेष्ठतम कर्म कह सकते हैं। इस प्रकार अपने व्यापक (वैष्णव) अर्थों मे यज्ञ श्रेष्ठतम कर्म है।

यज्ञ के व्यापक अर्थों को दर्शाने के लिये पाठको के परिचयार्थ हम यहां पर दो यज्ञो का वर्णन करना उचित समझते हैं (१) आध्यात्मिक और (२) आधिदैविक एक को प्राणाग्निहोत्र और दूसरे को विश्वसृत्र यज्ञ कहते हैं।

प्राणाग्निहोत्र

अस्य शरीरयज्ञस्ययूप रशनाशोभितस्यात्मा यजमानः। बुद्धिःपत्नी। वेदा महर्त्विज। अहंकारोऽध्वर्युः। चित्तं होता। प्राणो ब्राह्मणाच्छंसी। अपानः प्रतिप्रस्थाता। व्यानः प्रस्तोता। उदान उद्गाता। समानो मैत्रावरुणः। शरीरं वेदिः। नासिकोत्तरवेदिः। मूर्धा द्रोणकलशः। पादो रथः दक्षिण हस्तः स्रुव। सव्यहस्तआज्यस्थाली। श्रोत्रे आघारौ। चक्षुषी आज्यभागौ। ग्रीवाधारापोता। तन्मात्राणि सदस्याः। महाभूतानि प्रयाजाः। भूतानि गुणाः अनुयाजाः। जिह्वेडा। दन्तोष्ठौ सूक्तवाकः। तालुःशंयोर्वाकः। स्मृतिर्दया क्षान्तिरहिंसा पत्नीसंयाजाः। ओंकारो यूपः। आशा रशना। मनो रथः। कामः पशुः। केशाः दर्भाः। बुद्धीन्द्रियाणि यज्ञपा-

प्राणि । कर्मेन्द्रियाणि हवींषि । अहिंसा इष्टयः । त्यागो दक्षिणा । अवभृथं मरणात् ।

विश्वसृज यज्ञ

तपो गृहपतिः । ब्रह्म (वेद) ब्रह्मा । इरा (इडा) पत्नी । अमृतं उद्गाता । भूतं प्रस्तोता । भविष्यत प्रतिहर्ता । ऋतवः उपगातारः । आर्तवाः सदस्याः । सत्यं होता । ऋतं मैत्रावरुणः । ओजोब्राह्मणाच्छंसी । त्विषिः नेष्टा । अपचितिः पोतारः । यशः अच्छावाक् । अग्नि. अग्नीत भगः ग्रावस्तुत । अर्क उन्नेत । वाक् सुब्रह्मण्य । प्राण. अध्वर्युः । अपान प्रतिप्रस्थाता दिष्टिः विशास्ता । बलं ध्रुवगोपम (ध्रुवगोप) । आशा हविर्ध्यम् । अहोरात्रौ इध्मवाहौ । मृत्यु शमिता । एते दीक्षन्ते ।

इन दो पत्रों के शब्दों से ही विज्ञ पाठको को ज्ञात हो जायगा कि यज्ञ का कितना व्यापक अर्थ है । इन आध्यात्मिक और आधिदैविक तत्वों के समन्वित रूप से साम्य स्थापित करने के लिये ही अनेक गृह्य श्रौत यज्ञो का अनुष्ठान विहित है । इसी कारण प्रत्येक कृत्य के रहस्य को ब्राह्मणकारो ने स्थान-स्थान पर समझाने का प्रयत्न किया है । ब्राह्मण परिभाषा मे "परोक्षप्रियता" का, बाहुल्य और प्रत्यक्ष प्रियता का अनादर इसी कारण किया गया है ।

वैदिक कर्मकाण्ड की आत्मा (Spirit) को पूर्ण रूप से ऋषियों ने अपने ग्रन्थों मे समझाने की चेष्टा की है । वैदिक संस्कृति की यही विशेषता है कि व्यक्त से अव्यक्त की ओर प्रेरणा की जाय । असत् से सत्; तम से ज्योति और मृत्यु से अमृत की प्राप्ति । इसीलिये सर्व श्रेष्ठ मानव जीवन का आदर्श कहा जा सकता है । इसी आदर्श की प्राप्ति के लिये वैदिक ऋषियों ने द्रव्य यज्ञों से आरम्भ कर सर्व साधारण के लिये परमोच्च आदर्श की ओर प्रगतिशील होने का विधान किया है ।

इस पर भी जो प्रत्यक्षवादी महानुभाव यज्ञ का संकुचित अर्थ लेकर उसका केवल इष्ट प्रयोजन ही मानते हैं और उसके व्यापक अर्थों को समझने में ननुनच करते है उनके प्रति हमारा यही वक्तव्य है कि प्राचीन ऋषियो की शैली के साक्षात् अनादर से ही यह मन मानी धारणा बनाई जा सकती है ।

उपसंहार में हमारा निवेदन है कि वैदिक कर्मकाण्ड प्रतिपादक ग्रन्थो के अन्वेषण पूर्वक हम सबको उनका प्रचार करणीय है । और तभी यज्ञों के स्वरूप को भली भांति समझा जा सकता है । इस लेख मे केवल संकेत मात्र से ही कतिपय यज्ञ सम्बन्धी परिभाषाओं का उल्लेख किया है । यज्ञानुष्ठान से क्या २ परिणाम हो सकते हैं, इसको निम्नलिखित याजुषी श्रुति से स्पष्ट तर शब्दों मे कोई कदाचित कह ही नहीं सकता है । इसलिये हम उसी का उल्लेख करके विराम लेते हैं ।

आयुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पतां चक्षुर्यज्ञेन कल्पतां श्रोत्रं यज्ञेन कल्पतां, मनो यज्ञेन कल्पताम् आत्मा यज्ञे न कल्पता, ब्रह्मा यज्ञे न कल्पतां, ज्योतिर्यज्ञे न कल्पता, स्वर्यज्ञेन कल्पतां, पृष्ठं यज्ञेन कल्पता, यज्ञो यज्ञेन कल्पतां । स्तोमश्च यजुश्च ऋक् च साम च बृहच्च रथन्तरञ्च । स्वर्देवा अगन्मामृता अभूम प्रजापतेः प्रजा अभूम वेट् स्वाहा ।

यजु–१८–२९

'वेद और कर्मकाण्ड'

ले०—साहित्याचार्य श्री० पं० तेजोनारायणजी शास्त्री काव्यतीर्थ व्याकरणशास्त्री (गुरुकुल वृन्दावन)

किन्हीं से यह बात छिपी नहीं है कि वेद भगवान् ज्ञान, कर्म, उपासना, काण्डो द्वारा तीनों का उपदेश करते हैं। यह तीनों काण्ड वेद भगवान का शरीर है और स्थावरजंगम जगत् के सम्भभूत आधार हैं। समस्त विश्व इन्हीं काण्डों पर ठहरा हुआ है। यही तो धर्मार्थकाम मोक्ष के हेतु हैं जो कि परम पुरुषार्थ हैं। 'वेद और कर्मकाण्ड" यह अनुगतार्थ है। 'वेद' शब्द का अर्थ ज्ञान है जहां ज्ञान है वहां कर्म अवश्य है। क्योंकि ज्ञान सत् कर्म का अनुष्ठापक होता है इसी लिये "यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म" ऐसा शास्त्रकारो का कथन है। वेद और कर्म का प्रतिपाद्य प्रतिपादक भाव संबन्ध है। वेद प्रतिपादक कर्म प्रतिपाद्य है। वेद शब्द चार संहिताओं मे रूढ है। ऋक यजु साम अथर्व। हौत्र प्रयोग ऋग्वेद द्वारा, आध्वर्यव प्रयोग यजुर्वेद द्वारा, औद्गात्र प्रयोग साम द्वारा तथा शान्ति आदि कर्म अथर्व द्वारा किया जाता है। इन वेदों में जिस मन्त्र द्वारा जो कर्म किया जाता है उसीका अनुवाद ब्राह्मण ग्रन्थ होता है और वह तीन प्रकार का है। विधिरूप अर्थवाद रूप और उभयविलक्षण। विधि नियोग रूप होता है इसके चार भेद हैं—उत्पत्ति-अधिकार-विनियोग और प्रयोग। उत्पत्ति विधि वह है जिसमें देवता के कर्म का स्वरूप मात्र बतलाया हो जैसे "आग्नेयो अष्टकपालोभवति" आग्नेय पुरोडाश अष्ट कपालो द्वारा संस्कृत किया जाता है। इसमें आग्नेय पुरोडाश का स्वरूप-मात्र बतलाया गया है। जिसके द्वारा कर्म की कर्त्तव्यता बतलाई जाय या फल का योग कहा जाय वह विधि अधिकार विधि कहलाती है, जैसे "दर्शपौर्णमासाभ्यां स्वर्ग कामोयजेत" दर्शेष्टि तथा पौर्णमासेष्टि स्वर्ग की इच्छा रखने वाला यजमान करे इत्यादि वाक्यो द्वारा दर्शादि की कर्त्तव्यता और स्वर्गादि फल प्राप्ति बतलाई जाती है, यही अधिकार विधि है। विनियोगविधि वह कहलाती है जो कि अंगो के विषय मे बतलाती है जैसे "व्रीहिभिर्यजेत" धानो से याग करे या समिधाओ से याग करे इत्यादि। और अंगों सहित प्रधान कर्म के प्रयोगो की एकता जिसमे प्रतिपादित हो अर्थात् पूर्वोक्त तीनो विधि जिसमें मिल जायँ वह प्रयोग विधि कहलाती है इसको कोई श्रौत कहते हैं, और कोई कल्प कहते हैं।

अर्थवाद प्रशस्ति या निन्दा द्वारा किया जाता है उसके तीन भेद है—गुणवाद अनुवाद और भूतार्थवाद। जो दूसरे प्रमाणो से न सिद्ध किया जा सके ऐसे अर्थ का बोधक गुणवाद होता है जैसे "आदित्यो यूप" आदित्य यूप है। लौकिक किसी प्रमाण से भी आदित्य को यूप नही सिद्ध कर सकते। और जो लौकिक प्रमाणों द्वारा सिद्ध हो वह अनुवाद कहलाता है जैसे "अग्नि र्हिमस्य भेषजं" अग्नि शीत की दवा है। यह लोक प्रयोग से सिद्ध है। इसी प्रकार भूतार्थवाद भी केवल भूत हो चुके अर्थ को बतलाता है जैसे "इन्द्रो वृत्राय वज्रमुदयच्छत्" इन्द्र ने वृत्रपर वज्र उठाया इत्यादि—जिसमें न विधि हो और न अनुवाद हो वह उभय विलक्षण अर्थवाद कहलाता है इस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थ की व्याख्या पूर्वाचार्यों ने की है। सायण आदि आचार्यों के मतानुसार तो वेद का लक्षण भी "मन्त्र ब्राह्मणात्मको वेदः" है अर्थात् वेद मन्त्रात्मक तथा ब्राह्मणात्मक हैं। जो हो वेद के प्रतिपाद्य विषय उक्त ज्ञान कर्म उपासना हैं। ज्ञान काण्ड वेद का वह भाग है जिसमें ब्रह्मज्ञान का उपदेश है जैसे यजुर्वेद का ४० वां अध्याय "ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत से लेकर ओ३म् खं ब्रह्म तक" उपासना वह भाग है जिसमें ईश्वर स्तुति प्रार्थना आदि की गई हो और कर्मकाण्ड वह भाग है जिसमे

यज्ञादि कर्मों के अनुष्ठान का विधान है। कर्म दो प्रकार के होते हैं एक इष्ट दूसरे पूर्त—यज्ञादि कर्मों का नाम इष्ट है पूर्त—कर्म बावड़ी बनवाना कुआ बनवाना इत्यादि हैं—पूर्तों का विधान मनुस्मृति आदि से स्मृतियों मे सुस्पष्टतया पाया जाता है—अस्तु हम यहां इष्ट कर्म की चर्चा करना चाहते हैं—प्राधान्येन यज्ञ के दो भाग हैं, एक इष्टि नाम से पुकारे जाते हैं दूसरे सोम नाम से। दर्श पौर्णमास आदि को इष्टि कहते हैं—ये ही प्रकृतियज्ञ कहलाते हैं क्योंकि इनमें समस्त अंगों का उपदेश रहता है। प्रकृति यज्ञ तीन प्रकार के होते हैं—अग्निहोत्र, इष्टि, सोमयाग, और जिन यागों में विशेषाङ्गमात्र का उपदेश करते तथा अन्य सामान्य अंग वे ही रहते है जो कि प्रकृति याग मे थे वे विकृतियज्ञ कहलाते हैं। जैसे अश्वमेधराजसूय इत्यादि। इन समस्त यज्ञों के २१ भेद हैं। सात ७ पाक यज्ञ हैं। सात ७ हविर्यज्ञ हैं। सात ७ सोम याग हैं। इनका पृथक् पृथक् वर्णन इस छोटे से लेख में नहीं किया जा सकता—अतएव इनके स्वरूपज्ञानार्थ अन्य वैदिक ग्रंथों का अवलोकन करना ही एक मात्र साधन हो सकता है—परन्तु यज्ञ के कितने अंग है यह दर्शाना यहां अत्यावश्यक प्रतीत होता है—यज्ञ का प्रधान अंग यजमान है वह भी सपत्नीक क्योंकि बिना पत्नी के अर्ध ही रहता है, यज्ञ के फल का भी भोक्ता वही होता है। उस यजमान के द्वारा यज्ञ कर्मानुष्ठानार्थ जो पुरुष वृत होते हैं वे भी दो प्रकार के होते हैं। एक ऋत्विज् और दूसरे अनृत्विज् जो कि वेदि के अन्दर कार्य करते हैं वे ऋत्विज् कहाते हैं और बाहर काम करने वाले अनृत्विज् कहलाते हैं। ऋत्विजों के विषय में महर्षि [illegible] ने कहा है—"ऋत्विगार्षेयोऽनूचानः साधुचरणो वाग्मी अन्यूनाङ्गोऽनतिरिक्ताङ्गो द्व्यसम आनतिकृष्णोऽनतिश्वेतः" ऋत्विक् वह हो—जो कि ऋषि-सन्तान, विद्वान्, अच्छे आचरण वाला, प्रगल्भ जिसके न्यून अंग न हों और अधिक भी न हों दहिना बाँयाँ दोनों भाग जिसके समान हों, और काला न हो, न बिलकुल भूरा ही हो ऐसा होना चाहिये। यह ऋत्वग् यज्ञ का दूसरा अंग है। स्मृति में भी कहा है।

त्रीणि यस्यावदातानि विद्या योनिश्च कर्म च
स ब्राह्मणः स आर्त्विज्ये वरणीयो न चेतरः॥१॥

यज्ञ कर्म के संपादनार्थ कायिक तथा मानसिक दोनों व्यापारों की आवश्यकता रहती है—कायिक व्यापार होता अध्वर्यु और उद्गाता ऋग्यजुः साम-द्वारा करते हैं परन्तु द्वितीयार्ध मानसिक व्यापार केवल ब्रह्मा ही करता है। इसीलिए यह ब्रह्मा त्रैविद्य होता है—यास्काचार्य ने निरुक्त में ब्रह्मा शब्द की व्युत्पत्ति करते हुये बतलाया है—"ब्रह्मैको जाते जाते विद्यां वदति ब्रह्मा सर्वविद्यः सर्वं वेदितुमर्हति-ब्रह्मा परिवृढः श्रुततो ब्रह्म परिवृढं सर्वतः"

ब्रह्मा समय समय पर आज्ञा देता रहता है जब कोई प्रमाद हो जाता है तभी उसका प्रायश्चित्त आदि उचित उपचार कराता है। यज्ञ का वही अधिपति है। उसकी सामर्थ्य को छन्दोग इस प्रकार कहते हैं—"एष एव यज्ञः तस्य मनश्च वाक्च वर्त्तनी तयोरन्यतरां मनसा संस्करोति ब्रह्मा" अर्थात् इस यज्ञ के दो मार्ग हैं एक मनरूपी दूसरा वाक्रूपी। ब्रह्मा मन रूपी रास्ते को साफ करता रहता है। इसप्रकार ४ मुख्य चतुर्विध ऋत्विजों का विभाग हुआ इन प्रत्येक के सहायक ऋत्विग् तीन तीन और होते हैं जिनको आप नीचे दिये हुये नकशे मे देख सकते हैं।

१	होता	अध्वर्यु	उद्गाता	ब्रह्मा
२	प्रशास्ता	प्रति प्रस्थाता	प्रस्तोता	ब्राह्मणा-च्छंसी
३	अच्छावाकः	नेष्टा	प्रतिहर्त्ता	अग्नीध्रः
४	ग्रावस्तोता	उन्नेता	सुब्रह्मण्यः	पोता
	ये ऋग्वेदी होते हैं	ये यजुर्वेदी होते हैं	ये सामवेदी होते हैं	ये त्रिवेदी होते हैं।

इनका उपयोग बड़े यागों में होता है, इसलिये पृथक्-पृथक् इनका उल्लेख यहां अत्युपयुक्त नहीं प्रतीत होता है। अब तीसरा यज्ञ का अंग यज्ञ साधनभूत उपकरण हैं—वे ये हैं—अग्नि मन्थन सम्बन्धी अरणि-नेत्र-इत्यादि। स्यगाकार सम्बन्धी

स्रुवा पांच तरह के होते हैं उनके नाम-स्रुवः-ध्रुवा-जुहू उपभृत्। और अग्निहोत्र हवणी। आयुध सम्बन्धी पात्र- स्फ्य, कपाल, शूर्प, स्रुक्, शम्या, कृष्णाजिन, उलूखल, मुसल, दृषत् उपला, ये १० हैं। स्थालियां १६ हैं। आज्यस्थाली, चरुस्थाली, अन्वाहार्य स्थाली पिष्टोद्वपनी, पिष्टपात्री, हविर्धानपात्री, भर्जन पात्री पुरोडाशपात्री, इडापात्री, दारुपात्री, यजमान पात्री, पत्नीपात्री, पूर्णपात्र, प्रणीतापात्र, प्राशित्र पात्र, फलीकरण पात्र, मदन्ती, द्रोणकलश।

दश चमस होते हैं-यजमान चमस, ब्रह्म चमस, होतृ चमस, उद्गातृ चमस, आग्नीध्र चमस, प्रशास्तृ चमस, पोतृ चमस, नेष्टृ चमस, अच्छा-वाक चमस, ब्रतशंसिचमस,। इसी प्रकार उपयोजन पात्र २६ होते हैं। प्राशित्रहरण, शृतावदान, मेक्षण, दर्वी, आकर्षफल, कंकत, धृष्टि, उपवेश, अभ्रि, कूर्च, षडवत्त, परिधियाँ, श्रापणी दो, शूल, पशूखा, अन्तर्धानकट, वेद, वेदपरिवासन, पवित्र, प्रेक्षणी, विधृति, प्रस्तर, बर्हि, योक्त, इध्म, इध्म-प्रवश्चन, शाखा, विषाण, आसन्दी,। इन समस्त उपकरणों की व्याख्या व आकृति के सम्बन्ध मे श्रौतपदार्थनिर्वचन नामक ग्रन्थ देखना चाहिए जहां प्रत्येक नाम की व्युत्पत्ति तथा यौगिक अर्थ प्रदर्शन कराते हुए उनकी भिन्न-भिन्न आकृतियों का उल्लेख है।

चतुर्थ भाग हवि द्रव्य हैं-वे भी चार प्रचार के है--एक जो पशुओं से उत्पन्न होते हैं दूसरे औषध है तीसरे कुदरती हैं अर्थात् जिनको यादृच्छिक कहते हैं; जैसे अग्नि जल इत्यादि—चौथे ऋत्विग् आदिको के दक्षिणा द्रव्य हैं। यही सब यज्ञ के उपकरण-साधन हैं। इनके बिना यज्ञ कर्म नहीं हो सकता अतएव उत्तम कार्य सिद्धि के लिये उत्तम सामग्री की आवश्यकता होती है यह लोकप्रसिद्ध युक्ति है। उत्तम योग के अनुष्ठान के लिये—यजमान ऋत्विज् पात्र तथा द्रव्य उत्तम होना चाहिये तभी अभीष्ट सिद्धि हो सकती है। काम्य यागों के अभाव का एक मात्र कारण यही है कि जनता ने अनुष्ठान किये परन्तु उपकरणों की तरफ ध्यान नहीं दिया और जब फल प्राप्ति नहीं हुई तो कर्मों पर अपना अविश्वास प्रकट करने लगी। अन्ततोगत्वा भारत जैसी पुण्यभूमि मे वेद और वेदोक्त कर्मों पर अश्रद्धा रखने वाला एक दल उत्पन्न हो गया है। यह हमारे दुर्भाग्य की चरम सीमा है कि जो ऐसी कुत्सित भावना और ऐसे कुत्सित विचारों ने हमारी पवित्र बुद्धि मे स्थान पा लिया है—उदाहरणार्थ आप लीजिये कि जब कुछ लोग मेस्मेरेजम करने बैठ जाते हैं तो एक जड़ वस्तु घड़ा भी जमीन से बिना उठाये उठ आता है; दृष्टि के अभ्यास करने से पशु पक्षी भी वशीभूत हो जाते हैं तो फिर यदि शुद्ध मन मे आधान करके समाहित तल्लीन होकर वेदमन्त्रोच्चारण करके जिस कामना की प्रार्थना ईश्वर से की जाय क्या उसकी निष्पत्ति दुर्लभ है? मेरी समझ में कदापि नहीं आता। जरूरत है तप की, विद्या की, कर्मण्यता की और श्रद्धा की। यदि ये चारो आपके पास है तो आप कर्मानुष्ठान कीजिये अवश्य-अवश्य सफलता होगी, यदि ये नहीं हैं तो लाख कर्म किया कीजिए और मुंह से कर्म-काण्ड का डंका बजाते रहिये वेदो की दुहाई देते रहिए कभी भी सफलता नही होगी।

यदि भारतीय इतिहास पर दृष्टि डाले तो पता चल जायगा कि अनेक आश्चर्यजनक कर्म वेदज्ञों ने कर दिखाये हैं। मनु महाराज ने कहा है—

सेनापत्यंच राज्यंच दण्डनेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥१॥

यज्ञ स्वर्ग की सीढ़ी है। पहली नित्य अग्निहोत्र। दूसरी दर्शपूर्णमास, अर्थात् पाक्षिक इष्टि। तीसरी चातुर्मास। चौथी अयनेष्टि। पाँचवीं सोमयाग। इन पांचों सीढ़ियो पर क्रमशः चढ़ने वाला यजमान स्वर्ग का अधिकारी होता है। "स्वर्गकामो यजेत" इस सिद्धान्तानुसार यदि सुख की कामना वास्तव में हो तो यज्ञ कर्म का अनुष्ठान अत्यावश्यक है। बिना इसके न सुख है न शान्ति और न कामनाओं की पूर्ति। अधिक क्या ? व्यास भगवान् की उक्ति है:—

ऊर्ध्वबाहु र्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति में।
यज्ञादर्थश्च कामश्च किमर्थं स न सेव्यते। इति।

वेदस्तवनम्

रचयिता श्री० मेधाव्रतजी आचार्य—आर्यकन्या महाविद्यालय (बड़ौदा)

(१)

मनागताज्ञानतमांसि नाशयन्
नृणां सुकर्माम्बुरुहाणि हासयन्।
द्विजावलीवर्णितवर्णमण्डलं
कवीन्द्रकर्णाभरणाग्रकुण्डलं ॥

(२)

अनन्तलोकान्तरलोकलोचनो
भयंकराघावलिदुःखमोचनः।
कलाप्रविद्यागुणरत्नसागरो
विराजते भूदिवि वेदभास्करः॥

(३)

महेश्वरान्तःकरणाब्धिचन्द्रिका
सरस्तनुर्योगिविहंगमाश्रया।
सुमन्त्रमुक्ताशनहर्षिता सभि—
र्मनीषिहंसै रगिरा निषेविता॥

(४)

सुसभ्यतासंस्कृतिनिर्गमन्द्रदिक्
सुधर्मगंगामलिलोद्गमस्थली।
मनोज्ञयज्ञद्रुमनन्दनावनी
न कस्य वन्द्या जननी श्रुतीश्वरी॥

(५)

सजीवनौषधिलतेव गुणाभिरामा
समारतापगदभञ्जनलब्धवीर्या।
देवासुरैः सुमनुजैः सममेव सेव्या
लोकोपकारकरणाय धृतावतारा॥

(६)

विद्यापया स्रवतीव पयस्विनीयं
विज्ञानदुग्धपरिपुष्टबुधाभिवन्द्या।
श्री ब्रह्मणा विरचिता प्रतिसर्गवेलं
वेदेश्वरी विजयते निखिलेष्टदात्री॥

(७)

स्मृतीनां सर्वस्वं भवजलधिगानां सुतरणिः
शरण्या पुण्यानां सुविमलमतीनां गलमणिः।
सुविद्यारत्नानां खनिरशनिरेषाऽनृतजुषां
गिरां भूषा कर्णा-भरणमिह माता श्रुतिरहो॥

ऋग्वेद संहिता की व्याख्या

ले० वैदिक रिसर्च स्कॉलर श्री पं० आर्येन्द्र शर्मा एम.ए. साहित्याचार्य

आधुनिक विद्वानों के मतानुसार ऋक्संहिता का निर्माण चारो संहिताओ मे सबसे पहले हुआ है। अन्य तीनो संहिताये ऋक् संहिता की अपेक्षा न केवल अर्वाचीन हैं, अपितु कई प्रकार से उस पर आश्रित भी हैं। प्राचीन भारतीय विद्वान् भी ऋक् संहिता को ही प्राधान्य देते थे। आधुनिक संस्कृत विद्वानों की दृष्टि मे इस ग्रन्थ का स्थान अत्यन्त महत्व पूर्ण है। संसार के अन्य प्राचीन धर्मों और साहित्यों का अध्ययन इसकी सहायता के बिना असम्भव है, और तुलनात्मक भाषा विज्ञान का तो आविष्कार ही ऋक् संहिता के अध्ययन के साथ-साथ हुआ है। यही कारण है कि पश्चिम के संस्कृतज्ञ बहुत अधिक संख्या मे इसका अध्ययन करते रहे हैं।

किन्तु जहाँ इस ग्रन्थ की इतनी प्राचीनता और महत्ता है वही इसका ठीक-ठीक अर्थ समझना अत्यन्त दुःसाध्य भी है। अधिकांश स्थल सरल है और प्राचीन तथा अर्वाचीन दोनो श्रेणियो के व्याख्याकारो को उनका अर्थ करने मे कोई कठिनता नहीं होती। पर अनेक शब्द मन्त्र और पूरे सूक्त तक ऐसे हैं जिनका अर्थ अभी तक ठीक ठीक नहीं समझा जा सका है। मन्त्र कर्त्ताओं का वास्तविक अभिप्राय समझना इसी युग मे इतना कठिन हो गया हो सो बात नहीं; प्राचीन से प्राचीन व्याख्याकार भी भ्रम या सन्देह में पड़कर मन्त्रों का ठीक अर्थ समझने मे असफल रहे हैं। इस कठिनता का कारण है, ग्रन्थ की अत्यन्त प्राचीनता और परम्परागत किसी टीका या व्याख्या का अभाव। व्याख्याकार मन्त्र कर्त्ताओं के इतने समय बाद हुए हैं कि वास्तविक अभिप्राय का बहुत कुछ अंशो मे लुप्त हो जाना स्वाभाविक ही है।

ऋक् संहिता की सबसे प्राचीन व्याख्या शाकल्य ऋषि कृत पदपाठ है। यों तो पदपाठ को 'व्याख्या' कहना सर्वांश मे ठीक नहीं है, क्योंकि पदपाठ में केवल सन्धि और समासादि का विच्छेद करके पदो के स्वतन्त्र रूप दिखाये गये हैं, और पदपाठकार का लक्ष्य था संहिता मूल रूप को अक्षुण्ण रखना, व्याख्या करना नही। फिर भी अनेक बार पदपाठ द्वारा ठीक अर्थ समझने मे बहुत सहायता मिलती है। पदपाठ की सहायता से मन्त्रो में आये हुए शब्दों के स्वतन्त्र, सन्धि से अप्रभावित, रूप और स्वर ज्ञात होते है, जिनके बिना असन्दिग्ध अर्थ जानना प्राय असम्भव होता। पदपाठ और संहिता पाठ के निर्माण काल मे बहुत अन्तर नही है, इसलिये यह माना जा सकता है कि पदपाठकार ने मन्त्रो का अर्थ ठीक समझा होगा, पर अन्य लोगो के लिये उनकी सहायता का क्षेत्र बहुत सीमित है।

पद पाठ के बाद अर्थ समझने मे सहायक ग्रन्थो मे ब्राह्मणो का नम्बर आता है। यद्यपि ब्राह्मणो को वेदो का ही एक भाग माना जाता है, तथापि यह सिद्ध हो चुका है कि संहिताओ और ब्राह्मणो के रचना काल मे बहुत अन्तर है और संहिता-काल से ब्राह्मण काल की विचारधारा भी भिन्न है। संहिता काल में प्रार्थना और उपासना का प्राधान्य था, ब्राह्मण काल में यागादिकर्मों का। फलतः ब्राह्मणों की व्याख्या को हम असन्दिग्ध नहीं मान सकते। अनेक स्थलो पर ब्राह्मणो का किया हुआ अर्थ स्पष्ट ही असगत ज्ञात होता है जिससे सिद्ध होता है कि ब्राह्मण काल से ही संहिता का अर्थ समझने में भ्रम और सन्देह होना प्रारम्भ हो गया

था। इसलिये यह भी कहना कठिन है कि ब्राह्मणों के रचयिता ऋक् संहिता की किसी परम्परागत व्याख्या से परिचित थे। यह सब होने पर भी यत्र तत्र ब्राह्मण ग्रन्थों से भी बहुत कुछ सहायता मिल जाती है।

व्याख्या ग्रन्थों मे निघण्टु और निरुक्त के महत्त्व से सभी परिचित हैं। निरुक्तकार यास्क ही निघण्टु के कर्त्ता थे या नहीं, इस विषय मे विद्वानों मे अभी तक मतभेद है। पर बहुमत से यास्क को निघण्टु का कर्त्ता नही माना जाता। जो भी हो, निघण्टु और उसकी व्याख्या निरुक्त दोनों से यह सिद्ध होता है कि इनके रचना काल मे अनेक वैदिक शब्दो और मन्त्रो के अर्थ तिरोहित हो चुके थे। निघण्टु के पहले तीन अध्यायो मे कुछ समानार्थक शब्दो की सूची दी गई है और अन्तिम दो अध्यायो मे कठिन अथवा अज्ञात अर्थ वाले शब्दो की। इन शब्दो के इस प्रकार एकत्रित करने से ही ज्ञात होता है कि इन वैदिक शब्दो का अर्थ लोग प्रायः भूल चुके थे और निरुक्त मे तो इसका प्रमाण स्थान-स्थान पर मिलता है। निरुक्त के प्रारम्भ मे ही कौत्स के मतानुसार मन्त्रो के अर्थहीन, अनर्थक और विरुद्धार्थक होने की शङ्का उठाई गई है। निरुक्तकार प्रत्येक शब्द की व्याख्या, उसका विश्लेषण करके, किस धातु या मूल शब्द से वह शब्द बना है, यह बताकर, करते हैं। पर उनकी यह व्याख्या कई बार ऐसी काल्पनिक होती है कि उसे मानना कठिन हो जाता है। उदाहरण के लिये 'नभस्' शब्द की व्याख्या लीजिए। 'नभस्' का अर्थ निघण्टु के अनुसार 'आदित्य' है। निरुक्तकार इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार करते हैं:—'भासन' शब्द का अर्थ है प्रकाशक, दीप्तिमान्। 'भासन' मे 'आ' और 'स' का लोप करके 'भन' बनता है। 'भन' को उलटा कर देने से 'नभ' बन जाता है। इसलिये 'नभस्' (भन = भासन = प्रकाशक) का अर्थ है 'आदित्य'। अथवा 'न न भाति' जो प्रकाशित नही होता, 'न + न + भा' में एक 'न' का लोप करके 'न + भा' से 'नभस्' बनता है" (निरुक्त २। १४)। इस व्याख्या पर कुछ कहने की आवश्यकता नहीं। इस प्रकार के उदाहरण निरुक्त में सैकड़ों मिलेंगे। इसके अतिरिक्त निरुक्तकार एक-एक शब्द की कई प्रकार से व्याख्या करते हैं और साथ में जहां तहां अनेक प्राचीन ऋषियो के भिन्न-भिन्न मतों का अवतरण देते हैं जिससे सिद्ध होता है कि उनके काल में इन शब्दों का कोई सनातन-परम्परागत सर्वमान्य अर्थ नहीं था। अन्यथा उन्हे इस प्रकार तरह-तरह से व्याख्या और विश्लेषण करने की क्या आवश्यकता थी? जिस निघण्टु के आधार पर यास्क मुनि ने निरुक्त की रचना की है, उसकी भी प्रामाणिकता और सहायकता अत्यन्त परिमित है। निघण्टु में कठिन शब्दों की सूची मात्र दी गई है, उनका अर्थ नहीं बताया गया। समानार्थक शब्दों का जो अर्थ बताया गया है वह भी साधारण और अस्पष्ट ढंग से। उदाहरणार्थ—'वाक्' शब्द के समानार्थकों मे श्लोक, अनुष्टुप्, ऋक्, गाथा, निविद् सभी दिये गये हैं। वास्तव मे इन शब्दो के अर्थों मे परस्पर बहुत भेद है। निरुक्त मे कुछ सम्पूर्ण मन्त्रो की भी व्याख्या की गई है जिससे अनेक कठिन स्थलों का अर्थ सुगम हो जाता है। पर ऋक् संहिता के १०६०० मन्त्रो मे से केवल ६०० मन्त्रों की इस प्रकार पूरी व्याख्या करने का अवसर आया है। ये सब न्यूनताएँ और अपूर्णतायें होते हुए भी इन दोनों ग्रन्थो को, विशेष कर निरुक्त को, इतना महत्त्व इसलिये दिया जाता है कि इनमें वैदिक शब्दों की एक नवीन और तर्कसंगत ढंग से व्याख्या करने का पहिली बार प्रयास किया गया है।

वैदिक व्याख्याकारो मे सायणाचार्य का स्थान सब से अधिक ऊँचा है। उनकी बनाई हुई 'वेदार्थ प्रकाश' सम्पूर्ण ऋक् संहिता की पहली विस्तृत और सुबोध टीका है। उनके बाद की भी अन्य किसी टीका का इतना आदर और प्रचार नहीं हुआ। सायणाचार्य ने ऋक्संहिता के प्रत्येक मन्त्र के प्रत्येक शब्द का अर्थ, कठिन शब्दों की व्युत्पत्ति, व्याकरण की दृष्टि से असामान्य शब्दों का निर्देश, प्रत्येक सूक्त तृच और मन्त्र का विनियोग, ऋषि, छन्द देवता,

स्वर इत्यादि सभी बातें विस्तार से दी हैं। ऋक्संहिता का यथावत् अध्ययन 'वेदार्थ प्रकाश' की सहायता के बिना प्रायः असम्भव है। आधुनिक विद्वानों की दृष्टि से इस व्याख्या का इतना मूल्य है कि इसे एक 'पुस्तकालय' कहा गया है। मैक्समूलर, पिशेल, गेल्डनर इत्यादि विद्वान् इस बात को स्पष्ट स्वीकार करते हैं कि सायण की सहायता के बिना उन लोगों का वैदिक साहित्य में प्रवेश भी कठिनता से हो सकता था। पर यह मानना ही पड़ेगा कि यह व्याख्या भी सर्वथा असन्दिग्ध और प्रामाणिक नहीं है। सायण वेदों को पवित्र ग्रन्थ और दिव्य ज्ञान मानते थे इसलिये साधारण मनुष्यकृत ग्रन्थों की तरह वैदिक मन्त्रों की आलोचनात्मक और तुलनात्मक व्याख्या उन्होंने नहीं की। ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार सायण भी वेदों में कर्मकाण्ड को ही प्राधान्य देते थे जिसके कारण उनकी व्याख्या में जहाँ तहाँ अर्थ की तोड़ मरोड़ अनिवार्य हो गई है। कर्मकाण्ड—प्रधान यजुर्वेद और सामवेद में इस प्रकार की व्याख्या ठीक हो सकती है, पर ऋग्वेद में प्रायः संगत नहीं होती। इस व्याख्या का अध्ययन करने से यह अनुमान सरलता से हो सकता है कि सायण के समय में भी कोई सनातन परम्परागत प्रामाणिक भाष्य वर्त्तमान नहीं था। वे कठिन शब्दों के अनेक अर्थ देते हैं और यह नहीं बताते कि उनकी सम्मति में ठीक अर्थ कौन सा है। उन्होंने एक शब्द का विभिन्न मन्त्रों में विभिन्न अर्थ दिया है। उदाहरण के लिये 'असुर' शब्द के 'शत्रुओं का उन्मूलक', बलदाता, 'प्राण-दाता,' 'पुरोहित' 'पर्जन्य' इत्यादि बारह अर्थ भिन्न भिन्न मन्त्रों में किये गये हैं। कहीं कहीं अर्थ पूरा करने के लिए वे अनेक ऐसे शब्द अपनी ओर से भी मिला देते हैं जिनका मन्त्र में कहीं पता तक नहीं होता। जिन जिन मन्त्रों की व्याख्या निरुक्त में की गई है उनका भाष्य करते समय सायण 'अत्र निरुक्तम्' कह कर पूरी व्याख्या ज्यों की त्यों उद्धृत कर देते हैं। अन्य स्थलों पर भी वे प्रायः निरुक्त के ही पीछे चलते हैं। उनका शब्दों की व्युत्पत्ति और विश्लेषण का ढंग भी निरुक्त के ही अनुसार है। इसी प्रकार वे ब्राह्मणों और आरण्यकों के भी प्रमाणों का निर्देश कर देते हैं। अनेक वैदिक आख्यानों की व्याख्या उन्होंने पौराणिक गाथाओं के आधार पर की है जिनसे वेदों का कोई सम्बन्ध, कोई संगति नहीं। उदाहरण के लिये सायण ने 'रुद्र' को 'पार्वती-पति' (ऋक् सायण भाष्य, १, ११४, ६) कहा है, पर ऋक्संहिता में कहीं पर 'पार्वती' का नाम तक नहीं।

भारतीय व्याख्याकारों में स्वामी दयानन्द सरस्वती का भी नाम उल्लेखनीय है। उन्होंने वेदों में एकेश्वरवाद मान कर उसी के अनुकूल ऋक्संहिता और यजुःसंहिता का संस्कृत तथा हिन्दी में भाष्य किया है। स्वामीजी की व्याख्या का ढंग अधिकांश में निरुक्त के अनुसार है। स्वामी जी के भाष्य का अनुमोदन आधुनिक विद्वान नहीं करते, तो भी इतना सब को स्वीकार करना पड़ेगा कि वैदिक ग्रन्थों के अध्ययन का प्रचार उनके द्वारा बहुत कुछ हुआ है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि ऋक्संहिता की कोई भी प्राचीन व्याख्या असन्दिग्धरूप से प्रामाणिक नहीं है। इसके दो मुख्य कारण हैं, सनातन-परम्परागत किसी व्याख्या का अभाव और व्याख्याकारों की किसी लक्ष्य से एक ओर उचित से अधिक पक्षपात-मयी प्रवृत्ति।

आधुनिक, पाश्चात्य ढंग के विद्वानों ने मन्त्रों की व्याख्या करने के जो प्रयत्न किये हैं, उनका भी दिग्दर्शन करना उचित है।

विल्सन का सिद्धान्त था कि हिन्दुओं के धर्म-ग्रन्थों को वही ठीक ठीक समझ सकता है जिसके मन में भारतीय भावनायें और संस्कार बद्धमूल हो गये हों। विदेशी लोग कितने ही निष्पक्षपात और सत्यान्वेषक क्यों न हों, वे अपने संस्कारों से प्रभावित रहने के कारण मूल ग्रन्थ का आशय समझने में पूर्णतया सफल नहीं हो सकते। विल्सन सायण भाष्य को किसी भी यूरोपियन विद्वान् की व्याख्या की अपेक्षा कहीं अधिक प्रामाणिक मानते थे, और इसी लिये उन्होंने सायण भाष्य का अङ्गरेजी में अनुवाद किया है और उसी को ठीक अर्थ माना है।

पाश्चात्य वैदिक विद्वानों में रॉथ का स्थान बहुत ऊँचा है। उन्होंने वेदों की अध्ययन-प्रणाली में बहुत बड़ा परिवर्त्तन किया। आज कल रॉथ को ही 'समालोचनात्मक' व्याख्या शैली का आविष्कारक माना जाता है। रॉथ का सिद्धान्त है कि ऋग्वेद संहिता स्वयं ही अपनी सर्वोत्तम व्याख्या है। प्रत्येक शब्द का ठीक अर्थ समझने के लिये, जिन जिन ग्रन्थों में जिस जिस प्रकरण में उस शब्द का प्रयोग किया गया है, उन सब पर विचार करके, तुलनात्मक भाषा विज्ञान की सहायता से उस शब्द के इतिहास का अध्ययन करना और किस प्रकार उस शब्द के प्रयोग में और अर्थ में परिवर्त्तन हुआ, इसकी विवेचना करना, आवश्यक है। स्वयं मूल ग्रन्थ और प्रकरण ही किसी शब्द का वास्तविक अर्थ बता सकते हैं, व्याख्याकार नहीं।

अपनी इसी व्याख्या शैली के आधार पर रॉथ (और बोईतलिंक) ने एक बहुत बड़ा संस्कृत-जर्मन कोष बनाया है, जिसमें प्रत्येक संस्कृत शब्द का अर्थ, ऋक्संहिता से लेकर उत्तरकालिक संस्कृत काव्यों तक, जिन जिन ग्रन्थों में जिन जिन स्थलों पर वह शब्द आया है उन सबकी तुलना और विवेचना करके स्थिर किया गया है। इस प्रकार इस कोष में हम किसी भी शब्द के सम्पूर्ण इतिहास का अध्ययन कर सकते हैं। रॉथ की इस शैली का अन्य विद्वान् भी अनुमोदन करते हैं। पर इसमें न्यूनता इतनी है कि रॉथ ने भारतीय व्याख्याकारों और कर्मकाण्ड के ज्ञान को बिलकुल ही महत्व नहीं दिया। उन्होंने केवल तर्क और बुद्धि से काम लिया और इस प्रकार जहाँ विल्सन ने एक ओर भारतीय व्याख्याओं का अनुसरण करने में औचित्य की सीमा का उल्लंघन किया वहाँ रॉथ भी भारतीय विद्वानों पर नितान्त अविश्वास करके दूसरी ओर औचित्य की सीमा के बाहर चले गये। यहाँ पर यह बात नहीं भूल जानी चाहिये कि इस 'नवीन' शैली से यास्क परिचित थे। वे निरुक्त के परिशिष्ट में कहते हैं, "मन्त्रों का अर्थ प्रकरण के अनुसार ही करना चाहिये······तर्क द्वारा जो बात सिद्ध होती है वह उतनी ही प्रामाणिक है जितना एक ऋषि का कथन।" कुछ लोग इस परिशिष्ट को यास्क कृत नहीं मानते। पर स्वयं निरुक्त में ही रॉथ की 'तुलनात्मक' शैली का उपयोग बीसियों बार किया गया है। यास्क को जहाँ किसी शब्द का अर्थ बता कर एक मन्त्र द्वारा उसका उदाहरण देने से सन्तोष नहीं होता वहाँ वे दूसरा मन्त्र और उदाहरण में देते हैं और कहते हैं, "तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय" (अर्थात् इसकी और भी स्पष्ट व्याख्या करने के लिए एक और मन्त्र उदाहरण स्वरूप दिया जाता है)। ऐसे स्थल एक दो नहीं, पचीसियों हैं, उदाहरण के लिए देखिए, निरुक्त २। १०, ११; २। १८, १६; ३। १, २; ४। २१; ४ ३; ५। ७, ६; ५। १६, ५। २२, २३; ६। ७; ७। १८, ७। ३० इत्यादि)।

लुद्विग् और ग्रासमन के अनुवाद भी उल्लेख्य हैं। लुद्विग् ने ऋक् संहिता का, जर्मन में, गद्य में अनुवाद किया है और ग्रासमन ने पद्य में। इन दोनों विद्वानों ने अधिकांश में रॉथ ही की शैली का अनुसरण किया है। इन्होंने कहीं कहीं पर मूल ग्रन्थ में भी संशोधन और परिवर्त्तन किये हैं, जो प्रायः अनावश्यक और भ्रान्त हैं। रॉथ की ही तरह ये भी भारतीय व्याख्याकारों को महत्व नहीं देते और परिणाम स्वरूप इनके अनुवाद में बहुत सी त्रुटियाँ हैं।

पिशेल और गेल्डर का सिद्धान्त, रॉथ के विरुद्ध भारतीय व्याख्या शैली के पक्ष में है। वे मानते हैं कि ऋक् संहिता सर्वथा भारतीय ग्रन्थ है और उत्तर काल के भारतीय साहित्य की सहायता से ही मन्त्रों का वास्तविक अर्थ समझा जा सकता है। इनकी सम्मति है कि वेदों का अर्थ करने में यास्क और सायण के ग्रन्थों का पूर्ण उपयोग करना आवश्यक है। उन्होंने प्राचीन व्याख्याओं के महत्व को फिर से स्थापित कर दिया है।

हिलेब्रान्त और ओल्डेनबर्ग के मतानुसार ऋक् संहिता के समझने के लिये परकालिक कर्मकाण्ड का ज्ञान अत्यावश्यक है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक पाश्चात्य विद्वान् भी वेदों की व्याख्या के सम्बन्ध में एकमत

नहीं हैं। प्रत्येक व्याख्याकार एक-एक बात को लेकर उसी पर इतना ध्यान देता है कि अन्य बातों को भूल जाने से वास्तविक अर्थ केवल अंशतः ज्ञात हो पाता है। पर इससे एक बड़ा भारी लाभ यह हुआ है कि किसी एक विशेष दिशा में जितना अधिक से अधिक अनुसन्धान किया जा सकता था उतना हो चुका है। साथ ही साथ एक दूसरे का विरोध करने से सब भ्रम और त्रुटियाँ भी प्रत्यक्ष हो जाती हैं।

इन सब अनुसन्धानों और अनुभवों के बाद—मैक्डॉ-नल और कीथ आदि विद्वानों ने समुचित निष्कर्ष निकाले हैं-

'ऋक् संहिता की सब से अच्छी व्याख्या स्वयं ऋक् संहिता ही है' गॅथ का यह सिद्धान्त सभी मानते है। पर साथ-साथ में प्राचीन भारतीय व्याख्याकार यास्क और सायण की तथा ब्राह्मण, आरण्यक, सूत्र, स्मृति, पुराणादि ग्रन्थो की भी सहायता लेना अत्यावश्यक है। अन्य देशो और धर्मों के प्राचीन साहित्य से तुलना करना भी अनिवार्य है। इसके लिये पारसियों का धर्म-ग्रन्थ 'आवेस्ता' सब से अधिक महत्त्वपूर्ण है। आवेस्ता की सहायता से न केवल अनेक वैदिक शब्दों का मूल अभिप्राय विदित होता है, अपितु कतिपय देवताओं के सम्बन्ध में मन्त्रकारों की क्या धारणा थी यह भी स्पष्ट हो जाता है। इस सम्बन्ध मे वैदिक मित्र, असुर और सोम शब्दों की आवेस्तिक मिथ्, अहुर और हौम शब्दों से तुलना और इसके फलस्वरूप अनेक नई बातो का परिज्ञान उदाहरण के लिये पर्याप्त होगा। तुलनात्मक भाषा विज्ञान और सब देशों के प्राचीन आख्यानों के तुलनात्मक अध्ययन का भी कम महत्त्व नहीं है। भाषा विज्ञान के द्वारा वैदिक शब्दो के प्रारम्भिक, मूल अर्थों का पता लगता है। साथ ही अत्यन्त काल्पनिक व्युत्पत्तियों का भी खण्डन होता है। उदाहरण के लिये वैदिक शब्द 'स्पश' (ऋक् ७. ६१. ३) को लीजिए:—सायण के अनुसार इसका अर्थ है 'स्पर्श' या 'बाध'। पर अन्य भाषाओं से तुलना करने से ज्ञात होता है कि इस शब्द के समान रूप वाले शब्द आवेस्ता, ग्रीक, लैटिन, जर्मन और इङ्गलिश में 'देखना' अर्थ में आते हैं। लौकिक संस्कृत में भी 'स्पष्ट' का अर्थ होता है 'साफ दीखने वाला' और 'स्पश' का दूत, जासूस। फलतः हम 'स्पश' का वास्तविक अर्थ 'देखने वाला' 'गुप्त दूत' 'जासूस' (अंग्रेजी के Spy से तुलना कीजिये) जान जाते हैं। इसी प्रकार प्राचीन ग्रीक और लैटिन कथाओं मे आये हुए 'ज्यौस्पातेर' और 'जुपिटर' से तुलना करके वैदिक 'द्यौस्-पितर' का वास्तविक स्वरूप जाना गया है। संसार के समस्त देशो की जन-कथाओं का परिज्ञान होना भी इतना ही आवश्यक है। वैदिक अध्ययन करने वालो का दृष्टिकोण इतिहासानुकूल, निष्पक्षपात और विवेचनात्मक होना चाहिए। और उनका लक्ष्य होना चाहिए—सत्य का अन्वेषण।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मन्त्रो का वास्तविक अर्थ समझने के लिए कितने अध्ययन और परिश्रम की आवश्यकता है। यह काम एक व्यक्ति के वश का नहीं। संसार के सभी देशो के विद्वानो ने इस यज्ञ मे यथाशक्ति आहुति दी है और दे रहे हैं। प्रति दिन नई-नई समस्याएं उठाई जाती है, नये-नये अनुसन्धान किए जाते हैं, नये-नये दृष्टिकोणों से वैदिक साहित्य का अध्ययन किया जाता है। पर खेद की बात है कि वैदिक-साहित्य की जन्म-भूमि भारतवर्ष के विद्वानों का इस क्षेत्र मे प्रमुख स्थान नहीं है —।

—इस लेख के लिखने में प्रोफेसर घाटे, मैक्डॉनल और ग्रिस्वॉल्ड के कुछ निबन्धों से विशेष सहायता ली गई है। ले०

वेद अपौरुषेय हैं

लें०—श्री० पं० लक्ष्मीशंकर मिश्रार्य अध्यापक (हैदराबाद दक्षिण)

वेद का प्रमाण वेद से ही होना समुचित है क्योंकि वेद सूर्यवत् स्वतः प्रमाण हैं। वेदोत्पत्ति विषय में वेद का निम्न लिखित मन्त्र है।

तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे
छन्दा ँसि जज्ञिरे, तस्माद् यजुस्तस्मा दजायत

य० अ० ३१। मं० ७॥

"तस्माद् यज्ञात् सच्चिदानन्दादिलक्षणात् पूर्णात् पुरुषात् सर्वहुतात् सर्वपूज्यात् सर्वोपास्यात् सर्वशक्तिमतः परब्रह्मणः (ऋच) ऋग्वेदः (यजुः) यजुर्वेद सामानि (सामवेदः) (छन्दांसि) अथर्ववेदश्च (जज्ञिरे) चत्वारो वेदास्तेनैव प्रकाशिता इति वेद्यम्।" ऋ० भा० भू०॥ मन्त्र में "यज्ञ" का अर्थ परमेश्वर है, उस सच्चिदानन्दादि-लक्षण-युक्त पूर्ण पुरुष, सर्वपूज्य, सर्वोपास्य, सर्व शक्तिमान् परब्रह्म से ऋग्वेद यजुर्वेद सामवेद अथर्ववेद उत्पन्न हुए हैं अर्थात् ऋगादि चारों वेद ईश्वर से ही प्रकाशित हुए हैं।

यह पवित्र वेदरूपी ज्ञान अमैथुनी सृष्टि वाले अग्नि वायु आदित्य अङ्गिरा चार ऋषियों के आत्मा में परमात्मा ने प्रकट किया, फिर उनसे ब्रह्मा जी ने पढ़ा इस प्रकार उत्तरोत्तर वेदों का प्रचार संसार में हुआ। इसमें प्रमाण—

अग्नि वायु रविभ्यस्तु, त्रयं ब्रह्मसनातनम्
दुदोह यज्ञसिद्धयर्थ मृग्यजुः साम लक्षणम्॥

म० १। २३॥

परमात्मा ने आदि सृष्टि में मनुष्यों को उत्पन्न करके अग्नि आदि चारों महर्षियों के द्वारा चारों वेद ब्रह्मा को प्राप्त कराये।

स० प्र० स० ७॥

कोई २ कहते हैं कि वेद में ऋषियों का अपना कुछ ज्ञान भी सम्मिलित है परन्तु वे यह नहीं विचार करते कि वेद गायत्र्यादि छन्दोबद्ध हैं। आदि सृष्टि में बिना किसी गुरु के उनको छन्दोबद्ध ज्ञान किसने दिया, कविता के नियम उनको किसने पढ़ाए ?। क्या बिना पढ़े ही अग्न्यादि ऋषियों को छन्दोबद्ध वेद ज्ञान प्राप्त हो गया था ? यह कदापि सम्भव नहीं इसलिए मानना पड़ता है कि—

स पूर्वेषा मपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्॥

योग सू०। समाधिपा०। सू० २६॥

जैसे वर्तमान समय में हम लोग अध्यापकों से पढ़ ही के विद्वान होते हैं वैसे परमेश्वर सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न हुये अग्न्यादि ऋषियों का गुरु अर्थात् पढ़ाने वाला है क्योंकि जैसे जीव सुषुप्त और प्रलय में ज्ञान रहित हो जाते हैं वैसा परमेश्वर नहीं होता, उसका ज्ञान नित्य है" स० प्र० स० ७॥ इससे सिद्ध है कि छन्दोबद्ध वेद रूपी ज्ञान आदि सृष्टि में परमात्मा ने ही उन अग्न्यादि ऋषियों की आत्मा में दिया था, तब यह कथन कि वेद में ऋषियों का अपना ज्ञान भी सम्मिलित है, युक्ति और प्रमाण विरुद्ध होने से असत्य ही है। सिद्धान्त यह कि वेद किसी शरीरधारी जीव-विशेष के रचे हुये नहीं हैं, महाप्रलय होने पर भी वेद परमात्मा के ज्ञान में रहते हैं, क्योंकि नित्य हैं।

वेदों के अपौरुषेय होने में पहला प्रमाण सत्यता है सत्य का परम निधान परमेश्वर है; उसके रचे वेद सत्य के स्रोत हैं; सचाई का प्रकाश संसार में मनुष्यों के आत्मा में वेदों से ही हुआ है। दूसरा प्रमाण "एकवाक्यता" है, एकवाक्यता का अर्थ यह है कि वेद में पूर्वापर विरोध नहीं। पूर्वापर विरोध

का दोष मनुष्यकृत ज्ञानरचना में हो सकता है। क्योंकि वह अल्पज्ञ है, ईश्वर पूर्ण ज्ञानी है उसमे उक्त दोष असम्भव है। तीसरा प्रमाण—"सुगम रचना है" सुगम रचना का अर्थ सरल रचना है। पूर्ण ज्ञान रखने वाला ही सुगम रचना कर सकता है, अल्पज्ञ जीव नहीं। वेद की सुगम भाषा के सदृश मृदु मधुर और व्यापक अन्य कोई भाषा संसार में नहीं है।

चतुर्थ प्रमाण "भाषा लावण्य" है, वेदों की भाषा अति सुन्दर है। भाषा (बोली) मनुष्य को परमात्मा ने वेदों द्वारा दी है। भाषा मनुष्य नहीं बना सकता। पांचवां प्रमाण "निष्पक्षपातत्व" है। वेद पक्षपात रहित हैं जिसमें पक्षपात हो वह अपौरुषेय ज्ञान नही हो सकता है। ईश्वर न्यायकारी है उसमें पक्षपात का होना सम्भव नहीं। (६) छठा प्रमाण—सर्वविद्या मूलकत्व" है। वेद सम्पूर्ण विद्याओं के मूल हैं। वेदों से अनेक प्रकार की विद्यायें संसार में निकली हैं। शरीरधारी जीव किसी एक विद्या का ही पारङ्गत हो सकता है, उसके रचे ग्रन्थ समस्त विद्याओं के मूल नहीं हो सकते, क्योंकि वह सर्वज्ञ नहीं है; परन्तु ईश्वर सर्वज्ञ है उसके रचे वेद सब विद्याओ के मूल है।

वेद शब्द की सिद्धि पाणिनीय व्याकरणानुसार यह है कि "हलश्च" ३। ३। १२१ ॥ इससे करणाधिकरण कारको में विद धातु से घञ प्रत्यय हुआ है। विद धातु चार हैं। विद ज्ञाने, विद सत्तायाम्। विद विचारणे, विद्लृ लाभे। वेद शब्द इन चारों धातुओ से बना है और इसका निर्वचन यह है कि विदन्ति जानन्ति सर्वा विद्या धर्मक्रिया वा यै र्येषु वा ते वेदाः। विद्यन्ते कर्तव्याऽकर्तव्योपदेशा यत्र स वेदः। विन्दन्ति लभन्ते सुख मानन्दं येन यस्मिन् वा स वेद"

"शब्दार्थसम्बन्धी मन्त्रात्मकवाक्यावल्यन्वित" सब विद्या वा धर्म कर्मों को जिनसे वा जिनमें जानें, कर्तव्य और त्याज्य कर्मों के उपदेश जिनमें विद्यमान हों, सत्यासत्य वा ब्रह्म का जिनसे विचार करें, और सुख वा आनन्द को जिसमें वा जिनसे प्राप्त हों वे शब्दार्थ सम्बन्धों से युक्त मन्त्रस्वरूप वाक्यावली-सहित पुस्तकाकार वेद कहाते हैं।"

यदि कोई पुस्तक का नाश भी करे तो पुस्तक के नाश होने से वेदों का नाश नहीं होता क्योंकि ईश्वर ने शब्दार्थसम्बन्ध रूप वाक्यावली का उपदेश मनुष्यों को किया है। वही पुस्तकाकार मे होने से वेद कहाते हैं। यदि वेद किसी शरीरधारी जीव के रचे होते तो उसका नाम वेदों के साथ परम्परा से प्रसिद्ध क्यों नहीं हुआ कि अमुक मनुष्य ने वेद बनाये थे; इसलिये वेद किसी मनुष्य के बनाये नहीं, इसकी पुष्टि में कपिल मुनि कहते हैं कि—

न पौरुषेयत्वं तत्कर्तुः पुरुषस्याऽभावात् ॥
सां०। अ० ५। सू० ४६ ॥

उन (वेदों) के कर्त्ता के न होने से (उनको) पौरुषेयत्व नहीं ॥ यदि कहा जाय कि—वेद के बनाने वालो ने अपना नाम छिपा दिया होगा अथवा वे नष्ट हो गये, इसका उत्तर भी कपिल मुनि अपने सांख्य शास्त्र मे देते हैं।

मुक्तामुक्तयो रयोग्यत्वात् ॥
सांख्य०। अ० ५। सू० ४७ ॥

मुक्त और अमुक्त = के अयोग्य होने से (पौरुषेयता नहीं बनती) यह सूत्रार्थ है, तात्पर्य—मुक्त जीव मुक्तावस्था मे ब्रह्मानन्द भोगता है और बद्ध जीव को उतना ज्ञान नहीं कि वह वेदों को रच सके। अतः न मुक्त जीव वेद रचने में योग्य है और न अमुक्त = बद्धजीव योग्य है। बिना योग्यता रचना सम्भव नहीं। रचना की पूर्ण योग्यता परमात्मा में है; उसी का रचा वेद है अत. वेद अपौरुषेय है यह कपिल मुनि का आशय है। प्रश्न यह होता है कि इसकी पहिचान क्या कि यह मनुष्य कृत और यह ईश्वरकृत है इसका भी उत्तर कपिल मुनि देते हैं कि—

यस्मिन्नदृष्टेऽपि कृतबुद्धि रुपजायते तत्पौरुषेयम् ॥
सांख्य०। अ० ५। सू० ५० ॥

जिसके न दीखने पर भी कृत बुद्धि उपजे वह मनुष्य कृत है मनुष्य कृत रचना और ईश्वरकृत रचना समझने के लिये बड़ी कसौटी "कृतबुद्धि है। जहां जहां कृतबुद्धि न उपजे उसको मनुष्यकृत

नहीं समझना चाहिए। एक सन्दूक को देखते हैं कि वह मनुष्यकृत है, दूसरा सन्दूक ऐसा है कि उसके बनाने वाले को नहीं देखा परन्तु सन्दूक की बनावट से ज्ञान होता है कि यह मनुष्यकृत है, इसी प्रकार जब एक पुष्प को देखते हैं तब उस समय यह ज्ञान नहीं उत्पन्न होता कि यह मनुष्यकृत है। एवम्-सूर्य और चन्द्र आदिको देखकर कृत बुद्धि नहीं उपजती कि यह मनुष्य रचित है क्योंकि—

सूर्य्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्॥ऋ०

सूर्य और चन्द्रमा को धाता=धारण करने वाले परमात्मा ने जैसे पूर्वकल्प मे रचा था वैसे ही इस कल्प मे रचा है आगे भी रचेगा 'अस्तु। अपौरुषेय होने का प्रमाण वेद मन्त्र का "जात वेद" शब्द भी है। जात वेद का अर्थ=उत्पन्न है ऋगादि चारो वेद जिससे ऐसा ईश्वर है अर्थात उसी से चारो वेद प्रकाशित हुये है। ऋषि मन्त्र द्रष्टा है मन्त्र कर्ता नही 'ऋषयो (मन्त्र दृष्ट्य) मन्त्रान सम्प्रादु॥ नि० [१।२०] मन्त्र का अर्थ गुप्त भाषण के अतिरिक्त मनन भी है, ईश्वरदत्त ज्ञान के मनन करने से मन्त्र नाम है, तथा अग्न्यादि ऋषियो के आत्मा मे वेदो का प्रकाश होने से छन्द नाम है। मन्त्र रचे नही जाते क्योकि अपौरुषेय है "महाभाष्यकार पतञ्जलि मुनि लिखते है कि 'नहि छन्दासि क्रियन्ते" ४।३।१०१॥ अर्थात् छन्द (वेद) या मन्त्र बनाये नही जाते। इस मे भी वेदो का अपौरुषेयत्व ही होना पाया जाता है।

रचना दो प्रकार की है, एक जीव की दूसरी ईश्वर की। जीव जो कुछ रचना करता है वह ईश्वर की रचना से सीखकर ही करता है परन्तु ईश्वर की रचना उसकी स्वाभाविक रचना है वह किसी से सीखना नहीं, इसलिये उसकी रचना मे मनुष्यकृत के समान कृत बुद्धि नहीं उपजती। जीव की रचना परमात्मा की रचित सृष्टि का अनुकरण है। ज्ञान भी दो प्रकार का है एक नैमित्तिक ज्ञान, दूसरा स्वाभाविक ज्ञान,। जीव इन्द्रियो द्वारा अपने तक जो ज्ञान पहुचाता है वह नैमित्तिक है, जब जीव अनुभव करता है तब उसका अनुभव सिद्ध ज्ञान होता है, वैसा ईश्वर को नहीं। ईश्वर सर्वज्ञ है और जीव अल्पज्ञ है। वेद अनुभव सिद्ध ज्ञान है अत पौरुषेय नहीं। वेद पवित्र ज्ञान है उसमे ईश्वरातिरिक्त अन्य किसी का ज्ञान सम्मिलित नहीं। जैसे गङ्गा का जो निर्मल जल हरिद्वार मे मिलता है—वही काशी में दूसरे प्रकार का हो जाता है—सारांश "वेद की अद्भुत रचना को देखकर भी विशेषकर सृष्टि के आरम्भ काल मे जब मनुष्यो को कोई अनुभव ऐसा भारी नही हो सकता था जैसा कि वेदो की रचना मे विज्ञानभरा कौशल पाया जाता है बस उसको देखकर बद्ध वा मुक्त दोनों प्रकार के जीवो मे से किसी मे भी उनके बनाने की योग्यता न पाई जाने से कृत बुद्धि नहीं उपजती, अतएव वेद पौरुषेय नहीं किन्तु अपौरुषेय ही है। इतिशम।
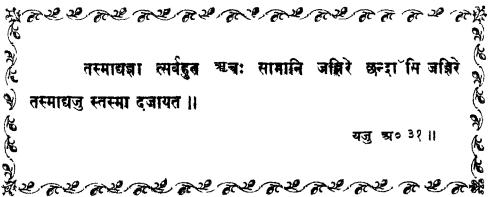
तस्माद्यज्ञा त्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजु स्तस्मा दजायत ॥

यजु अ० ३१ ॥

हे अनादि के आदि वचन !

ले० श्री द्विजेन्द्रनाथ मिश्र 'निर्गुण"

तुम अनादि के आदि वचन—
रूप हीन से देह तुम्हारी, है अभूल से जन्म सृजन।

(१) मोह मयी वसुधा, नभ मण्डल,
सागर तल 'औ' गिरि, कानन
इन से भी है परे तुम्हारा,
ध्यान, ज्ञान का प्रतिपादन।

इच्छा कहे अनिच्छा अथवा, विधि, निषेध का प्रतिपालन
करते अपने इंगित से ही सारे जग का सञ्चालन।
हे अनादि के आदि बचन !

(२) एक एक कर सदियाँ बीती
धीरे धीरे युग बीते।
कितनी बार विश्व कोलाहल,
कभी प्रलय के पल रीते !

तुम सतर्क हो उसी तरह, बस उसी तरह अविचल शासन !
एक दृष्टि से एक रूप मे कैसा है यह व्रत पालन ?
हे अनादि के आदि वचन !

(३) पाप पुण्य खेला, सुख दुख की
धूप छाँह, उत्थान पतन
चिर द्रष्टा ! तुम शून्य भाव से
देख रहे प्रति दिन प्रति क्षण !

कोई ऐसी युक्ति नहीं क्या ? किसी तरह हो जाय शमन
इस अनन्त से महा समर का शान्ति पर्व हो, चतुरानन ?
हे अनादि के आदि वचन !

(४) सुनते है यह क्षणिक खेल है
और नियन्त्रित है कण-कण
यह सब कुछ "कुछ नहीं" और फिर ?
कौतुक माया महाछलन !

तुम बहुज्ञाता ! बतलाओ, इसमे क्या सुख ? 'पल पल नर्त्तन' !
किस इच्छा से है विडम्बना ? हे निश्छल ! हे चिरपावन !
हे अनादि के आदि वचन !

वेद-विचार में मूलभूत नियम

ले० श्री मदनमोहन विद्याधर गुरुकुल काङ्गड़ी हरद्वार

(क)

[१] वेदों का महत्व

वेद भारतीयो के ही नहीं अपितु समस्त संसार के गौरव को बढ़ाने वाले हैं। इनमे मानव जाति का अनित्य इतिहास नहीं, इनमे तो संसार का नित्य इतिहास है। सृष्टि कैसे बनी किन तत्वो से बनी क्यो बनी, किसने बनाई? (१) इन सब नियमो की व्याख्या शुद्ध वैज्ञानिक प्रणाली से इसमे की गई है। मानव-जाति के लिये ऋत और सत्य (२) को अपने तप द्वारा उत्पन्न करते हुए स्रष्टा ने सामाजिक राजनैतिक एवं आर्थिक नियमो का प्रतिपादन किया है। आधिभौतिक तथा आधिदैविक उन्नति के मूलतत्व इसमे निगमित किये गये है। अध्यात्मविद्या का विकास इस हद तक इनमें दृष्टिगोचर होता है कि आश्चर्य से दाँतो तले अँगुली दबानी पड़ती है। इसमे की गई संसार की दार्शनिक एवं वैज्ञानिक व्याख्या पूर्ण रूप से भूत वर्तमान तथा भविष्य को मिलाती सी प्रतीत होती है। मानव बुद्धि जहां जाकर रुक जाती है और 'रहस्य' कह मौन साधती हुई 'द्विविधा मे दोनो गये माया मिली न राम' की कहावत को चरितार्थ करती है एवं किसी भी विषय मे अन्तिमपूर्ण-निर्णय करने मे असमर्थ हो 'धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्' कह चुप हो जाती है, वहां वेद अपनी निश्चित एवं पूर्ण सम्मति दे देता है। ऐसा ही 'पुरुषविद्याऽनित्यत्वात्कर्म सम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे' अर्थात् पुरुष का ज्ञान तो अनित्य है इसलिये कर्म का सम्पादन अन्तिम रूप से कराने वाले मन्त्र वेद मे हैं। हमारी और निरुक्तकार यास्क मुनि की भाषा ही भिन्न है, भाव एक है। वेद प्रत्येक विषय या समस्या के विषय मे अन्तिम निर्णय दे देता है। "इन्हे अपौरुषेय तथा नित्य मानों या न मानो इनके भावों की विशुद्धता, उच्चता एवं पूर्णता; इसकी गम्भीर ज्ञान चर्चा, इनका सरल रहस्य वाद इनसे इन्कार नहीं किया जा सकता। इसलिए वेद ही संसार के साहित्य में सर्वोच्च स्थान को प्राप्त किए हुए हैं।"

"चाहे किसी ने भी क्यों न बनाए हो, इनके महत्त्व को देख, इनके कर्त्ता के सामने श्रद्धा से नत मस्तक होना ही पड़ता है। इनके उपदेश त्रैकालिक है। इनमे प्रतिपादित वैज्ञानिक मूलरूप सचाइयाँ ज्ञान के पुस्तकालय की कुञ्जियां हैं और संसार के साहित्य मे सर्वप्रथम होते हुए ये ही ज्ञान के आदि स्रोत है। ३

(२) वेद और वर्तमान विद्वान्

(भारतीयो के मतानुसार) सृष्टि से लेकर अब तक आर्य जाति ने इन वेदो की रक्षा की और इनके विषय मे इतने लम्बे अर्से तक एक ही धारणा बनी रही कि ये अपौरुषेय एवं नित्य हैं। इनमें इतिहास नहीं है परन्तु १८वी सदी मे वेदो का अध्ययन पाश्चात्य संसार में भी होने लगा और उसके परिणाम स्वरूप दो नये विज्ञानो का आविष्कार हुआ। 'तुलनात्मक भाषा-विज्ञान' (Comparative study of languages) तथा 'तुलनात्मक धर्म-

---

१ नासदीय तथा सविता सूक्त।

२ ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत।

३ देखो 'धर्म का आदिस्रोत' तथा भारत में बाइबल नामक ग्रन्थ।

विज्ञान' (Comparative study of Religions) नामक इन दो महत्त्वपूर्ण विज्ञानों का उद्गम वेदों का अध्ययन ही है। इनके अतिरिक्त इस अध्ययन का एक यह भी महत्त्वपूर्ण फल निकला कि इसके विचारों से आश्चर्य-चकित एवं प्रभावित विश्व की नजर भारतीय सभ्यता पर गई और सभ्यता संस्कृति तथा धर्म की दृष्टि से भारतवर्ष ही सब से श्रेष्ठ माना जाने लगा। परन्तु साथ ही हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि जब से पाश्चात्य विद्वानों के सम्पर्क में वेद आये हैं और इनका भी वैज्ञानिक प्रणाली से अध्ययन तथा विवेचन प्रारम्भ हुआ है, तब से वेद विषम परिस्थिति में पड़ गये हैं। इस आक्षेप पर आक्षेप किये जाने वाले नाजुक समय से गुजरते हुए अपना महत्त्व दर्शाने के कारण वेद पुनः अपने उसी प्राचीन पवित्र गौरवपूर्ण पद के पास आ गये हैं। जिस यूरोप ने इन्हें पहली झाँकी में गडरियों के गीत कहा था, दूसरी झाँकी में (अपनी सम्मति के संशोधित संस्करण निकालते समय) उसी ने धीमी और हलकी आवाज में पहले तो इसके उदात्त विचारों को स्वीकार किया और फिर इन्हें ही मानव-जाति के ज्ञान के पुस्तकालय के सर्वप्रथम और सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ माना। अब कई पाश्चात्य विद्वान् ही इसे ईश्वरीय भी मानने लग गए हैं (१)। ठीक यही दशा आधुनिक एतद्देशीय विद्वानों की भी है। उनके सदियों से चले आ रहे विचारों में जो धक्का लग गया था, उससे अब वे संभल गए हैं। आश्चर्य तो यह है अब यूरोप वालों की दृष्टि में हमारे विद्वानों की अपेक्षा वेदों का ऊंचा स्थान है।

यदि उपर्युक्त प्रवृत्ति प्रबल रही और बढ़ती गई (हमारे विचार में तो ऐसा ही होगा) तो निश्चय ही भविष्य की मानवजाति के धर्मपुस्तक वेद ही होंगे। तब हम 'वेद' की भाषा में ही संसार को सम्बोधन कर कहेंगे—

पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति

(ख)

आज संसार के अनेक विद्वानों के अध्ययन का विषय वेद बने हुए हैं। इसी कारण 'नैको मुनी यस्य वचः प्रमाणम्' यह कहावत पूरी हो रही है। भिन्न २ प्रकार की विषम समस्याएँ भिन्न २ सम्मतियां तथा नाना विचार इनके विषय में उपस्थित हो रहे हैं। इन सब विषयों के निर्णायक मूल भूत तत्त्व अपनी समझ के अनुसार हम विद्वानों के सन्मुख पेश करना चाहते हैं। वेद के विषय में किसी भी प्रकार की सम्मति बनाने से पहिले कोई भी निर्णय करते समय निम्न बातों का ध्यान अवश्यमेव रखना चाहिये। इनको ध्यान में रखने से हम कई भ्रमों में पड़ने से बच सकते हैं

(१) वेदार्थ की मुख्य शैली

सबसे पहिले हमें यह देखना चाहिये कि वेद का अर्थ हो कैसे? उसके लिये कोई कोष निघण्टु को छोड़ कर तो है नहीं। प्राचीन ऋषियों ने वेद ज्ञान के लिये छन्द, कल्प, ज्योतिष, निरुक्त शिक्षा और व्याकरण (१) को साधन बनाया है और इन्हें वेद के उपांग बताया है अर्थात् इनको पढ़े बिना वेदार्थ समझना अत्यन्त कठिन है इनके का अध्ययन करने के बाद भी हमें वेदों से ही वेदों का अर्थ करना चाहिये(२) और फिर अन्य भारतीय वाङ्मय के अमर रत्नों से उसका पोषण करना चाहिये। वेद का कोष वेद है। (३) इस लिये

(१) Secret Doctrine Teachings of the Vedas,

१—छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुः निरुक्तं श्रोत्र मुच्यते॥
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात्सांग मधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते॥

२—देखो वैदिकधर्म वर्ष ७ अङ्क १ से ८ तक। तथा वैदिक विज्ञान वर्ष १ जनवरी सन् १९३३

३ जैसे 'अग्निमीडे' एक स्थान पर आया। किसी दूसरे स्थान पर 'अग्निंस्तौमि' आया। शेष मंत्र समान है, तो इसका यह अभिप्राय निकल आया कि ईडे का अर्थ स्तौमि है। इसी शैली पर निघण्टुकार से निघण्टुकोष का निर्माण किया है। इसका दूसरा नमूना भी देखना चाहिये। 'अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः। विश्वेदेवा अदितिः। ऋ. १। ८९। १०' यह वैदिककोष का एक दूसरा नमूना है।

वेद के विषय में किसी भी प्रकार का निर्णय करते समय वेदको मूलाधार बनाना चाहिये। हमारी अपनी सम्मति मे तो अन्यग्रन्थो की यदि उपेक्षा भी हो जावे तो कोई हानि नहीं। यह बात अन्य ग्रन्थों के विषय में भी लागू हो सकती है। गीता का अर्थ गीता से ही सुन्दर एवं पूर्ण होगा, अन्यग्रन्थो से कुछ सहयाता अवश्य ली जा सकती है।

इसी प्रकार अन्य भारतीय साहित्य भी को सहायता के तौर पर प्रयोग मे ला सकते हैं। उसका भी एक विशेष कारण है। वेद को ईश्वरीय मानने के कारण भारत के प्राचीन ऋषियों ने इन्हे पूर्ण सत्य तथा सब विद्याओं का स्रोत माना और अपने ग्रन्थों को इनके अनुकूल ही बनाने का प्रयत्न किया। आयुर्वेद, गान शास्त्र, ज्योतिष् स्मृतिशास्त्र उपनिषदें, ब्राह्मण आदि ग्रन्थ सारे के सारे वेदों से अपना निकास बताते हैं।

इसलिये वेद के विषय मे निर्णय करते समय इनका भी सहारा ले सकते हैं। वेद समझाने के लिये ही महाभारत कर्त्ता ने महाभारत की रचना की (१)वेदोंके अनुकूल ही मनु ने अपनी स्मृति बनाई है(२) और इन्हें ही सब धर्मों का मूल बताया है। (३)··· इन मनु महाराज के बचनों को शतपथकार ने भेषजों का भी भेषज बताया है।···(४) परन्तु स्वयं मनु का कथन है कि मुझ मे और वेदों में विरोध पड़ जाने पर सब को वेद का ही प्रामाण्य स्वीकार करना चाहिये। (५)·· तो नियम क्या बना ?

(अ) वेद से वेद के विषय में जानना और

(ब) वेद के विषय में अन्य ग्रन्थो से भी सहायता ले सकते है, पर वह पक्के तौर पर प्रामाणिक नही होगी। वेद से विरुद्ध होने पर वेदनिर्णय के समय वह त्याज्य माननी चाहिये।

(२) लौकिक तथा वैदिक संस्कृत में भेद

लौकिक संस्कृत के कोषों के अनुसार वेदो का अर्थ नहीं होगा अनर्थ हो जावेगा। जैसा कि पाश्चात्य विद्वानों तथा उव्वट महीधर आदि ने कर दिया। जहां अश्व शब्द आया नहीं कि घोड़ा अर्थ कर दिया। पिता शब्द देखा और 'बाप अर्थ (जनक) कर दिया, दुहिता को पढ़कर लड़की (जनकस्य तनया) कह दिया। इन अर्थों के आधार पर कई प्रकरण बड़े अश्लील बना दिये गये हैं। परन्तु वे यह बात भूल गये कि वैदिक तथा लौकिक संस्कृत मे आकाश पाताल का अन्तर है। एक पूर्व की ओर जाता है, दूसरा पश्चिम की ओर। कुछ मुख्य शब्दो को उद्धृत करते हैं॥

शब्द	वेद मे अर्थ	संस्कृत मे
गौः	पृथिवी, (निघण्टु १।१), वाणी (१।११); पशुमात्र (···पशुनामैवेह भवति··नै० क० द्वि० पा०); गोदुग्ध; गो चर्म निर्मित पात्र; चमड़ा, सरेस, ताँत । धनुष की डोरी, आदित्य, सुषुम्ना रश्मि, किरणमात्र, स्तोता	गौ (धेनु) तथा पृथिवी
चन्द्रः	सोना (अ० १ ख० २ निघ०), सोम	चन्द्रमा
अयः	सुवर्ण ,,	लोहा

१ भारत व्यपदेशेन ह्याम्नायार्थः प्रदर्शितः
२ यः कश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः। स सर्वोऽभिहितो वेदे·····॥अ० २।श्लोक ७।
३ वेदोऽखिलो धर्म मूलम्···मनु० २।६।
४ यत्किञ्चिन्मनुरवदत् तद् भेषजं भेषजतायाः। शतपथ।
५ श्रुतिस्मृति विरोधे तु श्रुतिरेव गरीयसी।

लोहम	,, ,,	,,
पृथिवी	पृथिवी, अन्तरिक्ष	ज़मीन
समुद्र	आकाश	समुद्र
वनम	किरण, जल	जल, जंगल
पयः	रात्रि, दूध, पानी	दूध पानी
मेघ	बादल तथा पर्वत	पर्वत
मातरः	नदियां	माता
अवनयः	,, पृ० अंगुलि	पृथिवी
पुरीषम्	पवित्रपानी	..... (अवाच्य)
पितुः	सूर्य, अन्न, पिता	पिता
सुतः	पुत्र तथा अन्न	पुत्र

इस प्रकार यदि हम कोष्ठक बढ़ाते जावें तो बहुत से पृष्ठ भर जावेंगे। इतना ही पर्याप्त है

(३) वेदों से ही सबने अपने नाम लिये

'सूर्यप्रकाश' की गति १ घण्टे में नियत कुछ मील की है। यहां सूर्यप्रकाश का अर्थ सूर्य का प्रकाश है। परन्तु सूर्यप्रकाश किसी व्यक्ति का नाम भी तो हो सकता है। मतिमान पुरुष कभी भी नहीं घबराते। यहां यह पुरुष का विशेषण है। 'परन्तु मतिमान' किसी का नाम भी तो हो सकता है। इसी प्रकार अपनी पुरानी कथाओं में से नाम लेकर लोग अपने अपने परिवार वालों के नाम रक्खा करते हैं। भारत-वर्ष में अब भी कई ऐसे परिवार होंगे जिनके क्रमशः नाम राम लक्ष्मण, भरत तथा शत्रुघ्न होंगे। किसी परिवार में पाँचो भाइयों के नाम पांचो पाण्डवों के नाम से होते हैं। 'प्रताप' कइयों का नाम हो सकता है। अभिप्राय यह कि "संसार अपने प्राचीन साहित्य में से नाम ले लेकर अपने नाम भी रखता है।"

संस्कृत में समासपद्धति के कारण सब विशेषण नाम जैसे ही प्रतीत होते हैं। 'मधुसूदनः कृष्णः' मधु१ अर्थात् सांसारिक पदार्थों का नाश करने वाला उन्हें दबाने वाला अर्थात् विषय भोगों से ऊपर उठा हुआ कृष्ण नामक व्यक्ति। परन्तु मधुसूदन किसी व्यक्ति विशेष का नाम भी तो हो सकता है। क्या अपने प्राचीन साहित्य में से नाम लेकर दुनियां अपने नाम नहीं रखती? यदि हां, तो आर्यजाति पर इस नियम को क्यों नहीं लगाया जाता है। वेद पढ़ने वालों ने 'मेधातिथि' नाम अवश्य सुना होगा, हमारे यहां अब भी एक मेधातिथि हैं। इसके मरने के बाद यदि पाठकों की आज्ञा हो तो हम भी वेदों में से इसका इतिहास निकाल देंगे।

इस सचाई को हमारे प्राचीन पुरुष समझ भी गये थे। मनु ने लिखा है कि सृष्टि के प्रारम्भ में वेद के शब्दों से ही सब के अलग-अलग नाम और कर्म्म नियत किए गये तथा पृथक् संस्थाओं का निर्माण किया गया।२

महर्षि व्यास ने महाभारत के बनाने का कारण वेद का स्पष्टीकरण ही बताया है। इसका अभिप्राय यह स्पष्ट है कि महाभारत से पहिले वेद था। तो यह समझ में नहीं आता कि श्रीयुत बङ्किमचन्द्र जैसे प्रसिद्ध स्वनामधन्य विद्वान भी क्यों वेदों में कृष्ण के नाम (उस महाभारतकालीन ऐतिहासिक व्यक्ति) की गणना करते हैं। प्रतीत तो यह होता है कि व्यास ने धर्म-ग्रन्थ वेद का अर्थ समझाने के लिए महाभारत युद्ध की उस ऐतिहासिक घटना को आधार में रख वेद बनाए परन्तु ऐतिहासिकों ने वेद में से ही महाभारत निकाल लिया। वेद में तो 'वसिष्ठ'

१ मधु = साँसारिक पदार्थ कठोपनिषद्।

२. सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक्-पृथक्

शब्द भी है तो क्या वसिष्ठ और कृष्ण एक समय हुए ? कई कहेंगे ये दोनो मन्त्र भिन्न-भिन्न समयो मे बने, परन्तु ऐसा भी नहीं।

यह सब झमेला इसी कारण है कि मनु की उपर्युक्त सचाई को सामने नहीं रक्खा गया। यदि इस सचाई को सामने रक्खे तो कई कठिनाइयों से बच सकते हैं। वेद के ऋषि तथा देवता क्या हैं ? सृष्टि के समय वेद बने या नहीं, इस समस्या का हल बड़ी आसानी से हो सकता है।

प्रसंगवश एक बात और भी कह देना आवश्यक समझते हैं। मनु १।२१ मे 'पृथक्संस्थाश्च निर्ममे'(१) ऐसा वचन भी है। इसको समझने से कई समस्याएं बड़ी सरलता से सुलझ जाती हैं। किन्हीं-किन्हीं ऋषियो के नाम जैसे गौतम रामायण मे भी आते है और महाभारत मे भी। इनको देख कर यह कहना कठिन है कि वेद रामायण के समय बने या महाभारत के। दूसरे इतनी लम्बी आयु तो किसी मनुष्य की होती भी नहीं। इसका हल ऊपर की पंक्ति है।

"मनुष्यों ने (ऋषियों ने) प्रारम्भ में अपनी अपनी संस्थाएं बनाईं जैसे शंकराचार्य के नाम पर आज भी मठ रूप से ४ संस्थाएं बराबर चली आ रही हैं, ठीक उसी प्रकार प्राचीन ऋषियो ने वेदो मे से लेकर अपने नाम धरे। पीछे उनकी गद्दी chair चल पड़ी और सब उत्तराधिकारी भी उसी नाम से कहे जाने लगे। ऐसा ही (यदि ब्रह्मा विष्णु महेश नामक कोई ऐतिहासिक पुरुष हैं तो) इनके विषय मे भी समझना चाहिये। भारद्वाज भी ऐसे ही व्यक्तियो की शृंखला का नाम है।"

४—सब नाम यौगिक हैं

नैयायिकों के अनुसार शक्त पद यौगिक, रूढ, योगरूढ़ तथा यौगिक रूढ़ इन चार प्रकारों वाला है। (१) उनमे से यौगिक का यह अभिप्राय है कि जहां अवयवों का भिन्न भिन्न अर्थ (प्रकृतिप्रत्यय का) मालूम हो वह यौगिक है। (२) जैसे चलने से गौ [गच्छतीति। गम्लृ गतौ]। ······पहले सब नाम यौगिक होते थे पीछे से वे ही यौगिक शब्द किसी विशेष अर्थ मे चाहे लक्षणा द्वारा चाहे किसी और प्रकार से 'रूढ' हो गये। ···यौगिक से इतना ही अभिप्रेत है कि वह विशेष अर्थ उस शब्द में घटना चाहिए। जैसे पृथिवी कस्मात् प्रथनात्। परन्तु आकाश को पृथिवी नहीं कहते, वायु को भी नहीं।

परन्तु यह लोकभाषा के विषय में है। वेद मे सब नाम यौगिक हैं। जर्मान को भी पृथिवी और आकाश को भी। इस लिये वैदिक शब्दों को योगिक मान कर ही वेदार्थ निर्णय का प्रयत्न करना चाहिये। अग्निः कस्मात् अग्रणी र्भवति। इसके अनुसार सब जगह अग्नि का अर्थ भौतिक अग्नि करने से बच सकते है। वैदिक शब्द अपने वाच्य अर्थ की योगवृत्ति (प्रकृति प्रत्यय, विवेचन) से बनते है। अतः इनको यौगिक मानने पर ही इनका वास्तविक अर्थ समझा जा सकता है। लोक मे तो लकीरचन्द्र को वलराम और श्वेताकृति को कृष्णचन्द्र कह सकते है, फकीर का नाम अमीरचन्द्र भी सुना ही होगा, परन्तु वेद मे आदित्य को सूर्य तब तक नहीं कहा जा सकता जब तक कि वह सरण=गति न करे। (५) सूरज को आदित्य(४)तभी कहा जावेगा जब कि वह

---

१. सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्, वेद शब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे ॥मनु अ १. श्लो २१॥

१—शक्तं पदं तच्चतुर्विधम्। क्वचिद्यौगिकं, क्वचिद्रूढं, क्वचिद्योगरूढं, क्वचिद्यौगिकरूढम्। ····कारिकावलि-शब्दखण्ड ८१ कारिका का भाष्य

२—यत्रावयवार्थ एव बुध्यते तद्यौगिकम्। का०; श० ख०; ८१ का०।"

३—सूर्यः सरणात्। सूर्यः सर्तेर्वा, सुवतेर्वा, स्वीर्यते र्वा। नि० उत्त० दै० का० १२ अ० २ पा० १५ ख० ६ शब्द० पं० चन्द्रमणि कृत निरुक्त भाष्य का १३३ पृष्ठ

४—आदित्यः कस्मात् ? आदत्ते रसान् आदत्तेभासं ज्योतिषां, आदीप्तो भासेति वा, अदितेः पुत्र इति वा। नैघ० काण्ड० २ अ०, ४ पा० १३ खण्ड।

प्रत्येक पदार्थ के रसों को अपनी रश्मियों द्वारा आ-रण करे, उदयकाल में अन्य सब ग्रहों की ज्यो-तियाँ हरण कर ले'''आदि २। वैदिक दृष्टि में शब्द अपने वाच्य अर्थ को प्रकृति तथा प्रत्यय के आधार पर बनाते हैं, इसीलिए सब वैदिक शब्द यौगिक हैं। प्रकृति तथा प्रत्यय के आधार पर ही 'असुर' शब्द का अर्थ प्राणदाता परमेश्वर है। लौकिक संस्कृत में तो राक्षस या पापात्मा को असुर कहते हैं।

इन शब्दों के यौगिकत्व को यास्क (१) पतञ्जलि मुनि(२)तथा ब्राह्मणकारों (३)ने भी स्वीकार किया है।

परन्तु वैदिक शब्दों के यौगिक मान लिये जाने पर एक ही शब्द के अनेक अर्थ हो जायँगे और किसी शब्द का कोई भी निश्चित अर्थ नहीं रहेगा। इसलिए इसके साथ साथ प्रकरण तथा विशेषण (४) का भी ध्यान रखना चाहिये। ''किसी विशेष पदार्थ या देवता का निर्णय यौगिक वृत्ति से कर लेना ही उचित नहीं, परन्तु प्रकरण, विशेषण तथा संगति के

१ निरुक्त उत्तरार्ध। यास्क भूमिका। प्र० १. अ० ४ पा०, ११ खण्ड० इस प्रकरण मे गार्ग्य के मत को कि सब नाम यौगिक नहीं हैं, उठाकर यास्क ने उसका खण्डन किया है।

२ अष्टाध्यायी ३-३-१ सूत्र पर कारिकाएं।

(३) शतपथ ब्राह्मण १४-८-४-१ ऐ० का० ६-५। ब्राह्मण व्याख्या करते हुए स्वतः शब्द की यौगिक व्याख्या करते है।

४ देखो परमलघुमंजूषा शब्द शक्ति विचार प्रक-रण १४ पृष्ठ पर। तदुक्तं हरिणा:—

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिंगं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः।
सामर्थ्यं मौचितीदेशः कालो व्यक्तिः स्वरादय।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेष स्मृतिहेतवः।
सैन्धवमानयेत्यादौ प्रकरणेन तद्''''''

देखो साहित्यदर्पण द्वितीय परिच्छेद व्यंजना-प्रकरण में यही है—प्रकरण का उदाहरण "सर्वं जानातिदेवः" इति देवो भवान् (वक्ता तथा श्रोता की बुद्धिस्थता प्रकरण)

आधार पर उस विशेष्य निर्दिष्ट पदार्थ का निर्णय करना चाहिये।

वेदों में इतिहास है या नहीं, वेदों का ईश्वरवाद, वेदों का समय, तथा ऋषि और देवता मन्त्रों को बनाने वाले हैं या इनका कुछ और ही तात्पर्य है आदि भिन्न भिन्न समस्याओं को सुलझाने मे यह नियम पर्याप्त सहायक सिद्ध हो सकता है।

(५) वेद किसी एक की रचना है

कुछ विद्वान वेदों को अपौरुषेय एवं नित्य मानते हैं। उन विद्वानों मे पाश्चात्य तथा एतद्देशीय दोनों देशो के विद्वान् हैं। हिन्दू जाति का विश्वास है कि वेद ईश्वरीय ज्ञान है। इसलिये इनके मत मे तो वेद किसी एक की रचना है और वह ब्रह्म है। ईश्वर ने सृष्टि के आदि में ब्रह्मा के हृदय मे वेदों को स्थापित किया। दूसरा मत है कि अग्नि से ऋग्वेद, वायु से यजुर्वेद सूर्य से साम तथा अङ्गिरा से अथर्व पैदा हुआ। इन्होंने भी स्वयं वेद नहीं बनाए, परमेश्वर ने इन समकालीन ऋषियो को ज्ञान दिया। इनसे यह स्पष्ट है वेद किसी एक ने बनाए हैं। भिन्न भिन्न व्य-क्तियो (ऋषियों) के गानो का संग्रह नहीं। अब कुछ प्रमाण पेश करते हैं।

वेद का अन्तः साक्ष्य

१'''सनातन जीवरूप प्रजा के कल्याणार्थ स्व-यम्भू परमेश्वर ने यथावत् वेद द्वारा सब विद्याओं का उपदेश दिया। १

२'' जिस परमात्मा से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्व वेद प्रकाशित हुए'' ।२

३'''ऋक्, यजुः साम तथा छन्द (अथर्व) को सर्वहुत यज्ञ से ' निकाला ।३

१ स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः यजु० अ० ४०, म० ८।

२ यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन्। अथर्व१०

३ तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥ यजुः ३१।७॥ ऋग्वेद में भी—

४...रथ नाभि मे आरां के समान जिसमें ऋग्यजुः साम केन्द्रित हैं। (४)

बनाने वाला चाहे कोई हो; इन वेद की साक्षियों से यह तो स्पष्ट है ही कि वेदों को किसी एक ने बनाया है। आर्यों के अनुसार परमात्मा ने सृष्टिरचना करते समय मनुष्यों के उपकारार्थ बनाया। परन्तु जो ऐसा नहीं मानते उन्हें, इतना तो मानना ही पड़ेगा कि वेद एक की ही रचना है।

ख०—अन्यप्रमाण

इस विषय में ब्राह्मण,१ उपनिषद्,२ स्मृति,३ पुराण४ भी उसी वैदिक मत की पुष्टि करते हैं। ये सारे प्रमाण वेद के कर्त्ता की ओर लक्ष्य करते हैं और इनसे सिद्ध होता है कि वेदों को किसी एक ने बनाया है।

---

४ यस्मिन्नृचः सामयजूँषि यस्मिन प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः। यजुर्वेद

१—एवं वा अरे अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः ॥श० प० का० १४ अ० ५; ब्रा० ४; कं० १० ॥ तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्ताग्ने ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्य्यात् सामवेदः ॥ श० प० ११।४।२।३॥ त्रयो वेदा अजायन्त ऋग्वेद एवाग्नेरजायत। यजुर्वेदो वायोः, सामवेदः आदित्यात् ॥ ऐतरेय ब्राह्मण ॥

२—अरे अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद् यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः॥ बृहदारण्यकोपनिषद् ॥ यो वै ब्राह्मणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ॥

श्वेता० अ६। म० १८॥

अग्नेर्ऋचो वायोर्यजूंषि सामान्यादित्यात् ॥ छा० उप० ॥

३—अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्। दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम् ॥ मनु० १।२३॥

४—ऋग्यजुःसामाथर्वाख्यान् दृष्ट्वा वेदान् प्रजापतिः, विचिन्त्य तेषामर्थं......ब्रह्म० वै० पु० (ब्रह्मखण्डे) षोडशोऽध्यायः।

ग०—अन्य युक्तियां

वेदों का अध्ययन (तथा मनन) हमें यह बतलाता है कि वेद किसी एक ने बनाए हैं। हम इस विवाद में नहीं पड़ते कि वह बनाने वाला परमेश्वर है या मनुष्य है। हमें तो इतना बताना है कि वेद किसी एक व्यक्ति ने बनाए हैं।

वेद मे विचारो की संगति इसका मुख्य कारण है। कहीं पर भी व्याघात दोष दृष्टि गोचर नहीं होता। व्याघाताभास कई स्थानों पर अवश्य है। परन्तु उनकी संगति भी वेद से ही लगती है। वेदों में बहुदेवतावाद के निर्देशक मंत्र भी हैं और एकेश्वरवाद के पोषक मंत्र भी। उनकी संगति वही अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्रमा.........वही प्रजापति है (५) इस मंत्र मे लग जाती है परन्तु व्याघात दोष वहीं पर होता है जहां कि भिन्न २ व्यक्ति लिख रहे हों। क्योंकि वेद उस दोष से मुक्त है, इस लिये किसी एक की रचना है।

अनृत दोष भी वहीं होता है, जहां कि भिन्न २ व्यक्ति लिखने वाले हों। वेदों में असंगत तथा अवैज्ञानिक वर्णन अभी तक तो किसी ने दर्शाए नहीं। जिनको ऐसा आभास मिला है वह आभास ही रहा है। अर्थ के गाम्भीर्य को जानकर उस का भी महत्व जान लिया जाता है। अनृत दोष नहीं है। इस लिये वे किसी एक की रचना हैं।

वेदों की वर्णन शैली एक सी है। उसकी रचना प्रणाली यह नहीं दर्शाती कि—ये भिन्न-भिन्न व्यक्तियो द्वारा बनाए गये हैं। एक जैसे शब्दो, वाक्य के टुकड़ों, वाक्यो तथा मन्त्रो का बार-बार आना यही साबित करता है। जैसे:—

तमाखुपत्रं राजेन्द्र भजमज्ञानदायकम्
तमाखुपत्रं राजेन्द्र भजमज्ञानदायकम् (१)

इस श्लोक की दोनो पंक्तियों की शब्द रचना एक सी है, परन्तु अर्थों मे भेद है। यह एक कवि

५—तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः (तदेव शुक्रंतद्ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः

(६) कुछ अन्य ऐसे वचन भी द्रष्टव्य हैं। शब्द रचना एक है। अर्थ में भेद है, जैसेः— P. T. O.

ही कर सकता है। ऐसे ही वेदो में कई मन्त्र बार बार आये हैं। वहां पुनरुक्ति नहीं है। अर्थ भेद है, पूरे के पूरे मन्त्र का अर्थ ही भिन्न है। ऐसा हमारा : है और ऐसा एक ही व्यक्ति कर सकता है।

इस प्रकार हमारा तो यही विचार है कि वेदो का कर्त्ता कोई एक व्यक्ति है, जिसने १६००० मन्त्रो में वेदों का विस्तार किया। २०००० मन्त्र पुनः-पुनः कई मन्त्रों के आने से है।

(६) वेद किसी एक समय में बने हैं

ऊपर हमने यह दर्शाने का प्रयत्न किया है कि वेदों का कर्ता एक है। इससे यह तो स्पष्ट ही है कि वेद बने भी किसी एक समय मे ही हैं। यह संग्रह प्रतीत नहीं होता। 'उस यज्ञ से चारो वेद निकले। (२) अर्थात् किसी विशेष समय मे कोई ... यज्ञ हो रहा था (यज्ञ के स्वरूप पर पुनः प्रकाश डालेंगे), उस समय मे चारों वेदों को बनाया गया। फिर यह प्रश्न हो सकता है कि उस यज्ञ के समय सब मन्त्रों का संकलन किया गया था और उनको चार भागो में बांट दिया गया था। तब यह प्रश्न उठेगा कि वेदों में एक जैसे मन्त्र बार-बार नहीं आने चाहिए। २०००० से अधिक मन्त्रो मे ४००० मन्त्र ऐसे हो जो पूरे के पूरे दो बार पढ़े गये हो। कुछ दो बार मे भी अधिक बार। और फिर मन्त्र के टुकड़े बार-बार आये हैं। एक भाव वाले मन्त्र भी हैं। संकलन मे ऐसा नहीं हो सकता। और दूसरे अग्नि ने ऋक्, वायु ने यजुः, सूर्य ने साम तथा अंगिरा ने अथर्व बनाए। ये चारों समकालीन थे, किसी यज्ञ के समय चारों वेदों का उद्भव होने के कारण ये चार ब्रह्मा के चार मुख है (कभी फिर व्याख्या करेंगे)। ब्रह्मा ने ही वेदों का उपदेश दिया है अभिप्राय यही निकला कि वेद एक ही समय में रचे गये हैं।

पाश्चात्य तथा कुछ एतद्देशीय विद्वानों के मतानुसार भिन्न २ समयों में भिन्न २ ऋषियों तथा देवताओं ने मन्त्रों का निर्माण किया। पीछे से किसी ने उनका संकलन कर दिया। यदि ऐसा मत माना जावे तो समयभेद तथा व्यक्तिभेद के कारण विचारो मे भिन्नता आना आवश्यक है क्योकि विचार समय, देश तथा व्यक्ति के अनुसार ही हुआ करते हैं। और कुछ नहीं तो झलक अवश्यमेव आ जानी चाहिये। परन्तु वेदो मे न तो किसी विशेष समय का ही और न किसी विशेष अवस्था तथा स्थान का ही वर्णन है। उसके वर्णन त्रैकालिक तथा सार्वभौम हैं। इसीलिये बेलजियम के प्रसिद्ध नाट्यकार कवि और दार्शनिक मैटरलिंक का अनुभव है कि:—"वेदो के अपूर्व विचार हमारी बुद्धि को चकित कर देते हैं। वे इतने साहस एवं विश्वास से बोलते है, जिसका हमारे अन्दर आज भी अभाव है। उनके विचार हमारे विचारो की अपेक्षा अधिक ठीक सिद्ध हुए हैं। कई ऐसे विषय भी है जिन पर भटक २ कर वर्तमान विज्ञान अब वेद मार्ग पर आया है।" १ ...

तथा श्री विनायक चिन्तामणि वैद्य लिखते है कि:- "वेद केवल मानवीय हृदय से सम्बन्ध रखने वाला प्राचीन धर्म ही नहीं अपितु यह बात सर्वमान्य है कि वेद मानवीय विवेक की आध्यात्मिक पराकाष्ठा भी है, उनमे दैवी प्रतिभा का विकास सर्वत्र प्रतिभासित होता है।" २ ....

विकाशभीयुर्जगतीशमार्गणा,
विकाशमीयुर्जगतीशमार्गणा.
विकासमीयुर्जगतीशमार्गणाः,
विकाशमीयुर्जगतीशमार्गणाः ।

॥किरात १५ सर्ग।५२॥

घनं विदार्यार्जुनबाणपूगं संसार बाणोऽयुगलोचनस्य
घनं ,, ,, ,, कि० १५।५०।
स्यन्दना नो चतुरगाः सुरेभा वा विपत्तयः
स्यन्दना ,, ,, ,, कि० १५।१६

(२) तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्मा द्यजुस्तस्मादजायत।

1- The great secret-

२, गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी के २४ वे वार्षिकोत्सव मे ४ अप्रेल १६२६ को दिया गया 'दीक्षान्त अभिभाषण'। पृ० १-२।

यह विचारों की एकता यही सिद्ध करती है कि वेद किसी एक समय मे ही बने हैं। वेद का अच्छी प्रकार से गहरा मनन करने पर (अध्ययन मात्र से ही नहीं) यही मत निकलता है। किसी एक मंत्र या कुछ हिस्से को देख कर यह कहना कि वेद भिन्न २ ऋषियो ने भिन्न २ समय मे रचे ऐसा ही होगा जैसे कि रजाई मे बाहर एक टांग देखकर कोई उस व्यक्ति को लंगड़ा कह दे।

(७) व्यक्ति रूप से वर्णन

वेद मे सब वस्तुओ का वर्णन व्यक्ति रूप से किया गया है, इसी लिये कवि होकर हम कह सकते है कि वेद के शब्द मानो कुछ बोलते हैं, मौन नही हैं। जैसे पृथिवी का वर्णन करना है। उस वर्णन मे 'पृथिवी' के साथ वेद मे वे सारे व्यवहार किये जाते हैं जो कि चेतन व्यक्ति के साथ किये जाते हैं।

निरुक्त उत्तरार्ध के दैवत काण्ड की यास्क भूमिका मे 'देवतारूप चिन्तन' प्रकरण में ऐसा ही कुछ सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है। 'देवता' चेतन शक्तियां नही है। वह अचेतन हैं। वेद मे भौतिक तथा अन्य प्राकृतिक शक्तियाँ—(जो कि चेतन या व्यक्ति रूपधारी नहीं हैं) व्यक्ति मानकर उनका वर्णन किया गया है और वैसे ही इनके पारस्परिक सम्भाषण हैं; (१) इनकी पुरुष सदृश अंगो के साथ स्तुति की गई है, (२)

ख—कुछ अन्य वर्णन

मन्यु का अर्थ आत्मगौरव किया गया है। आत्माभिमानी पुरुष के गुस्से का नाम अर्थात् उसकी तेजस्विता या प्रचण्डता का नाम मन्यु है। ऋ० १०। ८३, तथा ८४ सूक्त में इस मन्यु की बड़ी सुन्दर मनोवैज्ञानिक व्याख्या की गई है।

ऋ० १०।१८ मृत्युसूक्त में 'मृत्यु' को फटकारा गया है। 'हे मृत्यु जो तेरा देवयान से विभिन्न अतिरिक्त एक अपना ही मार्ग है, उस दूसरे मार्ग का अनुसरण करती हुई—हम से तू दूर हो जा। आँख और कान वाली तुझ से मैं यह कहता हूँ कि हमारी प्रजा को नष्ट मत कर और हमारे वीर पुत्रों को नष्ट मत कर। १

अथर्व के प्राण सूक्त मे लिखा है कि—[औषधियां जिन पर वर्षा हो चुकी है उस समय वर्षा से यह कहती है कि] "हे प्राण तू हमारी आयु को बढ़ा। हम सब को सुगन्धित कर दे।" २

ऋ० १०।१५१ श्रद्धा सूक्त है। उसमे लिखा है कि—"हे श्रद्धे! दान देने वाले के लिये प्रिय हो। तू देने की इच्छा करने वाले के लिये प्रिय हो। दूसरों को भोग कराने वालो और यज्ञ सम्पादन करने वालों मे अर्थात् इन दोनों के हृदयों में तू प्रिय हो। मेरे लिये इस उदय को करो अर्थात् अपना मेरे मे भी उदय करो; मुझे भी श्रद्धावान बनाओ। ३

मेधा के लिये भी वेद मे बहुत स्थानो पर ऐसा ही वर्णन किया गया है। "जिस मेधा की देवगण और पितर उपासना करते है, उसमे मुझे भी युक्त कर।"४

---

१. चेतनावद्धि स्तुतयो भवन्ति, तथाभिधानानि। यथा ऋचो यमयमी सूक्ते संभाषणमुपलभ्यते (ऋ-१०। १०)॥

२. अथापि पौरुषविधिकैरंगैः संस्तूयन्ते—यथा ऋश्वात इन्द्र स्थविरस्य बाहू उपस्थेयाम शरणा बृहन्ता। ऋ-६। ४७। ८

उताभये......यन्संगृभ्णा मघवन् काशिरित्ते ऋ-३। ३०। ५

१ परं मृत्यो अनुपरे हि पन्थां यस्ते स्व इतरो देवयानात्
चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमि मा नः प्रजां रीरिषो मोत वीरान्॥ १०।१८।१

२ अभिवृष्टा ओषधयः प्राणेन समवादिरन्।
आयुर्वै नः प्रातीतरः सर्वा नः सुरभीरकः।
अथ०। ११ का०। अनु० २। सूक्त ४॥

३ प्रियं श्रद्धे ददतः प्रियं श्रद्धे दिदासतः।
प्रियं भोजेषु यज्वस्विदं म उदितं कृधि॥

४ यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते।
तया मामद्य मेधयाऽग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा॥

"भूः मेरे सिर को भुवः हमारे नेत्रों को स्वः कण्ठ को, महः हृदय को, जनः नाभि को, तपः पैरों को, और सत्यं दुबारा सिर को पवित्र करो" ऐसा वर्णन भी वेद में है। १

ऋ० १०।१६४ 'दुःस्वप्नघ्न' सूक्त में दुष्ट संकल्प पर डांट पड़ रही है। "हे मन को वश मे करने वाले! मन को पतित व कुमार्ग पर करने वाले दुष्ट संकल्प! दूर हो, भाग, दूर होते हुए पाप से कह दे कि मुझ चौकन्ने पुरुष का मन अन्य बहुत से कामों में लगा हुआ है।" २

इस प्रकार हम इन सजीव वर्णनों से उस शैली की व्यापकता को और भी भली प्रकार से समझ सकते है। ये कोई प्राकृतिक शक्तियां या पदार्थ नहीं अपितु 'गुण' हैं। इनके साथ भी व्यक्ति से किया जाने वाला व्यवहार किया है।

उपसंहार

वेद के विषय में किसी प्रकार का निर्णय करने के लिये सात बाते बताई गई है। इसके अनुसार

१ ओं भूः पुनातु शिरसि। ओं भुवः पुनातु नेत्रयोः, ओं स्वः पुनातु कण्ठे, ओं महः पुनातु हृदये ओं जनः पुनातु नाभ्यां। ओं तपः पुनातु पादयोः। ओं सत्यं पुनातु पुनः शिरसि······॥

२ अपेहि मनसस्पतेऽपक्राम परश्चर।
परो निर्ऋत्या आचक्ष्व बहुधा जीवितो मनः॥

हम किसी भी विषय का निर्णय कर सकते हैं। संक्षेप मे वे ७ कसौटियां निम्न हैं:—

वेदों की मुख्य शैली। वेद से वेद का निर्णय करना। तथा अन्य साहित्य को गौण रूप से सहायक समझना।

२ लौकिक तथा वैदिक संस्कृत मे भेद है।

३ वेदो मे से भी नाम लेकर अपने २ नाम रक्खे गये है।

४ वैदिक सब शब्द यौगिक हैं।

५ वेद का निर्माता, चाहे परमेश्वर हो और चाहे कोई ऋषि हो, कोई एक है। यह गीतों का संग्रह नहीं।

६ वेदो का निर्माण भिन्न भिन्न समयो मे नहीं हुआ। ये किसी एक ही निश्चित समय मे बने हैं।

७ सब प्राकृतिक शक्तियां, पदार्थों तथा गुणो का व्यक्ति के समान वर्णन है।

हर एक विषय को इन सातों कसौटियों पर परखना चाहिये। सब का सब मे काम नहीं। जो न तो विरोध ही करें और न पोषण ही, उसे किसी विषय के निर्णय मे छोड़ा भी जा सकता है। परन्तु यदि कोई विवाद ग्रस्त विषय पर ठीक उतरती और एक उसका विरोध करती है तो उस विषय को सन्दिग्ध ही समझना है।

वेद के ऋषि

ले०—श्री प० धर्मदेव शास्त्री सांख्य-योग-वेदान्त-तीर्थ (देहरादून)

वेद का सत्यार्थ जानने के—लिये देवता-ऋषि-छन्द-स्वर-आदि का ज्ञान आवश्यक है। प्राचीन आचार्यों ने इसको वेदार्थ--ज्ञान के लिये परम आवश्यक कहा है--

"यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दोदैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वाऽध्यापयति वा, स्थाणुं वर्च्छति गर्ते वा पद्यते, प्र वा मीयते पापीयान् भवति यातयामान्यस्य च्छन्दांसि, भवन्ति, तस्मादेतानि मन्त्रे विद्यात्" (सा० आ० ब्रा० १ प्र० १ ख०)

अर्थात् जो (वेदार्थ करने वाला पुरुष) किसी वेद मन्त्र के ऋषि-देवता-छन्द को तथा उस मन्त्र पर किये गए ब्राह्मण के अर्थ को न जान कर यज्ञ कराता तथा पढ़ाता है, एवं स्वयं पढ़ता है, वह पत्र पुष्प हीन वृक्ष से सुमधुर फल की आशा करता है; गड्ढे मे गिरता है और अर्थ का अनर्थ कर बैठता है। वह प्रभु के ज्ञान की हिंसा करता है तथा हिंसित होता है। वह पापी है। उसका पढ़ा-पढ़ाया-यातयाम है--व्यर्थ है--उपयोग योग्य नहीं।" इति। अतः मन्त्र का अर्थ करने से पूर्व उस मन्त्र के-ऋषि-देवता-आदि का ज्ञान आवश्यक है। देवता का ज्ञान मन्त्रार्थ करने मे सहायक है, ऐसा तो वेद के स्वाध्यायी-विद्वान पुरुष जानते ही हैं—परन्तु मन्त्रार्थ करने में ऋषि का ज्ञान भी आवश्यक है—इस पर सम्भवतः सभी विश्वास न करेंगे।

ऋषि पर नवीन विचार

नवीन पाश्चात्य पद्धति के विचारकों का इस सम्बन्ध में यह विचार है कि सर्वानुक्रमणी आदि ग्रन्थो मे जिस मन्त्र का जो ऋषि लिखा है वह उस मन्त्र का कर्त्ता है। वे अपने मत की पुष्टि से निम्न युक्तियां उपस्थित करते हैं—

[१] वेदो की भाषा, भाषाविज्ञान की दृष्टि से भिन्न काल की प्रतीत होती है। जैसे ऋग्वेद की भाषा और अथर्ववेद की भाषा में तथा—स्वयं ऋग्वेद के प्रथम-दशम-एवं बीच के मण्डलों की भाषा मे बहुत भेद है. अतः भिन्न २ समय में मन्त्रो के कर्ता तत्तद् ऋषि होते रहे ऐसा प्रतीत होता है।

[२] मन्त्र का जो ऋषि ऋष्यनुक्रमणी मे निर्दिष्ट है मन्त्र मे भी स्वयं वही नाम आ जाता है।

[३] स्वयं वेद मे तथा ग्रन्थो में ऋषियो को मन्त्रकृत—मन्त्रकर्ता—आदि कहा गया है—जैसे ऋ० ६। ११४। २

"ऋषे मन्त्रकृतां स्तोमैः कश्यपोद्वर्धयन गिरः।

इस मन्त्र मे मन्त्रकृत-और कश्यप-दोनो पद इसके पोषक है—इत्यादि.

ऋषिदयानन्द का मत—

ऋषि दयानन्द ने प्राचीन आचार्यों के सिद्धान्तानुसार इस बात की स्पष्ट घोषणा की है कि ऋषि मन्त्रो के कर्ता नहीं, वेद तो नित्य है, वह ईश्वरीय ज्ञान है—

"अनादि निधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा"

परन्तु जिस विद्वान् ने वेद के जिस मन्त्र अर्थ वा प्रकरण का आशय सबसे प्रथम समझा और उसका प्रचार किया वह उसका ऋषि कहलाया। ऋषि कहते हैं—

"यतो वेदानामीश्वरोक्त्यनन्तरं येन येनर्षिणा यस्य यस्य मन्त्रस्यार्थो यथावद्विदितस्तस्मात्तस्य तस्योपरि तत्तदृषेर्नामोल्लेखनं कृतमस्ति। कुतः। यैरीश्वरध्यानाऽनुमहाभ्यां महता प्रयत्नेन मन्त्रार्थस्य प्रकाशितत्वात्। तत्कृत महोपकारस्मरणार्थं तन्नामोल्लेखनं प्रति मन्त्रस्योपरि कर्तुं योग्यमस्त्यतः।

(ऋग्वेदादि भा० भू० पृ० ३५२)

अर्थ स्पष्ट है।

जो लोग ऋषियों को मन्त्र कर्ता कहते हैं—उनसे इतना कहना पर्याप्त होगा कि—जिन स्थलों में मन्त्र-कर्ता-मन्त्रकृत आदि पद हैं—वहाँ 'कृञ् धातु' दर्शन, अर्थ में प्रयुक्त हुई है। कृञ् धातु के बहुत अर्थ होते हैं ऐसा स्वयं महाभाष्यकार पतञ्जलि मुनि ने स्पष्ट कहा है—महाभाष्य १।३।१—

"करोतिर्भूतप्रादुर्भावे दृष्टः निर्मलीकरणे चापि वर्तते। पृष्ठं कुरु, पादौ कुरु, उन्मृदानेतिगम्यते। निक्षेपणे चाऽपिवर्तते, कटे कुरु, घटे कुरु। इत्यादि"

यहाँ कृ का अर्थ निर्मलीकरण और निक्षेपण भी पतञ्जलि मुनि ने माना है। व्याकरण का तो एक प्रसिद्ध सिद्धान्त भी है—

"धातूनामनेकेऽर्थाः" धातुओं के अर्थ अनेक हैं। इसके अतिरिक्त 'कृ-का—अर्थ दर्शन, सायण ने भी किया है "ऋषिरतीन्द्रियार्थद्रष्टा मन्त्रकृत-करोतिर्धातुस्तत्र दर्शनार्थः, अर्थात् मन्त्रकृत का अर्थ मन्त्र द्रष्टा है।

दूसरा—भाषा विज्ञान के आधार पर वेदों की उत्पत्ति विभिन्न समयों में मानना भी अनैकान्तिक है। जो अथर्ववेद सरल समझा जाता है उसी में ऋग्वेद के कई स्थलों की अपेक्षा अधिक जटिल और कठिन भाषा है। तात्पर्य यह है कि ऋषि मन्त्रों के कर्ता नहीं द्रष्टा हैं। मीमांसा दर्शन में भी मुनि जैमिनि ने यही कहा है—

आख्या प्रवचनात्

भिन्न भिन्न ऋषियों का जो विभिन्न वेद मन्त्रों के साथ सम्बन्ध बताया जाता है वह कर्तृत्व के कारण नहीं अपितु प्रवचननिमित्तक है, दर्शन और व्याख्यान ही उसका निमित्त है।

ऋषि दयानन्द के सिद्धान्त की व्याख्या अथवा अपना विचार

'ऋषि, का क्या अर्थ है इस पर मैंने स्वतन्त्र रीति से भी कुछ विचार किया है—मेरा विचार है कि ऋषियों के नाम भी यौगिक हैं, जिस गुण योग से जो नाम रक्खा गया है—उसका आधान कर लेने के अनन्तर ही किसी पुरुष को वेद के मन्त्रों का साक्षात् करना चाहिए। यास्क मुनि ने भी अपने निरुक्त ग्रन्थ में लिखा है कि ऋषि हुए बिना वेदार्थ करने का अधिकारी नहीं हो सकता—अतः मेरे विचारों में मन्त्रों के ऊपर ऋषियों का निर्देश मन्त्र द्रष्टा को मन्त्र दर्शन से पूर्व आवश्यक योग्यता सम्पादन का निर्देश करता है, और यह बात है भी ठीक। वेद को हम सब विद्याओं का पुस्तक मानते हैं। अतः वेद में आई हुई किसी भी विद्या को वही जान सकता है जिसका उस विद्या में प्रवेश है। जो उसके सम्बन्ध में आवश्यक जानकारी नहीं रखता—वह तो अर्थ का अनर्थ कर बैठेगा। इसी से कहा है—बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति।" रासायनिक विज्ञान का तत्त्व वही जान सकता है, जिसका उसमें आवश्यक प्रवेश है। इसीलिए वेद मन्त्रों के ऋषि प्रायः वही हैं जिनका उल्लेख मन्त्रों में भी आ गया है। यास्काचार्य ने भी ऋषि का यही लक्षण किया है—ऋषिर्दर्शनात्-तपदेनांस्तपस्यमानान् ब्रह्मस्वयम्भ्वभ्यानर्षत् तदृषी णामृषित्वमिति विज्ञायते, अर्थात् ऋषि मन्त्र द्रष्टा को कहते हैं, अर्थात् जो मन्त्र देखेगा, जिसमें मन्त्र देखने की योग्यता आगई है, वह ऋषि है। तपस्या करते हुए जिन को स्वयम्भू-नित्य-वेद का साक्षात् हुआ वही ऋषि कहलाये। देवता का लक्षण करते हुए निरुक्त के सप्तमाध्याय में यास्काचार्य ने देवता और ऋषि का भेद स्पष्ट किया है—

"यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायां मार्थपत्य मिच्छन् स्तुति प्रयुङ्क्ते तद्देवतः स मन्त्रो भवति,, नि०अ० ७ अर्थात्—मन्त्र में जिस विषय की स्तुति है—निरूपण है वह उसका देवता है। और जो मनुष्य उस देवता का—विषय का—अर्थपति-अर्थ निरूपण के कारण पति-स्वामी बनना चाहता है जिसमें उसका प्रवेश होता है, वह ऋषि है। ऋषि का अर्थ ऐसा करने में यह भी कारण है कि-प्राचीन आर्य नाम के इच्छुक न थे। कई प्राचीन ग्रन्थों के कर्त्ता का तो निश्चित पता ही नहीं मिलता।

वेद के एक ऋषि विश्वामित्र भी हैं। इसका अर्थ है संसार का मित्र। परन्तु यह अर्थ तब ही

हो सकता है जब यह वेद के ऋषि का नाम हो, अन्यथा दुनिया का शत्रु, यह अर्थ होगा।

यदि वेद के ऋषियों के नाम रूढ़ समझे जाएं तो ऋषि का नाम उन पर 'विश्वमित्र, ही निर्दिष्ट रहना चाहिए। नाम तो वही निर्दिष्ट रहेगा जो मन्त्र निर्माण से पहिले होगा। वेद में ऐसे भी स्थल हैं जिनके देवता अनेक हैं। इसी प्रकार ऐसे भी मन्त्र हैं जिनके ऋषियो का विकल्प है।–रूढिवाद मे ये दोनो संगत नही। यौगिक वाद के आश्रयण से तो किन्हीं मन्त्रो का साक्षात्कार सामूहिक रूप मे ही हो सकता है, तथा किन्हीं को विभिन्न दृष्टिकोण से भी देखा जा सकता है।

इस सम्बन्ध मे मैंने वेद की अन्त साक्षिया भी सकलित की हैं—परन्तु लेख के लम्बा होने के भय से इसे यहा ही समाप्त करता हूँ।

ये मेरे विचार भगवान् दयानन्द के विचारों की व्याख्या मात्र हैं। यदि ऋषि का उपर्युक्त तात्पर्य स्वीकार किया जाए तो वेदार्थ करने में बहुत सहायता होगी ऐसा मेरा अनुभव है।

अथ वेदस्तुतिः

[रचयिता—श्री प० दिलीपदत्तजी उपाध्याय]

निःश्वासरूपो ननु यो भवस्य
प्रोक्तो बुधैः ससृति सभवस्य।
कर्त्तव्य सम्पत्ति विबोध दक्ष
नमामि वेद सुकृतैकरक्षम् ॥१॥

समस्त ससार हित प्रदाने
सामर्थ्यवान योऽथ यथार्थ माने।
त दिव्य रूप तिमिर प्रभेद
नमामि वेद कृत ताप भेदम् ॥२॥

समुक्त कण्ठ यनयो महान्त
शसा यदीया कलयन्ति सन्त।
तमीश्वर ज्ञान निधि सुभक्त्या
सभावये वेदमह च रक्त्या* ॥३॥

यत प्रवृत्तं भुवनत्रयस्य
व्यापार जातं सकलस्य चास्य
यो मुक्ति भुक्ति प्रतिपत्ति हेतु —
वेद प्रणम्य स भवाब्धि सेतु ॥४॥

* अनुरागेणेत्यर्थः ।

"यास्कीय वेदार्थशैली और महर्षि दयानन्द"

लेखक—श्री० आचार्य पं० बलवीर शास्त्री साहित्योपाध्याय आयुर्वेद शिरोमणि आयुर्वेदाचार्य
गुरुकुल महाविद्यालय (वैद्यनाथधाम)

भारतवर्ष की अतुल सम्पत्ति वेद हैं। वैदिक सभ्यता का आधार स्तम्भ एवं जीवनमूल्य श्रुति ही है। आर्य जाति से यदि वेद भगवान् का कोई विशेष सम्बन्ध न रहे, तो जाति का गौरव एवं अस्तित्व ही नष्ट हो जावेगा। इसी लिये महर्षि दयानन्द ने आर्यसमाज का तृतीय नियम निर्धारित किया कि "वेद का पढ़ना पढ़ाना, सुनना सुनाना आर्यों का परम धर्म है"। महर्षि दयानन्द जानते थे कि आर्य जाति का जीवन वेदोद्धार पर ही निहित है, इसी लिये उन्होंने इस नियम को बहुत महत्व दिया। ऋषि दयानन्द ने वेदार्थ करने की जिस शैली का अनुकरण किया वह नैरुक्तो की है। यास्क से पूर्व अनेक निघण्टु तथा निरुक्तकार हो चुके हैं जैसा कि दुर्गाचार्य ने अपने भाष्य के आदि में उल्लेख किया है।

"निरुक्तं चतुर्दश प्रभेदम्" निरुक्त १४ हैं। यास्काचार्य ने भी निरुक्त में १२ आचार्यों का नाम निर्देश किया है। यास्काचार्य ने निरुक्त की उत्पत्ति का कारण लिखा है कि "उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषु. वेदं च वेदाङ्गानि च" इस से ज्ञात होता है कि वेदार्थ की ठीक २ व्युत्पत्ति जानने के लिये ही निरुक्त का निर्माण हुआ है।

निरुक्त ने वेदार्थ करने के लिये "अयं मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहोऽभ्यूढोऽपि श्रुतितोऽपितर्कत." मन्त्रों की अर्थश्रुति को अर्थात् परम्परागत अर्थ के श्रवण को तथा तर्क को निरूपित किया है। "न तु पृथक्त्वेन मन्त्राः निर्वक्तव्याः, प्रकरणश एव तु निर्वक्तव्याः नह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसो वा" "मन्त्रों की व्याख्या प्रकरण के अनुसार करनी चाहिये। जो मनुष्य ऋषि भी नहीं तपस्वी भी नहीं, वह सम्यक् साक्षात्कार मन्त्रों के अर्थों का नहीं कर सकता"। निरुक्तकार ने ब्राह्मण से उद्धृत अंश को लेकर वेद की व्याख्या करने के लिये तर्क को ऋषि मानकर उसकी महत्ता को सर्वोपरि स्वीकार किया है। "मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन् को न ऋषिर्भविष्यति इति। तेभ्य एतं तर्कमृषिं प्रायच्छन् मन्त्रार्थ चिन्ताभ्यूहमभ्यूढम्, तस्माद्यदेव किंचिदभ्यूहत्यार्षं ह तद् भवति"। "ऋषिगण के चले जाने पर मनुष्यों ने देवताओं से पूछा कि हम लोगों का ऋषि कौन होगा। उन्होंने उन्हें मन्त्रार्थ का विचार करने के लिये उस तर्क ऋषि को दिया, अतः तर्क से वेदज्ञ ऋषि जो निश्चय करता है, वह आर्ष होता है"। संक्षेप में वेदार्थ करने के निरुक्त ने तीन साधन बतलाये (१) श्रुति (२) तर्क (३) तप, इन साधनों ही से मनुष्य वेदार्थ ज्ञान में समर्थ हो सकता है। इस शैली का ही प्रतिपादन ऋषि दयानन्द ने अपने भाष्य में किया है। यास्काचार्य ने भी तप तथा तर्क इन दो साधनों को महत्व दिया है। ऋषि दयानन्द तपस्वी भी थे, तथा पूर्ण तार्किक भी इसीलिये ऋषि दयानन्द प्रतिपादित शैली मान्य है। वैदिक शब्दों की अनेक व्याख्यायें हो सकती हैं, परन्तु ऋषि दयानन्द की व्याख्या में अन्यों की अपेक्षा यही अन्तर है कि वह यौगिक हैं, रूढ़ एवं योगरूढ़ नहीं। वेद के "अश्विनौ" शब्द के भिन्न भिन्न अर्थ हैं। स्वः और पृथिवी यह एक मत है, दिन और रात यह दूसरा, सूर्य और चन्द्र यह तीसरा और ऐतिहासिक पक्ष है कि ये दोनों धर्मात्मा राजा थे। इसी प्रकार वृत्रासुर युद्ध का वर्णन है। निरुक्तकार कहते हैं कि इन्द्र से वायु तथा वृत्र से मेघ समझना चाहिये। इन्द्र और वृत्र का युद्ध क्या है, वैज्ञानिक वर्षा का वर्णन है।

"तत्को वृत्र. मेघ इति नैरुक्ता', त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिकाः, अपां ज्योतिषश्च मिश्रीभावकर्मणो वर्षकर्म जायते, तत्रोपमार्थेन युद्धवर्णा भवन्ति। "प्रश्न होता

है, वृत्र कौन है, नैरुक्त कहते हैं; मेघ है, तथा ऐतिहासिक लोग कहते हैं कि त्वाष्ट्र असुर का नाम वृत्र है, और उसकी लड़ाई का वर्णन है, जो कि इन्द्र से हुई थी, नैरुक्तो का मत है कि जल तथा विद्युत आदि के मिश्रण से वर्षा का कर्म सम्पादित होता है।" जहाँ पर निरुक्तकार ने ऐतिहासिक पक्ष से अर्थ किया है, वहाँ पर "ऐतिहासिका." शब्द से उसकी व्याख्या की है। ऋषि दयानन्द ने वैदिक शब्द तथा वैदिक मन्त्रो के यौगिक अर्थ करके तमसाच्छन्न अन्धकार युग मे प्रकाशस्तम्भ का कार्य किया। वैदिक जगत् के विचारों मे क्रान्ति की लहर पैदा कर दी। वसिष्ठ शब्द का अर्थ ऐतिहासिक ऋषि नहीं अपितु प्राण है या श्रेष्ठ, अथवा जो फैला हुआ बसता है, इसी लिये वसिष्ठ प्राण को भी कहते हैं। कान का नाम विश्वामित्र है क्योंकि कान से सब सुनते है। इसी से सब के मित्र होते है। ऋषि दयानन्द इसी आधार पर जितनी भी व्यक्तिवाचक संज्ञाएं (proper names) हैं, उन्हे यौगिक मानते है। मैक्समूलर ने भी वैदिक शब्दों के लिये (Fluid) द्रवीभूत शब्द का प्रयोग किया है। वेद मे कुछ आख्यायिकायें भी आती हैं। यदि उनका अर्थ शतपथ ब्राह्मण व निरुक्त की प्रक्रिया के अनुसार किया जावे, तो पूर्ण संगत होता है। इन्द्र और अहल्या की कथा को पुराण वालों ने कितना दूषित किया है परन्तु ऋषि दयानन्द ने शतपथ ब्राह्मण के आधार पर स्वरचित ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका मे सिद्ध किया कि इन्द्र शब्द का अर्थ सूर्य, और अहल्या शब्द का "अहः लीयते यस्यां सा अहल्या रात्रिः" रात्रि अर्थ है। गोतम नाम है चन्द्र का, सूर्य के उदय होने पर सूर्य जार कर्म करके रात्रि को भगाकर ले जाता है। रात्रि का चन्द्रमा के साथ अविच्छिन्न सम्बन्ध है। यही वर्णन है जिसका वैदिक शब्दो की ऐतिहासिक व्याख्या करने वालो ने अनर्थ कर दिया। ऋषि दयानन्द ने यास्कीय प्रक्रिया के अनुसार वेद मन्त्रों के युक्तियुक्त अर्थ किये हैं। आज पाश्चात्य विद्वान भी धीरे धीरे उसी शैली का अनुकरण करने लगे हैं। सम्प्रति अनेक संस्थाये भी इसी शैली पर वैदिक साहित्य के अनुसन्धान मे संलग्न हैं।

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।
योऽर्थज्ञः स सकलमेव भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञान विधूत पाप्मा॥

"निरुक्त"

\+ ÷ + ÷

भावार्थः—वेदो को पढ़कर उनके अर्थ को न जानने वाला व्यक्ति चन्दन भारवाही खरवत् है। अर्थज्ञ ही पाप रहित हो कर समस्त स्वर्गीय सुख भोगता है।

वेदार्थ में कठिनता

ले० श्री प०—चन्द्रकान्त जी वेदवाचस्पति, आचार्य गुरुकुल सोनगढ़

वेद का महत्व

वेद आर्य जाति की जान हैं। आर्यों के साहित्य, कला, संस्कृति और धर्म के एक २ अंग में वेदों की गहरी छाप है। आज भी एक २ हिन्दू बच्चा इनके सामने अपना सिर झुकाता है। कारण यह है कि वेद प्राचीनतम काल से मनुष्य समाज के भिन्न २ भागो को उनकी योग्यता के अनुसार ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास की सीढ़ियों से चरम उद्देश्य तक ले जाते रहे है। आर्यों का मन्तव्य है कि सृष्टि के सुनहरे उषाकाल मे अग्नि वायु आदित्य आदि चार (१) ऋषियों के पवित्र हृदयों में दया से द्रवीभूत हुए जगन्नियन्ता (२) न स्वाभाविक ज्ञान और संसार के गुह्य नियमो (मन्त्र— Secret ideas) * का प्रकाश किया है। इन्ही गुह्य सत्य नियमो का समन्वय, चारो संहिताओ म, दीखता है। इन्ही नियमो को पद्य, गद्य तथा मिश्रित, त्रिविध रचना मे गूथ कर "त्रयी" (३) नाम भी दिया गया है। वस्तुत संसार की प्रत्येक रचना (४) मे त्रयी है। ऋक, यजु और साम है। यही कारण है कि संसार की हर एक साहित्य (५) रचना भी त्रयी रूप से रची गई है। लेकिन वैदिक रचना की विशेषता अन्य रचनाओ की अपेक्षा यह है कि यह

१—ऐ-ब्रा-५।३२. श०प०ब्रा०११-५-८-१ छा०उ० तेपां तप्यमानानां रसान्प्राबृहदग्नेर्ऋचो वायोर्यजू षि सामान्यादित्यात्।

ऋ० १०-७१३-, १-१४७-४.

(२) अ० वेद १०-२३-६. य. ३१-७. ऋ. ३-१० श. प. ब्रा. ७-५-२-५२. तै. ब्रा. ३-३६-१. म. भा. शान्तिपर्व १२-१२०.ऋ. १०-६०-१.अ० १२-४-३८. १६-५४-३. १०।७।२०. यजु. ४०।८, ३१।८. मनु १।३.

(३) स एतां त्रयी अभ्यतपत छा. उ. श. त. ब्रा. ७।३।२।५२ हरिपुराण १११५।१६.।

रचना की दृष्टि से वेद तीन हैं विषय तथा ग्रन्थ संहिता की दृष्टि से चार हैं।

(४) हर एक रचना का आकार ऋक् है। यह छन्दोरूप है क्योंकि उस रचना को अन्य रचनाओ मे पृथक करता है। रचना का प्रभाव क्षेत्र साम है, रचना के घटक अवयवो को मिलाने वाली प्राण शक्ति यजु है। (श. प.ब्राह्मण)

(५) पारसी धर्म पुस्तकों मे तीन प्रकार की Nasks या Nosks हैं (१) जासानिक (२) हाड्क मासरिक (३) दादीक.

ईसाई मत मे (१) पेन्टाम्यूक (२) प्रोफेट्स (३) Psalms

बौद्ध मत मे (१) सूत्र पिटक (२) विनय पिटक (३) अभिधम्मपिटक. सम्भवत इन धर्म ग्रन्थो के तीन विभाग उपर्युक्त दृष्टि से ही होगे।

* ऋषिर्दर्शनात स्तोमानददर्शेत्यौपमन्यव। ऋषयो मन्त्रद्रष्टयो मन्त्रान्सम्प्रादु' नि० १।२.

तद्यदेनांस्तपस्यमानान ब्रह्मस्वयम्भ्वभ्यानर्षत् तदृषयोऽभवन तदृषीणां ऋषित्वम् (१२७ पृ०) नि.

दैवतकाण्डे—एव मुखावचैरभिप्रायैर्ऋषीणां मन्त्रदृष्टयो भवन्ति। नि.

इसी प्रकार अनुक्रमणिकाओ तथा बृहद्देवता आदि ग्रन्थो मे भी इन्ही आशयो वाले लक्षण दिये गये है। संसार के सत्य नियमों को समझकर आचार मे घटा कर प्रचार करने वाला "आचार्य" होता है, इन नियमो का Philosophisation (मनन) करना मुनियो का काम है पर इनका साक्षात्कार (Realisation) करना ऋषियों का काम है।

विज्ञान * के समस्त नियमो के अनुकूल है, बुद्धि-पूर्वक है तथा देश और काल की सीमा से नितान्त ऊपर है।

यह जानकर ही समस्त ऋषियो और विद्वानों ने वेदो को ही ईश्वरीय ज्ञान की कोटि मे रक्खा है। (१) इन वेदों का प्रत्येक मनुष्य के लिए आदेश है कि वह इस सारस्वत मे सार्थक स्नान किया करे। मनुष्य ऋग्वेद से निर्मल ज्ञान, यजुस्संहिता से पवित्र कर्म और सामवेद से परमात्मा की उपासना के ज्ञान को प्राप्त करके अथर्व से (२) आत्मा के ज्ञान मे विलीन होता है। पवित्र ज्ञान, प्रशस्त कर्म और आत्मोपासना के द्वारा अन्तःशुद्धि के अनन्तर ही ब्रह्म ज्ञान हुआ करता है। इस प्रकार यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि वैदिक ज्ञान मनुष्य समाज को अन्तिम उद्देश्य तक ले जाने वाला है। सम्भवतः इसीलिये संसार के मानव समुदायों ने किसी न किसी रूप मे वैदिक भावनाओं के स्रोत (३) मे स्नान किया है।

वेद अस्पष्ट हैं

लेकिन इतिहास से यह भी स्पष्ट है कि समय समय पर किन्हीं अपरिहार्य कारणो से विद्वान लोगो को भी वेद अज्ञेय और अस्पष्टार्थक प्रतीत हुए हैं। उदाहरण के लिए (१) "सुत्तनिपात" के "ब्राह्मणधम्मिक" सुत्त मे एक कथानक है जिसका सारांश यह है कि एक समय विप्र लोग अपने धर्म से गिर गये, वे मनमाने मन्त्र ग्रन्थन करने लगे और मन्त्र-ग्रन्थन करते-करते इक्ष्वाकु राजा के पास जा पहुँचे (ते तत्थमन्ते गन्थेत्वा ओक्काकं तदुपागमुम) और राजा से यज्ञ के लिए प्रार्थना करने लगे।

* श. प. ब्रा. १४।५।४।१०, १०।४।२।२१-२२. तै. ब्रा. ३।१०।११।३,४. मनु. १।२१, १२।९७।१००.

व्यास सूत्र—शास्त्रयोनित्वात्'''अनेक विद्या स्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत्सर्वार्थावद्योतिन' सर्वज्ञ कल्पस्य'''''''''

*—मंत्र (मत्रिगुप्तपरिभाषणे)

प्रार्थना सुन कर राजा ने पांच महायज्ञ(४)आरम्भ किये जिनमें कि पशु का वध भी किया गया।

इस कथा से स्पष्ट है कि गौतम बुद्ध की सम्मति में कम से कम इक्ष्वाकु के समय से ही वेदों का अनर्थ प्रारम्भ हो गया था और वैदिक-विचार पशु-हिंसा से कलुषित हो रहे थे।

२—यास्काचार्य रचित निरुक्त के १.१३ में (न्यूनातिन्यून ४०० या ५०० B. C. के लगभग) कौत्सने (५) पूर्वपक्ष उठाया है और वेदो की अनर्थकता में निम्न युक्तियां उपस्थित की हैं जिनका हम अति संक्षिप्त उल्लेख करते हैं।

(क) वेदो मे बहुत अधिक असंगत बातों का वर्णन है।

(ख) वेदो में परस्पर विरोध पाया जाता है।

(ग) सर्वसाधारण जिन बातो को जानते हैं उनका भी वेदो मे उल्लेख है।

(घ) अनेक असंभव बातें भी पाई जाती हैं।

(ङ) वेद अत्यधिक अस्पष्ट हैं।

(१) ऋग १०।७१।४-५, ६१, १६४, ६६, श० प० ब्रा० १४।७।२३, नि०१।१७,

ऋ १०।७१।५, सुश्रुत सूत्रस्थान चतुर्थाध्याय-"यथा खरश्चन्दन भारवाही भारस्य वेत्तानतु चन्दनस्य। एवं हि शास्त्राणि बहू न्यधीत्य चार्थेषु मूढाः खरवद्वहन्ति ॥

(२) ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के "वेद विषय विचार" "तथा प्रश्नोत्तर विषय" नामक प्रकरणों को देखो, गो० १–४ अथार्वाङ्केनमेतास्वेवाप्स्वन्विच्छेति, तयाद्वाश्रीद्यार्वाङ्केतमेबास्वेवाप्स्वन्विच्छेति तदथर्वाऽभवत्"

(३) देखो Fountain head of religions गंगाप्रसाद चीफ जज रचित

(४) "अस्समेध, पुरिसमेध, सम्मापास; वाजपेय; निरग्गला" विस्तार के लिये "संयुत्तनिकाय" के "कोमलसंयुत्त" प्रथमवर्ग को देखो।

(५) कौत्स द्वारा वेदों के अनर्थक कहे जाने में हमें निम्न कारण प्रतीत होता है। P. T. O.

उपरिलेखित युक्तियां स्पष्ट हैं। निरुक्त मे इनको उदाहरणों से स्पष्ट किया गया है। उन्हे यहां पर देने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती है। यद्यपि पूर्वपक्ष की इन युक्तियो का सुन्दर समाधान यास्काचार्य ने अपने निरुक्त मे कर दिया है तो इतना भी तो निश्चित है कि यास्क के समय मे भी वेदो की अनर्थकता के विषय में विचार उठते रहे थे। एक और उदाहरण लीजिये—

टि०—गत पृष्ठ से आगे

—वैदिक साहित्य के इतिहास मे एक समय विनियोगों की प्रधानता हुई। इसको हम 'विनियोग काल" कह सकते हैं। इस काल मे मंत्रों की रक्षा के लिये विधियों का निर्माण, किया गया। परन्तु बहुत सी विधियो के साथ मंत्र जोड़े तो गये लेकिन उनका ठीक ठीक मेल न हो सका। उस समय मंत्रों को बदलना या बनाना असम्भव कार्य था। इसलिये सार्थक या निरर्थक जिस किसी तरह मन्त्रो का विधियों से मेल कराया गया (यह बात विधियों को मुख्यता देने पर ही बन सकती है विधियां जहां मन्त्रो की रक्षक थीं वहां स्वयं मन्त्रों की सहायता से रक्षा के योग्य समझी गईं) जब विधि और मंत्रार्थ मे संगति न लग सकी तब अपने मत को युक्तियुक्त बनाये रखने के लिये मंत्रों को ही अर्थ रहित कहना प्रारम्भ कर दिया। कहने लगे कि वेद के मंत्रो का वैदिक अर्थ कोई नहीं हैं वे तो उच्चारण मात्र से ही अदृष्ट पैदा करते हैं। मंत्रो का प्रयोजन देवताओ के आराधन तथा संतुष्टि के लिये ही है। मांत्रिक सम्प्रदाय वालो की ऐसी ही सम्मति है। ऐसा ही भाव १।२। ३१ "तदर्थशास्त्रात्" (जै० मंत्राधिकरण) के शबरभाष्य में भी ध्वनित होता है "उच्चारणमात्रेणो पकुर्वन्ति" इत्यादि। यद्यपि कौत्स के समय मे वेद शब्द से मंत्र तथा ब्राह्मण दोनों का ग्रहण होता था (मंत्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्) तो भी याज्ञिक सम्प्रादय में अधिक रुचि के कारण उन्होंने मंत्रभाग को अर्थ रहित समझा, ब्राह्मणभाग को नहीं।

याज्ञिक होने से उनका ब्राह्मणभाग को सार्थक समझना स्वाभाविक है। परन्तु मंत्रभाग में हर प्रकार से भक्ति रखते हुये भी उसकी दुरवबोधता के कारण वे मंत्रो के अर्थ को इष्ट ही न समझते हों—अर्थात उनकी राय में मंत्र अनर्थक हों यह भी कम स्वाभाविक नहीं है। जैमिनि मंत्राधिकरण के १।२।३१ सूत्र के शबरभाष्य मे कौत्स से "अथापि ब्राह्मणेन रूपसम्पन्ना विधीयन्ते" से उक्ति की तुलना करके कौत्स का ब्राह्मणग्रन्थो के लिये पक्षपात देखा जा सकता है।

आचार्य सायण भी "तस्मान्मंत्रा उच्चारणेनैवानुष्ठानमुपकुर्वन्ति" यह लिखकर इसी बात को पुष्ट करते हैं। उपरिलिखित निरुक्त ग्रंथ पर दुर्गाचार्य ने भी "तस्मादनर्थका मंत्राइति पश्याम" ऐसा लिखा है। इनकी सम्मति मे मंत्रों का महत्व विनियोग के लिये ही है। और विधिप्रतिपादक ब्राह्मणग्रंथ विशेष आदरणीय है। और भी देखिये—

"नियतवाचो युक्तयो नियतानुपूर्व्या भवन्ति" (जै० म० १।२।३१ "वाक्य नियमात्" तथा इसपर शबरभाष्य "नियतपदक्रमा: हि मंत्रा: भवन्ति" से तुलना करो) इस वचन में कौत्स मंत्र को अनर्थक इसी दृष्टि से बताना चाहता है कि मंत्र का वास्तविक स्वरूप उसकी अर्थवत्ता मे नहीं है बल्कि वर्णानुपूर्वी (Syllables) भी अपरिवर्तनता में है। इसबात को यास्क ने दबी जबान मे माना भी है 'अन्यथा' वे (अन्य युक्ति से खंडन न करते हुये, पितापुत्रो का लौकिक उदाहरण देकर इस विषय का मंडन ही क्यो करते? जैमिनि ने भी १।२।२४ "अविरुद्ध परम्" मे क्रमजन्य अदृष्ट माना ही है।

इन बातो से हमे प्रतीत होता है कि याज्ञिको ने विधिग्रंथ ब्राह्मणों के पक्षपात मे बंधकर मंत्रो के अर्थों को इष्ट हीन समझकर मंत्रानर्थक्य का पक्ष रखा है। इसी प्रकार "अथाप्यनुपपन्नार्था:" "अविस्पष्टार्था:" आदि वाक्य संदेहात्मक प्रवृत्ति के सूचक नहीं हैं। लेकिन इस बात के सूचक हैं कि कौत्स को मंत्रों के अर्थ ही इष्ट न थे। वस्तुत: कौत्स की वेदो के प्रति आस्था कम न थी।

(३) यास्क के परवर्ती जैमिनि मुनि ने "मन्त्राधिकरण" में मन्त्रार्थ के विषय में विवेचन करते हुए मन्त्रों की अनर्थकता का पूर्व पक्ष कुछ सूत्रों में रक्खा है. सूत्र निम्न हैं:—

(क) तदर्थशास्त्रात् १.२.३१
(ख) वाक्यनियमात् १.२.३२
(ग) बुद्धशास्त्रात् १.२.३३
(घ) अविद्यमानवचनात् १.२.३४
(ङ) अचेतनोऽर्थबन्धात् १.२.३५
(च) अर्थविप्रतिषेधात् १.२.३६
(छ) स्वाध्यायवदवचनात् १.२.३७
(ज) अविशेषात् १.२.३८
(झ) अनित्यसंयोगान्मन्त्रानर्थक्यम् १.२.३९

ये सूत्र तथा इन पर शबर स्वामी का भाष्य; अर्थविरोध, अज्ञेयता, अनित्यता आदि अनेक हेतुओं के आधार पर मन्त्र भाग को अनर्थक प्रतिपादित करते है। इन सूत्रों की व्याख्या से हमे यहां प्रयोजन नहीं है। बतलाना केवल यह है कि जैमिनि मुनि के समय मे भी वेदो की अनर्थकता के विषय मे विचार उठते रहे हैं। यही तक नहीं बल्कि.—

(४) संवत (१३७२-१४४४) मे होने वाले आचार्य सायण ने ऋग्वेदभाष्योपक्रमणिका मे मन्त्रों की अनर्थकता का पूर्वपक्ष रक्खा है। उसका रूप निम्न है:—

"तत्र मंत्राः केचिदबोधकाः" अम्यक्मात इन्द्र-ऋषिरित्येको मन्त्रः" इत्यादि लिखते हुए निम्न हेतुओं से मंत्र भाग के अप्रामाण्य के पूर्व पक्ष को स्थापित किया है:—

अबोधका मन्त्राः

(क) संदिग्धार्थबोधकत्वात्=
(ख) विपरीतार्थबोधकत्वात्=
(ग) व्याघातबोधकत्वात्=
(घ) लोकप्रसिद्धार्थानुवादित्वात्=
(ङ) अनधिगतार्थगन्तृत्वाभावाच्च=

उपरिलिखित प्रतीकें अत्यधिक स्पष्ट हैं। इनमें भी आचार्य यास्क के निरुक्त से मिलते जुलते हेतुओं के आधार पर मन्त्र भाग को निरर्थक सिद्ध करने का युक्तिजाल रचा गया है जिसके विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं है।

ऊपर दिये गये प्रमाणों से यह बात स्पष्ट है कि चिरकाल से इक्ष्वाकु, कौत्स, जैमिनि और सायण आदियों के सम्मुख भी थोड़े २ परिवर्तनों के साथ मन्त्रों की अनर्थकता के विचार उठते रहे हैं; वेद दुर्बोध समझे जाते रहे हैं। इसलिये वेदों की निरर्थकता तथा अज्ञेयता का प्रवाद कोई आधुनिक युग का ही विलक्षण प्रवाद नहीं है प्रत्युत, बहुत काल से इतिहास के पृष्ठों में अङ्कित है। इस प्रवाद का समाधान आज भी वही है, जो यास्क; सायण तथा जैमिनि ने किया है। तथापि एक स्वाभाविक प्रश्न पैदा होता है कि यदि वेद मनुष्यमात्र के लिये हैं तो वे इतने सरल तथा हृदयङ्गम क्यों नहीं कि साधारण मनुष्य भी इन्हे आसानी से ठीक २ रूप में समझ सकें? इसका क्या कारण है?

उपर्युक्त विषय की समीक्षा के लिए उचित है कि हम वेद के ज्ञान में उत्पन्न होने वाली बहिरंग व अन्तरंग बाधाओं का निर्देश करें। वेद के गुह्य आशय को समझना अन्तरंग परीक्षा है, लेकिन वह तब तक नहीं हो सकती जब तक बहिरंग परीक्षा न की जाय। किसी भी पदार्थ के विषय मे हम दो प्रकार से विचार कर सकते हैं। एक तो पदार्थ की प्रकृति क्या है? वह कैसे उत्पन्न हुआ? उसकी रचना, स्रोत तथा इतिहास क्या है? और दूसरा यह कि उस पदार्थ का अपना महत्त्व क्या है? पदार्थ या किसी पुस्तक के विषय में दोनों प्रकार के विचार प्रायः मिले जुले ही हुआ करते हैं। ठीक इसी प्रकार वेद के वास्तविक तात्पर्य को समझने के लिये इसके साहित्य, भाषा, समय, कर्त्ता और परिस्थिति आदि का ज्ञान भी उतना ही आवश्यक है जितना कि इसके अन्तर्गत रहस्यों का ज्ञान।

साधारणतया प्रत्येक प्राचीन विषय के सम्बन्ध में मनुष्य का ज्ञान अधूरा होता है। हिब्रू भाषा के धुरन्धर विद्वान् अपने धर्मग्रन्थ (Psalms तथा Prophets) के समझने में शताब्दियों से लगे हुए हैं। लेकिन आज भी ये ग्रन्थ उतने ही अस्पष्ट

चले हैं जितने कि पहिले थे। ग्रीक विद्वान् होमर को स्पष्ट करने में अपनी प्रतिभा का पर्याप्त चमत्कार दिखा चुके हैं लेकिन बावजूद शताब्दियों की कोशिशों के, आज भी, होमर का कोष स्पष्ट नहीं हो सका है। यह बात तो उन भाषाओं की है जो बहुत प्राचीन नहीं है। फिर वेद और वेद की भाषा (जोकि स्वयं इतनी प्राचीन हैं जितनी कि सृष्टि) के विषय में तो कहना ही क्या ? भाषाभेद, वाक्य विन्यासभेद, अलंकार, कल्पना और व्याकरण भेद से भिन्न होने से वैदिकवाङ्मय का पूर्ण पारायण कठिन तो क्या असंभव सा हो गया है। अब हम अधिक विस्तार में न जाकर संक्षेप से दो तीन कठिनाइयों का निर्देश करते हैं:—

(१) सब से प्रथम वेद की भाषा सम्बन्धी कठिनता है। हमें यहां पर यह विचारने का अवसर नहीं है कि वैदिक भाषा दूसरी भाषाओं की माता है या बड़ी बहिन है। लेकिन यह तो प्राय सब स्वीकार करते हैं कि वैदिक भाषा यौगिक होने से प्रवाही है, अवग्रहात्म है तथा नाम और आख्यात के रूपों से धनी है। लेकिन आज जहां पर इस भाषा के ज्ञान के साधन व्याकरण (Vedic grammar) और कोष आदि ग्रन्थ हमें पर्याप्त रूप में उपलब्ध नहीं होते वहां पर इससे भी बढ़कर एक और कठिनता है। वह कठिनता वैदिक संस्कृत और सामान्य संस्कृत में भेद न करने से पैदा होती है। दोनों प्रकार की संस्कृत में पर्याप्त साम्य भी है और भेद भी। वेद का अर्थ करते हुये यदि इस सत्य को भुला दिया जाय तो अनेक अनर्थ पैदा हो जाते हैं। इसलिए केवल लौकिक संस्कृत के ज्ञान के आधार पर ही वेद का अर्थ करना सर्वथा अनुचित है। जिन किन्हीं पाश्चात्य विद्वानों ने इस बात पर ध्यान नहीं दिया है उन्होंने वेदार्थ को सरल बनाने के स्थान पर नीरस ही बनाया है। तुलनात्मक भाषाविज्ञान की दृष्टि से तो वैदिक भाषा के समझने में साधारण संस्कृत (Classical Sanskrit) संभवतः उतनी सहायक नहीं हैं जितनी कि जिन्दावस्ता की जन्द भाषा। भाषाविज्ञान की दृष्टि से संभवतः लौकिक संस्कृत का वैदिक-भाषा से उतना साम्य तथा सामीप्य नहीं है जितना जन्द भाषा का। इस विषय को अधिक स्पष्ट करने की आवश्यकता है। इस स्पष्टीकरण के लिये सब से प्रथम Vedic वैदिक संस्कृत तथा Classical (लौकिक संस्कृत) का (contrast) भेद देखना उचित है। इस विषय में V S Ghate की Lecture" on rigveda पुस्तक की भूमिका का निम्न उद्धरण ध्यान देने योग्य है:—

"Though the dialect of the Veda or more particularly the Rigveda is essentially Sanskrit still it differs from the latter in many considerable respects, so much so that to a student of classical Sanskrit pure and simple, the Vedic language would be almost Greek and Latin. The Vedic Sanskrit, If I may so call it, is much simple more regular and less artificial than the classical Sanskrit. The forms of *declension* and conjugation are more regular in character though more varied at the same time. Sandhis are simpler and far more intelligible, The infinitive mood, for instance, has not less than six forms in the Veda, whereas in later Sanskrit, we have only one form (× what I want to say here is that the Vedic Sanskrit is much older than the later Sanskrit that it provides us with many links which are otherwise Obscure, though without them no certain conclusions can be arrived at ×)"

इस उद्धरण का भाव यह है कि वैदिक संस्कृत लौकिक संस्कृत की अपेक्षा अधिक सरल नियमित तथा स्वाभाविक है, Declension विभक्ति तथा conjugation (रूपकरण) के स्वरूप वैदिक संस्कृत में अधिक नियत हैं, वैदिक भाषा की संधियां सरल तथा सुस्पष्ट हैं, वेद में Infinitive mood के ६ रूप

हैं जहां लौकिक संस्कृत मे केवल एक है। कहने का तात्पर्य यह है कि लौकिक संस्कृत तथा वैदिक संस्कृत मे पर्याप्त भेद है। कालिदास के समय भी संस्कृत को जानने वाले मनुष्य के लिये वैदिक संस्कृत दुरूह बनी रहे, इसमे कोई आश्चर्य की बात नहीं है। एक "पुरीष" शब्द को ही लीजिये। लौकिक संस्कृत को जानने वाला इस शब्द को सुन कर नाक भौं सिकोड़ने लगेगा। अर्थ पूछने पर संकोच और घृणा का भाव दिखलायगा। बहुत मुश्किल मे कहेगा कि इसका अर्थ "विष्टा" है मल है। वैदिक संस्कृत से जो तनिक भी परिचित हैं वह इस शब्द को सुनकर झट कह उठेगा कि इसका अर्थ पानी है। (नि० १।२२ पुरीषं जलं पृणातेः पूरयतेर्वा—यह पालन करता है इससे वृद्धि होती है) यदि किसी मंत्र मे "पुरीषं" शब्द को दोनो ही देख ले तो लौकिक संस्कृत को जानने वाले के पास तो मंत्र की दुर्गति करने के सिवाय कोई चारा नहीं परन्तु वैदिक संस्कृत का पंडित मंत्र का सुन्दर संगत अर्थ लगा सकेगा और वेद के अनर्थ से बच सकेगा। एवं दोनो भाषाओ के अन्य अनेक शब्दो के अर्थों मे भेद को सूक्ष्म रीति से देखे बिना वेद का अर्थ करना अनुचित तथा अस्वाभाविक है। यह तो हुई दोनों भाषाओ मे भेद की कथा। जहां दोनों में भेद है वहां दोनों मे साम्य भी है। दोनो में तुलना भी की जा सकती है और यह भी समझा जा सकता है कि साधारण संस्कृत की अपेक्षा वैदिक भाषा पर्याप्त पुरानी होगी। दोनों भाषाओं को तुलना करने से हम इस परिणाम पर भी पहुंचते हैं कि भाषा और विचारो का विकास स्थूलभाव से सूक्ष्मभाव की तरफ होता है। इस विषय को समझाने के लिये [V. S. Ghate] ने "कुप्" "रम्" और "शम्" धातुओं के उदाहरण दिये हैं।

उदाहरण के लिये "कुप" धातु को ही लीजिये। ऋग्वेद में 'कुप धातु भौतिक गति Physicalmotion के लिये प्रयुक्त हुई है। ऋग्वेद २-१२-२ में इन्द्र के लिये "पर्वतान्प्रकुपिता अरम्णात्" लिखा है। अर्थात् इन्द्र ने हिलते हुवे पर्वतों को दृढ़ बनाया है। यह इसका शाब्दिक सामान्य अर्थ है। यहां केवल "कुप" धातु का "भौतिक गति" अर्थ ध्यान देने योग्य है। इसी "कुप" धातु से "कोप" बनता है। जिसका सम्बन्ध मानसिक गति (mental agitation) से है। और चूंकि मन को गति में लाने वाला प्रबलभाव क्रोध (anger) होता है इसलिए कोप" शब्द का अर्थ लौकिक संस्कृत में "क्रोध" समझा गया है। भौतिक गति के अर्थ मे प्रयुक्त "कुप्" धातु का later sanskrit (परवर्ती संस्कृत) मे क्रोध Anger हो जाना इस बात का चिन्ह है कि वैदिक से लौकिक भाषा में आते हुवे धातु का अर्थ सूक्ष्म रीति से परिवर्तित हो जाता है। फिर यही "कोप" शब्द लौकिक संस्कृत मे भी भौतिक गति के (Physical agitation) अर्थ मे आलंकारिक रूप मे प्रयुक्त हुवा है। "कुपितो मकरध्वजः" मे "कुप्" धातु का लक्षण से यदि गति अर्थ समझा जावे तो "मकरध्वज" शब्द का अर्थ "समुद्र" करना होगा। इस अवस्था में "समुद्र हिल गया" यह अर्थ संगत भी हो जाता है और कुप्" धातु भी उसी अर्थ मे प्रयुक्त हो जाती है जिस अर्थ मे मूल, वैदिक भाषा मे प्रयुक्त हुई थी। अस्तु। इस प्रकार हमने यह देखा है कि वैदिक तथा लौकिक संस्कृत एक ही नहीं है। उनमे जहां साम्य तथा सम्बन्ध है वहां पर भेद भी बहुत अंशों में हैं। इस लिये वेद के अर्थ के समझने में केवल सामान्य संस्कृत का ज्ञान ही पर्याप्त नहीं है। क्योंकि बहुत स्थानों पर सामान्य संस्कृत उतनी सहायता नहीं देती जितनी अन्य भाषायें, विशेषतः जन्द भाषा। इस कथन को स्पष्ट करने के लिये हम निम्न उदाहरण उपस्थित करते हैं—

(१) "Haug" नामक पाश्चात्य विद्वान् ने अपनी पुस्तक "Essays on the sacred language, writings and religion of the Parsis" में निम्न आशय प्रकट किये हैं (पृ० –६७–७० तक)

(क) "अवेस्ता की भाषा का प्राचीन संस्कृत से (जो आज कल वैदिक भाषा कही जाती है) इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है जितना कि यूनानी भाषा की विविध बोलियो (Arabic, Ionic Doric, Attic) का एक दूसरे से।"

(ख) "ब्राह्मणों के पवित्र मन्त्रों की भाषा और पारसियों की भाषा एक ही जाति के दो पृथक् भेदों की बोलियां हैं जैसे Ionian और Dorian आदि यूनानी जाति के भेद हैं (जिन्हें साधारणतया हेलीनीज़ कहते हैं)। ऐसे ही ब्राह्मण और पारसी भी उस जाति के दो भेद थे जिसे वेद और जिन्दावस्था दोनों ही आर्य नाम से पुकारते हैं ।"

(ग) "दोनों प्रकार की अवस्था की भाषाओं की संस्कृत से तुलना करने पर पता चलता है कि वैदिक संस्कृत से ज्यादह मिलती हैं संस्कृत से नहीं। आख्यात के रूप (Moods क्रियाभेद तथा Tenses "लकार") में शुद्ध संस्कृत वैदिक की अपेक्षा निर्धन है । लौकिक संस्कृत में (Subjunctive mood संभावार्थ सूचक) व अन्य moods के कुछ लकार उपलब्ध नहीं होते लेकिन यह सब के सब जिन्दावस्था तथा वेद की भाषा में मिलते हैं ।"

(घ) "वैदिक भाषा और अवस्था की भाषा के व्याकरणों में बहुत थोड़ा भेद है। जो कुछ थोड़ा भेद है वह शब्दों और उच्चारणों का है । यदि किसी शब्दशास्त्री को कुछ नियम, उच्चारण के भेद और बोलने की प्रसिद्ध विशेषतायें ज्ञात हो जावें तो किसी भी आवेस्ता के शब्द को वैदिक संस्कृत में बदल सकता है ।"

(ङ) "संज्ञाओं में—जिनमें आठ (८) कारक और (३) तीन वचन पाये जाते हैं—यह बात अच्छी तरह जान सकते है कि जन्द भाषा वैदिक संस्कृत से बहुत अंशो मे मिलती है ।"

(च) "एक प्रथा सी हो गई है कि गाथा और ऋचाओं में जहां तक साम्य है वहां तक समस्त शब्दों की तुलना वैदिक संस्कृत से की जा सकती है ।"

उपरिलिखित उद्धरणों के अतिरिक्त एक दो उदाहरण भी अपनी बात की पुष्टि में हम उपस्थित करते हैं, जैसे कि:—

वैदिक	अवेस्ता	शुद्ध संस्कृत
कृणोमि	किरणोमि	करोमि
गृभ्णामि	गृव्णामि	गृह्णामि

इन उदाहरणों में वैदिक तथा जन्द भाषा में लौकिक संस्कृत की अपेक्षा अधिक साम्य प्रतीत होता है, इस प्रकारके अन्य अनेक उदाहरण भाषाविज्ञान की प्रारम्भिक पुस्तकों में भी मिल सकते हैं। इन उदाहरणों की तुलना से प्रतीत होता है कि वैदिक भाषा के ज्ञान के लिए जिन्दावस्था की भाषा का ज्ञान संस्कृत की अपेक्षा किसी प्रकार भी कम अपेक्षित नहीं है। अधिक भले ही हो। इसलिए प्रकृत में इतना ही वक्तव्य है कि साधारण संस्कृत के आधार पर ही वेद के अर्थों का करना उचित नहीं है। इस बात को न समझने के कारण भी हम वेदों को ठीक रूप से नहीं समझ पाते। वैदिक भाषा को शुद्धरूप से समझने के लिए अनेक भाषाओं का ज्ञान जहां अपेक्षित है वहां पर ऊपर लिखी त्रुटि से भी बचने की आवश्यकता है। इस लेख में इतना ही लिख कर समाप्त करते हैं। अग्रिम लेख से अन्य कठिनताओं की तरफ भी निर्देश करने का प्रयत्न करेंगे ।

पावका नः सरस्वती वाजेभि र्वाजिनीवती ।

यज्ञं वष्टु धिया वसुः ॥ ऋ० । १ । १ । ६ । १० ॥

"शाखायें वेदावयव हैं या वेद व्याख्यान"

(लेखक—आचार्य श्री विश्वश्रवाः (लाहौर)

कुछ लोगो का विचार है 'कि शाखायें वेद के अवयव हैं अर्थात् ऋग्वेद की सब शाखाये मिलाकर एक ऋग्वेद होता है इसी प्रकार अन्य वेद भी । दूसरा मत है कि वेद मूल एक है शाखाये उस एक मूल वेद के व्याख्यान रूप हैं यथा एक ही यजुर्वेद के तैत्तिरीय मैत्रायणी आदि व्याख्यान ग्रन्थ हैं । यह दूसरा मत उस व्यक्ति के समझ मे तो सरलता से आजाता है जिसने वैदिक साहित्य देखा नहीं पर जिसने एक बार स्वयं साहित्य देखा है उसे कठिनता अवश्य होती है । इन्हीं के विचारार्थ कुछ बातें इस लेख मे रखी जाती हैं ।

वेद व्याख्यान शाखाओं को मानने मे जो आपत्तियां दी जाती हैं वे संक्षेप से निम्नलिखित हैं ।

१—शाखा शब्द का व्याख्यान अर्थ अप्रसिद्ध है

२—वर्तमान उपलब्ध सब संहिताओं के साथ किसी न किसी शाखा का सम्बन्ध अवश्य है किसे शाखा और किसे मूल कहे ।

३—महाभाष्यकार ने जो संख्या शाखाओं की लिखी है उसमें मूल और शाखा का पृथक् २ निर्देश नहीं किया ।

४—एक ही मन्त्र भिन्न २ संहिताओं में भिन्न २ पाठों वाला है ।

इस पर क्रमशः हम विचार करते हैं ।

१—शिक्षा कल्प आदि वेदार्थ सिखाने वाले ग्रन्थों का नाम हमारे ऋषियों ने वेदाङ्ग रक्खा है । शिक्षा आदि का नाम वेदाङ्ग सब मानते हैं इस में किसी को आपत्ति नहीं पर अङ्ग शब्द का अर्थ कहीं साहित्य में ऐसा नहीं जिस से वेदार्थ सिखाने वाले ग्रन्थों की प्रतीति हो । अङ्ग अवयव का पर्याय वाचक है जिस प्रकार शाखा शब्द अवयव की प्रतीति कराता है । यह दोनों शब्द हमारे ऋषियों ने संबन्धातिशय द्योतन करने को रक्खे हैं अतः अङ्ग शब्द की तरह शाखा मुख्यार्थ को नहीं बताता प्रत्युत शाखा शब्द व्याख्यानपरक ग्रन्थों का बोधक बनता है ।

२—वर्तमान उपलब्ध सब संहिताओं के साथ किसी न किसी शाखा का नाम निर्देश अवश्य है, इस हेतु से यदि यह मान भी लिया जावे कि यह सब शाखायें हैं तो भी यह हेतु यह सिद्ध नही कराता कि कोई मूल वेद नहीं था । दूसरे शाखाये बनगई हों या बनाई गई हो उभयथा ही विशेष संहिता के प्रचारक के नाम से संहिता का नाम शाखा रूप में हुआ । यदि विशेष परिवर्तन रहित मूल वेद का ही किसी ने प्रचार यथास्थित किया हो, उसके नाम से ही मूल संहिता का नाम पड़ा हो तो ऐसा मानने मे क्या आपत्ति है ? ।

३— भाष्यकार यदि सब को शाखा ही मानते हैं उन की दृष्टि मे मूल कोई वेद नहीं तो यह भाष्यकार का मत रहे, हम उसे मानने को बाधित नहीं हो सकते, यह ही कह सकते हैं कि भाष्यकार का ऐसा मत होगा हमें विचार स्वयं करना चाहिये शाखाये कुछ हमे प्राप्त हैं ही । तथापि हम यह विचार करते हैं कि क्या भाष्यकार सब को शाखा ही मानते हैं तेन प्रोक्तम्' ४। ३। १०१ ।। पाणिनि सूत्र पर भाष्यकार का कहना है कि

यद्यप्यर्थो नित्यो या त्वसौ वर्णानुपूर्वी सानित्या तद्भेदाच्चैतद् भवति काठकं कालापकं मौदकं पैप्पलादकमिति :।

अर्थात् एक मन्त्र की भिन्न २ वर्णानुपूर्वी सब नित्य नहीं । भिन्न २ पाठ अनित्य हैं । वे सब पाठ एक समान अर्थ को बताते हैं । पाठभेद के कारण काठक आदि शाखा भेद अवश्य होजाता है ।

इस प्रकार से स्पष्ट है कि भाष्यकार पाठभेदों को नित्य नहीं मानते। इसके विपरीत शाखाओं को अवयव मानने वाले सब शाखाओं को समान रूप से नित्य मानते हैं। भाष्यकार ने जो उदाहरण "काठकम्" आदि दिये हैं हम उन सबको शाखा ही मानते हैं। यदि यह कहा जावे कि भाष्यकार किसी भी पाठ को नित्य नहीं मानते तो जिस एक अर्थ को नित्य भाष्यकार ने बताया है वह अर्थ क्या सर्वथा शब्द-रहित है? उस अर्थ की कहां और कैसे स्थिति संगति होगी। तथा च यदि सब पाठ अनित्य हैं तो भाष्यकार का उसी स्थान पर यह कहना कि 'नहि छन्दांसि क्रियन्ते। नित्यानि छन्दांसि,।

अर्थात् वेद बनाये नहीं जाते, वेद तो नित्य हैं, वह नित्य वेद कौन सा है। क्या छन्द शब्द अर्थ का वाचक है। 'यद्यप्यर्थो' आदि पङ्क्ति ही पर्याप्त थी। 'नहि छन्दांसि' आदि व्यर्थ ही लिखना है। अतः भाष्यकार किसी एक आनुपूर्वी को यास्क की तरह नित्य अवश्य मानता होगा; हां शाखा पाठ नित्य नहीं वह मनुष्यकृत होने से अनित्य अवश्य हैं।

४—एक ही मन्त्र के भिन्न भिन्न पाठ व्याख्यान रूप हैं ऐसा हमारा सिद्धान्त है, इस ही बात को स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी ने प्रथमवार के मुद्रित सत्यार्थप्रकाश मे एक उदाहरण देकर समझाया था वह उदाहरण निम्नलिखित है।

"मनो जूतिर्जु षतामाज्यस्य"

दूसरा व्याख्यानपाठ

"मनो ज्योतिर्जु षतामाज्यस्य"

यास्कने निरुक्त ४।४॥ में "यदिन्द्र चित्र मेहनास्ति" ऋ० ५।३६।१॥ सा० १।३४५॥ मन्त्र के व्याख्यान में लिखा है कि "मंहनीयं धनमस्ति यन्म इह नास्तीति वा"

इस समय निरुक्त के अध्ययनाध्यापन की आर्ष परम्परा सर्वथा लुप्त हो चुकी है, निरुक्त के टीकाकार दुर्ग और स्कन्द निरुक्त को अच्छी तरह नहीं समझते हैं, कुछ लिखी हुई इन टीकाओं मे भी ठीक बातों को आज कल के पढ़ने पढ़ाने वाले देखते हुए भी नहीं देखते यह हमारी धारणा है। "निरुक्त के समझने में प्राचीन आचार्यों की भूल" शीर्षक लेख से छोटे छोटे ट्रेक्टों मे इन स्खलनो का दिग्दर्शन कराने के लिये लिखना हमने प्रारम्भ किया है। विद्वानों से प्रार्थना है कि हमारे साथ इस सम्बन्ध में विचार करें जिससे विचार के बाद वस्तु परिमार्जित हो और स्वतन्त्र भाष्य निरुक्त का लिखने मे हम समर्थ हों। इस प्रस्तुत निरुक्त की पंक्ति का अर्थ सब विद्वान् अन्य प्रकार ही समझते हैं। हमने भी अपने गुरुजनों से ऐसा ही पढ़ा था कि यास्क यहां यह बता रहा है कि एक मन्त्र यही ऋग्वेद में है और यही सामवेद मे। ऋग्वेद के पद पाठकार शाकल्य ने इसको एक पद माना है अतः शाकल्य के दृष्टिकोण से यास्क ने "मंहनीयं" अर्थ किया है और गार्ग्य जो सामवेद का पदपाठकार है उसने इसका पदच्छेद इस प्रकार किया है "मे। इह न॥ अर्थात् गार्ग्य तीन पद मानता है इस दृष्टिकोण से यास्क ने "यन्म इह नास्तीति वा" लिखा है। पर इस स्थल से यह अभिप्राय समझना सर्वथा असंगत है। सब को इस अर्थ की भ्रान्ति क्यों हुई इसका अपराध दुर्ग की एक पङ्क्ति को है। दुर्ग लिखता है 'उभयोर्गार्ग्यशाकल्ययोरभिप्रायावनुदितौ" वस्तुतः यास्क का अभिप्राय कुछ और ही है। पदपाठकार की दृष्टि मे यह बात तब हो सकती थी जब कि दोनों संहिताओ मे पाठ "मेहनास्ति" होता और भिन्न भिन्न पदपाठकार भिन्न भिन्न पदपाठ करते। पर जब कि संहिताओ मे ही पाठ भिन्न भिन्न है तब पदपाठकार को क्यो घसीटा जाता है। ऋग्वेद का पाठ है 'मेहनास्ति' और सामवेद का मूल पाठ ही "म इह नास्ति" है। ऐसी स्थिति में गार्ग्य और शाकल्य का नाम लेना सर्वथा असंगत है। उन्हे तो पद पाठ वही करना था जो उनकी संहिता के अनुकूल हो। वस्तुतः यास्क का अभिप्राय इस स्थल पर यह है कि भिन्न भिन्न मन्त्रो के भिन्न भिन्न पाठ समान अर्थ के द्योतक हैं। अतः शाखाओ के भी भिन्न भिन्न पाठ व्याख्यान रूप मे हैं और शाखा व्याख्यान ग्रन्थ हैं।

पं० भगवद्दत्तजी ने वैदिक वाङ्मय के इतिहास मे शाखाओं के व्याख्यान ग्रन्थ होने के सम्बन्ध मे

एक प्रकरण लिखा है उनके दिये हुए हेतु और प्रमाणों को भी पाठको के ज्ञान के लिये संक्षेप से संग्रह किये देता हूं। विस्तार पूर्वक ठीक तो मूल ग्रन्थ पं० जी के इतिहास के पढ़ने से ही प्रतीत होगा।

१—अनेक शाखाये सौत्रशाखाये हैं यदि शाखाये अवयव है तो सूत्र ग्रन्थ भी वेद बन जावेगे। परन्तु यह बात वैदिक परम्परा के सर्वथा विपरीत है।

२—"वेदाः साङ्गाः स शाखाः"

नृसिंहतापिनी उपनिषत्

३—"स ऋचोऽधीते स यजूंष्यधीते स सामान्यधीते सोऽथर्वाणमधीते सोऽङ्गिरसमधीते स शाखा अधीते स कल्पानधीते"

बृहज्जाबालोपनिषत्

इन दोनो स्थलो मे वेदो से भिन्न शाखाये बताई गई है।

४—सर्वास्नाहि चतुष्पादाः सर्वाश्चैकार्थवाचिकाः।
पाठान्तरे पृथग्भूता वेद शाखा यथा तथा॥
(वायु पुराण)

अर्थात् एक पुराण की पाठान्तरो के कारण अनेक शाखायें हुईं, जैसे वेद की शाखाये, पर अर्थ एक ही रहा।

५—"प्राजापत्या श्रुतिर्नित्या तद्विकल्पास्त्विमा स्मृताः" (वायु पुराण)

अर्थात् एक नित्य श्रुति के अन्य विकल्पमात्र हैं।

६—ऋग्वेद में एक पाठ है "सचिविदं सखायम्"
तै० आ० का पाठ है "सखिविदं सखायम्"

७—यजुर्वेद का पाठ है "भ्रातृव्यस्य बधाय"
काण्व संहिता का पाठ है "द्विषतो बधाय"

८—एषवोऽमी राजा—यजुः
एष वः कुरवो राजैष पञ्चाला राजा—काण्व
एषवो भरता राजा—तै०
एष ते जनते राजा—काठक०
एष ते जनते राजा—मैत्रा०

काण्व आदि जिनको हम शाखा मानते है उनमे राजाओ के नाम हैं। जिसे हम मूल यजुर्वेद मानते हैं उसमे सर्वनाम का प्रयोग है।

शमित्योम

———
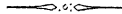
ओ३म्

समाज-विरचन

संगच्छध्वम् संवदध्वम्। सं वो मनांसि जानताम्। देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते

ऋ० १० । १९१ । २

मिलकर रहो, मिलकर उत्तम भाषण करो, मिलकर मनन करो जैसा कि ज्ञानी देवजन करते हैं।

वेदार्थ-पुनरुद्धारक ऋषि दयानन्द

ले०—श्री पं० ब्रह्मदत्त जी

वेद आर्य जाति की परम पवित्र सम्पत्ति है उसके आधार पर ही ऋषि मुनियो ने अपनी कृतियो द्वारा सामान्यत: संसार में विशेषतया भारतभूमि में आर्य संस्कृति की आधार शिला स्थापित की जो संस्कृति अद्यावधि भी उन प्राचीन परम्पराओ को किसी न किसी रूप मे सुरक्षित किये हुए है। इस संस्कृति का आदि स्रोत तो वेद ही है जो प्रभु की वाणी है जिसे आदि सृष्टि में परमपिता परमात्मा ने जीवो के कल्याणार्थ अनेक विध जीवन सामग्री की भाँति ऋषियो के हृदय मे प्रकाशित किया, जिसके विषय मे महर्षि मनु से लेकर कपिल-कणाद-तथा जैमिनि पर्यन्त महर्षियों की साक्षी स्पष्ट विदित है। पुराकाल मे ऋषि महर्षि अपने शिष्यों को प्रवचन द्वारा वेदार्थ का बोधन करा देते थे। किसी वेदांग या उपांग की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। प्राणि मात्र के हितचिन्तक इन महर्षियों ने सुहृद् होकर उस प्रवचन को ग्रन्थ रूप मे संकलित कर दिया जिससे वेदार्थ संसार से लुप्त न होने पावे। यही ग्रन्थ निरुक्तादि वेदाङ्ग उपाङ्गो के नाम से प्रसिद्ध हुये। यही बात निरुक्त के प्रथमाध्याय के अन्त मे यास्क मुनि ने दर्शायी है। यास्क के काल तक यह वेदार्थ प्रवचन परम्परा द्वारा चलता रहा, पृथक् कोई वेद का भाष्य या व्याख्यान बना हो ऐसा ज्ञात नहीं होता, क्योकि इस प्रकार रचना करने की आवश्यकता ही नहीं थी। ब्राह्मण ग्रन्थ मुख्यतया विनियोजक ही हैं प्रसंगत: व्याख्यान भी करते है। व्याख्यान करना उनका मुख्य लक्ष्य नहीं।

वेदार्थ अन्धकार में

यास्क से पीछे बीसवीं शताब्दी पर्यन्त वेदार्थ अन्धकार में रहा इसमे अत्युक्ति नहीं। समय समय पर कभी २ प्रकाश की झलक दिखाई देती रही पर वह भी बहुत धीमी। ऐसे ऐसे योग्य आचार्यों के वेदार्थको लुप्त करने का यत्न किया गया। लुप्त परम्पराओ (Traditions) के प्रकाश मे आने पर ऐसा विवश कहना पड़ता है। वेद शास्त्रो के नाम पर क्या क्या अनर्थ हुये यह उस काल के भाष्यकारो के भाष्यों से जाना जा सकता है। महीधर के गन्दे अर्थ इसका प्रमाण हैं।

"निरस्तपादपे देशे एरण्डोऽपि द्रुमायते।"

की लोकोक्ति के अनुसार सायणाचार्य की तूती सब ओर बजने लगी। यह अवस्था कई सौ वर्ष तक रही। अङ्गरेज़ी राज्य के भारत मे आने पर जब विदेशी लोगो ने भारतीयो को अपनी सभ्यता से उदासीन बनाने के अभिप्राय से भारत की उत्तम उत्तम कृतियो को भी दूषित रूप मे, जान कर या न जान कर संसार के सम्मुख रखना आरम्भ किया तब उनको अपने उद्देश्य की पूर्ति मे सायणाचार्य ही सब से अधिक सहायक प्रतीत हुये। इस लिये उन्होंने वेद को सायण प्रदर्शित स्वरूप मे ही संसार के सामने उपस्थित किया।

वहीं से सायणाचार्य के वेदार्थ की झूठी धाक जमनी आरम्भ हुई। यदि विदेशी स्कालर सायण को इतना सिर पर न उठाते तो इनका भाष्य भी अन्यो की भाँति ही रहता, सर्वसाधारण की दृष्टि मे इतना आगे नहीं आता। दूसरे यह भी कारण हुआ कि सायण से प्राचीन वेद भाष्यकारो का नाम तक नहीं रहने दिया गया। सायण ने अपने वेद भाष्य मे अपने से प्राचीन अनेक वेद भाष्यकारो का नाम तक नहीं लिया (एकाध को छोड़कर) यद्यपि यास्क के पश्चात् वेदार्थ की प्रक्रिया बहुत कुछ शिथिल हो चुकी थी परन्तु फिर भी वेदार्थ की परम्परा (traditions)

अपने वास्तविक स्वरूप में नहीं तो कुछ विकृत रूप में तो आ ही रही थी। उस रही सही वेदार्थ परम्परा को नष्ट करने का श्रेय सायणाचार्य को ही है। शताब्दियों पर्यन्त जनता वेदार्थ प्रक्रिया से गुमराह रही। यहीं तक नहीं अपितु बीसवीं शताब्दी में ऋषि-दयानन्द जैसे महा पुरुष के वेदार्थ प्रक्रिया का प्रकाश कर देने पर भी उनका नाम ले ले कर बड़ी बड़ी संस्थाओं के संचालकों—बड़ी बड़ी समाजों के मुख्याधिकारियों तक की बुद्धि में अनार्ष शैली तथा अनार्ष साहित्य के निरन्तर अनुशीलन करते—कराते रहने के कारण दयानन्द की दिव्य ज्योति का दर्शन न कर सकी। करती भी कैसे। अनार्ष शैली से आर्ष ज्ञान कैसे प्राप्त हो सकता है। ऐसे लोगों ने कहना तथा लिखना आरम्भ कर दिया—

(I) "सायण का भाष्य जैसा सुसङ्गत—सुसम्बद्ध प्रतीत होता है, वैसा दूसरा नहीं" "स्वामी जी के भाष्य में विसङ्गतता स्पष्ट प्रतीत होती है। स्वामीजी के भाष्य की धाक नहीं बैठती"।

(II) यह एक सचाई है कि श्री स्वामी जी कृत वेद भाष्य का क्रम सर्व साधारण की समझ में नहीं आता। यह एक दूसरी सचाई है कि जिन विद्वानों ने इसे देखा है उनके अन्दर इसके सम्बन्ध में उचित श्रद्धा पैदा नहीं हो सकी" यह ध्वनि अनेक रूपों में आर्य जनता के सामने आती रही और इस समय भी कहीं कहीं से आया करती है। यह है आर्य कहलाने वाले कुछ एक विद्वानों के उद्गार जो आर्य-समाज या उस की संस्थाओं के मुकुट मणि बने हुये हैं" यह शैली आर्य जनता ऐसे लोगों के कदमों पर पुनः पुनः गिड़ गिड़ा कर गिरती हुई दिखाई देती है जिसका परिणाम अत्यन्त हानिकर हुआ और होता रहेगा। प्रामाणिक वेद भाष्य ऐसे कृपालुओं की सहायता से ही तो बन रहा है !!! सायण की इस धाक ने आर्य कहलाने वाले विद्वानों की बुद्धियों को कहाँ तक दूषित कर दिया यही दर्शाना हमें यहां अभिप्रेत है"

सायणाचार्य को वेदार्थ समझ में भी नहीं आया। अब हमें इस बात का सप्रमाण विवेचन करना उचित होगा कि श्री० सायणाचार्य को वेदार्थ कहाँ तक समझ में आया॥

सायणाचार्य के पक्षपाती विद्वानों ने दयानन्द भाष्य पर जो जो आपत्तियाँ की, उनमें सबसे बड़ी आपत्ति यह थी—कि—"खैर और जो कुछ हो सो हो पर "अग्निमीळे पुरोहितम् ·" आदि वेद मन्त्रों में अग्नि का अर्थ परमात्मा नहीं हो सकता।" भ्रान्ति निवारण पुस्तक के ६ पृष्ठ पर कलकत्ता ओरियण्टल विभाग के प्रिंसिपल श्री पं० महेशचन्द्र न्यायरत्न का उठाया हुआ पूर्वपक्ष देख सकते हैं॥ हेतु वह क्या देते हैं—"क्योंकि अग्नि शब्द से लोक में चूल्हे की आग ही ली जाती है, अतः ईश्वर अर्थ नहीं लिया जा सकता इसमें साक्षी सायणाचार्य की है" इत्यादि॥

जब स्वामी दयानन्द ने वेद भाष्य का प्रकाशन किया। सारे भारतवर्ष में एक कोलाहल सा मच गया। स्वामी जी ने आरम्भ से ही अपने वेद भाष्य में वेद मन्त्रों के अर्थ आध्यात्मिक—आधिभौतिक—आधिदैविक प्रक्रियाओं को लेकर किये। सायणाचार्य इन प्रक्रियाओं के विषय में मौन हैं। जहां देखो वहीं यजमान और यज्ञाग्नि की ही भर मार है। भूमिका में भी जो थोड़ा सा लिखा वह भी अस्पष्ट। उसका कारण भी उस से पूर्ववर्ती भाष्यों का उपस्थित होना ही कहा जा सकता है जिनका कि सायणाचार्य ने नाम तक नहीं लिया॥

आचार्य दयानन्द के तीन प्रकार के अर्थ विधान पर अनार्ष साहित्य सेवी मस्तिष्क उन पर उपहास (मखौल) करने लगे। पूर्ववर्ती विद्वानों विशेष कर सायण से विपरीत होने की दुहाई देकर दयानन्द भाष्य को सर्वथा हेय तथा कपोल कल्पित बताया और कहने लगे स्वामी दयानन्द सब अर्थ उलटा करते हैं॥

स्वामी दयानन्द ने स्पष्ट घोषणा की कि मैं तो लगभग तीन सहस्र ग्रन्थों को प्रामाणिक मानता हूँ। मेरा भाष्य प्राचीन ऋषि मुनियों के आधार पर है। मैं आप लोगों के उलटे किये हुये अर्थ को उलटा अवश्य करता हूँ॥

सायण से प्राचीन लगभग सौ वेदभाष्यकार

अब से कुछ वर्ष पूर्व तक एतद्देशीय तथा विदेशी विद्वानों के सामने एक सायण भाष्य ही उपस्थित रहा, परन्तु अब अनेक विद्वानों की निरन्तर खोज से (इसका सबसे अधिक श्रेय आर्य समाज के रत्न अद्वितीय वैदिक रिसर्चस्कॉलर श्री पं० भगवद्दत्त जी लाहौर को है) सायण से प्राचीन लगभग १०० सौ वेद भाष्यों का पता लग रहा है। जिनमे लगभग २० वेद भाष्य मिल भी रहे हैं ॥

उपर्युक्त आध्यात्मिकादि प्रक्रियाओं को लेकर अनेक आचार्यों ने वेद की व्याख्यायें की। आचार्य स्कन्द स्वामी इनमे सर्व प्रथम है। नारायण और उद्गीथ भी उनके सहकारी थे जिनमे नारायण का वेद भाष्य तो अभी तक नहीं मिला। स्कन्द और उद्गीथ दोनो का मिलता है। यह तीनो विद्वान सायण से लगभग ८००-६०० वर्ष पूर्व हुये। इस सम्बन्ध में उद्धरण आगे देखे ॥

आचार्य आत्मानन्द ने अस्यवामीय सूक्त का कितना सुन्दर आध्यात्मिक अर्थ किया है। वेङ्कट-माधव ने कितने उज्ज्वल विचार आध्यात्मिक सुधा के रूप मे तथा वेदार्थ करने वालों की कैसी योग्यता का सम्पादन करना चाहिये इत्यादि मौलिक बातो पर प्रकाश डालने का यत्न किया है। हरि स्वामी के शतपथ ब्राह्मण भाष्य में भट्टभास्कर के तैत्तिरीय संहिता-ब्राह्मण-आरण्यको मे-भरत स्वामी के सामवेद भाष्य में प्राचीन वेदार्थ-पद्धति का उज्ज्वल स्वरूप अनेक स्थलों मे भासित हो रहा है।

आज से कुछ वर्ष पूर्व तक दुर्गाचार्य की निरुक्त टीका वेदार्थ का प्रकाश इतना स्पष्ट रीति से करती दिखाई नहीं देती थी पर अब इस उपर्युक्त प्राचीन सामग्री के प्रकाश मे देखने से अब दुर्ग का वह स्वरूप नहीं रहा अपितु वह भी उपर्युक्त आचार्यों की भांति अपने काल तक वेदार्थ की उन प्राचीन परम्पराओं से बहुत कुछ परिचित प्रतीत होते हैं।"

कहां तो वेद मन्त्रों मे आये 'अग्नि' शब्द का परमात्मा अर्थ हो ही नहीं सकता यह विद्वान कहलाने वालों की धारणा थी। कहां अब सायण से ६०० वर्ष पूर्व प्राचीन वेद भाष्यकार आचार्य स्कन्द स्वामी

यास्क के मत में प्रत्येक मन्त्र का तीन प्रकारका अर्थ

बताते हैं। जैसा कि ऋषि दयानन्द ने अपनी वेद भाष्य भूमिका मे स्थापना की, तथा वेद मंत्रों का अर्थ करते हुये पदे पदे दर्शाया॥ आचार्य स्कन्द स्वामी लिखते है कि निरुक्तकार यास्क मुनि के मत मे वेद के प्रत्येक मन्त्र का अर्थ आध्यात्मिक नैरुक्त—याज्ञिक शुद्धयाज्ञिकादि प्रक्रियायो के अनुसार होता है। तद्यथा—

"सर्व दर्शनेषु च सर्वे मन्त्रा योजनीया। कुतः। स्वयमेव भाष्य कारेण सर्व मन्त्राणां त्रिप्रकारस्य विषयस्य प्रदर्शनाय "अर्थं वाचः पुष्पफलमाह" इति "यज्ञादीना पुष्पफलत्वेन प्रतिज्ञानात"(निरुक्त स्कन्द-स्वामिभाष्य भाग ३पृ० ३५)॥ अर्थात् सब दृष्टियों (प्रक्रियाओं) मे सब मन्त्रो का अर्थ करना चाहिये। क्यों कि स्वयमेव वेद भाष्य कार यास्क मुनि ने(वेद के सब मन्त्रों का अर्थ तीन प्रकार का होता है यह दर्शाने के लिये "अर्थं वाचः पुष्पफलमाह इत्यादि (निरु० अ० १) प्रकरण मे यज्ञादिको को पुष्पफलरूप से वर्णन किया है" ॥

इस विषय के और भी बहुत से प्रमाण सायण से प्राचीन तथा अर्वाचीन भाष्य कारो के ग्रन्थो से दिये जा सकते हैं परन्तु इस प्रकार के लेखो द्वारा अधिक नहीं लिखा जा सकता ॥

क्या आचार्य स्कन्द स्वामी के उपर्युक्त लेख को पढ़ कर कोई विद्वान कह सकता है कि सायणाचार्य को वेदार्थ का स्वरूप समझ मे भी आया हो ? यदि आया तो इन बातो और प्रक्रियाओ को लक्ष्य में रख कर उन्होने वेद मन्त्रो का अर्थ क्यों नहीं किया ? है इस का कुछ भी उत्तर ?

सब मन्त्रों का अर्थ आध्यात्मिकादि सभी प्रक्रियाओं में होना चाहिए, इस युग में क्या यह ऋषि दयानन्द के मस्तिष्क की उपज नहीं ? क्या यह स्पष्ट नहीं कि सायण से सैकड़ों वर्ष पहले वेदार्थ की यह प्रक्रिया विद्यमान थी, जिसकी सायण ने जान कर या न जान कर उपेक्षा की। अपने से पूर्ववर्त्ती भाष्य कारों आचार्य स्कन्द स्वामी-भरत स्वामी-आत्मानन्द भट्टभास्करादि अनेक आचार्यों का नाम तक नहीं लिया। क्या इस से वेदार्थ के विषय में उन की अज्ञता स्पष्ट नहीं ? क्या एतद्देशीय तथा विदेशीय स्कालरो या विद्वानों का सायण के पीछे चलना "अन्धेनैव नीयमाना यथान्धा" नहीं कहा जा सकता? इस में पक्षपात रहित विद्वान ही साक्षी है।

वेदार्थोद्धारक ऋषि दयानन्द

ऐसी अवस्था मे आचार्य दयानन्द को वेदार्थोद्धारक कहना कदापि अयथार्थ नहीं कहा जा सकता। वेदार्थ करने वालो मे किन योग्यताओ तथा गुणों का समावेश होना परमावश्यक है इस विषय मे हम आचार्य स्कन्द स्वामी के शब्दो मे ही लिख कर आगे दुर्गाचार्य का एक स्थल सहृदय पाठको की सेवा मे उपस्थित करेगे। स्कन्द कहते हैं कि मन्त्रों मे आध्यात्मिक ज्योतिः का प्रकाश किन को हो सकता है।

तत्राध्यात्मविदस्तावत् सन्मात्रनिबद्धबुद्धय शिथिलीभूतकर्मग्रहग्रन्थयो भिन्न विषयभवसंक्रमस्थान वैराग्याभ्यासवशान् समासादितस्थिरसमाधयो निरस्तसमस्ताधयो निरस्तबाह्यविषयैषणा निरुद्धान्तः करणवृत्तयो निष्कम्पदीपकल्पाः क्षेत्रज्ञज्ञान मननाः.. ..

अर्थः—वेदमन्त्रों द्वारा परमात्मा का ज्ञान उन्हीं को हो सकता है—जिन की बुद्धियाँ सत्य के ग्रहण करने मे तत्पर हों जिनकी कर्मग्रह ग्रन्थियाँ शिथिल हो चुकी हों, अभ्यास और वैराग्य से जिन की सांसारिक विषय वासनाओ की धारा नष्ट हो चुकी हो और जो स्थिर समाधि को प्राप्त हो चुके हों; सम्पूर्ण क्लेशो से रहित हों, बाह्य विषयों की वासना जिनकी नष्ट हो चुकी हो, अन्तःकरण वृत्तियां जिनकी नष्ट हो चुकी हों। इत्यादि।

सज्जनवृन्द ! यह सब विशेषण किस सुन्दरता से महा पुरुष दयानन्द में घटित होते हैं, निष्पक्ष विद्वान स्वयं सोच सकते है।

वेदार्थ का अपूर्व अश्वारोही दयानन्द

वेदार्थ की प्रक्रिया के विषय में एक बहुत उत्तम बात दुर्गाचार्य्य ने लिखी है—

तत्रैवं सति प्रतिविनियोगमन्यान्येनार्थेन भवितव्यम्। त एते वक्तु रभिप्रायवशा दन्यत्व मपि भजन्ते मन्त्राः। न ह्येतेष्वर्थस्येयत्तावद्धारणमस्ति। महार्थाह्येते दुष्परिज्ञानाश्च। यथाश्वारोहवैशिष्ट्या दश्वः साधु साधुतरश्च वहति, एवमेते वक्तृ वैशिष्ट्यात् साधून् साधुतरांश्चार्थान् प्रवहन्ति।

तत्रैवम् सति लक्षणोद्देश मात्र मेवैतस्मिञ्छास्त्र निर्वचन मेकैकस्य क्रियते। क्वचिदाध्यात्मिकाधियज्ञे प्रदर्शनार्थम्।

"तस्मादेतेषु यावन्तोऽर्था उपपद्येरन्—आधिदैवाध्यात्माधियज्ञाश्रयाः सर्व एवते योज्या। नात्रापराधोऽस्ति"।

(२) ईदृशेषु शब्दार्थन्यायसङ्कटेषु मन्त्रार्थ घटनेषु दुरवबोधेषु मतिमतां मतयो न प्रतिहन्यन्ते, वयन्त्वत्रैतावदत्रावबुध्यामहे"। पृ० ६२४,

अर्थः—ऐसी अवस्था मे विनियोग के भेद से इस का भिन्न भिन्न अर्थ होगा। सो यह वेदमंत्र वक्ता के अभिप्राय भेद से भिन्नार्थ को भी प्राप्त हो जाते हैं।

(इसमें घबराने की कोई बात नहीं है)

इन मन्त्रों का बस इतना ही अर्थ है इसकी कैद नहीं लगाई जा सकती। यह मन्त्र महान् अर्थ वाले है। अत्यन्त ही दुष्परिज्ञान (बड़े ही परिश्रम-विद्या योगादि की शक्ति से जाने जा सकते हैं)॥ जैसे अश्वारोही (घुड़ सवार) के भेद से घोड़ा अच्छा-बहुत अच्छा-बहुत ही अच्छा चलने लगता है इसी प्रकार वक्ता जितना अधिक योग्य और तपस्वी होगा उसके दर्शाये वेदार्थ से भी उतने ही अधिक साधु और साधुतर अर्थों का प्रकाश होगा। आज कल के वेदभाष्यकार कहलाने वाले महानुभाव इससे बहुत कुछ शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं।

सायण का अश्वारोहण (सवारी करना) स्कन्द स्वामी आदि की अपेक्षा कितना भिन्न था यह हम संक्षेपतः दर्शा चुके हैं। स्कन्द(ने यद्यपि वह भी प्रवाह से बच नहीं सके तथापि) अपने समय तक की परम्पराओं (traditions) को किसी अंश तक सुरक्षित रखा। सायण की दृष्टि वहां तक नहीं जासकी। इसके परिणाम स्वरूप वेदार्थ का परिमाण (Standard) हीन (Low) होता चला गया। उसकी रही सही आभा (आब) तदनुवर्ती एतद्देशीय तथा विदेशीय विद्वान्-स्कालर कहलाने वालों ने नष्ट कर दी। कारण वही "निरस्तसमस्ताधर्यो" इत्यादि गुणों का अभाव। उपर्युक्त गुणों से युक्त होने का सौभाग्य इस युग में दयानन्द को ही प्राप्त हो सका। यह बात हमारे उपर्युक्त लेख से विदित है।

सामान्यतया लोकानुसार तो यही है कि कोई "क्या कहता है" उसका ही विचार किया जाता है, न कि "कौन कहता है।" परन्तु वास्तविक बात यह है कि "कौन कहता है" और "क्या कहता है" इन दोनों बातों के ही देखने की परमावश्यकता है।"

देश नेत्री श्रीमती सरोजनी नायडू के स्वरूप को लक्ष्य धारण करने पर "तुम बहुत सुन्दर प्रतीत हो रही हो" महात्मा गान्धी के यह शब्द पापी से पापी के मन में भी पवित्रता का संचार करते हैं। कोई भी इन शब्दों में स्वप्न में भी दुर्भावना का विचार नहीं कर सकता। परन्तु यदि वही शब्द एक कामी या हीन चरित्र व्यक्ति किसी परस्त्री-माता-देवी के प्रति प्रयुक्त करता है तो संसार में कोई भी इनमें पवित्र भावना की कल्पना नहीं कर सकता।

पवित्रात्मा दयानन्द के शब्दों में चाहे वह व्याख्यान रूप हों या सामान्य पुस्तक रूप या वेदमन्त्रों का भाष्य-यह पवित्र आभा सर्वत्र दृष्टि गोचर होगी। यह उनकी भिन्न भिन्न कृति से ज्ञात हो रहा है" इस आभा को पचासों मिल कर भी कैसे प्रकाशित कर सकते हैं। जिनकी इन्द्रियाँ वश में नहीं, किसी भी संसारी प्रवाह में लोकैषणा के वशीभूत पदे पदे गिरावट में फंसते रहते हैं, धन के वशीभूत अपनी अन्तरात्मा को बेच तक देने में संकोच नहीं करते, स्वयं वेद पर विश्वास नहीं, ऋषि मुनियों का मार्ग उनको निस्सार प्रतीत होता है पर यह सब कहने को तैयार नहीं, पूछने पर हाथ भी जोड़ दें हम तो सब मानते हैं; ऐसे सैकड़ों आत्मरूप विद्वान् एकत्रित कर देने पर भी वेदार्थ का गौरव संसार में बैठेगा यह स्वप्न से अधिक नहीं कहा जा सकता। वोटिङ्ग से कहीं वेद भाष्य हुआ करते हैं। अतः पहिले अपने विद्वानों की व्यवस्था ठीक करो। वेदार्थ की मौलिक बातों (Fundamental principles) पर पूर्ण विचार करने के लिये कम से कम सप्ताह दो सप्ताह विचार करने की योजना करो तभी कुछ व्यवस्था बन सकेगी।

जिस याज्ञिक प्रक्रिया को लेकर सायणाचार्य ने इतना कुछ लिखा उसका भी स्वरूप उन्हों ने कहां तक समझा यह बात भी अभी साध्य कोटि में ही समझनी चाहिये। सम्प्रति इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि याज्ञिक प्रक्रिया में भी सायण ने भारी भूलें की हैं, जो कभी अवसर आने पर ही दर्शाई जा सकेंगी।

भूल कर जाना बड़ी बात नहीं। मनुष्य संसार में भूलनहार है। तो है परन्तु सायण के भाष्य की झूठी दुहाई देकर दयानन्द की दिव्य ज्योति को मेघाच्छादित करने का व्यर्थ प्रयत्न आर्यसमाजी नाम धारी विद्वान कहलाने वालों द्वारा भी कहीं कहीं दृष्टिगोचर होता है। अतः हमें विवश हो ऐसा कहना पड़ता है। गुण ग्राही होना तो प्रत्येक के लिये उचित है। परन्तु यह भी तो न हो कि गुण ग्रहण के बहाने लोगों को कुमार्ग पर डाला जावे।

आर्य बन्धुओ! दयानन्द का अध्ययन शुद्ध मस्तिष्क से करो। उस महा पुरुष के दर्शाये मार्ग का अनुशीलन करो। वेद या दयानन्द के नाम पर संसार को धोखा मत दो। वेद प्रचार के नाम पर मिथ्या प्रचार मत करो। अधिकारों के लिये कनवैसिङ्ग (पार्टियां बनाना और झूठा आन्दोलन करना) रूपी पिशाचिनी के उपासक मत बनो। आचारनिष्ठ विद्वान ब्राह्मणों (गुण कर्म से न कि जन्म से) का आश्रय लो जो केवल तुम्हारी हां में हां मिलाने वाले न हों, प्रत्युत तुमको समय पड़ने पर हित की दृष्टि

से कान पकड़ कर भी सीधे रास्ते पर ला सकें। गुलाम उपदेशक-ब्राह्मण-जाति की दासता को तीन काल में दूर नहीं कर सकते।

देखना! वैदिकता के नाम पर अवैदिकता का ही विस्तार और प्रचार न कर बैठना। जब ऐसी व्यवस्था हम लोग कर पायेंगे तभी दिव्यज्योतिः दयानन्द का सच्चा दर्शन हमें प्राप्त होगा।

संसार की भावी उथल पुथल में आर्यसमाज या आर्य भाई अपने शुद्ध आचार-व्यवहार—वेद का स्वाध्याय- आर्यपन का अनुशीलन- दृढ़ संकल्प-परिवारों में विषय वासनाओं के राज्य का नष्ट कर शुद्ध आर्य जीवन द्वारा संसार का नहीं तो भारत का ही भविष्य निर्माण कर सकते हैं। ऐसी आशाप्रद दृष्टि आर्यसमाज की ओर लग रही है। देखें इसमें आर्यसमाज कहाँ तक उत्तीर्ण होता है।

ओ वेद!

ले० श्री कर्णकवि

* १ *

वेद ओ! विधि के मञ्जुल गीत,
आर्य गौरव के मन्त्र पुनीत।
रुचिर रचनाओं के गुरु ग्रन्थ;
आर्यजन के प्रिय पावन पन्थ।

* २ *

वेद ओ! करो पुनः मृदु गान,
मिले जो परमानन्द महान।
उठे फिर अन्तस्तल से नाद,
बढ़े जो हृदयों में आल्हाद।

* ३ *

वेद ओ! चतुवर्ग के प्राण;
मोद के मग—मानव कल्याण।
शान्ति के पाठ—सुधा के स्रोत;
आर्य उर भवनों के उद्योत।

* ४ *

वेद ओ! विद्याओं के मूल;
सनातन नन्दन वन के फूल।
तुझे सुन सुन फिर चारों वर्ण;
करें फिर पावन अपने 'कर्ण'।

श्रुति-प्रशस्तिः

रचयिता—श्री पं० दिलीपदत्तजी उपाध्याय

(१)
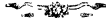
पदार्थ विज्ञप्ति धृताधिकारः
सत्कर्म बोध प्रथितोपकारः ।
उपास्ति सम्पत्ति विशिष्ट प्रीति
वेदः प्रणम्यः स परार्थ मूर्तिः ॥

(२)

वर्णाश्रमाचार विचार माला—
शाला विशालोन्नति मार्ग चाला ।
इहाऽनवद्या भुवनाभिवाद्या
जयत्यसौ काचन वेद विद्या ॥

(३)

यदाश्रयादेव भवेत्प्रमाणं
शास्त्रं समग्रं जनभव्यदानम् ।
वेदत्रयी सा विदितप्रभावा
केषां न मान्या कुमतिप्रघाता* ॥

(४)

य पाठमात्रादपि पातकानि
क्षिप्रं प्रधावन्ति यतो‡नि हानि ।
रात्र्यां स्मृतो यस्य मनो विकाराः—
मन्ये प्रणश्यन्ति हृतात्मसाराः ॥

* दुर्मतिनिराकृतिदक्षेति यावत् ।

‡ यतोऽतिहानिस्तानिपातकानीत्यन्वयः ।

वेदार्थ का दृष्टिकोण

ले०—श्री० पं० बिहारीलालजी शास्त्री काव्यतीर्थ

भगवान अरूप है किन्तु भक्तों ने उसे कल्पना की आंख से अनेक रूपों में देखा। निराकार, साकार, मुरलीधर, धनुर्धर, शिवरूप और रुद्ररूप, लक्ष्मी रूप, तथा महा काली रूप जैसी जिसकी भावना हुई उसने वैसा ही रूप कल्पित कर लिया। ये सब अपने मन की लहरें ही तो है। भगवत्तत्व तो वास्तव में (यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम्, मुण्डक) ही है। भगवान तो इन्द्रियातीत हैं (न चक्षुषा गृह्यते नापिवाचा, मुण्डक) केवल आत्मानुभव की चीज़ है (तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा, कठ) यही बात भगवद् ज्ञान वेद भगवान के विषय में है। कोई उसमें आर्यों का इतिहास देखता है, कोई उसमें प्राचीन भूगोल की दशा, कोई ईरानी और भारतीयों का युद्ध उसमें छांटता है, कोई बर्बरता और अश्लीलता भरी प्रथाओं का वर्णन उसमें पा रहा है। कोई कहता है यह आर्यों के इतिहास की सामग्री है तो कोई इसमें भी दूर की कौड़ी लाया है और वेद भगवान को बेबिलोनियन व सुमेरियन जाति की सभ्यता का ज्ञापक बता रहा है। हमें आशंका है कि वेद में "जार" शब्द को देख कर रूस के "जार" की स्तुति का पुस्तक कोई इसे न बताने लगे। मतवालों की और भी विचित्र लीला है। जैन विद्वान् वेद में आये हुए चक्र की नेमि (पहिये का हाल) को देख कर उसमें अपने तीर्थङ्करों के नाम छांट रहे है। वैष्णव "मयूख" शब्द के वराहावतार अर्थ कर रहे हैं। परन्तु वेद भगवान् के निज स्वरूप को जानने की चिन्ता इन्हें कम है। अरूप भगवान् का वास्तविक वाचामगोचर चिदानन्दमय रूप भी तो है और वह आत्मानुभवगम्य है। इसी प्रकार वेद भगवान् का शब्दार्थ से भी ऊंचा उठा हुआ वास्तविक अर्थ है, जिसको ऋषियों ने साक्षात किया था जिन्होंने साक्षात्किया वे ऋषि कहलाये और कहलायेंगे। वेद मन्त्रों पर जो ऋषियों के नाम लिखे हैं वे किसी व्यक्ति विशेष के नाम नहीं किन्तु जो उन मन्त्रों के अर्थ को साक्षात अनुभव से जाने उसका वही नाम हो जावेगा जो कि उस मन्त्र पर लिखा है। आज भी मनुष्य त्रित अगस्त्य, विश्वामित्र मत्स्य आदि हो सकते है, लौकिक कविताओं पर भी वैरागी, कोकिल घट, बुलबुल, परवाना आदि नाम पड़े पाये जाते हैं। क्या वे उस कविता के कर्त्ताओं के नाम हैं? कदापि नहीं। जहां मन्त्र कृत" शब्द वेद में आता है उसके अर्थ भी सब विद्वान द्रष्टा ही के करते रहे हैं। इडा मकृण्वन मनुष्यस्य शासनीम" यहां भी करने वाले से अर्थ द्रष्टा का है।

साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः, निरुक्त १-२०
ब्रह्मतत्व का निरूपण उस को साक्षात करने वाले ऋषियों ने जैसा किया है वैसा ही मानने में वास्तविकता हाथ आ सकती है। क्योंकि ब्रह्म कल्पनातीत है इस में मनमानी का काम नहीं। वेद क्या हैं, यह बात बताने के लिये अधिकारी वेद वाले ही हैं जिनकी कि वेद चिर काल से सम्पत्ति हैं। वह क्या कहते हैं? सुनिये:—

भूतं भव्यं भविष्यच्च सर्वं 'वेदात्प्रसिद्ध्यति, वेदोऽखिलो धर्म मूलम। धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः।

विदन्ति ज्ञायन्ते लभ्यन्ते वा एभिर्धर्मादि-पुरुषार्था इति वेदाः। विष्णुमित्र। प्रत्यक्षानुमानागमेषु प्रमाण विशेषेषु अन्तिमो वेदः।

समय बलेन सम्यक् परोक्षानुभव साधनं वेदः।

इष्ट प्राप्त्यनिष्ट परिहारयोर लौकिक मुपायं यो वेदयति स वेद।

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते ।
एतं विदन्ति वेदेन, तस्मात् वेदस्य वेदता ॥

अलौकिकं पुरुषार्थोपायं वेत्त्यनेनेति वेद शब्द निर्वचनम् । सायणः

वेद एव द्विजातीनां निःश्रेयसकरं परम ।
इति याज्ञवल्क्यः १-४०

धर्मार्थ काम मोक्ष का उपदेष्टा, सर्वोपरि शब्द प्रमाण, परोक्ष को बताने वाला इष्ट अनिष्ट का परिचायक, अलौकिक पुरुषार्थ को बताने वाला आर्यों का सर्वस्व, विश्वम्भर का एकमात्र धर्म पुस्तक वेद है । इस धारणा को लेकर जब चलिये तो वेदो को अध्यात्मज्ञान का भण्डार पाइयेगा । फिर इतिहास और बर्बर प्रथाओं का रहस्य खुलने लगेगा । केवल दृष्टिकोण का भेद है ।

भावना की बात है, भावना भेद से अर्थभेद साधारण हिन्दी काव्य मे भी हो जाता है फिर वेद की भाषा तो हम से काल की बहुत दूरी रखती है ।

देखिये, मीराजी का एक पद है:—

गली तो चारो बन्द भई, पिया से मिलूँ कैसे जाय ।
ऊँची नीची राह रपटीली पाँव नही ठहराय ।
सोच सोच पग धरूँ जतन से बार बार डिग जाय ।
ऊँचा नीचा महल पिया का हम से चढ़ा न जाय ।
पिया दूर पथ म्हारा झीना सुरत झकोरे खाय ।

इस पद से भक्तमुकुटमणि मीरा के लौकिक कान्त और उसका महल, मार्ग की कठिनाइयां, क्या यह ही बातें निकाली जा सकती हैं ? क्या यह पद विप्रलम्भ शृंगार को प्रकट कर रहा है ? या भगवान मे भक्त के रति भाव को जाहिर कर रहा है ? इस पद से महारानी मीरा का भगवान मे अपार प्रेम विरह रूप मे प्रकट हो रहा है । ऐसी भक्ति को सूफी लोग "फिराक़" कहते हैं । इन पदो का अभिधात्मक अर्थ नहीं होता किन्तु व्यञ्जनात्मक अर्थ ही रहस्य को खोलता है । और इन अर्थों का साक्षात्कार उन योगियों को ही हो सकता है जिनका हृदय मीरा के समान भगवान् के अनुराग मे पग गया हो, अथवा उनकी कृपा से श्रद्धालु भक्तों को, जो सहृदय भी हों इसका कुछ स्वाद मिल सकता है । ये तो पारलौकिक परोक्ष वर्णन के काव्य हैं । ऐहलौकिक वर्णन वाले काव्य भी बिना सहृदयता के स्वाद नहीं देते । इसी लिये साहित्य दर्पणकार ने रसनिरूपण मे कहा है ।

न जायते तदा स्वादो बिना रत्यादि वासनाम् ॥

अब ऊपर वाले मीरापद मे निम्नलिखित वेद मन्त्र को मिलाइयेः—

नदस्य मा रुधतः काम आगन्नित आजातो अमुत कुतश्चित । लोपामुद्रा वृषणं नीरिणाति धीरम धीरा धयति श्वमन्तम । ऋक् मं० १-सू० १७६ मं० ४

इस मन्त्र मे लोपामुद्रा और इसी सूक्त मे अगस्त्य ये दो शब्द देखकर लोगो ने वेद मे लोपामुद्रा और उसके पति अगस्त्य का इतिहास कल्पित कर डाला और निरुक्त में "इत्यर्षि पुत्र्या विलपितं वेद-मन्त्रे" देखकर एक पामर ने हम से कहा कि ये लोपामुद्रा का विलाप उस समय का है कि जब उसमे नन्द नाम के किसी ऋषि कुमार ने बलात्कार किया । इस मन्द मति भाई ने वेदानभिज्ञ जनता मे लेख और व्याख्यानो द्वारा खूब ही अज्ञान फैलाया । परन्तु वास्तव मे जिस प्रकार वेदो के ऋषि कल्पित हैं इसी प्रकार ऋषिपुत्र और ऋषिपुत्रियां भी कल्पित हैं; हां वेद मन्त्रो से शब्द ले लेकर नाम अनेक ऋषि मुनियो के रक्खे अवश्य गये । जैसा कि मनु महाराज ने कहा है:—

नाम रूपे च भूतानां कर्मणाञ्च प्रवर्त्तनम्
वेद शब्देभ्यएवादौ निर्म्ममे स महेश्वर. ।

अगस्त्य शब्द उपर्युक्त सूक्त में किसी व्यक्ति विशेष का नाम नही किन्तु अग-स्थिर हुआ-स्त्य. अनाहत शब्द प्रकट करने वाला वा सुनने वाला (स्त्यै-शब्द संघातयोः) स्थिर धीर योगी जिसकी पहुंच अनाहत (अनहद) शब्द तक हो उसकी वृत्ति सुरति वा ध्यान ही लोपामुद्रा है । लोपा, लुप्त, लोप हो गयी है, मुद्रा, विचार धारा जिसकी वह अर्थात् कुल विचार इधर उधर के ख्याल जिसको न घेरें वह

एकाग्रवृत्ति शून्य (सुन्न) को प्राप्त हुई वृत्ति लोपामुद्रा कहाती है। यह उस योगी की पत्नी है। विलाप-यह ब्राह्म बचन का एक भेद है, संज्ञा विशेष है। ब्राह्म बचन ५ प्रकार का होता है—स्वायम्भुव, ऐश्वर आर्षम्, आर्षीकम्, आर्षीपुत्रकम्। आर्षीपुत्रम् बचन विलाप कहाता है और वह अस्पष्ट संन्दिग्ध सा होता है जैसा कि उक्त मंत्र है, इसी कारण ऐसे मन्त्रों को ऋषिपुत्र बचन कहा। यह बालकों के से अस्पष्ट काव्य हैं। वस्तुतः न तो यह मंत्र ऋषि पुत्रों के रचे हैं और न कोई अन्य मन्त्र ऋषियों के बनाये हैं। मन्त्रो की कविता की शैली के कारण उनके ये विभाग हैं यथा—

अविस्पष्ट पद प्रायं यच्च स्वाद्बहुसंशयम
ऋषि पुत्र वचस्तत्स्यात्ससर्व परिदेवनम
काव्यमीमांसा।

अब प्रस्तुत वेद मन्त्र का अर्थ देखिये:—

यहाँ भगवान् के प्रकाश की झलक पा जाने वाले आत्मा के आनन्दोद्रेक का गद्-गद् उल्लास है। गद्-गद्-भाव प्रदर्शित करने के लिये अविस्पष्ट पदप्राय काव्य ही होना चाहिये। जैसा कि उपर्युक्त काव्य मीमांसा में कहा है। ऐसे वचन वर्णन शैली के कारण ऋषि पुत्र व ऋषि पुत्रिका वचन कहलाते है। प्रकृति की सूक्ष्म धाराओं के शब्द को सुरत + शब्द योग के द्वारा सुन कर जीव को जब उल्लास होता है तब वह कहता है।

नदस्य मा रुधत. काम आगन,
नदस्य स्तुति कर्मणः (निरुक्त ५—२)

भगवान् की स्तुति करने वाले शब्द का, रुधतः-संरुद्ध प्रजननस्य ब्रह्मचारिणः, जिसने प्रजनन अर्थात् विचारधाराओं को उत्पन्न करना रोक दिया है, जो केवल ब्रह्मरत हो गया है, ऐसे शब्द का ओमादि किसी ब्रह्म वाचक नाम का, मा–मुझे, कामः—आनन्द, आ × अगन—सब ओर से प्राप्त हुआ है।

इत आजातो अमुतः कुतश्चित्।

ये आनन्द इस शब्द में से आया वा और कहीं से आया? लोपामुद्रा वृष्णं नीरणाति।

अपने को भूली हुई सुधबुध बिसारे हुए वृत्ति वा सुरत आनन्द वर्षाने वाले किसी अनिर्वचनीय तत्त्व की ओर चली जा रही है।

"धीरमधीरा धयति श्वसन्तम्" उस धीर निश्चल अटल एकरस चेतन आनन्द को अधीर हुई बेक़रार हुई (वृत्ति) पान करती है। तात्पर्य यह है कि जब स्तुति के शब्द अन्तर्मुख हो जाते हैं; बाह्य विचार धारायें रुक कर अपने केन्द्र की ओर गमन करती है; तब योगी को उस शब्द का रस ऐसे ही आता है जैसे कि लौकिक बाजो का रस संसारी रसिकों को। जीव उस समय आनन्द प्राप्ति से चकित हो जाता है। वह कहता है। अहा! यह अलौकिक आनन्द कहां से आया। उसकी अहंभाव की मुद्रा लोप हो जाती है। वह उस आनन्द की ओर खिंचा चला जाता है। यह पहली बार ब्रह्मानन्द की झलक पाजाने वाली योगी की अवस्था का वर्णन है। यहां ऐसे शब्द रक्खे गये हैं जो ऊपर से अभिधा वृत्ति द्वारा प्रथम प्रिय समागम प्राप्त नवयुवति मुग्धा नायिका की दशा की प्रतीति कराते हैं। पर व्यञ्जना वृत्ति इनका रहस्य खोलती है और प्रथम बार ब्रह्मानन्द प्राप्त योगी की दशा रूप व्यंग्यार्थ की प्रतीति कराती है। वेद काव्य हैं सर्वोत्तम काव्य हैं। (पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति) सर्वोत्तम काव्य ध्वन्यात्मक ही होता है। इसी से श्रोताओं को रसास्वाद होता है। जो लोग ऐसे अटपटे शब्दों के कारण वेदों को गुप्त भाषा (Code words) कह कर ताना देते हैं उन शुष्क हृदय भाइयों को समझ लेना चाहिए कि लौकिक ध्वनि काव्य के अधिकारी यदि काव्य वासना रहित अरसिक नहीं हो सकते तो ऐसे रहस्यमय अर्थ वाले मन्त्रों के अधिकारी भी योगी जन ही हैं। वेद में सर्व साधारण के योग्य प्रार्थना और उपदेश मन्त्र भी हैं और दार्शनिक गम्भीर विचारों से भरे मन्त्र भी, तथा कविहृदय रखने वाले रसिक सहृदय जनों के लिए भी इसमे पर्याप्त सामग्री है, क्योंकि वेद भगवान् मनुष्यमात्र के लिए हैं। अतः इसमें योग के रहस्यमय वर्णन

+ सुरत शब्द योग के लिए कबीर और राधा-स्वामियों के ग्रन्थ पठनीय हैं।

भी होनी ही चाहिए। जिस प्रकार मीराजी के पदार्थ का साक्षात् भक्त ही को होता है उसी प्रकार इस मन्त्र का रस भी योगी ही पा सकते हैं। मीरा जी के पद के लौकिक अर्थ लगाकर जैसे उस पद के संग अत्याचार करना होगा ठीक इसी प्रकार इस मन्त्र में लौकिक बातों को टटोलना मन्त्र के तात्पर्य से दूर भागना है। ऐसे ढंग के वर्णन के कारण ही इस मन्त्र का महत्व है। यह ध्वनि काव्य में गिनने योग्य है। कबीर जी के निम्नलिखित पद को इस मन्त्र से मिलाइए:—

> हूँ वारी मुख फेर पियारे ?
> करवट दे मोहिं काहे को मारे
> हम तुम बीच भया नहीं कोई।
> तुम सो कन्त नारि हम सोई

क्या इस पद से—कबीर स्त्री थे ? उसकी काम कथा का यह वर्णन है—यह परिणाम निकाला जा सकता है। या वहां महात्मा कबीर अपने प्यारे प्रभु से एकदम एक न हो जाने की शिकायत कर रहे हैं ? देखिये नीचे लिखा पद, एक प्रसिद्ध अद्वैतवादी सूफी निर्भय जी का है:—

> श्याम मोहन के गरे सों लगी।
> सखि ! मैं सब दुख भूलि गई
> चितवन से चितवन मिली, बैठि गई सिर नाय
> प्रेम प्रीति की रीति में सुरत झकोरा खाय
> दो मन का इकतन हुआ सुधबुध गई बिसराय
> 'निर्भय' जाने फिर क्या हुआ भेद ज्ञान रहो नाय।

दो तन का एक तन करके समाधि अवस्था में कैसा अभेद दर्शाया है। सुरत शब्द कैसा श्लिष्ट है। "निर्भय" जाने फिर क्या हुआ, इससे ब्रह्मानन्द की अनिर्वचनीयता प्रकट की गई है। इसी प्रकार वेद मन्त्र में "इत आजातो अमुतः कुतश्चित्॥" तथा लोपामुद्रा॥ इन शब्दों से ब्रह्मानन्द की अलौकिकता अनिर्वचनीयता जीव का आश्चर्यमग्न होना प्रकट किया गया है। काम शब्द से ब्रह्मानन्द को तमोगुणी काम सुख से मिला कर इसी लिए वर्णन किया है कि संसारी जन यह जान सकें कि तमोगुणी कामसुख यदि वर्णन से बाह्य है तो—त्रिगुणातीत ब्रह्मानन्द कैसे वर्णन में आ सकता है ? जब क्षणिक राजस कान्तासमागम सुखपूर्ण प्रतीत होता है तो अलौकिक भगवत्समागम अपार आनन्द सागर में मग्न कर क्यों नहीं विभोर बना सकता है ? सहृदय संसारी जन को भगवान की ओर प्रवृत्त करने के लिये यह अलंकारात्मक मनोहर वर्णन है "इश्क-मजाज़ी" से इश्क हक़ीक़ी की ओर ले जाने के लिये यह प्रयत्न है। इसी प्रकार एक दूसरा मन्त्र देखिये

> त्रितः कूपेऽवहितो देवान् हवत ऊतये, तच्छुश्राव बृहस्पतिः कृण्वन्नंहूरणादुरु वित्तं मे अस्य रोदसी।
>
> ऋक् मण्डल १ सू० १०५ मं १७

अर्थ—कूपेऽवहितः त्रितः—कुएं में पड़ा हुआ त्रित सावधान होकर (त्रितस्तीर्णतमो मेधया बभूव, अपि वा संख्या नामैवाभिप्रेतं स्यादेकतो द्वितस्त्रित इति त्रयो बभूवु, निरुक्त ४।६)

अर्थात् संसार रूप कूप में फंसा हुआ जीवात्मा जो कि अविद्यान्धकार को तर चुका है या एक दो से ऊपर उठ चुका है अर्थात् सर्व साधारण से ऊँचा उठ गया है, गुरूपदेश या सत्संग के प्रभाव से जिसका मोह रूपी आवरण दूर हुआ है उसका यह वर्णन है। सत्संग के प्रभाव से कुछ प्रकाश पाकर जीव पश्चात्ताप करता है। यहाँ त्रित कोई खास मनुष्य नहीं किन्तु ऐसे त्रित हुए हैं और होते रहेंगे। वह त्रित देवान हवत ऊतये—अपनी रक्षा के लिये संसार कूप से निकल कर कैवल्यानन्द लेने के लिये देवताओं को पुकारता है, ज्ञानी गुरुओं की खोज करता है, जड़ चेतन अखिल ब्रह्माण्ड को अपने प्रिय प्रभु के वियोग का दुःख सुनाता है। वित्तं मे अस्य रोदसी—द्यावा-पृथिवी मेरे दुःख को जाने अर्थात् सर्वलोक वासी प्रभु मेरी पुकार सुने। विश्व भर के ज्ञानी मुझे शरण दें।

कृण्वन्नंहूरणादुरु—

अंहूरणात्—पाप और सन्ताप से उरु कृण्वन्—ऊँचा करता हुआ। बृहस्पतिः + तत् + शुश्राव—सब लोकों का स्वामी परमेश्वर या ज्ञानी विद्वान ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रिय गुरु उसकी पुकार को सुनता है।

यहाँ कोई भी व्यक्तिगत इतिहास नहीं है। कथा रूप मे रोचक वर्णन है। यह वर्णन की एक शैली है। निरुक्तकार कहते हैं "तत्रेतिहासमिश्रमृङ् मिश्रं गाथामिश्रं भवति" वेद का उपदेश इतिहास रूप ऋचा रूप और गाथा रूप होते हैं। अधिकारी भेद से उपदेश प्रकार का भेद है। कहीं साधारण रूप मे, उपदेश दे दिया कहीं कहानी रूप से, कहीं इतिहास के ढंग मे। इतिहास और आख्यान रूप मे दिया उपदेश सुकुमारमतियो के लिये अधिक प्रभावशाली होता है। परन्तु यह वास्तविक इतिहास नहीं वेद के मर्मज्ञ विद्वानो की ऐसी ही सम्मति है। माननीय स्वर्गीय सत्यव्रत सामाश्रमीजी लिखते है—"वैदिकाख्यायिकाको वृत्तान्तभागस्तु सर्वथोपमानादिमूलक', परिकल्पितोऽसत्य इत्येव सिद्धान्तितं मीमांसा दर्शने" ऐतरेयालोचन पृष्ठ ४० ।

एवमाख्यान स्वरूपाणां मन्त्राणां यजमाने नित्येषु च पदार्थेषु योजना कर्त्तव्या। एष शास्त्रे सिद्धान्त। औपचारिको मन्त्रेष्वाख्यान समय, परमार्थतस्तु नित्य पक्ष', निरुक्तभाष्ये स्कन्द स्वामी।

पुराणो मे भी आख्यान रूप उपदेश बहुत आते है। महाभारत मे शृगाल गीता है। क्या शृगाल और गृद्ध की ऐसी ज्ञान भरी बाते हुई होगी जैसी कि इस गीता मे वर्णित हैं ? कदापि नहीं ? हाँ महाभारत ने इस प्रकार से एक उत्तम उपदेश दिया है। ऐसी ही एक कथा पुराणो मे और है। एक सेठ अँधड़ मे फँस कर असावधानी से कुए मे गिरता है। अन्धकार मे ही कुए मे लटकी हुई वृक्ष की जड़ें उसके हाथ पड़ जाती हैं। उन्हें पकड़ वह लटक जाता है। वृक्ष पर लगे हुए शहत के छत्ते से एक एक बूँद उसके ऊपर को उठे हुए मुख पर गिरती है। इसके स्वाद से वह अपनी दशा को भूल जाता है। यकायक बिजली चमकती है तब उसे दिखाई देता है कि जिस जड़ को वह पकड़े हुए है उसे सुफेद और काले दो चूहे काट रहे हैं। नीचे देखता है तो अजगर सर्प मुंह फाड़े बैठा है। क्या यह इतिहास है ? सेठ जीव है, अन्धड़ वासना, कुआ, संसार, वृक्ष की जड़ें आयु, शहद संसारी सुख, दिन रात चूहे, अजगर मृत्यु है।

ऐसी ही हिन्दी मे एक कविता है जिसका शीर्षक "घट" है:—

कुटिल कंकड़ो को कर्कश रज मलमल कर मेरे तन मे।
किस निर्भय निर्दय ने मुझको बाधा है इस बन्धन मे।
…काँप रहा हूं भय के मारे हुआ जा रहा हूं म्रियमाण।
ऐसे दुखमय जीवन से हा! किस प्रकार पाऊँ मैं त्राण।
…भगवन् हाय बचालो अब तो तुम्हें पुकारूँ मैं जबतक।
हुआ तुरन्त निमग्न नीर मे आर्तनाद करके तब तक।
अरे कहाँ वह गई रिक्तता, भय का भी अब पता नहीं।
गौरववान हुआ हूं सहसा बना रहूं तो क्यो न यहीं।
पर मे ऊपर चढ़ा जा रहा उज्वलतर जीवन लेकर।
तुम से उऋण नहीं हो सकता यह नव जीवन भी देकर।

क्या इस कविता मे वस्तुतः यह घड़े के उद्गार है वा प्रारम्भ मे विद्या-श्रम से डरने वाले तपश्चर्या के कष्ट से घबराने वाले विद्यार्थी और तपस्वी के मनोभाव हैं ? और उसके सफल जीवन हो जाने की दशा का वर्णन है ? निरुक्त मे वर्णन है। जलबद्ध मत्स्य ऋषि की कथा भी इसी प्रकार है। निरुक्तकार ने "मत्स्यानां जालमापन्नानामेतदार्षं वेदयन्ते" जो लिखा है वह सचमुच मछलियो की कथा नहीं है किन्तु संसार रूपी जाल मे फंसे हुए आत्मिक ज्ञान रूप जल के अभिलाषी भक्तों की भावना है। भक्त प्रकाश-स्वरूप आदित्य नाम वाले प्रभु की स्तुति करते हैं जिससे कि वे आनन्द मे रह सके। जिस प्रकार मछली पानी बिना बेचैन हो जाती है उसी प्रकार भक्त भगवान के बिना बेचैन हो जाता है। ऐसे ही अनेक स्थल रहस्यो से भरे पड़े है। उनकी वास्तविक सुसंगति है। लेख के कलेवर बढ़ जाने के भय से यहाँ इतने पर ही समाप्ति की जाती है। वेदार्थ रहस्य के जिज्ञासुओं को चाहिये कि वेद को आर्य दृष्टि-कोण से पढ़ें तभी उन्हें सदर्थ खुलेगा। वेद के वास्तविक स्वरूप के दर्शन होंगे।

वेद भगवान् कहते हैं:—

उतत्वः पश्यन्न ददर्श वाचम, उतत्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्, उतोत्वस्मै तन्वं विसस्रे, जायेव पत्य उशती सुवासाः। ऋक् १०-७१-४। कोई वेद वाणी को देखता हुआ नहीं देखता। कोई सुनता हुआ नहीं

सुनता। और किसी के लिये कामना करते हुए वस्त्रालंकार भूषिता रमणी के समान वेद वाणी अपने स्वरूप को प्रकट कर देती है। कुभावना से पूर्ण हृदय वाला वेद को पढ़ कर भी मर्म नहीं पाता। सुभावना से युक्त श्रद्धालु वेद वाणी के स्वरूप को जानता है।

वेद को दिवाकर

रचयिता—श्री० पं० मेधाव्रत आचार्य आर्यकन्या महाविद्यालय (बड़ौदा)

[राग—भैरवी—स्थायी]

वेद को दिवाकर राजत, तिमिर हरैया,
मोदत मनुज नारी। वेद को०—

अन्तरा।

१—विकसैं ज्ञाननयन कंज सुन्दर;
भागे तम निशिचर, गावत सन्त खगाली। वेद०—

× × × ×

२—उठि के मोह रजनी अन्त मानव,
न्हाते विद्या गंगाम्बुसे, इन्द्रियदोष पखारी। वेद०—

× × × ×

३—बिनसैं मंत्र किरण वृन्द मंजुल,
बन्दै ब्रह्म बन्दी गण, इन्द्रन सूक्त उचारी। वेद०—

× × × ×

४—जग में शान्ति पवन। मन्द।शीतल,
ठारैं ताप त्रिविधन, जीवन सौख्य पसारी। वेद०—

× × × ×

५—चढ़ि के ज्ञान-तरणि तीर्थ पावन;
दिव्यानन्द पावैं मुनि, भक्तन पार उतारी। वेद०—

आक्षेप—निरसन

(संवादरूप में)

ले० श्री पं० नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ

पू०—वेद मन्त्र निरर्थक हैं।

उ०—क्यो ?

पू०—इस लिए कि इनका कोई अर्थ नहीं।

उ०- जैसे लोक मे शब्द सार्थक होते हैं वैसे ही वेदो के शब्द भी सार्थक हैं। बतलाइये, "क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे" यह एक वेद मन्त्र है, इसके अर्थ आपकी समझ मे आते है अथवा नही। इसके शब्द लौकिक शब्दो से सर्वथा मिलते जुलते हैं।

पू०—यह मन्त्र तो समझ मे आता है।

उ०—फिर यह कैसे कहते हो कि वेद मन्त्र निरर्थक हैं।

पू०—अनेक शब्दो का अर्थ समझ मे ही नहीं आता और अनेक शब्दो का अर्थ स्पष्ट नही—

उ०—आपकी समझ मे। यदि अन्ध पुरुष सामने खड़े हुए वृक्ष को नही देख सकता तो वह वृक्ष का अपराध है कि उस अन्ध पुरुष का ?

पू०—उस अन्ध पुरुष का—

उ०—इसी प्रकार यदि आपको किसी शब्द का अर्थ नही आता अथवा नही सूझता तो यह आपका ही अपराध है न कि वेद का।

पू०—वेद मन्त्रों के अर्थ होते तो फिर उनके अर्थ के लिये ब्राह्मण ग्रन्थों की क्या आवश्यकता है। इससे ज्ञात होता है कि मूल मन्त्रो का कुछ भी अर्थ नहीं, ब्राह्मण ही उनके कुछ का कुछ अर्थ कर डालते हैं।

उ०—यह आपका भ्रम मात्र है। वेद में जो मूल बीजरूपसे अर्थ हैं, ब्राह्मण ग्रन्थ उन्हीं का विशुद्धरूपमें व्याख्यान करते हैं अपनी ओर से कुछ नहीं कहते जो वेद मन्त्र में न हो—

पू०—वेद मन्त्र के शब्द व क्रम बंधे हुए है—एक शब्द के स्थान मे दूसरा समानार्थक शब्द रख दिया जाय अथवा, क्रम अथवा आनुपूर्वी बदल दी जाय तो वेद मन्त्र ही नही रहता—

उ०—लोक मे भी तो क्रम रहता है, नही बदलता 'पिता पुत्र' कहते हैं 'पुत्र पिता' ऐसा नहीं बोला जाता, "इन्द्राग्नी" कहते है "अग्नीन्द्र" नहीं। अब रही एक शब्द के स्थान मे समानार्थक अन्य शब्द रखने की बात सो आपको लोक मे भी किसी के ग्रन्थ की रचना बदलने का, क्रम बदलने का अधिकार नहीं रहता वेद तो ईश्वरीय कृति है, इसमे परिवर्त्तन करने का आपको क्या अधिकार है।

पू०—वेदमन्त्रो मे परस्पर विरोध है—

उ०—कहाँ ? एकाध उदाहरण दीजिये।

पू०—एक स्थानपर कहा है कि—'एक एव रुद्रो अवतस्थे न द्वितीयः एक ही रुद्र है, दूसरा नहीं। दूसरे स्थान मे कहा है "असंख्याता सहस्राणि ये रुद्रा अधि भूम्याम्") अगणित रुद्र बतलाये हैं—ये क्या है।

उ०—जब केवल रुद्र का विषय आया है वहाँ एक रुद्र कह दिया किन्तु जब उसकी अनन्त शक्ति को भी साथ लिया तब उसको अगणित बतलाया--वेदों के अर्थ तीन प्रकार से होते हैं—वेदो का अर्थ वेदों से, तर्क से और प्रकरण अथवा पूर्वापर संगति से।

अथवा

(१) उपक्रम, (२) उपसंहार (३) अभ्यास, (४) अपूर्वताफल (५) अर्थवाद और (६) उपपत्ति।

इन छह लिङ्गों से वेदमन्त्रो का अर्थ जानना चाहिए। ऊपर ऊपर के शब्द देख लिए और झट कुछ का कुछ अर्थ कर डाला यह प्रकार अनर्थक है। यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिये; कि ये हैं वेद और इनका अर्थ इसी की निर्वचन पद्धति से होना चाहिये।

पू०—वेदों मे पुनरुक्ति बहुत है। पुरुषसूक्त चारो वेदों मे आया है। गायत्री मन्त्र चारों वेदों मे है—एक २ बात कई २ बार आई है।

उ०— पुनरुक्ति किसको कहते हैं।

पू०— बार २ एक ही प्रकार की रचना का उन्हीं शब्दों से आने का नाम पुनरुक्ति है।

उ०—नहीं, यह बात नहीं। निरर्थक अभ्यास का नाम पुनरुक्ति है। सार्थक अभ्यास का नाम अनुवाद है। लोक मे भी इस प्रकार देखा जाता है। "जल्दी २ आओ" इसका अर्थ बहुत शीघ्रता से आने का है। यहाँ 'जल्दी, जल्दी' ये दो शब्द निरर्थक नहीं सार्थक हैं—

पू०—अच्छा और तो और वेदों मे इतिहास है, देशो के नाम है, नदियो के नाम है।

उ०—नहीं हैं। ये तो केवल सुनने मे और अक्षर वर्णों की समानता के कारण आधुनिक नामो से मिलते जुलते प्रतीत होते हैं—इसी कारण तो पाश्चात्य विद्वान भी भ्रम मे पड़ गये है और वेदों को इतिहास परक लगाते हैं—बहुत से भारतीय विद्वान भी इसी सन्देह में पड़े हैं—

पू०—वेदो मे वृत्रासुर युद्ध तो स्पष्ट आया है। पुराणों में भी वृत्रासुर युद्ध आया है।

उ०—निरुक्तकार ने इसका अच्छा उत्तर दिया है। वह वृत्रासुर युद्ध का प्रकरण मेघ और मेघ प्रेरक अथवा मेघकारक वायु इन्द्र का युद्ध है और अलंकार रूप में आया है।

पू०—वेद मन्त्रो मे कई स्थानों पर ऋषि मुनियों के नाम आये हैं जैसे वशिष्ठादि।

उ०—वहाँ वशिष्ठ शब्द 'एकोऽवशिष्ट' = वशिष्ठ अग्नि का वाचक है लौकिक ऋषि का वाचक नहीं है। इसी प्रकार अन्य शब्दों के विभिन्न अर्थ है—उन शब्दों को देख कर उसी नाम वाले अर्वाचीन ऋषि-मुनियों का नाम समझ लेना बड़ी भारी भूल है। सायणाचार्य ने भी अपनी भाष्य भूमिका मे इसी प्रकार की उक्ति से ऐतिहासिक पक्ष का खण्डन किया है।

पू०—वैदिक ऋषि देवताओं को (अग्नि, वायु, आदित्य आदि को) चेतन मानते है—

उ०—एक पक्ष अवश्य ऐसा था जो देवताओं को चेतन मानता था किन्तु ये देवता तो जड़ है और कर्मात्मक है—इन सब का चेतन अधिष्ठाता प्रेरक परमात्मा है।

"भयादस्याग्निस्तपति, भयात्तपति सूर्यः, भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चम "— इत्यादि—

जिस प्रकार यज्ञ जड़ कर्मात्मक है और चेतन यजमान के कारण वह चेतन कहलाता है यही बात यहाँ भी समझ लेनी चाहिए।

पू० —वेदों की आवश्यकता ही क्यों पड़ी?

उ०—अल्पज्ञ मनुष्य नामक प्राणी को कर्तव्या कर्तव्य प्रबोधन के लिये।

पू०—वेदों मे क्या है—

उ०—विधि-निषेध रूपक कर्मों का उल्लेख और उनका फल निर्देश जिससे मनुष्य संसार मे आकर सुखपूर्वक जीवन व्यतीत कर सके—यथा

> कुर्वन्नेवेह कर्माणि,
> जिजीविषेच्छतं समाः।
> एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति,
> न कर्म लिप्यते नरे ॥
> ईशा वास्यमिदं सर्वं,
> यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
> तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा
> मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।

इत्यादि इत्यादि—

पू०—और?

उ०—मनुष्योपयोगी समस्त ज्ञान-विज्ञान मूलरूप में वेदों मे आगया है। उसी के विस्तार द्वारा मनुष्य सब कुछ जान सकता है, प्राप्त कर सकता है।

पू०—यह आपका ही मत है कि किन्हीं और पूर्वजों का भी।

उ०—मनुमहाराज स्वयं कहते हैं कि—

भूतं भव्यं भविष्यं च
सर्वं वेदात्प्रसिद्धयति ॥
(अध्याय १२)

समस्तशास्त्रकार उपनिषत्कार ब्राह्मणकार, इसी बात को मानते हैं।

पू०—वेद चार ही क्यों?

उ०—विषय भेद से, प्रत्येक वेद का मुख्य विषय एक है, ज्ञान कर्म उपासना भेद से येही चार तीन कहलाये जाते हैं।

पू०—चार ही ऋषियो पर क्यो प्रकट हुए।

उ०—सृष्टि के आदि मे मुक्ति मे लोटे हुए प्रथम चार शुद्ध हृदयो ऋषियो के हृदयो मे प्रगट हुए परमात्मा की प्रेरणा से। जब मनुष्य उत्पन्न हुए, तब उनके लिए ज्ञान की आवश्यकता थी ही।

पू०—वेद ईश्वरकृत हैं इसमे वेदो मे भी कोई प्रमाण है अथवा नहीं।

उ०—अवश्य, कई प्रमाण मिलते हैं—

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत.,
ऋचः सामानि जज्ञिरे ॥
छन्दा ँ सि जज्ञिरे तस्माद्
यजुस्तस्माद जायत ॥ (ऋ०)
अथर्ववेद मे भी कई मन्त्र है—

पू०—चार ही तो वेद हैं पर उनके इतने परस्पर विरोधी भाष्य क्यो—पाश्चात्य विद्वान और पौरस्त्य विद्वानों तथा मन्त्रद्रष्टा ऋषियो की दृष्टि मे इतना भेद क्यो?

उ०—विद्या तप की न्यूनता अधिकता निर्वाचन पद्धति की विभिन्नता के कारण बुद्धिभेद होगया है और इसी लिए इतना अन्तर—

पू०—स्वामी जी के भाष्य से भी हृदय की परितृप्ति नहीं होती—

उ०—स्वामी जी स्वल्प काल मे क्या क्या कर लेते—वेदो का प्रचार करते, प्रसार करते, जनता का बुद्धिभ्रम मिटाते, प्रतिद्वन्द्वियों से शास्त्रार्थ करते, भारतभर का भ्रमण करते, मतमतान्तरों से भिड़ते पाश्चात्यो से टक्कर लेते, ग्रंथ लिखते, भाष्य करते अथवा क्या क्या करते-वे जो कुछ भी कर गये वह तो एक अद्भुत चमत्कार है-अब तुममे विद्याबुद्धि तप हो तो बढ़ो आगे-वे तो मार्ग दर्शक थे, मार्ग बतला गये-अब तुम उस मार्ग पर चलो-वे जीवित रहते तो और भी बहुतसा अद्भुत काम कर जाते। उन का काम अपूर्ण रह गया, ईश्वरेच्छा, अब तो उनके तेजस्वी शिष्योपशिष्य-प्रशिष्य परम्परा पर ही सब कुछ निर्भर है-स्वा० जी भाष्य का प्रकार बतला गये और वेदो को निष्कलंक कर गये और स्वा० जी से आप क्या चाहते थे—

पू०—आपके विचार ज्ञात हुए, इसपर हम मनन करेंगे और कुछ प्रष्टव्य होतो फिर पूछेंगे अच्छा नमस्ते०

—उ०नमस्ते०

[जो वाचक संस्कृत नहीं जानते उनके बोधके लिये संवादरूप मे यह प्रकरण लिखा है-जहाँ तक संभव था लेख मे सरल शब्द तथा सरल पद्धति का अनुसरण किया गया है।

मुख्य संपादक

कृतादि शब्दों की व्युत्पत्ति

[ले०—आचार्य श्री० पं० हरिदत्तजी शास्त्री पञ्चतीर्थ]

कृत—अकृत पदार्थ असत्य होता है अतः कृतसत्य को कहते है। अतएव कृतयुग सत्ययुग कहलाता है। अथवा "कृतो" इत्यादि प्रयोगो के देखने से कृत नाम पुण्य का है—तत्प्राय होने से युग भी कृतयुग कहाता है।

त्रेता—तीन अंशो को प्राप्त हुआ होता है अतः द्वितीय युग त्रेतायुग कहाता है क्योंकि इसमे चतुष्पाद् धर्म का एक हिस्सा नष्ट हो जाता है।

द्वापर—दो हिस्सो मे पर—रहित होता है अतः द्वापर कहलाता है।

कलि—कलह, पाप, प्रधान होने से कलियुग पाप प्रधान युग है।

कृत शब्द प्रथम युग मे, चार अङ्क युक्त मे, और अक्षपात मे प्रयुक्त होता है।

त्रेता शब्द द्वितीय युग मे, तीन अङ्क युक्त मे, और अक्षपात में प्रयुक्त होता है।

द्वापर शब्द तृतीय युग मे, अङ्क द्वय युक्त मे और अक्षपात में प्रयुक्त होता है।

कलि शब्द चतुर्थ युग मे एकाङ्क युक्त मे और अक्षपात मे प्रयुक्त होता है।

ऋग्वेद मे युगादि के अर्थ मे कृत शब्द का प्रयोग नहीं मिलता किन्तु अक्षपात अर्थ में प्रयोग मिलता है

कृतं न श्वघ्नी विचिनोति देवने।
सं वर्गं यन्मघवा सूर्यं जयत्॥

ऋक् ७।१।२४

छान्दोग्य उपनिषद् मे भी यह शब्द प्रयुक्त हुआ है—

यथा कृताय विजितायाधरेयाः संयन्तीति।

४।१।६

तैत्तिरीय ब्राह्मण मे केवल कृत शब्द ही नहीं किन्तु त्रेतादि सारे शब्द अक्षपातार्थक प्रयुक्त है—

अक्षराजायकितवम्। कृताय सभाविनम्।
त्रेताया आदि नवदर्शम्। द्वापराय बहिः सदम्।
कलये सभास्थाणुम्—इति—काण्ड ३ प्र. ४ अनु १६

सायणाचार्य कृताय का कृतयुगाभिमानी यह अर्थ करते है। कदाचित् कहो कि युग शब्द वेदो मे युग विशेषो के अर्थ मे प्रयुक्त नहीं होता सो ठीक नहीं। ऐतरेय ब्राह्मण मे—

चरैवेति वै मा ब्राह्मणोऽवोचदिति

कलि शयानो भवति। सं जिहानस्तु द्वापरः। उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति। कृत सम्पद्यते चरन्। चरैवेति॥ ३३ अध्याय ३ य खण्ड।

इस पर सायणाचार्य लिखते है कि—

चतस्रः पुरुषस्यावस्था. निद्रा, तत्परित्याग उत्थान, सञ्चरणं चेति। ताश्चोत्तरोत्तरश्रेष्ठत्वात कलि द्वापर त्रेता कृत युगैः समाना। ततश्चरणस्य सर्वोत्तमत्वाच्चरैवेति। यहाँ कलि आदि शब्द अक्षपातार्थक है यह नहीं कहा जा सकता क्यो कि पुंल्लिङ्ग द्वापर शब्द का प्रयोग किया गया है। अक्षपातार्थक द्वापर शब्द नित्यनपुंसक है—

अक्षपाता अपास्ते तु चतुस्त्रि द्वयेकयोगिनः।
कृतं त्रेता द्वापरं च कलिश्चेति यथाक्रमम्॥

युग शब्द कृतादि मे आता है—इस विषय मे ऋग्वेद का यह प्रमाण है—

आधातागच्छानुत्तरायुगानि—

ऋक् ७।६।७

हाँ यह हो सकता है कि यहाँ युग शब्द "युगे युगे विदथा गृणद्भ्य. " ऋक् ४, ४, १० के अनुसार कालवाची हो अत. दूसरा प्रमाण देते हैं—

"या ओषधी' पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा"

ऋक् ८ । ४ । ८

इस पर निरुक्तकार लिखते हैं—

या ओषधय' पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रीणियुगानिपुरा

उत्तरषट्क ६ । ३ । ७

सायणाचार्य ने इस त्रियुग शब्द की यह भी व्याख्या की है— "अथवा त्रिपु युगेपु वसन्ते प्रावृपि शरदि चेत्यर्थ' ॥ और यह व्याख्या

या ओपधी. पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरेत्यृत- वो वै देवा स्तेभ्य एताभिः पुरा जायन्ते वसन्ते प्रावृषि शरदि " इस वाजसनेयक ब्राह्मण के अनुरोध से की गई है।

हमारे कहने का सारांश यह है कि युगार्थक कृतादि शब्दो का प्रयोग ब्राह्मण काल में होता था। तथा संहिता काल मे भी युगार्थ मे कृतादि शब्दो का प्रयोग होता था—जैसा कि हम ऋङ् मन्त्र से बतला चुके है। वाजसनेयकानुसारी सायणाचार्य का व्याख्यान आलङ्कारिक हैं—क्यों कि ऋचों की बदर्थसम्भावना मात्र से वह किया गया है।

(संस्कृत से अनूदित)

एक शंका

वेदों की अपौरुषेयता और भाषा विज्ञान

श्री डा० बाबूराम सक्सेना, एम० ए०, डी० लिट्० (प्रयाग)

आर्य समाज का यह सिद्धान्त है कि वेद अपौरुषेय हैं और प्रत्येक कल्प के आरम्भ में परमेश्वर द्वारा अग्नि आदि चार ऋषियों पर प्रकट किए जाते हैं। वर्तमान कल्प के १,९७,२९,४९,०३५ वर्ष व्यतीत हो गये और यह छत्तीसवां वर्ष चल रहा है। इस कल्प के मनुष्यों में इतने दीर्घ काल से संहिताओं का प्रचार रहा है।

भाषा विज्ञान का सिद्धान्त है कि भाषा परिवर्तनशील है। एक ही जन समुदाय की भाषा कालान्तर में कुछ की कुछ हो जाती है। यह परिवर्तन प्रतिक्षण होता रहता है। यद्यपि हम इस परिवर्तन की परीक्षा साल दो साल के भीतर नहीं कर सकते, तथापि किसी जनसमुदाय की सौ दो सौ साल की भाषाओं की तुलना करने से इस सिद्धान्त पर अटूट विश्वास हो जाता है।

भाषा विज्ञान के इस सिद्धान्त पर वेद की 'भाषा' की और उसके उपरान्त की इस देश की भाषाओं की तुलना करने से आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का स्पष्ट विकास प्रतीत होता है। मोटे तौर से समय का भी अनुमान किया जा सकता है। संस्कृत से प्राकृतों में परिवर्तन होते-होते प्रायः एक हजार वर्ष लगे। प्राकृतों से आधुनिक भाषाओं तक प्रायः और एक हजार वर्ष में पहुंच गये।

तुलनात्मक दृष्टि से देखने से, ऋग्वेद के कुछ अंशों की भाषा अन्य भागों की भाषा से विकसित जान पड़ती है। यजुर्वेद की भाषा और भी विकसित मालूम होती है। प्राचीन उपनिषदों की भाषा और संहिताओं की भाषा में कुछ अन्तर है और फिर उपनिषदों की भाषा और रामायण महाभारत की भाषा में परस्पर कुछ-कुछ भेद है। इस प्रकार बढ़ते बढ़ते हम आधुनिक हिन्दी आदि तक पहुँच सकते हैं।

भाषा विज्ञान के इस आंकड़े पर तौलने से वेद अधिक से अधिक दस सहस्र वर्ष पुराने ठहर सकते हैं। इससे अधिक नहीं। दस सहस्र वर्ष और एक अर्ब, सत्तानवे करोड़, उनतीस लाख और पचास हजार वर्षों की तुलना कीजिए। कितना व्यवधान है।

यह शंका मेरे मस्तिष्क में स्वयं उठी और मुझे दृढ़ आर्य समाजी समझ कर विद्वान मित्रों ने भी मेरे सामने यह शंका उपस्थित की। पर मेरे मस्तिष्क से इसका समाधान नहीं निकलता। आर्यसमाज के दो एक प्रमुख विद्वानों से मैंने इस की चर्चा की तो मुझे सन्दिग्ध दृष्टि से देखना प्रारम्भ हो गया।

इस शंका का उत्तर सन्तोष प्रद मिलना चाहिए। आर्यसमाज के विद्वानों को इसका पूर्ण उद्योग करना चाहिए। हठवाद और अन्धविश्वास की दूसरी बात है।

—:o:—

वेदान्त की झलक

रचयिता—श्री० श्यामबिहारी शर्मा 'शम्भु'

रमन जीवन में, जगत निस्सार है,
खींचता अपनी तरफ भव-भार है।
लोचनों को दृश्य जो मिलता नया,
है तुम्हारा ही विभव भगवन ! न क्या ?

कौन ? किसका बन्धु है ? कब तात है ?
एक तव महिमा यही अज्ञात है।
सृष्टि कर्ता आप दुख-हर्ता विभो !
दुष्ट-दल-भञ्जन, स्वजन भर्ता प्रभो !!

दूर रहती है न तव करुणा कभी
गान करती भक्त की रसना जभी,
ऊर्मि पर हो मानसर की नाचते,
और मानव-मोतियों को जांचते।

भूल तुमको जो घटाते स्नेह हैं,
पा न सकते भ्रांत वे तव गेह हैं।
दुख दारुण सहित माया जाल में,–
पड़ दिखाते क्षीणता दुष्काल में।

धर्म धन सर्वस्व जिनके आप हैं
धन्य नर वे हैं, न पाते ताप हैं।
स्वर्ग उनके साथ ही रहता सदा,
मानते गुरु श्रेष्ठ जो हैं सर्वदा।

वेद–विद्या की उन्हीं को चाह है,
मिल गई जिनको परिष्कृत राह है।
मूंद कर दृग-पट कभी छवि देखते,
प्रणय मन्दिर अश्रु-कण में पेखते।

कर्म और अकर्म करते हैं कहां ?
'त्वमसि' का शुभमन्त्र रहता है वहां।
दर्प-दम्भ न क्रोध है उस लोक में,
पहुँचते किञ्चित नहीं सुख-शोक में।

जानकर सुन्दर सुखद रस-सार को,
छोड़ देते हैं सुजन भव भार को,
एक ही अरमान ले निज साथ में,
विश्व चलाते तुम्हारे हाथ में।

मग्न हो कल-गान में, अनुरक्त हो,
नाचते हैं चक्र में ही भक्त हो
लख प्रणय, अनुभूति, अन्तर्प्रेरणा,
आप करते हैं नहीं अवहेलना।

भक्त-वत्सल हो, छिपाते गोद में,
रुद्ध करते कण्ठ हो आमोद में।
केलि कर अनुपम दिखा क्रीड़ा सभी,
नृत्य करते हृदय-मन्दिर में तभी।

जीवन और मरण

रचयिता—कुं० हरिश्चन्द्रदेव वर्म्मा "चातक" कविरत्न

माँ के मधुराञ्चल सा फैला ऊपर है असीम आकाश
और पिता की दया तुल्य नीचे विस्तृत वसुधा का वास
इसी दृश्य के बीच कर्म्म के बन्धन मे बधकर प्राणी—
आता जाता, नित्य यही है जीन मरने का इतिहास।
काल डाल म खिल हुए हैं जीवन मरण रूप दो फूल
दोनों ही मधुपूर्ण और हैं दोनो ही सुन्दर सुख मूल।
जिसने एक फूल भी चाहा उसे दूसरा अपने आप
मिल जाता, बस यही सृष्टि का नियम इसे मत जाना भूल।
उच्च शिखर पर तुम बैठे हो पड़ा धूल मे मै नादान
कैसे तुम्हे पकड़ मैं पाऊँ ! चिन्ता है बस यही महान
पर तुमने कर दया लगा दी जीवन मरण रूप सीढ़ी
नहीं जानता तुम कितने दयालु हो ओ मेरे भगवान
प्रथम डाल से उड़ कर पक्षी डाल दूसरी पर जाता
डाल दूसरी से फिर उड़कर प्रथम डाल पर है आता।
जाने आने के इस क्रम का मृत्यु और जीवन कहते
इसमे दुख सुख का क्या झगड़ा इसे न कोई समझाता।
स्वर्ण विहान अन्त म बनता रजनी का श्यामल परिधान
रजनी क काल अञ्चल म खिल उठता फिर स्वर्ण विहान
चलता रहता चक्र सदा यह नहीं एक पल का थमता—
जीवन मे है मरण मरण मे है जीवन का अमिट विधान।
एक रज्जु दो छोर उसीके जीवन मरण रूप प्यारे—
दोनो ही हैं एक किन्तु हैं दोनो ही न्यारे न्यारे
कौन प्रथम है कौन दूसरा गूढ़ पहेली है यह भी—
अन्त आदि या आदि अन्त है खोज खोज पण्डित हारे
परिवर्तन का नाम जगत है जीवन मरण धूप छाया
दुख की अन्तिम गति ही सुख है इससे दुख है मन भाया
मानव क्या है ? प्रेम दया का विकसित पूर्णरूप सुन्दर
जो कुछ देख रहीं ये आँखे, वह सबकी सब है माया
है सौन्दर्य वही जो शिव है सत्य वही जो श्रेयस्कर
मानव भाषा में न प्रेम से अन्य शब्द कोई बढ़कर
जीवन मे ही चलो सत्य सौन्दर्य प्रेम की खोज करें,
जिससे अपने प्रभु के सम्मुख जाने मे न हमें हो डर॥

ऋग्वेद के दो मन्त्र

ले०—श्री लक्ष्मणसिंहजी उपस्नातक गुरुकुल काङ्गड़ी

जिन विद्वानों ने यास्काचार्य के निरुक्त का अध्ययन किया है, उन्होंने इस बात का अनुभव अवश्य किया होगा कि यास्क के समय में वेदों के सम्बन्ध में अनेक सम्प्रदाय खड़े हो चुके थे। उन्हीं सम्प्रदायों में से एक ऐतिहासिक (वेदों में इतिहास मानने वाला) सम्प्रदाय था। हम नहीं कह सकते कि वे सब सम्प्रदाय आज भी इस भूतल पर हैं या नहीं, किन्तु ऐतिहासिक सम्प्रदाय का अवशेष अब भी ज्यों का त्यों है।

पिछले दिनों डा० प्राणनाथ ने, वेदों के सम्बन्ध में Times of India के Illustrated weekly में कुछ लेख लिखे हैं। वे लेख आज विद्वानों के सामने हैं। उन सातों लेखों के सम्बन्ध में इस एक लेख में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। अतः हम उनसे उद्धृत वेद मन्त्रों पर ही अपने कुछ विचार प्रकाशित करेंगे।

ऋग्वेद के जिन दो मंत्रों को लेकर डाक्टर साहब ने वेदों में आरमीनिया के नगरों का वर्णन तथा चालडियन जाति के राजाओं का इतिहास खोज निकाला है; वे ये हैं:—

सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतू नैतोशेव तुर्फरी पर्फरीका।
उदन्यजेव जेमना मदेरू ता मे जराय्वजरं मरायु॥
प्रज्रेव चर्चरं जारं मरायु क्षद्मेवार्थेषु तर्तरीथ उग्रा।
ऋभू नापत्खरमज्रा खरज्रुर्वायुर्न पर्फरत्क्षयद्रयीणाम्॥
१०-१०६-६-७।

वैसे तो ये वेद मन्त्र देखने मे ही इतन भयंकर हैं कि इन पर सहसा कोई लिखने का साहस न करेगा। यही कारण था कि प्रो० ग्रिफिथ ने भी ऋग्वेद का भाष्य करते हुए इन मन्त्रों को छोड़ दिया। ग्रिफिथ साहब की असमर्थता को देखकर ही डाक्टर साहब ने इनमें इतिहास खोज निकालने का प्रयत्न किया। उन्हीं ऐतिहासिक अर्थों की तुलना में इन्हीं दो मन्त्रों के अर्थ हम भी विद्वानों के सामने रखते हैं। इसका निर्णय हम विद्वानों पर ही छोड़े देते हैं कि इनमें से कौन से अर्थ ठीक हैं।

मन्त्रों का अर्थ करते हुए सब से पूर्व, हमें उन मन्त्रों के या उस सूक्त के (जिसमें वे वेदमंत्र हैं) ऋषि और देवताओं पर विचार करना चाहिये। क्योंकि देवता उस सूक्त का विषय होता है और ऋषि उसका द्रष्टा। द्रष्टा को इस योग्य होना चाहिये कि वह मन्त्रों का दर्शन कर सके। मन्त्रों के अर्थों को समझने में समर्थ हो अर्थात् ऋषि देवता (विषय) का ज्ञाता होता है। जो पूर्ण ज्ञाता होता है वह तत्स्वरूप समझा जाता है उदाहरणार्थ, परमात्मा वास्तव में ज्ञानी है, किन्तु भक्त भक्ति में लीन होकर उसी ज्ञानी को ज्ञानस्वरूप ज्ञान कह देता है। यही अवस्था द्रष्टा ऋषि की है।

प्रस्तुत सूक्त का ऋषि 'भूतांशः काश्यपः' और देवता 'अश्विनौ' है। प्रथम हम इन्हीं दोनों पर विचार करेंगे कि 'भूतांश काश्यप' क्या है और 'अश्विनौ' क्या हैं।

भूतांश काश्यप—यहां भूतांश विशेष्य है और काश्यप विशेषण। जैसे 'कक्षीवान् दैर्घतमसः' में कक्षीवान् विशेष्य है और 'दैर्घतमस' विशेषण*। अर्थात् ऋषि का नाम 'भूतांश' है और वह काश्यप विशिष्ट है। अतः भूतांश को जानने के लिये 'काश्यप' को समझना चाहिये। और काश्यप का अर्थ 'कश्यपस्यापत्यम्' कश्यप का पुत्र है। इसलिये हमें सर्व प्रथम 'कश्यप' पर विचार करना चाहिये।

कश्यप—शतपथ ब्राह्मण में अथर्व वेद के मंत्र

*तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपम्। तदासत ऋषयः सप्तसाकं ये अस्य गोपा महतो बभूवुः १०-८-६

का पाठान्तर देते हुए सात इन्द्रियों (२ कान, २ आँख, २ नासिका, १ मुख) को सात ऋषि‡ कहा है और उन ऋषियों के नाम इस प्रकार गिनाये हैं:—

१ गोतम, २ भरद्वाज, ३ विश्वामित्र, ४ जमदग्नि ५ वसिष्ठ ६ कश्यप और ७ अत्रि

यहाँ वसिष्ठ और कश्यप दोनो नाम नासिका ऋषि के हैं। इस प्रकार 'कश्यप' का अर्थ नासिका है। और नासिका (कश्यप) से उत्पन्न होने वाला प्राण काश्यप हुआ। यही प्राण भूतांश (भूतस्य अंश ×) है। इस विवेचना से हम इस परिणाम पर पहुँचे कि सूक्त का ऋषि 'प्राण शक्ति' है।

अश्विनौ—यह निश्चय होने पर कि सूक्त का ऋषि 'प्राण-शक्ति' है, देवता 'अश्विनौ' को समझना कोई कठिन नहीं। 'अश्विनौ' का विग्रह है—अश्वो-ऽस्यास्तीति अश्वी, तौ अश्विनौ'। इसलिये हमें प्रथम 'अश्व' के अर्थ पर विचार करना चाहिये।

—निरुक्तकार यास्क 'अश्व' शब्द का अर्थ करते हुए लिखते है—अश्वः कस्मात् ? महाशनो भवति। इस महान् विश्व को जो खाने वाला है वह अश्व है। और इस विश्व को खाने वाली प्राण और अपान नामक दो शक्तियें * हैं ये ही दोनों अश्व हैं। और ये अश्व (प्राणापान) जिसके हैं वे दोनो अश्वी हमारे दोनों फेफड़े (lungs) हैं।

परिणामतः सूक्त का ऋषि प्राण शक्ति और देवता 'प्राणापानयुक्त हमारे दोनो फेफड़े' हैं। ऋषि और देवता का इस प्रकार विवेचन करने के अनन्तर मन्त्रों के अर्थों को जानना कुछ भी कठिन नहीं। अब हम दोनो मन्त्रों के क्रमसे अर्थ करेंगे।

१ सृण्येव जर्भरी०—हमारे प्राणापानयुक्त फेफड़े (३)-निश्चय से (सृणी इव) धात्री की तरह से (जर्भरी) १ भरण पोषण करने वाले भी हैं और (तुर्फरी) २ हिंसक भी है। (नैतोशाइव)३ शत्रुहन्ता राजकुमार की तरह (तुर्फरी) हिंसक भी हैं और (पर्फरीका४) हमारे उग्र फलों को देने वाले भी हैं। और (उदन्यजा इव) समुद्र में पैदा होने वाले रत्नों की तरह से (जेमना ५) रोगों पर विजय पाने वाले होने से आन-

‡ देखिये ऋग् १-१२३ सूक्त का ऋषि 'दीर्घतमसः पुत्र. कक्षीवान् ऋषि.।'

"इदं तच्छिर एष अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्न-स्तस्मिन्यशो निहितं विश्व रूपम् इति। प्राणा वै यशो निहितं विश्वरूपम्। प्राणानेतदाह तस्यासत ऋषयः सप्त तीर इति प्राणा वा ऋषयः प्राणानेतदाह वागष्टमी ब्रह्मणा संविदानेति वाग्ध्यष्टमी ब्रह्मणा संवित्ते॥ इमावेव गोतमभरद्वाजौ। अयमेव गोतमोऽयं भरद्वाज इमावेव विश्वामित्र जमदग्नी अयमेव विश्वामित्रोऽयं जमदग्निरिमावेव वसिष्ठकश्यपावयमेव वसिष्ठोऽयं कश्यपो वागेवात्रिर्वाचा ह्यन्नमद्यतेऽत्तिर्ह वै नामैतद्यदत्रिरिति सर्वस्यात्ता भवति सर्वमस्यान्नं भवति य एवं वेद॥ श० प० १४-५-२-५-६।

× पांच स्थूल भूतों में एक भूत वायु है। वायु का एक अंश 'प्राण-शक्ति' है।

* जो मनुष्य प्राण अपान (श्वास) खूब गहरे लेता है वह दीर्घायु होता है, और जो जल्दी जल्दी लेता है अर्थात् अधिक परिमाण में लेता है वह शीघ्र मर जाता है क्योंकि प्राण और अपान ही मनुष्य की आयु को गिनते है। जो अधिक समय में थोड़े प्राण लेता है उसकी आयु कम क्षीण होती है। और जो ज्यादा लेता है उसकी आयु शीघ्र क्षीण होती है। प्राणायाम इसीलिये आयुवर्धक है। (प्राणायाम)

The orientalists have always emphasized the value of deep breathing not only as a great spiritual aid to self-culture but also as an important accessory to health and longevity. Breathing Method

‡ श्वसप्राणने-श्वस. = श्वस् अ = विपरीतात् अश्वसः अश्वः

१—भर्त्सर्यङ्लुगन्तस्य रूपम्

२—तृफ हिंसायाम्-तृजन्तस्य रूपम्

३—नितोशति वधकर्मा

४—फल निष्पत्तौ

५—जिजये, अन्येभ्योऽधिकं जयन्तं इति भणिन्

न्द देने वाले भी हैं और (मदेरू ६) मद मे. नशे मे डालकर दु ख देने वाले भीहैं। ऐसे ये फेफड़े (मे) मेरे लिये (जरायु७) बुढ़ापा लाने वाले भी हैं और (मरायु) मृत्यु को दूर करने वाले भी हैं। अत (ता) वे अश्वी मेरे लिये (अजरम्) बुढापा लाने वाले न हों।

इस प्रकार इस मन्त्र मे फेफड़ो (अश्वियो) का स्वभाव बतलाया है कि जैसे ये फेफड़े खून को साफ कर मनुष्य की शक्ति को बढ़ाने वाले हैं उसी प्रकार इनको ठीक प्रकार से न रखने पर ये मृत्यु के कारण भी होते हैं। क्षय रोग का घर यही फेफड़े हैं। इसके पश्चात दूसरे मन्त्र में उत्तम शक्ति वर्धक प्राण शक्ति का वर्णन किया गया है।

२ प्रजे व चर्चर जारम—मेरी (मरायु) मृत्यु से दूर करने वाली प्राण शक्ति (उग्रा) बहुत उग्र है। कैसी है ? (पजा ८ इव) बीरो की तरह (चर्चरम ९) निरन्तर क्रियाशील है (जारम) शत्रुओं (कृमियों) की आयु को क्षीण करने वाली है। (तुग्र १० इव) जलो की तरह से (अर्थेषु) आपत्तियों१ मे (तर्तरीय) तराने वाली है। (ऋभून) बुद्धिमानो की तरह (खरमज्रा२) तेजी से (खून को) शुद्ध करने वाली है है और (वायुर्न) वायु की तरह (पर्फरत् ३) पालने वाली है। ऐसी उग्र प्राण शक्ति मुझे (रयीणाम् चयत) सम्पूर्ण ऐश्वर्यों का निवास बनाती हुई (खरज्जु ४) गति शील होती हुई (आपत् ५) प्राप्त होती है।

इस प्रकार इन दोनों मन्त्रो मे वेद ने शरीर के महत्त्वपूर्ण भाग फेफड़ो का थोड़ा सा वर्णन किया है, और यह बतलाया है कि अपनी प्राण-शक्ति को प्रवृद्ध कर फेफड़ों को इस योग्य बनाओ कि वह तुम्हारे लिये आनन्ददाता सिद्ध हो। अन्यथा ये तुम्हारे घातक भी सिद्ध हो सकते हैं।

अब हमारा पाठकों से नम्रनिवेदन है कि क्या उन्हें इन मन्त्रो मे कहीं भी इतिहास की थोड़ी सी भी झलक दिखलाई दी है ? हमे तो एक क्षण के लिये भी ऐसा भ्रम नहीं हुआ कि इन मन्त्रो मे किसी भी नगर या जाति के इतिहास का वर्णन है। यदि किन्हीं महानुभावो को ऐसी स्फुरणा हुई हो तो उन्हें अपने भावों को युक्तियों के आधार पर विद्वानों के सामने रखना चाहिये। डाक्टर साहब की तरह से केवल मंत्रो का हवाला देकर ही अपनी स्थापना रख, सामान्य जनता को गलत फहमी मे नहीं डालना चाहिये।

६—मदि गतिरेषणयो
७—यु मिश्रणार्थे
७—मु अमिश्रणार्थे
८—प + जि अभिभवे, न्यूनीकरणे
९—चरतेर्यङ् लुगन्तस्य
१०—तुग्र इति जल नाम (निरुक्त)
१ सायण भाष्य
२ खरं तीक्ष्णम् इति अमर ट्वमस्जो शुद्धौ
३ पृ पालन पूरणे
४ सायण भाष्य
५ आप्लृ व्याप्तौ

(एक-पत्र)

शुभ सन्देश तथा पुरातत्व सम्बन्धी कुछ विचार

डा० लक्ष्मणस्वरूप एम० ए०, डी० फिल. (ऑक्सन) आफीसर अकेडेमी (फ्रांस) अध्यक्ष संस्कृत-विभाग
वा आचार्य संस्कृत-साहित्य पञ्जाब विश्वविद्यालय (लाहौर)

२३ लाज रोड
लाहौर
ता० ८-१०-३४.

श्रीमान् मान्यवर सम्पादक महोदय !

आपका वेदाङ्क के विषय का पत्र मिला। यह बड़ी प्रसन्नता की बात है कि वेद के विषय में जनता की रुचि बढ़ रही है। अब तक और अब भी भारत में वेद के प्रति उदासीनता ही रही है। पुरानी परिपाटी के विद्वान् व्याकरण और वेदान्त आदि विषयों में ही अधिक परिश्रम करते हैं और वेद को उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं। मनुजी ने तो वेद के अध्ययन पर बहुत जोर दिया है। बल्कि यहां तक कह दिया है कि जो ब्राह्मण वेद को छोड़ कर दूसरे विषयों में परिश्रम करता है वह शूद्रता को प्राप्त होता है। आधुनिक पण्डित लोग मनुजी की आज्ञा को भी भूल गए। ऐसी परिस्थिति में वेद के विषय की खोई हुई मान प्रतिष्ठा को फिर से नए प्रकार से स्थापित करने का शुभ काय आपने आरम्भ किया है यह सर्वथा सराहनीय है। मेरी आपसे पूरी सहानुभूति है। मैं हृदय से आपकी सफलता चाहता हूं।

मुझे खेद है कि समय बहुत थोड़ा होने से और विश्वविद्यालय के कार्य्य में बहुत व्यापृत होने के कारण मैं आपको एक लेख भेजने में असमर्थ हूं। यदि समय कुछ अधिक होता तो मैं अवश्य ही एक लेख आपकी सेवा में भेजता।

अखिल भारतीय प्राच्य समिति का न्वां अधिवेशन आगामी दिसम्बर में मैसूर में होना निश्चित हुआ है। मैं पंजाब विश्वविद्यालय के प्रतिनिधि के रूप से एक निबन्ध वहां पढ़ूंगा। उसका शीर्षक होगा Is Mohenjodaro Civilisation aryan or non-aryan ?

आपको विदित होगा कि मोहञ्जोदारो की सभ्यता को पश्चिमी विद्वान् अनार्य्य अथवा द्राविड सभ्यता बतलाते हैं और ऋग्वेद के काल को मोहञ्जोदारो के समय से पीछे सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं। मेरा मत उन सब से भिन्न है। मैंने अपने अनुसन्धान से यह सिद्ध किया है कि मोहञ्जोदारो-सभ्यता अनार्य्य नहीं बल्कि आर्य्य सभ्यता है। ऋग्वेद का समय मोहञ्जोदारो से बहुत पहले का है।

गङ्गा के पुरातत्त्व अङ्क मे मैंने एक लेख लिखा था। उस लेख मे मैंने दो तीन युक्तियां अपने सिद्धान्त को स्पष्ट करने के लिए दी थीं। उन युक्तियों को आज तक किसी भी भारतीय या पश्चिमी विद्वान् ने काटने का साहस नहीं किया। वे अब तक जैसी की तैसी अकाट्य बनी रही हैं।

मैं अपने मैसूर में पढ़े जाने वाले लेख की एक कापी आपको भेज दूंगा, क्योंकि वेद के साथ इस लेख का गहरा सम्बन्ध है। संक्षेप से मैं एक दो बातें आपको यहां भी बतला देता हूं।

१—मोहञ्जोदारो नगर को खोदते हुए बहुत सी मुद्राएं Seals मिली हैं इन पर पशु पक्षियों वृक्ष आदि के नाना प्रकार के चित्र बने हुए हैं। इन मुद्राओं पर अक्षर खुदे हुए हैं इन अक्षरों की लिपि का ज्ञान अभी तक विद्वान् लोग प्राप्त करने में असमर्थ रहे हैं। अथक परिश्रम करने पर भी ये अक्षर अभी तक पढ़े न जा सके। उनका रहस्य ज्यों

का त्यों सुरक्षित है। पर इससे एक बात तो सिद्ध हो जाती है कि मोहञ्जोदारो की सभ्यता के समय लिखने की कला (art of writing) का आविष्कार हो चुका था। इसके विपरीत ऋग्वेद के समय में लिखने की कला का आविष्कार नहीं हुआ था। इसीलिए ऋषि वेद मन्त्रों को गुरु-मुख द्वारा सुन कर कण्ठस्थ कर लेते थे। वेद का पर्य्यायवाची शब्द है श्रुति अर्थात् जो सुना जाय, पुस्तक के रूप मे न पढा जाय। आर्य्य विद्वज्जनो की परम्परा इस बात का साक्ष्य देती है। निरुक्त के कर्त्ता यास्काचार्यजी १. २०. मे लिखते है:—साक्षात्कृत-धर्माण ऋषयो बभूवुः। तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृत धर्मेभ्य उपदेशेन मन्त्रान संप्रादुः। इसका अर्थ है, "ऋषियो ने वेद रूपी धर्म (=मन्त्रो) का साक्षात्कार किया। अपने पीछे आने वालो को—जिन्होने धर्म (=मन्त्रो) का साक्षात्कार नही किया था—उन पहले ऋषियो ने वेद-मन्त्रो को उपदेश द्वारा पहुँचाया, पुस्तक रूप मे नही पढ़ाया केवल मौखिक उपदेश द्वारा शिक्षा दी।" इससे सिद्ध हुआ कि ऋग्वेद के काल मे और उस से पीछे भी लिखने की कला का आविष्कार नही हुआ था और ऋषि लोग मौखिक उपदेश द्वारा ही मन्त्रो की शिक्षा दिया करते थे।

शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिनी शाखा के चालीसवे अध्याय के १० वे और १३ वे मन्त्रो में भी यही बात स्पष्ट कही गई है। "इति शुश्रुम धीराणाँ ये नस्तद्विचचक्षिरे" यह हमने अपने पूर्वज धीर ऋषियो से सुना है जिन्होने हमे व्याख्यान द्वारा समझाया"।

सो स्पष्ट है कि ऋग्वेद का समय मोहञ्जोदारो के समय से बहुत पहले का है, यदि ऋग्वेद का समय मोहञ्जोदारो से पीछे का होता मोहञ्जोदारो में आविष्कृत लिखने की कला जैसी उपयोगी कार्य प्रणाली से आर्य्य-ऋषि अपने आप को कभी वञ्चित न करते और वेद मन्त्रों को स्वर-सहित कण्ठस्थ करने की बजाय उनको पुस्तक रूप में लिख कर उन की अधिक सुरक्षा करते जैसे भारत में लिखने की कला का आविष्कार होने के पीछे किया गया।

दूसरा साक्ष्य यह है कि मोहञ्जोदारो नगर में शिव की खूब पूजा होती थी—सैंकड़ों शिव-लिङ्ग वहां से मिले हैं। कुछ तो इस प्रकार से बनाए गए हैं कि यदि मोहञ्जोदारो में उपलब्ध शिवलिङ्गों को वर्तमान समय के मन्दिरो के शिवलिङ्गों के साथ रख दिया जाय तो यह पहचानना कि कौन सा लिंग मोहञ्जोदारो से उपलब्ध हुआ है और कौन सा मन्दिर का है कठिन ही नहीं अपितु असम्भव हो जाय।

हम जानते हैं कि रामायण और महाभारत काल मे ही शिव त्रिमूर्ति ब्रह्मा-विष्णु-महेश का एक अंश बना और उस काल मे ही शिव तीनों में से एक आराध्य देव हुआ। पर ऋग्वेद के समय में शिव का स्थान बहुत ही छोटा था। उस समय अग्नि-इन्द्र-वरुण आराध्य तथा शक्ति-शाली देव थे। इनका प्रभाव, इनका प्रभुत्व, इनकी दिव्य ज्योतिः सब से अधिक थी। क्रमशः पुराने देव अपने ऊँचे स्थान मे नीचे गिरा दिए गए और नए देव जिनमे शिव एक था, ऊपर उठा दिये गये। इस प्रकार यदि ऋग्वेद के समय से संहिताओं ब्राह्मणो आरण्यकों उपनिषदो तथा सूत्र ग्रन्थों का समालोचनात्मक दृष्टि से अध्ययन किया जाय तो यह निर्विवाद सिद्ध होगा कि शिव का दरजा क्रमशः बढ़ता रहा है अर्थात् शिव के Status मे एक प्रकार की धीरे २ evolution हुई है। इस विकाश के आदियुग का सूत्रपात ऋग्वेद के काल में हुआ और इसी विकाश की पराकाष्ठा रामायण महाभारत काल मे हुई। मोहञ्जोदारो के समय मे शिव की प्रतिष्ठा अपनी पराकाष्ठा को पहुँच चुकी थी। इस पराकाष्ठा का आदि-काल ऋग्वेद के समय में है इस लिये भी ऋग्वेद का समय मोहञ्जोदारो के समय से बहुत पहले का है।

यह मैंने समय के अभाव से बहुत ही संक्षेप से लिखा है बुद्धिमानों को इशारा ही काफी है—इस न्याय के अनुसार। मेरे आगामी—मैसूर वाले लेख में सारे उद्धरण इत्यादि दिये जायंगे।

वेद में प्रिय मेध आदि ऋषियों का इतिहास

ले०—श्री प्रियरत्न आर्ष वैदिक रिसर्च स्कॉलर दयानन्द ब्राह्म महाविद्यालय (लाहौर)

वेद में इतिहास मानने वाले विद्वान अपने पक्ष की सिद्धि में एक हेतु यह भी दिया करते हैं कि मन्त्रों में ऋषियों के नाम और उनके वृत्तान्त आते हैं इस से वेद में इतिहास है यह सिद्ध हो जाता है। हम उनके एक स्थल का विचार यहाँ करते हैं। प्रथम पूर्वपक्ष है—

"प्रियमेधवद त्रिवज्जातवेदोविरूपवत्।
अङ्गिरस्वन्महिव्रत प्रस्कण्वस्य श्रुधीहवम्" ॥
(ऋ०१ । ४५ । ३)

प्रियमेध के समान अत्रि के समान विरूप के समान और अङ्गिरा के समान प्रस्कण्व के आह्वान को सुनने की जातवेदा से प्रार्थना है। प्रियमेध, अत्रि विरूप और अङ्गिरा ऋषियों के नाम हैं उनकी उपमा यहाँ मन्त्र में देने से यह भलीभान्ति सिद्ध होता है कि प्रियमेध आदि ऋषि वैदिक काल में थे इस लिये उनका नाम उल्लिखित करने से वेद में इतिहास है यह बात अनायास सिद्ध हो जाती है। साथ में निरुक्त में जहां यह मन्त्र आया है वहां निरुक्तकार यास्क ने 'यथैतेषामृषीणामेव प्रस्कण्वस्य शृणु ह्वानम् (निरुक्त ३। १७) इस वचन द्वारा प्रियमेध आदि को ऋषि कहा है और उन के सदृश प्रस्कण्व के आह्वान का सुनना दर्शाया है।

विचार—"प्रियमेधवत्" इस उक्त मन्त्र में कोई भी इतिहास का चिन्ह नहीं है "वत्" प्रत्यय उपमा के अर्थ में अवश्य है पर यह प्राक्कालीन किन्हीं लोगों की उपमा के लिए हो ऐसा नहीं है और नहीं 'वत' प्रत्यय कोई भूतकाल की उपमा में नियत है परन्तु सामान्य उपमा होने से वर्त्तमान काल में है। यह बात इस मंत्र से पूर्व दिए हुए निरुक्तवचन से भी स्पष्ट होती है "वदितिसिद्धोपमा ब्राह्मणवद् वृषलवद ब्राह्मणा इव वृषला इव (निरुक्त)" यह वत् प्रत्यय सिद्ध उपमा में आता है। सिद्ध कहते हैं प्रत्यक्ष को और प्रत्यक्ष वर्त्तमान काल पर निर्भर होता है। प्रत्यक्ष में जैसा सृष्टि के अन्दर उपलब्ध होता है वैसे वर्णन का सिद्धोपमा वाचक वत्' शब्द से दर्शाया जाता है। उस का सम्बन्ध किसी भूतकालीन रूढ व्यक्ति से नहीं होता है किन्तु प्रत्यक्ष सामान्य धर्म को लेकर सामान्य धर्मयुक्त वस्तु के साथ उपमा में प्रयुक्त किया जाता है। यह बात निरुक्तकार के उदाहरणों से भी सिद्ध होती है "ब्राह्मणवत वृषलवत ब्राह्मणा इव वृषला इव निरुक्त अर्थात 'ब्राह्मणवत् मण्डूका सवदन्ते, ब्राह्मणों के समान परस्पर मेंढक बोलते हैं। शिष्यवत् मामु पदिश" शिष्य को जैसा उपदेश देते है वैसे मुझे उपदेश दें' सूर्यवत प्रकाशते अद्यश्वीनो विद्युद्दीप। सूर्य के समान चमकता है आजकल का बिजुली का लैम्प इसी बात को निरुक्त के भाष्यकार स्कन्द स्वामी ने भी दर्शाया है "सिद्धा प्रसिद्धा उपमा 'सिद्धोपमा' ब्राह्मणवदधीयत तेजस्विन आक्रोधनावा" (स्कन्द स्वामी) इसी प्रकार वेद में यह वत्' की उपमा सर्वकाल सिद्धोपमा समझी जानी चाहिये। अत एव वैदिक शब्दार्थ सम्बन्धों में इतिहास के लेश का भी सम्पर्क नहीं हो सकता।

(ख) यथैतेषामृषीणामेवम्' इस निरुक्त वचन में भी कोई ऐतिहासिकता की झलक नहीं है क्यों कि हम पीछे ऋषि मीमांसा के 'आर्षवाद' में यह बात सोदाहरण समीचीन रूप से सिद्ध कर आए हैं कि ऋषि भी विश्व के भौतिक आदि पदार्थ हैं। एवं इस प्रक्रिया के अनुसार 'प्रियमेध, अत्रि, विरूप और

अङ्गिराः के समान हे जातवेदः ! प्रस्कण्व के आह्वान को सुन'। इस कथन में विश्व के अन्दर वर्तमान किसी भौतिक विद्या अर्थात् आधिदैविक विज्ञान का वर्णन ही हो सकता है जिसका विवरण निम्न प्रकार है—

प्रियमेध का स्वरूप—

एक वचन—यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद के अन्दर एक वचन प्रियमेध का प्रयोग नहीं है। ऋग्वेद मे भी केवल दो मन्त्रो मे एक वचन आता है (ऋक् १। १३८। ८) मे प्रियमेध का इन्द्राग्नी देवता से सम्बन्ध है और (ऋक् ८। ५ । २५) मे अश्विनौ देवता है। उक्त दोनो स्थलो मे ह्वान सुनने की चर्चा भी नही है अत 'प्रिय मेधवत्' मे एक वचन की उपमा का अवसर नहीं है ।

बहु वचन—उक्त 'प्रियमेधवत्, (ऋक् १।४५।३) मन्त्र मे बहु वचन प्रियमेधो की उपमा समझनी चाहिए। इससे अगले मन्त्र से भी यह बात सिद्ध हो रही है। वहाँ बहुवचन 'प्रियमेधो' का सम्बन्ध अग्नि के साथ स्पष्ट वर्णित है—

महिकेरव ऊतये प्रिय मेधा अहूषत ।

राजन्त मध्वराणामग्निं शुक्रेण शोचिषा ॥ (ऋ० १।४५।४)

'प्रियेमेधा' क्या है इसके लिए निम्न मन्त्र देखिए-

वयः सुपर्णा उपसेदुरिन्द्रं प्रियमेधा ऋषयो नाधमाना।
अपध्वान्तमूर्णु हि पूर्धि चक्षुर्मुमुग्ध्यस्मान्निधयेव वद्धान् ॥ऋ १०।७३।११)

अर्थ—प्रियमेधाः नाम के ऋषि अर्थात् आदित्यरश्मियाँ वेग से सुन्दर पक्षियो के समान हैं । वे इन्द्र अर्थात् आदित्य की सेवा मे उपस्थित हुए प्रार्थना करते हैं कि आप हमें पाशबद्ध हुए जैसो को छोड़ कर विश्व मे अपनी दर्शनशक्ति को फैला दे और संसार से अन्धेरे को दूर कर दें।

यहाँ 'प्रियमेधाः ऋषयः' आदित्यरश्मियां हैं यही बात निम्न निरुक्त वचन में भी स्पष्ट की है—

वयोवेर्बहुवचनम् । सुपर्णाः सुपतना आदित्यरश्मयः, उपसेदुरिन्द्रं याचमानाः । अपोर्णु ह्याध्वस्तम् । चक्षुः ख्यातेर्वा चष्टेर्वा पूर्धि पूरय देहीति वा । मुञ्चास्मान् पाशैरिव बद्धान" ॥ (निरुक्त ४।३)

उपर्युक्त मन्त्र तथा निरुक्त वचन से यह स्पष्ट हुआ कि "प्रियमेधाः ऋषयः" आदित्य की रश्मियां हैं। अब 'प्रियमेधवत्' का अर्थ हुआ आदित्य रश्मियों के तुल्य। अस्तु। इस स्थल पर हम दो परिणाम निकालते हैं—

१—'प्रियमेधवत्' मे जैसे 'प्रियमेधाः बहुवचन की उपमा है एवं 'अत्रिवत्, विरूपवत्, अंगिरस्वत्" मेभी सहचार न्याय से बहुवचन की उपमाएं हैं। निरुक्त का निदर्शन प्रकारभी उक्त बहुवचन की उपमा का साक्षी है "ब्राह्मणवत, वृषलवत् ब्राह्मणाइव वृषलाइव" (निरुक्त)

२—जैसे 'प्रियमेधा ऋषयः' आदित्य की रश्मियां अग्नि धर्म से अन्वित हैं एवम्—

अत्रिवत् मे 'अत्रयः, 'विरुपवत्, में 'विरुपाः अङ्गिरस्वत् मे 'अङ्गिरसः, भी अग्निधर्म से अन्वित तथा उक्त रश्मियो के समान स्फुरने वाले पदार्थ हैं यह निश्चित समझना चाहिए । जो जातवेदा अर्थात् विश्व की सामान्य अग्नि + से उन प्रियमेधाः आदि के ह्वान का फलस्वरूप है। इन चारों का हम निम्न क्रम दर्शाते हैं—

(!) प्रियमेधाः ऋषयः = द्यु स्थानी आदित्य की रश्मियां।

+ "जातवेदाः कस्मात्। ·· जाते जाते विद्यत इति वा। ···तस्यैषा भवति—

"प्रनूनं जातवेदसमश्वं हिनोत वाजिनम् । इदं नो बर्हिरासदे।" (ऋ० १०।१८८।१)

तदेतदेकमेव जातवेदस्यं गायत्रं तृचं दशतयीषु विद्यते यत्तु किञ्चिदाग्नेयं तज्जातवेदसां स्थाने युज्यते। स न मन्येतायमेवाग्निरित्यप्येते उत्तरे ज्योतिषी जातवेदसी उच्येते ततोनु मध्यमः "अभिप्रवन्त समनेव योषा" (ऋ० ४।५८।८) इति । तत्पुरस्ताद्व्याख्यातमथासावादित्यः 'उदुत्यं जातवेदसम्'··(ऋ० १।५०।१) इति तदुपरिष्टाद्

(!!) अत्रयः ऋषयः=पृथिवीस्थानी भौमाग्नि की धाराएं।
(!!!) विरूपाः ऋषयः=अपूस्थानी प्रकाश पंक्तियां।
(!!!! अङ्गिरसः ऋषयः=अन्तरिक्ष स्थानी विद्युत् की तरङ्गें या लहरें।

ये सब गतिशील होने से ऋषि कहलाते हैं। पृथिवी अन्तरिक्ष और द्यौः के भेद से "अस्ति वै चतुर्थो देव लोकः आपः" (कौ० १८।२) आपः भी चतुर्थ लोक हैं। द्यु लोक में आदित्य रश्मियां प्रिय मेधाः हैं। अन्तरिक्ष लोक अर्थात् मेघ मण्डल में विद्युत् की तरङ्गें या लहरें अङ्गिरसः हैं। पृथिवी लोक में अग्नि की धाराएं अत्रयः हैं। आप. लोक अर्थात् मन्द वृष्टि मे भिन्न भिन्न रंग की अर्धवृत्ताकार प्रकाश पंक्तियां 'विरूपाः' हैं।

अत्रि का स्वरूप—

एक वचन—यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद के अन्दर एक वचन अत्रि का प्रयोग नहीं है ऋग्वेद मे अवश्य है। निरुक्त मे ऋग्वेद के अत्रि वाले एक मंत्र की व्याख्या करते हुए अत्रि का स्वरूप बताया है—

"हिमेनाग्निं घ्रंसमवारयेथां पितुमतीमूर्जमस्मा अधत्तम्।
ऋबीसे अत्रिमश्विनावनीतमुन्निन्यथु सर्वगणं स्वस्ति॥" (ऋग् १।११६।८)

"हिमेनोदकेन ग्रीष्मान्तेऽग्निं घ्रंसमहरवारयेथामन्नवतीं चास्मा ऊर्जमधत्तमग्नये यो ऽयमृबीसे पृथिव्यामग्निरन्तरौषधिवनस्पतिष्वप्सु तमुन्निन्यथु सर्वगणं सर्वनामानम्॥" (निरुक्त ६।३६)

यहां निरुक्तकार ने अत्रि का अर्थ भौमाग्नि किया है जो पृथिवी के सब पदार्थों मे तथा पृथिवी के अन्दर वर्तमान है + ।

बहुवचन—(ऋ० ५।२२।४) मे बहुवचन 'अत्रय' का अग्नि से सम्बन्ध है उससे 'प्रियमेधवदत्रिवत्' ' के मन्त्र में 'अत्रयः' बहुवचन से उपमा सिद्ध होती है।

+ (साम पू० ५०६।७।११) मन्त्र का ऋषि 'अत्रिभौमः' है। इस कथन से भी अत्रि का अर्थ भौमाग्नि होना युक्त है।

विदित हो कि बहुवचन 'अत्रयः' वाला कोई मंत्र निरुक्त आदि किसी प्रामाणिक ग्रन्थ में व्याख्यान नहीं है। अतः बहुवचन 'अत्रयः' का अर्थ समझने के लिये पूर्वोक्त एक वचन अत्रि वाले मन्त्र की निरुक्त प्रदर्शित व्याख्या के प्रमाण से 'अत्रय' का अर्थ भी समझना समुचित है । अर्थात्= भौमाग्नि पृथिवी के अन्दर तथा पृथिवीस्थ पदार्थों में वर्तमान अग्नि का नाम है। एवं 'अत्रयः' =अत्रिरश्मयः=भौमाग्निधाराः भौमाग्नि की धाराओं का नाम अत्रय है। वेदो मे यह व्यवहार बहुधा पाया जाता है कि बहु वचन नाम पद का अर्थ उसके एक वचन के तद्भव या तत्सम्बद्ध पदार्थों का होता है। सायण भाष्य मे भी ऐसा ही व्यवहार देखा गया है "सूर्याइव सूर्यरश्मयः" (ऋग् ८।३।१६ सायण) तथा (ऋ० ७-३३) सूक्त मे वसिष्ठ पुत्रो के लिये 'वसिष्ठा' का प्रयोग किया है। अस्तु। इस प्रकार 'अत्रय." का अर्थ भौमाग्नि की धारायें जो धारायें भूमि से चारो तरफ बिखरती रहती है और सदा पृथिवी गोल को सूर्य रश्मियो मे जोड़ने का निमित्त है अथवा सूर्य के आकर्षण बलो को ग्रहण कर पृथिवी गोल के स्तम्भन के निमित्त है। जब सूर्य ग्रहण होता है तब यही 'अत्रय' भौमाग्नि धारायें विना सूर्यरश्मिमामुख्य के भी इधर उधर से भूकक्षा या भूपरिमण्डल में बिखर सूर्य या उसके आकर्षण बलो को प्राप्त करती ही है। यह बात एक और 'अत्रय' वाले मन्त्र मे भी वर्णित हैं—

"यं वै सूर्यं स्वर्भानुस्तमसा विध्यादासुरः।
अत्रयस्तमन्वविन्दन् नह्यन्ये अशक्नुवन्॥"
(ऋ० ५-४०-८)

अर्थ—जिस सूर्य को स्वर्भानु * अर्थात् पृथिवी

* 'स्वर्दिवि एव भानुर्यस्मात् स स्वर्भानुः' द्यौ मे ही भानु अर्थात् सूर्य जिस कारण से है अन्यत्र नहीं दीखता है वह स्वर्भानु है। सूर्यग्रहण मे सूर्य द्युः स्थान मे अवश्य होता है अन्यत्र नही दीखता है अतएव ऐसे आच्छादक का नाम स्वर्भानु है।

P. T. O.

और सूर्य के मध्य में आए हुए चन्द्रच्छायारूप राहु ने छिपा दिया या छिपा देता है उस 'सूर्य' को 'अत्रयः' भौमाग्नि धाराओं ने प्राप्त किया था या करती हैं। 'क्योंकि, भौमाग्नि धारायें पृथ्वी गोल से बाहर भू कक्षा या भूपरिमण्डल तथा अपना सञ्चार किया करती हैं अतः वे आकर्षण करने वाली सूर्यरश्मियों को प्राप्त करती हैं' अन्य पृथिवीस्थ प्राणी तथा जड़ पदार्थ पृथिवी गोल को छोड़ कर अलग नहीं हो सकते। अतएव वे सूर्य प्रकाश को प्राप्त नहीं कर सकते। इस विषय का निदर्शक चित्र यहाँ दिया जाता है—

भौमाग्नि धाराएंकिसी बाह्य कारण से जल उठती है। पृथिवी के बाह्यतल पर जितनी भी चमचमाती हुई ज्वालाएं किसी भी रूप में दीखती हैं वे सब 'अत्रय' अर्थात् भौमाग्निधाराओं का स्थूलरूप हैं उनके अन्दर भी विश्वव्यापी अग्नि ने मानों उनके ज्ञान को सुन अपना प्रकाश धर्म दे दिया है।

विरूप का स्वरूप—

एक बचन—चारों वेदों में एक बचन विरूप शब्द विशेषण बनकर आया है किन्तु किसी वस्तु के नामका वाचक नहीं है अतः एक वचन का कोई स्वतन्त्र अभिधेय नहीं हो सकता। इसी कारण 'प्रियमेधवद त्रिवज्जातवेदो विरूपवत्, मन्त्र में एक बचन 'विरूप' से उपमा नहीं है।
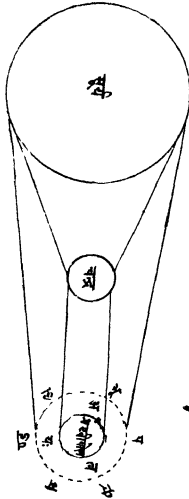
बहुवचन—निम्न बचन में 'विरूपा' बहुवचन का प्रयोग है और मन्त्र का देवता अग्नि है—

वर्धान्यं पूर्वी: क्षपो विरूपाः स्थातुश्च रथमृतप्रवीतम
अराधि होता स्वर्निषत्तः कृण्वन्विश्वान्यपांसि सत्या॥
ऋ० १।७०।४)

विरूप क्या है इसके लिए निम्न मन्त्र देखिए—

"विरूपास इदृषयस्तइद् गम्भीर वेपसः। ते अङ्गिरसः सूनवस्ते अग्नेः परिजज्ञिरे॥"
(ऋ० १०।६२।५)

"बहुरूपाः ऋषयस्तेगम्भीर कर्माणो वा, गम्भीर प्रज्ञा वाते अङ्गिरसः पुत्रास्ते अग्नेरधिजज्ञिर इत्य ग्निजन्म॥"
(निरुक्त ११।१७)

"अग्नित्वमापन्नस्याङ्गिरसोऽधिसकाशाद् ये यज्ञिरे" (दुर्गाचार्यः)

अर्थ—विरूप ऋषि गम्भीर कर्म वाले है या वे गम्भीरप्रज्ञा अर्थात् आश्चर्य प्रज्ञा के निमित्त हैं। वे अग्नि के पुत्र हैं क्योंकि अग्नि से उनकी उत्पत्ति होती है।

विदित हो कि ये विरूप पार्थिव अग्नि से उत्पन्न नहीं होते हैं किन्तु द्यु स्थान अभ्रमण्डल या वृष्टि की मन्दधारा में उक्त अग्नि तेज छनता है, प्रतिभासित होता है तब वे विरूप नाम के ऋषि उत्पन्न होते हैं। यह बात अगले मन्त्र मे प्रदर्शित की है—

"ये अग्नेः परिजज्ञिरे विरूपासो दिवस्परि।
नवग्वो दशग्वो अङ्गिरस्तमः सचादेवेषु मंहते॥
ऋ० १०।६२।६)

अभ्रमण्डल या मन्दवृष्टिधारा में सूर्य अग्नि के तेज से भिन्न भिन्न रंग की वृत्ताकार प्रकाश पंक्तियां उत्पन्न हो जाती हैं जिनको इन्द्रधनुष भी कहते हैं। यह भिन्न भिन्न रंग की प्रकाश पंक्तियां 'विरूपाःऋषय.' बहुरूप वाले या भिन्न भिन्न रंग वाले आकाश मे जलकणों के आश्रित अग्निधर्म से अन्वित प्रकाशमान हैं।

अङ्गिराः का स्वरूप—

एक वचन—एक वचन अंगिरा वाले जिन जिन मन्त्रों का अग्नि देवता है वे नीचे दिये जाते हैं—

(१) "यदङ्गदाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि। तवेत्तत्सत्यमङ्गिरः॥" (ऋ १। १। ६)

(२) "त्वमग्ने प्रथमो अङ्गिरा ऋषिर्देवो देवानाम भवः शिवः सखा।" (ऋ०१।३१।१)

(३) "अस्माकं जोष्यध्वरमस्माक यज्ञमंगिर। अस्माकं शृणुधी हवम्॥" (ऋ० ४।८।५)

इन अग्निदेवता वाले मन्त्रो मे एक वचन 'अंगिराः' शब्द का प्रयोग तो है किन्तु वह देवतारूप अग्नि का वाचक ही है। प्रथम मन्त्र मे अग्नि के लिए 'अङ्गिराः' सम्बोधन पद है। दूसरे मे साक्षात अग्नि को ही 'अङ्गिराः' नाम दिया है। तीसरे मे 'अंगिरा' सम्बोधन पद से अग्नि को सम्बोधित कर के अग्नि को ज्ञान करने की प्रार्थना है। और इस मन्त्र का ऋषि वामदेव है। इसी प्रकार सभी मन्त्रो में देवतारूप अग्नि के लिए ही एक वचन 'अंगिराः' शब्द वाचक बनकर प्रयुक्त है भिन्न के लिए नही इस लिए इन मन्त्रों मे प्रयुक्त एक वचन 'अंगिराः' पद अग्नि देव से पुस्कण्व का ज्ञान सुनने के लिए 'अंगिरस्वत्' की उपमा में प्रयुक्त नहीं है। अतएव "प्रियमेधवदत्रिवज्जातवेदो विरूपवत्। अंगिरस्वत्…" (ऋ० १।४५।३) में एक वचन की उपमा नहीं हैं।

बहुवचन—अंगिरसः बहुवचन वाले मन्त्र का अग्नि देवता है, वह मन्त्र निम्न है—

"अधा मातुरुषस: सप्तविप्रा जायेमहि प्रथमा वेधसोनॄन।
दिवस्पुत्राद अंगिरसो भवेमाद्रिं रुजेम धनिनं शुचन्तः॥ ऋ० ४।२।१५)

'अंगिरस. क्या है इसके लिए निम्न देखिए—

"अधामातुरुषस: सप्तविप्रा जायेमहि प्रथमा वेधसोनॄन।
दिवस्पुत्राद अगिरसो भवेमाद्रि रुजेम धनिनं शुचन्तः। ऋ० ४।२।१२)

अर्थ—(उपसो मातु प्रथमा सप्तविप्रा वेधसो नॄन जाये महि) उपामाता के श्रेष्ठ सात रंग के विप्-विशेष व्यापने वाले हम रश्मिरूप पदार्थ अपने आप को 'वेधसो नॄन जायेमहि' वेधाः इन्द्र अर्थात विद्युत के आदमी बना दे "इन्द्रो वै वेधा." (ऐ० ब्रा० ६।१०) (अधा दिवस्पुत्रा अगिरसो भवेम' पुन मेघमण्डल मे प्रकट हो अंगिरस बन जावे 'असौ वा द्युलोक समुद्रो नभस्वान (श० ८।४।२।५) (धनिन शुचन्तोऽद्रि रुजेम) धनी मघवा इन्द्र अर्थात् विद्युत् को ज्वलित-उत्तेजित करते हुए मेघ को तोड़ डालें "शोचतिर्ज्वलतिकर्मा" (नि० १।६) "अद्रिर्मेघनाम" (नि० १।१०)

आशय—इस मन्त्र से यह बात स्पष्ट हुई कि विद्युत् की दीप्त तरंगे 'अंगिरसः' है और वे सूर्य-रश्मियो का मेघ मण्डल मे पहुंच कर एक रुपान्तर है—तथा

"सो अङ्गिरोभिरङ्गिरस्तमो भूद्वृषा वृषभिः सखिभिः सखासन। ऋग्मिभिर्ऋग्मि गातुभिर्ज्येष्ठो मरुत्वान्नो भवत्विन्द्र ऊती॥ ऋ० १।१००।४

यहां भी मरुत्वान् इन्द्र अर्थात् विद्युत के साथ अंगिरसो का सहयोग दर्शाया है।

"भिनद् बलमिन्द्रो अङ्गिरस्वान्" (ऋ० २।११।२०

अंगिरसों वाले इन्द्र अर्थात् विद्युत् ने मेघ को छिन्न भिन्न कर दिया। "बलं मेघ नाम" (वि १।१) "बलमङ्गिरोभिः। हन्नच्युतच्युत्…" (ऋ० ६।१८।५)

यहाँ उक्त अंगिरसो के द्वारा विद्युत् ने मेघ का हनन किया ऐसा वर्णित है। अस्तु। उपर्युक्त मन्त्रो

में 'अङ्गिरसः" का अर्थ विद्युत् की दीप्त तरंगे या लहरें (Currents) हैं और अग्नि धर्म के अन्वित होने से उक्त "प्रियमेधवदत्रिवज्जातवेदो विरूपवत्। अङ्गिरस्वन्महिव्रत प्रस्कण्वस्य श्रुधी हवम् ॥" मंत्र से उनकी उपमा का होना उचित है। अस्तु। अब 'प्रस्कण्व' क्या है इस पर भी प्रकाश डालते हैं।

प्रस्कण्व का स्वरूप—

प्रस्कण्व, कण्व का पुत्र है। कण्व सूर्यान्तर्गत एक कृष्ण पदार्थ है जो लोह–इध्म–गन्धक आदि धातु उपधातुओं का मिश्रण है। वह जलने के लिए निमीलन करता हुआ टिमटिमाता हुआ बिलबिलाता हुआ सा चेष्टायमान रहता है ‡ उससे प्रकट अत्यन्त द्रव तथा धूम्रमय जल उठने के उन्मुख पदार्थ प्रस्कण्व है, यह प्रस्कण्व अग्नि के धर्म को ग्रहण करने में उत्सुक सा रहता है किन्तु अग्निवत् प्रकाशमान न हो कर किञ्चित् हरितपीत सम्मिलित वर्ण से युक्त सा रहता है। एवं कण्व, प्रस्कण्व को समझने के लिए निम्न मन्त्र देखिए—

"उत कण्वं नृषदः पुत्रमाहुरुत श्यावो धनमादत्त वाजी। प्रकृष्णाय रुशदपिन्वतोधर्ऋतमत्र नकिरस्मा अपीपेत ॥
(ऋ० १० । ३१ । ११)

अर्थ—(कण्वं नृषदः पुत्रमुताहुः) कण्व को सूर्य का पुत्र भी कहते हैं 'एष सूर्यः, वैनृषद्' (तै० ब्रा० ४ । २०) (उत श्यावो वाजी धनमादत्त) और वह ही श्याम रंग का वाजी मानो कोई ऐश्वर्य सम्पन्न घोड़ा है, अतएव धन से पूरित है (ऊधः कृष्णाय रुशत् प्रापिन्वत) वोढा सूर्य ने उस कण्व नामक कृष्ण रंग वाले पदार्थ के लिए अल्पभासमान रूप प्रदान किया (अत्रास्मै नकि ऋत मपिपेत्) इस विश्व में कृष्णरूप सूर्याश्रित कण्व के लिए सिवाय सूर्य के कोई भी बढ़ा सकने का कारण नहीं है।

इस मन्त्र में सूर्य के पुत्र सूर्याश्रित कृष्ण रंग वाले पदार्थ को कण्व कहा है।

"तां सवितु, र्वरेण्यस्य चित्रामाहं
वृणे सुमतिम् विश्व जन्याम् ॥"
यामस्य कण्वो अदुहत् प्रपीनाम
सहस्रधाराम्पयसा महीङ्गाम ॥
(यजु० १७ । ७४)

कुछ पाठ भेद से—

तां सवितुः सत्यसवां सुचित्रामाहं वृणे सुमतिं विश्ववाराम। यामस्य कण्वो अदुहत्प्रपीनां सहस्रधारां महिषो भगाय ॥ (अथर्व० ७।१५।१)

अर्थ—(अहं सवितुः वरेण्यस्य तां सुमतिं विश्वजन्यां चित्रां पयसा सहस्रधारां महीं गामावृणे) मैं सविता देव की उस उत्तम मति देने वाली 'विश्वजन्याम' विश्व को उत्पन्न करने वाली* पृथिवीरूप गौ को जो नाना वस्तुओं से युक्त 'पयसा सहस्रधारां' अन्न से असंख्य प्राणियों को धारण करने वाली है ‡ अपनाता हूँ—प्राप्त होता हूँ "पयोऽन्नानम" (नि० २।७) " मही पृथवी नाम" (नि० १।१) (यां प्रपीनामस्य कण्वोऽदुहत) जिस प्रपीना अर्थात् प्रथनधर्मा को उस सविता अर्थात् सूर्य के कण्व नामक तदन्तर्गत कृष्ण पदार्थ ने स्ववश किया हुआ है ❁।

इन दोनो मन्त्रों मे भी कण्व का और सूर्य का सम्बन्ध दर्शाया है तथा उस कण्व को पृथिवी के वश करने का निमित्त ठहराया है।

उक्त कृष्ण वर्ण वाले सूर्यान्तर्गत पदार्थ से उद्भव हुआ धूम्र-समूह प्रस्कण्व, कण्व का पुत्र है जो जल जल कर सूर्यरश्मियों को बल देता है, एवं मानो यह प्रस्कण्व की रश्मियो के आश्रित प्रकाश से विश्व में अहोरात्र की संख्या बढ़ाता है। यह बात निम्न मन्त्र में भी कही है—

---

‡ कण निमीलने चुरादिः ॥

* "विश्वं जन्यमुत्पाद्यं यस्या. सा विश्वजन्या" (महीधर.)

‡ "सहस्रधारां बहुनः कुटुम्बस्य धारयित्रीम" (उवटः, महीधरः)

❁ "अदुहत दुग्धवान स्ववशां कृतवान" (अथर्व० ७।१५।१ सायण)

"किमन्वो [illegible] ।। पुत्रः कण्वस्य वामृषिर्गीर्भि [illegible]ो अवीवृधत् ।" (ऋ० ८।८।८)

तथा—

'पार्षद्वाणः प्रस्कण्वं समसादयच्छयानं जिव्रिमुद्धितम् । सहस्राण्यसिषासद्गवामृषिस्त्वोतो दस्यवे वृकः ॥" (ऋ० ८।५१।२)

अर्थ—(पार्षद्वाणः जिव्रिमुद्धितम् शयानं प्रस्कण्वं समसादयत्) चित्र विचित्र किरणरूप बाण समूह ने ‡ उड़ते हुए पत्ती जैसे फैले हुए प्रस्कण्व को पकड़ रक्खा है (ऋषि त्वोतो गवां सहस्राणि असिषासद् दस्यवे वृकः) वह प्रस्कण्व ऋषि हे इन्द्र-सूर्य तुमसे रक्षित हुआ सहस्ररश्मियों को पुनः पुनः प्राप्त करता हुआ अन्धकार रूप दस्यु के लिए छेत्ता अर्थात् अन्धकार का नाशकर्ता बना हुआ है—

इस मन्त्र में सूर्य से पकड़े हुए पत्ती की तरह उड़ते हुए सहस्ररश्मियों को बारम्बार धारण करते हुए अन्धकार नष्ट करने वाले पदार्थ को प्रस्कण्व कहा है। वह सूर्य के मध्य में कृष्णभाग से उद्भव हुआ जलने के योग्य धूत्र (Gas) है। इसी प्रकार निम्न मन्त्र में भी कहा है—

"तत्वायामि सुवीर्यं तद् ब्रह्म पूर्व चित्तये येनायतिभ्यो भृगवे धने हिते येन प्रस्कण्वमाविथ ।" (ऋग० ८।३।८)

अर्थ—(तत्वा सुवीर्यं यामि) हे सूर्य ! मैं उस तुझ बृहद् बल वाले को प्राप्त होता हूँ। तथा—(तद्ब्रह्म पूर्वचित्तये) उस महत्व को भी प्राप्त होता हूँ जो पूर्व चित्ति प्रथम कर्म के लिये प्रेरक है "चित्तिः कर्म" (नि० २।८)। तथा येन यतिभ्यो भृगवे धने हिते) जिसके द्वारा नियन्त्रण करने वाली रश्मियो और अर्चिवेग के लिए ज्वलन सामग्री प्रस्कण्व मे रक्खी है और (येन प्रस्कण्वमाविथ) जिस के द्वारा प्रस्कण्व की रक्षा करता है।

इस मन्त्र मे नियन्त्रण करने वाली रश्मियों और सूर्यार्चि के लिये जलने वाली सामग्री के निमित्त प्रस्कण्व के संस्थापन का वर्णन होने से प्रस्कण्व निश्चित कोई ऐसा पदार्थ है जिससे सूर्यार्चि और रश्मियो का प्रसार होता है। अस्तु इस प्रकार कण्व के पुत्र प्रस्कण्व का भी प्रचार हो जाने से निरुक्त स्थल के "प्रियमेधवद त्रिवज्जातवेदो विरूपवत अङ्गिरस्वन्महिव्रत प्रस्कण्वस्य श्रुधीहवम" इस मंत्र का समग्रार्थ समझ मे आ जाता है। अर्थात् हे विश्व व्यापी अग्ने ! तू सूर्यान्तर्गत कृष्णरंग के पदार्थ से उदय हुए जलने योग्य धूम (Gas) नामक प्रस्कण्व की पुकार को सुन। उसमे भी प्रियमेधों, रश्मियो, अत्रियो भौमाग्नि धाराओं, विरूपो अभ्रमय आकाश मे वर्तमान प्रकाश पंक्तियो और अङ्गिरसो विद्युत की तरंगोया लहरो (Currents) के समान अपनी ज्योतिः प्रदान कर।

यह एक समष्टिगत ज्योति विज्ञान या अग्नि विद्या का प्रदर्शन है। किन्ही ऐतिहासिक व्यक्तियो के इतिहास का इस मे लेश भी नहीं है। वेद विद्या के अपरिचय से अथवा ऐतिहासिकों की जबरदस्ती से लोगों के अन्दर वेद में इतिहास होने की भ्रान्ति हुई अस्तु।

‡ पृषन्तो बाणा =पृषद्बाण । तेषां समूहः पार्षद्वाण "अनुदात्तादेरञ् (अष्टाध्यायी ८।२।४४)

वेदार्थ की अध्यात्म-शैली

परोक्षप्रिया वै देवाः प्रत्यक्षद्विषः ।

ले०—श्री वासुदेव शरण अग्रवाल एम. ए.

ब्राह्मण ग्रन्थों में अनेकबार यह परिभाषा दोहराई गई है कि देवता प्रत्यक्ष से परे हटा कर परोक्ष की ओर संकेत करते हैं, अथवा देवों को परोक्ष अर्थ और परोक्ष भाव से प्रीति होती है। वस्तु का सम्पूर्ण दिव्य स्वरूप बिना परोक्षार्थ पर दृष्टि रक्खे समझा ही नहीं जा सकता। वस्तुतः परोक्ष ही अमृत और अनन्त है प्रत्यक्ष मर्त्य और जड़ है। स्थूल से सूक्ष्म की ओर दृष्टिपात करना ही मानुषी भाव को छोड़ कर दिव्य भाव को प्राप्त होना है। दिव्य भाव की प्राप्ति ही यज्ञीय साधना है। याज्ञिक कर्मकाण्ड मे पदे पदे 'परोक्ष-प्रिया वै देवा; प्रत्यक्षद्विष' यह परिभाषा चरितार्थ होती है। कर्मकाण्ड का दृश्य स्थूल रूप गौण है, उसका परोक्ष अर्थ ही महत्व पूर्ण है, वही दैवी भावों का द्योतक और प्राप्त कराने वाला है। यज्ञीय कर्मकाण्ड और उसमें प्रयुक्त होने वाले उपकरणों का अध्यात्म अथवा अधिदैव पक्ष में जो अर्थ है, वही ऋषियों को इष्ट था और ब्राह्मण ग्रन्थो में भी 'प्राणविद्या' को केन्द्र मान कर यज्ञीय विधियो का अध्यात्म अर्थ बारम्बार दिया गया है। आर्ष ज्ञान का शाश्वत मूल्य तो अध्यात्म पक्ष मे है। उदाहरण के लिए सोमयज्ञ में दो शकटों पर सोम बल्ली लाने का विधान है, उन्हे हविर्धान कहा गया है। उन हविर्धानों को शकट मात्र समझना आर्षज्ञान की अवहेलना है, उनका प्रत्यक्ष अर्थ तो संकेत मात्र है। वस्तुतः ब्राह्मण ग्रन्थों की दृष्टि कुछ और ही रहती है :—कौषीतकी ब्राह्मण में लिखा है :—

वाक् च वै मनश्च हविर्धाने। वाचि च वै मनसि चेदं सर्वं हितं।—द्वे हविर्धाने भवतः छदिस्तृतीयमभिनिदधति तैर्वास्कांच त्रिविधमधिदैवतमध्यात्मं तत्सर्वमाप्नोति ॥ कौ० ९। २

अर्थात्—वाक् और मन ये ही हविर्धान हैं। वाक् और मन मे ही सब कुछ निहित है। दो हविर्धानो पर तीसरी छत होती है। उन तीनों से ही सब कुछ अधिदेव और अध्यात्म वस्तु प्राप्त की जाती है।

वाक् और मन रूपी हविर्धानों की छत प्राण है। वाक् प्राण-मन की ही सहायता से समस्त अध्यात्म-सम्पत्ति प्राप्त होती है। इन तीनों की समष्टि ही आत्मा है। उसी के संस्कार-हेतु यज्ञीय कर्मों का विधान है। शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट कहा है कि देव याजी और आत्मयाजी इन दो प्रकार के याजकों में आत्म-याजी श्रेयस्कर है।

आत्मविद्या ही प्रशस्त ज्ञान है। अध्यात्म ही सब अर्थों की प्रतिष्ठा और पराकाष्ठा है। वही अनन्त समुद्र के समान अपरिमित, अनिरुक्त अमृत, और शाश्वत है।

वेदार्थ शैली

वस्तुत. ब्राह्मण आरण्यक और उपनिषदों मे अध्यात्मशैली की ही विस्तृत व्याख्या पाई जाती है। वही आर्ष चक्षु है जिसके अप्रतिहत आलोक से वेदार्थ प्रदीप्त हो उठता है। खेद है कि कर्मकाण्ड के स्थूल रूप मे ही रुचि रखने वाले व्याख्याताओं ने ब्राह्मण ग्रन्थों के अध्यात्म स्थलों को सदा ही उपेक्षा की दृष्टि से देखा। अतएव जो कुछ भी वेदार्थ ज्ञान का सुपक्व अन्न वे सिद्ध करते रहे उस ओदन से अमृतत्व न दन सका। वरन मलार्थ ही निकलता रहा। वेद से तो अमृतत्व की धाराएं उच्छ्रित होनी चाहिए। परन्तु ऐसा तभी सम्भव है जब हम अध्यात्म शैली का फिर से उद्धार करें। अध्यात्म अर्थ ही चितिविशेष अग्नि के सदृश अमृतमय हैं। शेष अर्थ चिताग्नि के समान मर्त्य होते हैं। अथवा ग्रन्थों के शब्दों में जो

अध्यात्म व्यंजना है वही देश कालातीत सार्वभौम होती है, उनके अभिधा या लक्षणागत अर्थ तो सीमित एवं जड़ ही होते हैं। वेद के शब्द मानो प्रत्येक व्याख्याता से यही कहा करते हैं:—

इष्णन्निषाणामुं म इषाण,
सर्वलोकं म इषाण। यजु०

अर्थात्—यदि हमारे लिए कुछ इच्छा करते हो तो अनन्त द्यु लोक की इच्छा करो, सब लोकों की इच्छा करो। अर्थात् हमारे लिए विराट् अर्थों की श्रद्धाञ्जलि अर्पित करो।

यहां यह उल्लेखनीय है कि 'वेदार्थ की परम्परा मे सुदीर्घ काल के बाद स्वामी दयानन्द ने पुन. अध्यात्म पक्ष एवं ब्रह्मवाद पक्ष की स्थापना की। पश्चिमी विद्वान् हठपूर्वक इस प्रणाली से पराङ्मुख रहे और समस्त ब्राह्मण ग्रन्थों की स्पष्ट साक्षी के होते हुए भी उन्होंने अध्यात्म किंवा ब्रह्मवाद सिद्धान्त को कभी पूज्य दृष्टि से नही देखा। विपरीत इसके वे उन अर्थों का परिहास भी करते रहे। फल वही हुआ जो होना चाहिए था। एक दो प्रयत्नों के बाद ही उनके लिए वेदार्थ-उपबृंहण का राजमार्ग बन्द हो गया और बाद के भाष्यों मे सिवाय पिष्टपेषण के कोई भी नवीन या आत्म तृप्ति कर स्वाद उत्पन्न नहीं हो सका। पाश्चात्य पंडितों की दृष्टि मे तो मानो वेदार्थ का प्रश्न निपट ही चुका है, उसमे अब कर्तव्य शेप नहीं के बराबर है। डा० गीले की वैदिक देवता नामक पुस्तक की भूमिका मे डा० टामस ने सचाई के साथ इसे स्वीकार किया है। परन्तु जब हम ब्राह्मण ग्रन्थों की ओर दृष्टि डालते हैं, जब हम आरण्यकों मे अनेक प्रकार से भरी हुई वैदिक शब्दों की अध्यात्म व्याख्याओं को देखते हैं, तब हम इस अपरिमित अर्थ-राशि को पाकर मुग्ध हुए बिना नहीं रह पाते। तब हम यही सोचते हैं कि क्यों उन लोगों ने घोंघों की खोज मे मोतियों को ठुकरा रक्खा है। क्या सुपर्ण का अर्थ सिवाय पक्षी (Eagle) के दूसरा कुछ उन्हें सूझता ही नहीं? आश्चर्य तो यह है कि वेदार्थ का उद्घाटन करने वाले भारतीय पंडित भी अपनी इस महान् निधि से प्रेम नहीं करते। जो परिश्रम स्वर-अक्षर गिनने मे किया जाता है उसका एक अंश भी यदि अध्यात्म-अर्थ- परम्परा को समझने मे व्यय किया जाता तो अवश्यमेव वेदों के वास्तविक आशय के हम लोग बहुत निकट पहुँच सकते। वैदिक अध्यात्म, दर्शन और सृष्टि तत्त्व के सम्बन्ध मे स्थूलकाय पुस्तकों के लेखक भी अपना कोई स्वतन्त्र मत नहीं रखते। जो कुछ है पश्चिमी पांडित्य का भुक्त शेष है। संस्कृत साहित्य के अनुशीलन के अन्य किसी भी क्षेत्र मे इस प्रकार का क्लैव्य नहीं पाया जाता। ऊपर हमने जिस सुपर्ण शब्द का उदाहरण दिया है उसके ही अनेक अध्यात्म अर्थ ब्राह्मण ग्रन्थों मे दिये हुए हैं। जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण के अनुसार प्राण का नाम सुपर्ण है। शतपथ के अनुसार पुरुष को सुपर्ण कहते है, अथवा प्रजापति ही गरुत्मा सुपर्ण है। शतपथ में ही वीर्य भी सुपर्ण का एक अर्थ है। ऐतरेय मे गायत्री त्रिष्टुप् जगती इन तीनों छन्दों को त्रिसुपर्ण कहा गया है। इन विविध अर्थों पर मनन करने से वैदिक मन्त्रों के सार्व भौम ज्ञान का परिचय प्राप्त होता है। आत्म संस्कृति [Soul-culture] के लिये जो साधनायें शाश्वतमूल्य रखती हैं, उनका परिचय बिना अध्यात्मपरक उपर्युक्त अर्थों के अन्य किसी प्रकार सम्भव नहीं।

स्वामी दयानन्द ने स्पष्ट शब्दों मे ब्रह्मवाद पक्ष का प्रतिपादन किया है। प्राचीन ब्राह्मण ग्रन्थ, आरण्यक और उपनिषद् भी ब्रह्मवादियों के साथ सहमत थे। उनकी साक्षी का गौरव 'ब्रह्मात्मपक्ष' के ही मण्डन मे है। निरुक्तकार ने भी इसी सिद्धान्त को स्पष्ट शब्दों मे स्वीकार किया है:—

अथापि ब्राह्मणं भवति।—'अग्निः सर्वा देवता' इति तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय।

'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहु—
रथोदिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान।
एकं सद्विप्रा बहुधा वद—
न्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥

इममेवाग्निं महान्तमात्मानमेकमात्मानं बहुधा मेधाविनो वदन्तीन्द्रं मित्रं वरुणमग्निं दिव्यं च

गरुत्मन्तं । दिव्यो दिविजो । गरुत्मान् गरणवान गुर्वात्मा महात्मेति वा ॥ निरुक्त ७ । १७ । १८

अर्थात् महान् आत्मा—एक आत्मा—को जिसकी संज्ञा अग्नि है, मेधावी तत्त्वविद् लोग इन्द्र, मित्र, वरुण, दिव्य गरुत्मा सुपर्ण आदि अनेक नामो से पुकारते हैं।

निरुक्तकार ने इसी दृष्टि कोण को पुष्ट करते हुए फिर भी लिखा है:—

माहाभाग्याद्देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते।
एकस्यात्मनोऽन्येदेवाः प्रत्यंगानि भवन्ति।
निरुक्त ७ । ५

अर्थात् एक आत्मा ही अपनी महिमा के कारण अनेक प्रकार से स्तूयमान होता है। एक ही दिव्य आत्म शक्ति के अन्य देवता प्रत्यंग हैं।

इस दृष्टि कोण का उपबृंहण ही स्वामी दयानन्द के वेद-भाष्य हैं। आत्मा को केन्द्र में रख कर जितने भी वेदार्थ के प्रयत्न हैं सब अध्यात्म-शैली के पोषक होने से मान्य हैं। इस प्रतिज्ञा के सम्यक् प्रतिपादन और विवेचन के लिये अनेक ग्रन्थो से सामग्री का संकलन करना चाहिये। यही शैली सनातन, ऋषि सम्मत; सार्वभौम, सार्वकालिक, विराट् एवं सदा-सर्वदा मान्य हो सकती है। अध्यात्म अर्थों से ही वे अधिदैवत अर्थों का भी घनिष्ट सम्बन्ध है जिनसे सृष्टि विद्या के रहस्यो का परिज्ञान होता है। परन्तु अध्यात्म शब्द के व्यापक अर्थ मे अध्यात्म अर्थों का भी सन्निवेश ही समझा जा सकता है। उनके समन्वय के प्रयत्न ब्राह्मणो मे प्राण विद्या के व्याख्यान हैं।
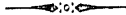
क्या आर्यावर्त्त के प्राचीन ऋषियों

के पितामह मिस्री लोग थे ?

ले०—श्री. पं० भक्तराम जी वैदिक गवेषण निधि (डींगा-पंजाब)

डा० प्राणनाथजी विद्यालंकार बन.रस विश्वविद्यालय से बम्बई के साप्ताहिक पत्र (जो कि अंग्रेजी में निकलता है) मे ऋग्वेद के मन्त्रो की छाया में इस प्रकार के लेख निकाल रहे हैं-जिस सूक्त के मन्त्रों की छाया द्वारा इस प्रकार के भाव डाकृर जी ने निकालने का साहस किया है वे मन्त्र ऋ० १०-१०६, ६-७ बतलाये जाते है। इस सूक्त का देवता अश्विनौ हैं।

इस बात पर विचार करना कुछ अनुचित न होगा कि सूक्तो पर जो देवता पद लिखा होता है वह बिना विवाद के उस सूक्त के विनियोग का बोधक होता है। डाकृर साहब पण्डित है और आर्यवर्त्तीय हैं इस कारण उनको इस भाव का परिचय देना उचित प्रतीत नही होता परन्तु चूंकि डाकृर जी ने देवता का सर्वथा निरादर कर दिया है इस कारण कुछ लिखने का अवकाश मिला है। अश्विनौ शब्द पद नामों में दिया गया है—शायद डाकृर साहब यास्काचार्य के विरुद्ध हो परन्तु निघण्टु को मानना उनको भी अभीष्ट ही होगा।

ऋग्वेद के पद पाठ की डाकृर जी ने परवाह नहीं की और अपनी इच्छानुसार ही अर्थ करने का साहस किया है। अस्तु, पदपाठ करने वाले भी विद्वान् ही थे चाहे वे लोग अपने जीवन का उद्देश्य केवल यही जानकर आयु व्यतीत करते हों। डाकृर जी भी विद्वान् हैं। इस कारण उनका ख्याल हो सकता है कि प्रत्येक विद्वान् का हक़ है कि वेदो को जैसा चाहे मानकर उनसे अर्थ निकाले। यद्यपि यह बात कुछ उत्तमता की बोधक नही तो भी रोक कोई नहीं सकता, परन्तु जो काम डाकृर जी करना चाहते है वह किसी विद्वान ने आज तक नहीं किया चाहे वे विद्वान पाश्चात्य ही क्यो न हो। वह बात यह है कि वैदिक शब्दों के अर्थ ही मन माने कर दिये हैं. विद्यालंकार जी को जर्भरी और तुर्फरीतू शब्दों ने धोखा दिया है;

जिन विद्वानो ने श्री सत्यव्रताचार्य सामाश्रमीजी के पुस्तकों का पाठ किया है उनको ज्ञात होगा कि आपने निरुक्तालोचन के पृष्ठ ४०. पर इस प्रकार वर्णन किया है.

जर्भरी इत्यस्य भर्त्तारौ इति. तुर्फरीतू इत्यस्य हन्तारौ इति च तदर्थद्वयं दृष्ट्वापिमहाभाष्यकारः कथं ब्रूयात् "बहवोऽपि हि शब्दा येषामर्थानविज्ञायन्ते 'जर्भरी' "तुर्फरीन"(२ अ. ? पा. १ पा.) इति

महाभाष्यकार भी इन दोनो पदो का निरूपण करते है—और उनके अर्थों को भी लिखते हैं जर्भरी द्विवचनान्त और तुर्फरी तू भी द्विवचनान्त पद है धातु इनके भिन्न २ हैं परन्तु अश्विनौ शब्द के अर्थों को बतलाते है.

इसी प्रकार सृणी शब्द भी द्विवचनान्त ही है.

ऋग्वेद मं० १०. सू० १०६. मंत्र ६.

सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतू नैतोशेव तुर्फरीपर्फरीका।
उदन्यजेव जेमना मदेरूता मे जराय्वजरं मरायु।६।
ऋ० १०. १०६. ६.

सृणी के समान जर्भरी परन्तु [illegible] के समान नहीं, तुर्फरी पर्फरी का माना जाता है। सृणी शब्द सृ धातु से बनता है जिसका अर्थ सरति

गच्छति होता है. गम धातु के तीन अर्थ हैं ज्ञान गमन और प्राप्ति. इसी से इसके साधारण अर्थ अङ्कुश के भी लिये जाते हैं. जो हाथी के चलाने के काम आता है.

जर्भरी भर्तारौ पालन पोषण करने वाले अश्विनौ सेनापति और राजा सूर्य और चन्द्र, दिन और रात आदि के समान रक्षक तो हैं और संसार के सब प्राणियों के चलाने वाले भी हैं परन्तु हिंसा करने वाले (तुर्फरीतू) नहीं हैं, राजा और सेनापति, सूर्य और चन्द्र दिन और रात आदि अनेक अर्थ जो अश्विनौ के लिये जाते हैं यह दोनो काम करते हैं रक्षा भी करते हैं और जान से भी मारने की सामर्थ्य रखते हैं परन्तु पूर्व अर्थ के लिये प्रार्थना है न कि द्वितीय अर्थ के लिये—

पतोशा के समान, ज्ञान दाता उपदेशक और अध्वर्यु के समान पालन करने वाले हैं पर्फरीका नाम सूर्य का भी है पालनार्थ में, इसी भाव को दूसरे शब्दों मे वेद वर्णन करता है:—

उदन्यजेव जल से उत्पन्न होने वाले के समान जेमना मदेरूको. पालता हुआ आनन्द को देता है जेमना प्रीणनार्थे उदज=नाम जल का है, जल से उत्पन्न होने वाला उदजः मदेरु हर्षकरः आनन्द देने वाला अर्थ है।

तामे—वे सब मुझ जैसे जाय्वजरं, मरायु अजरं मरण धर्म वाले सर्व प्राणियों जीर्णशील मनुष्यादिकों को अजरं जरा से रहित करदे, यह प्रार्थना है।

पर डाकूर साहब "तामे" दो पदों को जोड़ कर तामे को लामे बनाते हैं और उससे किसी बेबिलोनियन प्राचीन जाति के नाम से जोड़ने का यत्न करते हैं, यह उनकी इच्छा है, उनको कोई रोक नहीं सकता। पहले तो यह दो पद हैं और उससे बिगड़ कर लामे बनाना और उससे किसी जाति विशेष का बोध कराना कहां का नियम है, यह डाकूर जी स्वयं ही विचारें। पाश्चात्य विद्वान भले ही ऐसा करें और वहां से किसी इतिहास को निकालें। एतद्देशीय विद्वान् मरायु का क्या अर्थ करेंगे जिसका साफ अर्थ मरण धर्मवाला है और जरायु को क्या किया जावेगा, यह तो प्रार्थना है जैसे कि मृत्योर्मा अमृतंगमय। यह पाठक स्वयं ही विचारें कि हिन्दू पण्डित डाकूर सांप के अर्थ किस पद के करते हैं? यह प्रश्न अवश्य विचारणीय है। दूसरा मन्त्र निम्न है

पृश्नेव चर्चरं जारं मरायु क्षद्मेवार्थेषु तर्तरीथउग्रा।
ऋभूनापत्वरमश्रा खरज्रु र्वायुर्न पर्फरत् क्षयद्रयीणाम्॥

पृश्न के समान, अत्यन्त सुन्दरता युक्त पुरुष के समान चर्चरं, मनुष्य की भाषा को बोलने वाला, पृश्न शब्द पृजी धातु से बनता है जिसके अर्थ वर्ण? का है और चर्चरं शब्द चर्च धातु से बना है जिसके अर्थ परिभाषण के हैं।

जारं मरायु—मरण धर्म वाला दूसरों को जीर्ण करने वाला मनुष्य जो क्षद्म० अन्न? के समान सम्पूर्ण पदार्थों मे उग्र रूप धारण कर जीवन के लेने नाश करने वाला भी बन जाता है। तर्तरीथ के अर्थ हिंसा है

ऋभु भी पद नाम मे दिया गया है। इस पद ने भी डाकूरजी को धोखा दिया है या डाक्टर जी ने जान बूझकर इस अर्थ के अनर्थ कर दिये हैं निरुक्तकार ने इस शब्द पर विस्तार पूर्वक लिखा है, महर्षि दयानन्दजी ने भी इस शब्द के अर्थ अपने भाष्य में दर्शाए हैं, ऋभु के अर्थ विद्वान् के हैं सायणाचार्य जी अपने ऋग्वेद भाष्य ८-१-१० मे मेधावी अर्थ करते हैं, परन्तु डाकटर जी ऋभु शब्द को भी (सांपों का विशेषण करते हैं सांप किस पद का अर्थ है यह बात विद्यालङ्कार ही जानते हैं?) वेद मंत्र मे कोई ऐसा-पद नहीं जिसका अर्थ सांप किया जासके। डाक्टर साहब अर्थ करते हैं। (Lame or Lamine with Rihhu serpent in her hands न) शब्द इव शब्द वाची है। यदि इस का अर्थ नहीं किया जावे तो भी डाक्टर जी का अभीष्ट सिद्ध नहीं होता।

खरम् शब्द कामः ऐसा अर्थ का बोध कराता है, उणादि के पाठ से पता चलता है खनति शरीरं इतिखरः तम् खरं—इससे स्यात् डाक्टर जी गधे का अर्थ करते हैं, खर नाम से गधे का अर्थ किस भाषा में लिया जाता है (इस बात का निश्चय पूर्व कर लेना चाहिये)—इसलिये डाक्टर जी अर्थ करते हैं A riding on an ass (गधे पर सवार)

अजा शब्द क्षिप्र नाम वाची है जिसके अर्थ तेज अथवा तेज चलने वाला स्पष्ट अर्थ यह है कि मेधावी पुरुष स्त्री आदि अत्यन्त कामी न बनकर उसके नाश करने वाले बनें ताकि वायु नाम वाला बलवान प्रभु हमारे (रयीणाम्) धन, ऐश्वर्य्यादि पदार्थों को नाश न करे, अर्थात रक्षा करे, मनुष्य काम के वश होकर सम्पूर्ण धन, ऐश्वर्य के नाश का कारण बनता है जिससे हटने के लिये प्रार्थना की गई है। डाक्टर जी ने कहीं से नौका के अर्थ किए हैं, न जाने किस पद से, परन्तु इस मन्त्र में ऐसा कोई पद नहीं दीखता जो नौका वाची हो, पर्फरीका शब्द पूर्व मन्त्र में आ चुका है।

वैदिकवाङ्मयस्य-क्रम-विकाशः

—:०:—

साहित्योत्पत्ति-विषये तात्त्विक-विचारवता-मनेक—विदुषामनेका अकाट्य-सिद्धान्त-सम्वलिताः सम्मतयो दृश्यन्ते। कतिपय आचार्य्या बौद्धिकविकासे क्रमिक-पक्षमालम्बन्ते। संघर्षद्वारा मनुजानां मस्तिष्के बौद्धिक-प्रवाह आविर्भवतीत्यामनन्ति ते। अज्ञाना-वस्थातो ज्ञानावस्थायां क्रमश प्रवेशेनैव एव सिद्धान्तः परिपुष्टो भवति सम्भवतो विचारमेतमेव कश्चित् कविराह--ज्ञानं नान्यत् किञ्चित्; किन्तु विस्मृत-वस्तुनो बुद्धौ स्मरण-भाव एव ज्ञानम्" देश', कालः, अवस्था, सत्संगश्च बौद्धिक-विकासस्य करणम्, किन्तु मानव मस्तिष्के बुद्धि-तत्वं प्रारम्भत एव पूर्णांशैस्तिष्ठात, तथा पूर्वोक्ता देश—कालादयो भूयस्तदवयवव्यञ्जका एव सन्तीति। अहमपि चैतत् सिद्धान्तानुसारेणैव प्रकाश—पातं वाञ्छामि।

सृष्ट्यादौ सर्वे प्राणिनः स्वीयेच्छाशक्त्या स्वी यमानसिक-भावानुक्त्वाऽन्येषु प्रकटी-करणं चिकी र्षव आसन्। इदमेव हि भाषाया उत्पत्तौ मूलम्। एतस्य क्रिया--कलापोपयोगो हि साहित्यस्यो-पजीव्योऽभूत्। मानव-शरीरे यदा बौद्धिक-विका-सस्य कार्यम्प्रचचाल, तदैव मानसिकविकासोऽपि तदुन्मुखं प्रत्युद्गतः यतो हि मोह-प्रेम-राग-घृणादयश्च ये मनसः प्रबलतमा गुणाः सन्ति; ते शारीरिकीं बौद्धीञ्च क्रियां युगपत् सहैवाऽतिर-ञ्जितां कुर्वन्ति। एतत् संघटनमेव साहित्यस्य शरीरमस्ति।

अति-प्राचीन-समये वैदिक-साहित्यं सर्वोच्च-कोटौ देदीप्यमानमास्थत्, तत्र दृष्टिपातेन संकेतः प्राप्यते यत् साहित्यस्य परिपोषिका बौद्धिक—मानसिक-भावानां सम्मिश्रणाद् नान्या काचित् प्रक्रिया। वीर—गुणि-विद्वद्-धनवद्-विश्वविजेत्रादि भवनयोग्यतापूर्ण-भावाः प्रत्नानामार्याणां जन्म-सिद्धा मानसिका भावा आसन्। क्रमश उत्तरोत्तरं तेषां स्वान्ते बौद्धिक-विकासाभिलाषः प्रवर्द्धमानो दृष्टोऽभूत्। अत एव वेदे "आ ब्रह्मन्! ब्राह्मणो-ब्रह्मवर्चसी जायताम्, आराष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽ-तिव्याधी महारथो जायताम्, दोग्ध्री धेनुर्वोढाऽन-ड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवाऽस्य यजमानस्य वीरोजायतां निकामे निकामे न पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम्" एतादृशैर्वाक्यैः स्वोद्दे-श्यपूर्त्यै पुरातनैः कृतेशप्रार्थना दृश्यते।

देश--कालावस्थानुसारेण मानसिक--भावानां खण्डविवाद एकैकशः कृत्वा नवरसान् व्याञ्जिजत्। संकीर्णता, स्वार्थपरायणता, स्वाभाविक-रुचिश्च, वर्तमान-साहित्य-परिपोषिका अभूवन्। सुख-समृद्धि काले शृंगारः, वैराग्यस्य, त्यागस्य, संन्यासस्य च काले विरक्तेः प्रधानकारणं निर्वेदः।

पुनश्च पुरातनानां मानसिक-भावस्य स्वार्थ-परतया बौद्धिक-विकासस्य विरागेण च (भक्ति-स-म्प्रदाय-परिचायकेन) निहित-सकाम--निष्काम-भक्ति-मूलाः साहित्य—ग्रन्था निर्मिता जाताः।

मानसिकशक्तौ स्फूर्ति-लाभाय क्रीडया (मनो-रञ्जन-जनिकया) स्वाभाविकी सम्भवित्रीमिन्द्रि-यतृप्तिम्पुरस्कृत्य संगीत-शास्त्रं आर्या निरमासुः। इदमेव नादशास्त्रमपि कथ्यते, एतद् विषयको भरतमुनेर्नाद-शास्त्रनामकोऽतिप्राचीनोऽमूल्यो ग्रन्थ-मणिः। भक्ति—सम्प्रदायकीर्तन-प्रथामूलकेऽत्र ग्रन्थे वैदिक्य इन्द्रियोपासनाः सर्वांशैः पारदर्शिताः।

मानव--प्रकृतिः सहजोद्भूत-शक्त्या प्रमोदाऽऽ-मोदविनोदानां कृते प्रति--पदार्थं चमत्कारमत्यधिकं

वाञ्छति । चमत्कारो मनसाऽऽत्मानं वशयति । स एवाऽनेकधा भूत्वा मानव-जीवनं समुज्ज्वलयति । साहित्ये कलायाः पूर्णतो विकासमपि चायमेव करोति । यथाक्रमं मानसिकैर्बौद्धिकैश्च भावैर्युतो (सम्वलितः) भूत्वा भौतिकीमाध्यात्मिकी चोन्नति-मभ्युद्गतो भौतिकमाध्यात्मिकञ्च साहित्यं निरवीवृतत् अमुष्य फलस्वरूपं ज्योतिषशास्त्रमुत्तरत्र पुनस्तत सिद्धान्तसंहिता होरा-नाम्नीषु तिसृषु शाखासु विभक्तं जातम् !

मनुष्यः स्वार्थ-पूर्णः प्राणी विद्यते, अस्या स्वार्थ—परतायाः भावो ज्योतिषेऽपि स्फुट- रूपेण दृश्यते । इमां स्वार्थ-परतामेव वास्तविकी कुर्वाणा आर्याः फलितं होरा-शास्त्रञ्च प्रातिष्ठिपन । किन्तु वैदिकं क्रिया-कलापं सम्पादयितुं सिद्धान्तस्य परमावश्यकतोऽविकलरूपेणाऽस्थात ऋतूनां, पूर्णिमामावास्ययोः, ग्रह-नक्षत्राणां ज्ञानञ्च सिद्धान्तेनैव कर्तुं पार्यते । यद्यपि ग्रहणं-ग्रहयु ति-चन्द्रसिद्धांतस्ययनांशादयः शुद्धचमत्कार-विषयास्तथा-प्यार्याश्चैभिः सह धार्मिकं क्रिया-कलापं सम्बध्य सिद्धान्त-ग्रन्थानपि धर्मग्रन्थ शब्देनैव व्याहार्षुः । अतएव ज्योतिषस्याऽपि वेदाङ्गत्वेन व्यवहारः ।

बहुविधैर्नियम-बद्धै रुच्चारणैर्मनसि यावानामोदो हचिरो विस्तीर्णश्च बोभूयते, न तावानेकविधैनोच्चारणेनाऽनियतेन जटिलो लोकप्रियो वा भवितुमर्हतीति सिद्धांतीकृत्यार्यैर्वैदिके—साहित्ये बृहत्युष्णिहादीनि च्छन्दांस्याविष्कृतानि । विकासवादस्यानयैव विचिन्नतया छन्दः-शास्त्रं प्रादुरभूत् । (यद् वर्तमान साहित्य-ग्रन्थानाम्प्रधानांगपदमलङ्करोति) ।

यथाकालंम्प्रवृद्धासु कलकल-वाहिनीषु सरित्सु प्रचण्ड-पवन-तीव्र-सञ्चारोद्भूतास्तुमुलतरंगा आविर्भवन्ति, तादृगेवाऽऽनन्दसम्वलितेऽन्तस्तले बौद्धिक विकासस्य द्रुत गति-सञ्चारेणाऽलंकारशास्त्र (Rhetoric) मपिप्रादुरभून । तथेदमलंकार-शास्त्रं कल्पनाऽऽधारकं सुदृढं मानसिक-राज्यं स्थापयामास । येन वैदिक-कालात् पतनोन्मुख-हिन्दू-काल-पर्यन्तं साहित्यस्य विजय-वैजयन्ती निर्भीक-रूपेणोड्डीयमाना (विराजमाना) चास्थात ।

उपर्युद्धृत क्रमेणाऽलंकार-शास्त्रस्य जनकस्य बौद्धिक विकासस्याऽलंकारशास्त्रस्य च कृते स्मरण-शक्तेः निरन्तरमतिवेलमावश्यकता प्रतीयते । साहित्ये यथास्थानं यथा-कालं सौन्दर्य विकासोऽप्यलंकारेणैव पूर्णतो जागर्ति । साहित्य-सुषमा-सरसता-विकासे उपयुक्ताऽनुपयुक्तानामनुकूलप्रतिकूलानाञ्चावश्यकोप— करणीभूतां शब्दानां पूर्त्तिर्यथा-नियमं शब्द-संग्रहेणैव भवितुं शक्नोतीतीमं लक्ष्यमभिमुखीकृत्य वैदिक-काल-एवाऽऽर्या व्यरीरचन् निघंटुम् (शब्दकोषम्) । शब्दानां रूपाणां सर्वदा शुद्ध्यै निर्णीत-सिद्धान्तस्य नियम-भंगाभावाय, तत्सत्तायाः समानरूपेण स्थित्यै, मलिनताप्रवाहाऽभावरोधाय, स्वकीयभाषायाः पुष्ट्यै च पूर्वतरा आर्या व्याकरण-शास्त्रं निरमासुः । सामाजिक-विकासस्य तीव्रगत्या क्रमशो वृद्ध्या मनुष्याणाम्भाषा परिवर्तत इत्यपिनविस्मर्तव्यम् । अतएव बौद्ध-काले प्राकृतस्य प्रसारो वैदिक-काले संस्कृतस्यविपुल प्रचारोऽद्यत्वे हिन्दी भाषायाश्च प्रबलतरा स्फुरणा । एतदशायां स्वकीयानामात्मनीनानाम्पुरातनकथानां कृतीनां च विस्मरणं स्वाभाविकं बोभूयते । पुरातनीं स्वीयां भाषामवगन्तुं तत्कालीनं व्याकरणमेवैकमात्रं साधनम् । साहित्यस्य प्रधानरक्षकं व्याकरणस्य, काव्यस्य ,कोशस्य, छन्दसाञ्च परस्परं सम्बन्धनमेवाऽस्ति, एषां रक्षकाणां सहायतयैव मदीयं साहित्यं संसारस्यानेकत्र क्षेत्रेषु निर्भीकं राज्यं शास्ति । साहित्यिकानाम्परिचयार्थमेषां ग्रन्थानां मननमत्यावश्यकम् ।

मानसिकैर्बौद्धिकैश्च भावैः साहित्यं जीवात्मान माध्यात्मिकीमुन्नतिम्प्रत्यग्रेसरं करोति अस्य महती महतः साहित्य-शास्त्रस्योन्नतौ प्रत्नानामार्याणामेवाऽस्तियत्नः । यैः प्रदर्शिते पथि विचरन्तो वयमद्यापि स्मः । यदा सर्वः संसारोऽज्ञानान्धतिमिरे, मोह गर्ते ममतावर्तेऽसभ्यता-निद्रायां, प्रबलो-द्वेग-जन्याऽसन्तोष क्रोडे विलीन आस्थत् तदानीं विश्व-वन्द्या विज्ञान महारथाः, साहित्यराज्यसम्राजो महर्षि-पदवीकाः प्राचीना आर्याः सकल-ललित-कला-विभूषितं वैदिक साहित्यं हस्ते कृत्वा संसारस्य मानसिकं जीवनं मानव-जीवनं लोक-प्रियं तद्रहस्यञ्च प्रकाशितं सकलं च निर्मातुं सतत-प्रयत्नमत्नोऽग्रेसरा आसन् ।

एतर्हि पाश्चात्याः प्रधान-विद्वांसोऽपि "संसारे हिन्दूनां (आर्याणाम्) प्राचीनतमं वैदिकं साहित्यं सर्वश्रेष्ठमस्तीति" मुक्त-कण्ठतः स्वीकुर्वन्त्यामनन्ति च नितरां तदित्यलम्पूपञ्चविपञ्चीविलासेन ।

[काशिक संस्कृत सुप्रभात पत्र लेखो दृश्यते—तत्र लेखकस्य नाम नावगतः संपादक महाभाग [illegible] इति प्रतीयते । अत्र हि श्री संपादक महाभागेन वैदिकवाङ्मयस्य [illegible] प्रदर्शितः [illegible] मनुस्मृत्येति किमु वक्तव्यम् ? वेदा हि सर्व विद्यानां मूलमित्यस्माकं राद्धान्तः । वैदिकवाङ्मयादेव सर्वेषां शास्त्राणामुत्पत्तिरिति नास्ति सन्देहलेशोऽपि यतो हि [illegible] वेदेषु [illegible]शास्त्रबीजम् । तत्र ज्योतिष शास्त्रबीजमस्ति, छन्दः शास्त्रबीजमस्ति, अलङ्कार शास्त्र बीजमस्ति—एवमन्येषां शास्त्राणां विषयेऽपि ज्ञेयम् । एतर्हि विद्यमानं संस्कृतसाहित्य[illegible]मपि वैदिक वाङ्मयमूल[illegible] [illegible] शक्यते । अयं [illegible] लेखो नितरां ललितः सारगर्भितश्चेति हेतोः विदुषां कृते तस्यात्रोद्धरणमिति]

नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ

ओ३म्

अग्निं मीडे पुरोहितम् यज्ञस्य देवं मृत्विजम् होतारम् रत्नधातमम् ॥ ऋ० १।१।१।

मैं अग्नि की पूजा करता हूँ जो संसार के प्रत्येक कार्य मे आगे रहता है। यज्ञ का प्रकाशक है ऋत्विक् है होता—ज्ञाता—देवों को बुला कर लाने वाला है और रत्नादि का देने वाला है।

वैदिक विधि हिंसा रहित है

लें०—श्री रमेशचन्द्रजी शास्त्री (शाहपुरा स्टेट)

ऋग्वेद म० १ सू० १ मन्त्र ४—'अग्ने यं यज्ञमध्वरं विश्वतः परिभूरसि' यह मन्त्र स्पष्ट बतला रहा है कि यज्ञ हिंसा से रहित हैं। मन्त्रस्थ अध्वर शब्द जो कि कर्म है और यज्ञ का विशेषण है विशेषरूप से ध्यान देने योग्य है। निरुक्तकार अध्वर शब्द का अर्थ करते हैं, 'अध्वरं हिंसादि दोष रहितं ध्वरति हिंसा कर्मा तत्प्रतिषेध इत्यर्थः' इसी प्रकार 'यजमानस्य पशून् पाहि माहिंसीरेक शफं पशुम्' इत्यादि यजुर्वेद के मन्त्र बार बार पशुरक्षा तथा अहिंसा का उपदेश कर रहे हैं, यही नहीं जो हिंसा करने वाले व्यक्ति हैं उनके लिये वेद दण्ड का विधान भी करता है। देखो, अथर्व० का० ८ अनु० २ सू० ६ म०२३

य आमं मांसमदन्ति, पौरुषेयं च ये क्रविः गर्भान् खादन्ति केशवा, स्तानितो नाशयामसि

जो कच्चे मांस को खाता है जो किसी पुरुष से मोल लेकर या बनवा कर खाता है, जो अण्डों को खाता है, राजा उनको यहां से नाश करदे, कितना उपयुक्त दण्ड है, है भी तो ईश्वरीय न्याय, जो दूसरों का नाश करता है, उसका भी नाश ही होना चाहिये, २-४ साल की कड़ी कैद से काम नहीं चल सकता।

एक शब्द और है जिसने वैदिक साहित्य से अपरिचित पुरुषों को भ्रम मे डाल दिया है, वह है "पशु यज्ञ"।

पाश्चात्य विद्वानों ने इसका अर्थ किया है, "यज्ञ में पशु मारना" परन्तु न मालूम "पशु यज्ञ" शब्द में मारना किस अक्षर का अर्थ है, यज धातु से यज्ञ शब्द सिद्ध होता है जिसका अर्थ पाणिनि मुनि लिखते हैं "यज देव पूजा संगति करणदानेषु" अर्थात् देवताओं की पुजा संगतिकरण और दान, अब पक्षपात रहित होकर देखा जाय तो "पशुयज्ञ" शब्द का सीधा अर्थ—

पशवः इज्यन्ते दीयन्ते यस्मिन् स पशुयज्ञः—

अर्थात् जिस यज्ञ में विद्वान् ब्राह्मणों को पशुओं का दान किया जाय उसे "पशुयज्ञ" कहते हैं।

यदि पाश्चात्य विद्वानों के कथनानुसार "पशु यज्ञ" शब्द का यज्ञ में पशु मारना ही अर्थ कर लिया जाय, तो विवाह यज्ञ, ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ पितृयज्ञ का क्या अर्थ होगा ? उनके मतानुसार तो विवाह यज्ञ का वर को मारना, ब्रह्मयज्ञ का ब्राह्मणों का संहार, देवयज्ञ का देवताओं का नाश, पितृ यज्ञ का पिता का बध ही अर्थ हो सकता है और कुछ नहीं। बात तो असल मे यह है कि व्याकरणानभिज्ञ व्यक्ति चाहे कितना भी वेदो का स्वाध्याय करे परन्तु वेदो के तत्व को प्राप्त नहीं कर सकता। वेदों को जानने के लिये त्याग तपस्या आदि के साथ साथ सब से प्रथम व्याकरण की आवश्यकता है।

इस ही लिये तो कहा है मुखं व्याकरणं स्मृतम्।

संस्कृत भाषा में एक शब्द और है जो कि साधारण मनुष्यों को भ्रम में डाल रहा है। वह है 'गोघ्न'। गोघ्न का अर्थ ही उलटा समझ कर कुछ अर्ध पक्क पण्डितों को भ्रम हो गया, कि प्राचीनकाल मे ऋषि मुनि अतिथि सत्कार के लिए गाय का बध करते थे। वे समझते हैं, गौर्हन्यते वध्यते यस्मै सः गोघ्नोऽतिथिः अर्थात् जिसके लिए गौ मारी जाय वह गोघ्न अतिथि है। परन्तु इस प्रकार अर्थ करना ही उन लोगों की प्रखर प्रतिभा का प्रबल प्रमाण है। जिस व्यक्ति को व्याकरण का ज्ञान न हो, उसे ऐसे जटिल विषय में हाथ डालना, हाथों को खून लगाकर, शहीद बनने की चेष्टा करना है।

इस शब्द का वास्तविक अर्थ निम्न है। हन् धातु के दो अर्थ होते हैं। हन् हिंसा गत्योः (१) हिंसा (२) गति, गति के अर्थ ज्ञान गमन और प्राप्ति के हैं।

"दाणा गोघ्नौ सम्प्रदाने" इस सूत्र से गोघ्न शब्द सिद्ध होता है, सम्प्रदान अर्थ में, न कि मारने के अर्थ में। और सम्प्रदान संज्ञा केवल होती है, दान अर्थ में; कर्म्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम् (अ० १।४।३२) अर्थात् कर्ता दान के कर्म से जिसको युक्त करना चाहता है, वह ही सम्प्रदान संज्ञक होता है; जैसे "विप्राय गां ददाति" यहां पर दान का कर्म है, गौ, जिससे कर्ता विप्र को युक्त करना चाहता है, इसलिये विप्र की सम्प्रदान संज्ञा है। इससे यह सिद्ध हुआ, कि सम्प्रदान शब्द केवल दान देने के अर्थ में ही प्रयुक्त होता है, अन्य में नहीं। 'सम्यक् प्रदीयते यस्मै तत्सम्प्रदानम्' यह व्युत्पत्ति सम्प्रदान शब्द की है। इस रीति से 'गोघ्न' शब्द का, गौर्हन्यते प्राप्यते दीयते यस्मै स गोघ्नः, यह अर्थ स्पष्ट है। इसी लिये तो गौ को अघ्न्या कहा गया है। देखो ? यजु० अ० १ मं० १ आप्यायध्वमघ्न्या-अघ्न्या अहन्तव्या भवति।

संस्कृत में एक "बलि" शब्द और है जो कि आज कल मारने अर्थ में रूढि सा हो गया है, इसी लिये जीव बलि आदि शब्द जहाँ आते हैं वहाँ बहुत से विद्वान् कह बैठते हैं, कि देखो ? आर्य्यों के धर्म शास्त्रों में जीव हिंसा का विधान है। ऐसे ही व्यक्तियों ने काली चण्डी आदि देवियों के लिये भैंसे और बकरे कटवाने की निकृष्ट प्रथा चलाई, जिसको दूर करने के लिये आर्य वीर पं० रामचन्द्र को कलकत्ते के काली मन्दिर में अनशन करना पड़ रहा है।

यदि बलि शब्द का अर्थ मारना ही हो जाय तो हम पूछते हैं कि प्रति दिन के लिये पंचयज्ञ में जहाँ काक बलि, भूत बलि, श्व-बलि, देना लिखा है वहाँ पर क्या काक बलि का अर्थ कौओं का मारना भूत बलि का प्राणियों का प्राणान्त करना, श्व बलि का कुत्तों का संहार अर्थ किया करेंगे ? अष्टा० अ० २ पा० १ सू० ३५ चतुर्थी तदर्थार्थ बलि हित सुख रक्षितैः, से चतुर्थ्यन्त समर्थ सुबन्त का सूत्रोक्त शब्दों के साथ समास होकर काकाय बलिः, भूताय बलिः, शुने बलिः, यह अर्थ हुआ। अमरकोश में बलि शब्द का अर्थ 'बलि पूजोपहारयोः' अर्थात् पूजा और उपहार किया है, न कि मारना। जिस प्रकार कौए कुत्ते आदि को भोजन देना काक बलि श्व बलि कहलाता है, उसी प्रकार सम्पूर्ण जीवों को यथा शक्ति भोजन आदि देने का ही नाम जीव बलि है।

. यज्ञ में मांस की आहुति देने का प्रश्न भी विचारणीय है। ब्राह्मण ग्रन्थों में लिखा है "चरुर्वै देवानामन्नम् ओदनो हि चरुः, ओदनो हि प्रत्यक्षमन्नं तस्मात् चरुः भवति" अर्थात् अन्न ही देवताओं का चरु यानी भक्षणीय पदार्थ है। देवता सुगन्ध से ही प्रसन्न होते हैं, इसी लिये सुगन्ध युक्त रोग नाशक पौष्टिक पदार्थों से यज्ञ करने का विधान है। जब कि अग्नि में मांस जलाने से चारों तरफ दुर्गन्ध फैल जाती है जिससे देवता तो क्या, मांसाहारी मनुष्य भी नाक दबा लेते हैं तब देवताओं को प्रसन्न करने के लिये यज्ञ में मांस की आहुति देना कहाँ तक ठीक है।

महाभारत शान्ति पर्व में लिखा है:—

बीजै र्यज्ञेषु यष्टव्यमिति वै वैदिकी श्रुतिः
अजसंज्ञानि बीजानि छागन्नो हन्तुमर्हथ-
नैष धर्मः सतां देवा यत्र वै वध्यते पशुः।

वेद की यह आज्ञा है, कि बीजादि द्रव्यों से ही यजन करना चाहिये। अज नाम के बीज होते हैं, बकरा नहीं मारना चाहिये, हे देव लोगो ? पशुओं का मारना सज्जनों का काम नहीं। अजा नामक ओषधि के लक्षण सुश्रुत के चिकित्सा स्थान में लिखे हैं—

अजा स्तनाभकन्दा तु सक्षीरा क्षुपरूपिणी
अजा महौषधिर्ज्ञेया शङ्ख कुन्देन्दु पाण्डुरा॥ अ० ३०

दूध से परिपूर्ण बकरी के स्तन के समान अजा नाम की महौषधि होती है, क्षुपसंज्ञक उद्भिदों में उसकी गणना की जाती है। शङ्ख आदि के समान उसका वर्ण श्वेत होता है, इसी प्रकार ऋषभ और अश्व नामक महौषधियां होती हैं जिनकी गन्ध से बीमारी के कीटाणु नष्ट हो जाते हैं। अथर्व वेद मे एक मन्त्र आता है—

हिरण्य शृङ्ग ऋषभः शातवारोऽयं मणिः
दुर्णाम्नः सर्वांस्तृड्वाव रक्षांस्यक्रमीत्—

इस काल में ऋषभ तथा शतावरी नाम महौष-धियाँ [illegible], [illegible] भारत के यहाँ ऋषभ औषधि डाला जाता है परन्तु वाममार्गियों ने जब से ऋषभ का अर्थ बैल किया, तब से इसका पहचानना भी असम्भव हो गया, आज कल उत्तर प्रान्तों में इसका प्रायः अभाव ही रहता है। इसी प्रसंग में कुछ अन्य शब्द अर्थ सहित लिखे जाते हैं—

अश्व = अश्वगन्धा, ऋषभ = ऋषभक कन्द, श्वान = कुक्कुरमुत्ता, वराह = वराही कन्द, अज = अजमोद, महिष = महिषाक्ष गुग्गुल, मेष = मेषपर्णी, कुमारी = घीकुवार। इसी प्रकार सम्पूर्ण महौषधियों के नाम हैं। जिस प्रकार भीम कह देने से भीमसेन का ही ज्ञान होता है, उसी तरह से यहाँ पर भी अश्व कहने से अश्वगन्धा का ही प्रकरणानुसार बोध होगा, अश्व की नहीं, और जितने नाम ऋषभ के होंगे उतने ही नाम उस औषधि के भी होंगे। विश्व के उपकार के लिये यज्ञ में सम्पूर्ण जड़ी बूटियों के हविष का विधान है। लिखने का तात्पर्य यह है कि यज्ञस्थल में ऋषभ अजा अश्व इत्यादि शब्दों से उस २ नाम वाली महौषधि ही ली जायगी न कि बैल घोड़ा आदि।

इस लेख में हमने अपने पाठकों को यह बताने का प्रयत्न किया है कि वेदों में हिंसा का विधान कहाँ तक सत्य है। इसे समाप्त करते हुये हम नम्र निवेदन करना चाहते है कि वे सत्यार्थ समझें और अनर्थकारी पाश्चात्य नवीन रंग में न रंग जाय। इतिशम्।

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन् देवा अधिविश्वे निषेदुः। यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ऋ० १। १६४। ३९

भाव—जिसमे सब देवों की सत्ता निहित है उस परमदेव को जाने बिना ऋग्वेदादि से कुछ सिद्ध न होगा।

सृष्टि की उत्पत्ति

लेखक—श्री प० सुरेन्द्र शर्मा गौर काव्यवेद तीर्थ

सृष्टि की उत्पत्ति

(१) किसने,
(२) किस वस्तु से ?
(३) कैसे ?
(४) क्यों ?
(५) कब ? और
(६) कब तक के लिये की है।

स० प्र० पृ० १४१ में "जब तक मनुष्य सृष्टि को यथावत् नहीं समझता तब तक उसको यथावत् ज्ञान प्राप्त नहीं होता" ऋषि दयानन्द ॥

संसार के हजारों मत मतान्तरों में से बहुतों ने सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में कई प्रकार के मत प्रदर्शित किये हैं किन्तु हैं सब अधूरे ही।

वैदिक साहित्य में भी सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में वर्णन मिलता है। उसमें भी कई प्रकार हैं और सर्व साधारण के लिये अगम्य, अस्पष्ट और अति गहन भी हैं। अतः आज हम पाठकों के लिये इसी विषय में कुछ लिखने का यत्न करते हैं। पाठकों को इस शुष्क किन्तु ज्ञातव्य सूक्ष्म विषय को समझने के लिये शान्ति के साथ मनन करना चाहिये।

सृष्टि की उत्पत्ति के लिए—

वेदादि सत्य शास्त्रों में जो वर्णन मिलता है उसका संक्षेप यों है—

(१) इस सृष्टि को ईश्वर ने बनाया है, जो कि अनादि, अनन्त, निर्विकार, सर्वाधार, अजर, अमर, अभय, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् आदि अनेकों गुणों का भण्डार है। जिसका वर्णन आर्यसमाज के प्रथम और द्वितीय नियम में, तथा यजुर्वेद अ० ४० मन्त्र ८। व यजुर्वेद ३१ के पुरुष सूक्तादि में भली भांति किया हुआ है। इन गुणों से युक्त परमात्मा ने ही इस विश्व ब्रह्माण्ड को रचा है अतः उसे सृष्टि का निमित्त कारण भी कहते हैं।

(२) जिस वस्तु से ईश्वर ने सृष्टि को बनाया है, उसे सृष्टि का उपादान कारण कहते हैं। और वह प्रधान, अव्यक्त, माया, प्रकृति, पुद्गल, कारण, बल, ईश्वर का सामर्थ्य, भूतात्मा, अविद्या, अक्षर, और असम्भूति तथा अजा आदि नामों से कहा जाता है।

जगत् के इस उपादान कारण को ठीक २ न समझने के कारण ही लोग भ्रम में पड़ जाते हैं। ईश्वर का सामर्थ्य और ईश्वर का शरीर आदि इसके नामों को देखकर वे सहसा कह बैठते हैं कि "परमात्मा ही जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है"।

सृष्टि के तीन कारण हैं:—

(१) निमित्त कारण—जो बनाने वाला है। और वह ईश्वर ही है। जैसे घड़े का कुम्हार बनाने वाला है।

(२) उपादान कारण—जिससे कुछ बने, ऐसी वस्तु प्रकृति ही है जो ईश्वर से भिन्न है। जैसे घड़े का उपादान मिट्टी घड़े के बनाने वाले कुम्हार से भिन्न है।

(३) साधारण निमित्त कारण—जीवात्मा है जो कि ईश्वर और प्रकृति दोनों से भिन्न स्वरूप और ईश्वर के रचित जगत् में से सामग्री प्राप्त कर के अपने सामर्थ्यानुसार नाना प्रकार की वस्त्र भूषण गृहादि की रचना करता रहता है और ईश्वर के रचित जगत् का उपभोक्ता आदि होकर जगत् का साधारण निमित्त कारण कहा जाता है।

परमात्मा जीव और प्रकृति से सर्वथा भिन्न और इनका स्वामी है। ईश्वर व्यापक और जीव व प्रकृति व्याप्य हैं। ईश्वर सूक्ष्मात् सूक्ष्मतर है, चेतन और ज्ञान स्वरूप है। जीवात्मा भी ईश्वर और प्रकृति दोनों से भिन्न, चेतन स्वल्प, ज्ञानवान और एकदेशी है तथा प्रकृति, ईश्वर और जीव इन दोनों से ही है—भिन्न, नित्य किन्तु जड़ ज्ञान रहित है। इन तीनों में से एक के भी अभाव होने से सृष्टि की रचना नहीं हो सकती है। वेदादि सत्य शास्त्रों में इन तीनों

का स्वरूप व लक्षण सुविस्तृत रूप से वर्णन किया हुआ है। हम इस विषय में एक सर्वाङ्ग सुन्दर पुस्तक लिख रहे हैं।

यहाँ केवल प्रकृति के स्वरूप और उससे बनने वाली सृष्टि की, उत्पत्ति का क्रम, काल और स्थानादि विषय में ही अति संक्षेप से लिखते हैं।

जगत् का उपादान कारण (प्रकृति) क्या है ?

प्रमाण भाग—

(१) "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्य-नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति" ऋ० १।सू० १६४।२०।

इस मन्त्र में नित्य प्रकृति को ईश्वर और जीव के समान ही अनादि अनन्त नित्य और वृक्ष के नाम से कारण से कार्य रूप में—फलित होने वाली माना है और जीव इसका उपभोक्ता तथा परमात्मा केवल साक्षी और नियामक व कर्त्ता के रूप में कहा गया है।

(२) "अजामेकां लोहित शुक्ल कृष्णाम बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरुपाः।

अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते, जहात्येनां भुक्त भोगाम जोऽन्यः। श्वेताश्वतरोप निषद् अ० ४।५।

इस श्लोक में प्रकृति को अजा और लोहित, शुक्ल तथा कृष्ण स्वरूप वाली जगत् का उपादान कारण कहा गया है।

(३) "समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशाया शोचति मुह्यमानः। जुष्टं यदा पश्यत्यन्य—मीशमस्य महिमा नमिति वीत शोकः।" श्वेत ४।७।

इस श्लोक में भी ईश्वर, जीव और प्रकृति का विस्पष्ट वर्णन मिलता है।

(४) मायां तु प्रकृतिं विद्यान् मायिनंतु महेश्वरम्। तस्याऽवयव भूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्॥ श्वेता० ४।१०॥

इसमें परमेश्वर से अलग प्रकृति का वर्णन है जिसका नाम माया कहा है, और जिसके अवयवों से ही यह विश्व ब्रह्माण्ड उत्पन्न हुआ कहा गया है।

(५) प्रकृति के लिये [illegible] और अविद्या शब्द का प्रयोग किया गया है—द्वे अक्षरे ब्रह्म परे त्वनन्ते विद्याऽविद्ये निहिते यत्र गूढे।

क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या, विद्याऽविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः" श्वेता० अ० ५। श्लोक १।

अर्थ—अनन्त परम ब्रह्म परमात्मा में—दो अक्षर अत्यन्त सुरक्षित रूप से निहित हैं जिनका नाम विद्या और अविद्या है। इनमें से अविद्या पद वाच्य पदार्थ तो क्षर कहलाता है और विद्या पद वाच्य अमृत है। इन विद्या और अविद्या दोनों का जो स्वामी है सो इन दोनों से भिन्न है। और वह ईश्वर है।

इस श्लोक मे परमात्मा में स्थित जीवात्मा और प्रकृति को विद्या व अविद्या नाम से कहा गया है। क्योकि विद्या शब्द से ज्ञानवान् जीवात्मा अमृत है–अर्थात् परिणाम शून्य है और अविद्या शब्द मे प्रकृति का ग्रहण है जो कि क्षर अर्थात् परिणाम वाली कही गयी है। प्रकृति में परिणाम (अवस्थान्तर) होने से ही यह दृश्यमान कार्यरूप जगत बना हुआ है।

(६)असम्भूति—नाम की-पैदा न होने वाली किन्तु जड़ भूत नित्य प्रकृति का वर्णन यजुर्वेद (अ० ४० मन्त्र ६ मे किया है।)

(७) अविद्या—नाम प्रकृति के लिये भी आता है, जैसे कि यजुर्वेद (अ० ४० मंत्र १२ मे है)

प्रकृति के लिये ऋषि दयानन्द ने

(८) अव्यक्त तथा—

(९) ईश्वर का सामर्थ्य और

(१०) मूल पृकृति आदि शब्दों का पृयोग किया है। जैसे—

(क) "व्योमाकाशमपरं यस्मिन् विराडाख्ये सोऽपि नो आसीत् किन्तु पर ब्रह्मणः सामर्थ्याख्यमतीव सूक्ष्मं सर्वस्याम्य परम कारण मंज्ञकमेव तदानीं समवर्त्तत"।

~~तथैव सर्वं जगत् तत्सामर्थ्यादुत्पद्यत इति~~"।

"पूलयाऽवसरे सर्वस्यादि कारणे—
पर ब्रह्म सामर्थ्ये पूलीनञ्च भवति,,॥
(ऋग्वेद भाष्य भूमिका पृ० ११६)

(ख) "तस्मात्स्वयमजः सन् सर्वं जनयति स्व-सामर्थ्यादिकारणात्कार्यं ?जगदुत्पादयति"। (पृ०१२०)

(ग) "अयं सर्वः संसार इहाऽस्मिन् परमात्मन्येव वर्तते पुनर्लयसमये तत्सामर्थ्यकारणेपूलीनश्च भवति,।

"तदुभयं (जगत्) तस्मात्पुरुषस्य सामर्थ्यकारणदेव जायते"। [पृ० १२२]

[घ] "उसी पुरुष के सामर्थ्य से उत्पन्न हुआ है जिसको मूल पृकृति कहते हैं"। [पृ० १२३] इन सब वाक्यों का यही आशय है कि ईश्वर ने जगत् को उपादान कारण भूत मूल कृपृति से ही बनाया है और उसी को यहाँ पर "ईश्वर का सामर्थ्य" नाम से कहा गया है। अर्थात् जहाँ पृकृति के लिये शास्त्रों में पृधान उपादान कारण अव्यक्त आदि नाम आते हैं वहाँ पर एक नाम "सामर्थ्य" भी आता है। ऋषि ने यहाँ पर उसी सामर्थ्य का प्रयोग प्रकृति के अर्थों में ही किया है। किन्तु कई भाई ऋषि के इन स्थलों पर विशेष ध्यान दृष्टि न देने से कुछ भ्रम मे पड़ जाते हैं और उनको प्रकृति एक जन्य वस्तु प्रतीत होने लगती है और प्रायः ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका पृ० १३२ के ऋषि के इस लेख को उद्धृत करके वे शंका जाल मे फंस जाया करते हैं। अर्थात् पृकृति जन्य है इसको सिद्ध करने के लिये निम्न वाक्य से शङ्का उठाया करते हैं। जैसे—

"अग्निश्च वायोः सकाशाद् वायुराकाशादुत्पादित आकाशः प्रकृतेः प्रकृतिः स्व सामर्थ्याच्च"॥

प्रायः हमारे मुसलमान भाई इसे पेश करते हुए कहा करते हैं कि—"आर्यों की नित्य प्रकृति भी खुदा ने अपने सामर्थ्य से याने अपनी कुदरत से बनाई है। इसलिये प्रकृति अनादि नहीं हो सकती है"। इत्यादि।

यहां पर प्रश्नकर्ता भाई सामर्थ्य शब्द से शक्ति या ईश्वर की कुदरत (करामात) समझकर ऐसी शंका किया करते हैं। किन्तु इस प्रकरण में सामर्थ्य शब्द का अर्थ निज शक्ति बल (जिसे वे लोग कुदरत समझते हैं। नहीं है बल्कि इस प्रकरण में सामर्थ्य शब्द का अर्थ जगत् का उपादान कारण सत्व, रज, तम रूप मूल प्रकृति ही है। यहां पर ऋषि दयानन्द ने सुविस्पष्टतया सामर्थ्य शब्द से मूल प्रकृति अर्थात् सत्व रज, तम त्रिविध परमाणुओं का ही ग्रहण किया है।) और यह शास्त्रों की शैली है कि कहीं तो अव्यक्त शब्द से ही मूल प्रकृति को कहा जाता है। और कहीं पृधान से, कहीं पृकृति से, कहीं कहीं ईश्वर के शरीर से (जैसे मनु० १।८ और कहीं कहीं ईश्वर के सामर्थ्य, इस शब्द से ही उस मूल पृकृति उपादान कारण का वर्णन किया जाता है। इसलिये यहाँ भी ऐसा ही समझना चाहिये (प्रश्न) यदि सामर्थ्य शब्द से पृकृति का ही ग्रहण किया जावे तो फिर लिखा तो यह है कि ("परमेश्वर ने पृकृति को अपने सामर्थ्य से बनाया है")। इससे यह स्पष्ट है कि पृकृति को जिस सामर्थ्य से बनाया है वह पृकृति से भिन्न दूसरा ही पदार्थ है। यदि प्रकृति और सामर्थ्य दोनों दो न होकर एक पदार्थ के ही दो नाम होते तो ऋषि ऐसा न लिखते कि ("पृकृति को ईश्वर अपने सामर्थ्य से बनाता है")"इससे यह सिद्ध है कि पृकृति नित्य नहीं है प्रत्युत ईश्वर की बनाई हुई है और जिस सामर्थ्य से बनाई है वह केवल ईश्वर की शक्ति-सामर्थ्य, बल या करामात ही कही जा सकती है। अर्थात् पृकृति जन्य वस्तु है। (उत्तर) अनेकार्थक शब्दों का अर्थ पृकरणानुसार और जो सम्भव हो वही लिया जाता है। यह ठीक है कि सामर्थ्य शब्द का अर्थ निज शक्ति (बल) भी होता है। परन्तु इस सृष्टि उत्पत्ति के पृकरण में सामर्थ्य शब्द का अर्थ जो ऋषि दयानन्द ने मूल पृकृति (सत्व रजस्तम) लिया है वही सम्भव और समुचित अर्थ है। यदि ऐसा न करके सामर्थ्य शब्द से ईश्वर की निज शक्ति का अर्थ लिया जावे तो यह सामर्थ्य ईश्वर के स्वरूप का एक अंश, भाग या हिस्सा मानना पड़ेगा और ऐसा मानने पर ईश्वर को फिर अभिन्न निमित्तोपादान कारण ही मानना होगा जो कि सर्वथा असंगत है। क्योंकि—

(१) "कारण गुण पूर्वकः कार्य गुणो दृष्टः" वैशेषिक दर्शन अ० २ (आ० १ सू० १४)।

अर्थात् जिस कारण से जो काम उत्पन्न होता है उस कार्य में कारण के गुण अवश्य ही आते हैं। यदि पृकृति का उपादान कारण परमात्मा हो तो जो भी गुण परमात्मा में हैं वे सब प्राकृतिक जगत् में भी अवश्य होने चाहिये। परन्तु जगत् में परमेश्वर

के सत्त्वादि गुणों का अभाव होने से यह सर्वथा सिद्ध है कि जगत् का उपादान कारण ईश्वर नहीं है। क्योंकि (जो ईश्वर स्वयं निरवयव निराकार और सर्वज्ञादि गुण युक्त चेतन स्वरूप है उससे यह दृश्य मान सावयव स्थूल एवं जड़ जगत् कैसे उत्पन्न हो सकता है) अतः सामर्थ्य शब्द से ईश्वर का अंश तो किसी भी दशा में नहीं लिया जा सकता है। और यदि सामर्थ्य शब्द से ईश्वर की शक्ति बल पराक्रम तथा कुदरत आदि लिया जावे तो भी ठीक नहीं है। क्योंकि इस दशा में शास्त्रों में कहा है कि—

१—"कारण भावात्कार्यभाव" वै ४।१।३ ॥

होने वाला प्रत्येक कार्य कारण के होने से ही हो सकता है। बिना कारण के कोई भी कार्य जगत् में नहीं देखा जाता है। अर्थात् अभाव का भाव और भाव का अभाव कभी नहीं होता है। जैसे—एक किनारे की नदी, बन्ध्या के पुत्र, आकाश पुष्प और मनुष्य के शृङ्ग (सींगों) का त्रिकाल में भी होना असम्भव है। इसी प्रकार से बिना कारण के कार्य का होना भी असम्भव ही है। इसीलिये शास्त्र में कहा है कि "कारणाऽभावात् कार्याऽभाव" वै० १।२।१॥

अर्थात् कारण के अभाव से कार्य का भी सदा अभाव ही रहेगा। गीता मे भी (१-१६ में) कहा है कि—

"नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः"।

अर्थात् अभाव का भाव और भाव का अभाव कभी नहीं हो सकता है।

इन वचनों से सिद्ध है कि सामर्थ्य शब्द से ईश्वर अपने से भिन्न अभाव से (बिना कारण के) भी प्रकृति को उत्पन्न नहीं कर सकता है।

इसलिये सामर्थ्य शब्द से ईश्वर का निज अंश या निज शक्ति से उत्पादित अभाव से भाव वाली प्रकृति न लेकर मूल प्रकृति ही अर्थ लेना सर्वथा उचित है जो कि ईश्वर की निज सम्पत्ति और सत्व, रजस्तम रूप नित्य किन्तु अपनी सत्ता में ईश्वर से भिन्न जड़ स्वरूप ज्ञान शून्य है।

महर्षि दयानन्दजी महाराज लिखते हैं—

"[illegible] सृष्टेर्थं [illegible] कर्तेदं सकलं जगद् विदधत्" (भाष्य भूमिका पृ० १२२ पंक्ति २०-२१ में)

अर्थ—जगत् के बनाने वाले परमेश्वर ने जगत के उपादान कारण भूत सामर्थ्य के अंशों को लेकर इस सम्पूर्ण जगत् को बनाया है।

जब "प्रकृतिः स्वसामर्थ्यात्, इस पंक्ति से दो पंक्तियों के आगे ही ऋषि ने यह सुविस्पष्टतया लिख दिया है कि ईश्वर इस सामर्थ्य के अंशों को लेकर जगत् बनाता है तो फिर सामर्थ्य शब्द से मूल प्रकृति सत्वरजस्तम के ग्रहण में कोई भी संदेह न रहना चाहिये। क्यों कि जिसके अंशों से जगत् बनाना लिखा है वह मूल प्रकृति के अतिरिक्त और कोई भी वस्तु नहीं है।

अर्थात्—जहां पर 'सामर्थ्य से प्रकृति बनाई" आदि लेख मिलते हैं वहां पर सामर्थ्य शब्द से सत्व रजस्तम इन तीन प्रकार के परमाणुओं का ग्रहण है। और इनकी साम्यावस्था का नाम ही प्रकृति कहा है। वास्तव में इस साम्यावस्था और प्रकृति मे केवल शब्दों का तो अन्तर है परन्तु मूल पदार्थ में कोई भेद नहीं है केवल साम्यावस्था ही अवस्थान्तरित हो जाती है। अत जहा ऋषि ने "प्रकृति को स्वसामर्थ्य से बनाया" लिखा है वहां सामर्थ्य शब्द से मूल प्रकृति-त्रिविध परमाणुओं का ही ग्रहण है। और जहां जहां सामर्थ्य शब्द को छोड़ कर केवल प्रकृति ही शब्द है वहां पर "साम्यावस्था" का पारिभाषिक शब्द न होने पर भी सत्व रजस्तम ये त्रिविध पदार्थ ही प्रकृतिपद वाच्य होते हैं। साम्यावस्था रूप प्रकृति मे और सत्व रजस्तम परमाणु रूप मूल प्रकृति में इतना अधिक सामीप्य है कि कई विद्वान् इस साम्यअवस्था को ही मूल प्रकृति कहा करते हैं और कई इसे जरा और भी अधिक बारीकी के साथ वर्णन करते हुए साम्यावस्था को जन्य मान कर उसे तो "प्रकृति विकृति" के नाम से कह दिया करते हैं और सत्व रजस्तम रूप परमाणुओं को "मूल प्रकृति" के नाम से वर्णन करते हैं।

इस भेद को समझाने के लिए विद्वानों ने वर्तमान दृश्य जगत् को चार भागों में विभक्त करके जो

वर्णन किया है:—"मूल प्रकृति रविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त। षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥ सांख्य कारिका ३॥

इस कारिका का भावार्थ यह है कि पुरुष और प्रकृति दोपदार्थों के चार भाग युक्त यह जगत् है जैसे—

१—मूल प्रकृति—अविकृति।

२—प्रकृति विकृति।

३—विकृति।

४—पुरुष-परमात्मा और जीवात्मा है जो न प्रकृति न विकृति है अर्थात्—१ अविकृति (मूल प्रकृति) वह है जो किसी का कार्य न हो और अपने से होने वाले पदार्थों को उत्पन्न करने का अपने अन्दर सामर्थ्य रखती हो। इसी मूल प्रकृति (अविकृति) को ही प्रधान, अव्यक्त ईश्वर का शरीर आदि नामों से भी कहा जाता है और यह सत्त्व रजस्तम त्रिविध परमाणु रूप ही है जो किसी की विकृति अर्थात कार्य नहीं है नित्य है।

(२) **प्रकृति विकृति**—वह पदार्थ है जो कि अपने से बनने वाले अगले स्थूल पदार्थों के बनने का कारण (प्रकृति) हो किन्तु स्वयं भी विकृति-किसी से कार्य रूप मे परिणत हुआ हो। जैसे—

साम्यावस्था युक्त प्रकृति से महत्तत्त्व, अहङ्कार और पञ्चतन्मात्रायें हैं। ये पदार्थ कार्य कारणात्मक होने से "प्रकृति विकृति" कहलाते हैं।

(३) विकृति—वह पदार्थ है जो कि स्वयं किसी की विकृति (कार्य) तो हो किन्तु अपने से आगे और कोई दूसरा पदार्थ न बना सके। ऐसा यह सम्पूर्ण जड़ जगत् ही है जो इन पदार्थों के अन्तर्गत आ जाता है। विकृति पद वाच्य १६ हैं—

५ ज्ञानेन्द्रियां, ५ कर्मेन्द्रियां, १ मन और ५ स्थूल भूत आकाश, वायु, अग्नि, जल, और पृथिवी।

४—न विकृति न प्रकृति—वह है जो कि न तो किसी की प्रकृति अर्थात् मिट्टी से जैसे घड़ा बना करता है वैसे किसी का भी बनाने वाला उपादान कारण भी न हो और न विकृति अर्थात् किसी भी उपादान से बना हुआ ही हो। ऐसा पदार्थ पुरुष ही है। पुरुष शब्द से जीवात्मा और परमात्मा दोनों का ही ग्रहण किया जाता है। परमात्मा और जीवात्मा न तो किसी के कार्य ही हैं। और न किसी के उपादान ही हैं और मूल प्रकृति (अविकृति) जो सत्व रजस्तमो गुण रूप परमाणु हैं वे ही इस विस्तृत ब्रह्माण्ड के प्रकृति भूत उपादान कारण हैं बस यही भेद प्रकृति और मूल प्रकृति का है जिसे ऋषि ने सामर्थ्य और प्रकृति नाम से विस्तार पूर्वक वर्णन किया है।

(प्रलय का दृश्य)

ओ३म्—"तम आसीत्तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।

तुच्छ्येनाभ्व पिहितं यदासीत्तपस स्तन्महिना जायतैकम् (ऋ० १०।१२९।३॥

"आसीदिदं तमो भूतम प्रज्ञातम लक्षणम्। अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्त मिवसर्वतः मनु० १।५॥

३—"जब प्रलय होता है तब परमेश्वर और मुक्तजीवो को छोड़ के उसको कोई नहीं जानता (स० प्र० समु० ८ पृ० १३६ पंक्ति ७-८)

ऋग्वेद और मनुस्मृति तथा ऋग्वेदादि भाष्य-भूमिकाऽदि मे प्रलयावस्था का जो वर्णन है—हम ने उसे समझाने के लिए एक चित्र ❁ की कल्पना की है। मन्त्रादि का अर्थ करने पर विस्तार बढ़ जायेगा अतः उसे छोड़ दिया है।

प्रलयाऽवस्था मे यह प्रकृति जगत् अपने कारण में लीन हो जाता है। अर्थात्—(उस समय मे परमाणु बिखरी हुई हालत मे-पृथक-पृथक होते है) और यह प्रलयावस्था अन्धकाराच्छादित अलक्षण और अविज्ञेय होती है।(परमाणु तो अब और तब कार्य और कारण दोनो ही दशाओ मे सदा एक जैसे ही बने रहते हैं)और वे ही परमाणु इस जगत के उपादान कारण कहे जाते हैं किन्तु प्रलयावस्था में उनका किसी भी दशा मे (नाम आदि के रूप मे) व्यवहार नहीं होता है:—बस ! इस व्यवहाराभाव

❁ प्रलय का चित्र पृष्ठ १४६ के बाद देखिये।

कहा ही चमत्कारी बल्ब से वह बन्द किया जाता है कि (उस समय परमाणु आदि भी नहीं थे)। वास्तव में ईश्वर जीव और सूक्ष्म प्रकृति परमाणु रूप जगत् का उपादान सदैव बने रहते हैं और प्रलय में भी अपनी सत्ता में सदैव विद्यमान रहते हैं। जैसे—

एक ५० गज के थान में कारण रूप से धोती, कुर्ता, कोट, टोपी पाजामा, रजाई, गद्दा आदि पदार्थ विद्यमान अवश्य ही हैं और कारीगर उन्हें कारण रूप से कार्य में लाकर प्रकट कर देता है। किन्तु ५० गज के थान के रहते हुए इन धोती आदि के नामादि का व्यवहार न होने से यही कहा जाता है कि इनका अभाव है। ठीक यही दशा महर्षिदया-नन्द लिखित ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका के सृष्टि प्रकरण आदि स्थल की भी है। पाठकगण उसे शास्त्रीय परिभाषा की शैली मे पढ़ने और समझने का यत्न करें।

(सृष्टि उत्पत्ति का केवल १ क्रम—

सृष्टि की उत्पत्ति के वेदादि सत्य शास्त्रों मे अनेक क्रम मिलते हैं उनमें से केवल एक ही क्रम पाठकों के आगे चित्र सहित रखते हैं।

सांख्य दर्शन और तैत्तिरीयोपनिषद् के आधार पर हम ने यह चित्र बनाया है।*

"तस्माद् वा एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः, आकाशाद् वायुः, वायोरग्निः अग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः, ओषधिभ्योऽन्नम् अन्नाद्रेतः, रेतसः पुरुषः।

स वा एष पुरुषोऽन्न रस मयः। (तै त्ति ब्र० व० २। १)

संक्षेपतः।

सृष्टि की उत्पत्ति के अनेक क्रम, स्थान और आदि काल से मनुष्यादि की उत्पत्ति कैसे हुई है, इसके विस्तृत एवं युक्ति युक्त तथा सप्रमाण वर्णन के साथ-साथ पाश्चात्य विद्वान श्रीमान डार्विन महोदय के विकाश वाद की समालोचना और आदि काल मे उत्पन्न हुए मनुष्यादि प्राणियो की संख्या आदि का सर्वाङ्ग सुन्दर एवं सचित्र वर्णन हम "सृष्टि की उत्पत्ति" नामक पुस्तक मे विस्तार पूर्वक करेंगे। वह शीघ्र ही प्रकाशित होगी। शेष पुनः।

* प्रलय और सृष्टि का चित्र प्रलय के चित्र के बाद देखिये।

प्रलयाऽवस्था का चित्र (दृश्य)
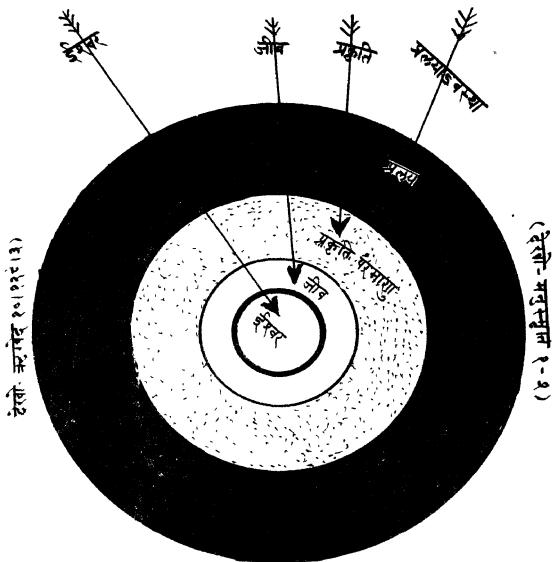
नोटः— सत्व रजस्तम· त्रिविध परमाणुओं को मूल प्रकृति और इसी को ईश्वर का सामर्थ्य भी कहते हैं। और परमाणुओं की साम्याऽवस्था को प्रकृति कहते हैं। सुरेन्द्र शर्म्मा गौर वेदतीर्थ

देहली।

१०-१०-३५ ई

प्रलय और सृष्टि की उत्पत्ति का चित्र
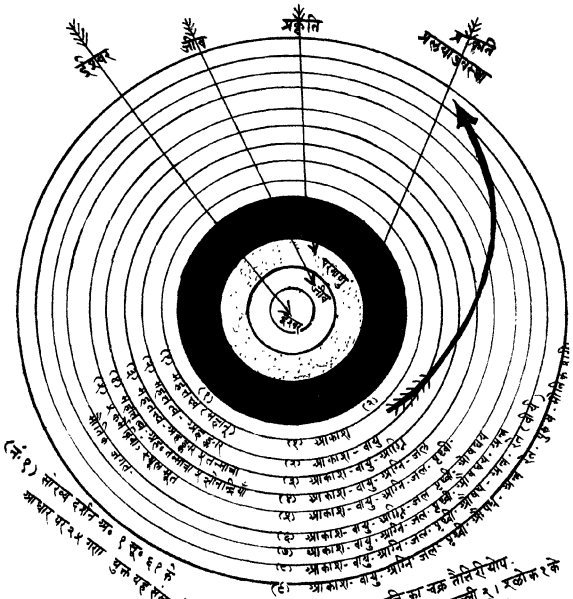
नासदीय सूक्त

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं
नासीद् रजो ना व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुह कस्य शर्म
न्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम् ॥ १ ॥

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि
न राज्या अह्न आसीत्प्रकेतः
आनीदवातं स्वधया तदेकं
तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनाऽऽस ॥ २ ॥

तम आसीत्तमसा गूढमग्रेऽ—
प्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्व पिहितं यदासीत्
तपसस्तन्महिनाऽजायतैकम् ॥ ३ ॥

कामस्तदग्रे समवर्तताधि
मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्ध मसति निरविन्दन्
हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥ ४ ॥

तिरश्चीनो विततो रश्मि रेषाम्
अधः स्विदासी३ दुपरि स्विदासी३त्।
रेतोधा आसन् महिमान आसन्
स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात् ॥ ५ ॥

को अद्धा वेद क इह प्रवोचत्
कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।
अर्वाग् देवा अस्य विसर्जनेना—
थ को वेद यत आबभूव ॥ ६ ॥

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव
यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्
सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥ ७ ॥

ऋक् म० । सूक्त १२९ ।

नासदीय सूक्त का पद्यानुवाद

(लेखक—आचार्य श्री सुखदेव शास्त्री, मुख्यसंस्कृताध्यापक डी० ए० वी० हाईस्कूल आगरा)
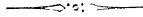
सत या असत नहीं था तब तो जब जग-आविर्भाव हुआ
अन्तरिक्ष या व्योम नहीं था जो अनन्त तो घिरा हुआ।
क्या आवरण, कहां, कब, किसका, किसके सुख के लिये हुआ ?
जग जीवन गम्भीर नीर भी यह अगाध कब कहां हुआ ? ॥

मृत्यु न थी तब अमृत नहीं था भव का यह सब भेद न था
रात्रि दिवस का भेद बतावे ऐसा साधन हुआ न था।
यह केवल निज बल के द्वारा वायु बिना उच्छ्वसित हुआ
उससे तो अतिरिक्त परे या अन्य न कुछ उल्लसित हुआ ॥

यह सब तब तम ही तम था तम से व्याप्त हुआ थल था
यह तब भेद अभेद रहित बस सब कुछ भी जल ही जल था
व्यापक होकर भी माया से आच्छादित था बना हुआ
वह तब निज तप की महिमा से एक अनेक विभक्त हुआ ॥

सब से पहले प्रकट हुआ था काम कामनारूप लिये
उसके मनका बीज हुआ जो प्रथम बीज का ओप लिये।
यह सत का सम्बन्ध प्रथम था असत रूप जगदीश्वर में
कवियों ने निज निर्मलमति से निश्चय किया तभी मन में ॥

फैल गई यह रश्मि आप ही इनसे तिरछी रेखा सी
नीचे भी यह ऐसी ही थी ऊपर बनी हुई जैसी।
थे कारण को धारण करके महिमामय मंगल कर थीं
उनका वैभव व्याप्त हो गया किन्तु शक्तियां उधर न थीं ॥

कौन इसे निश्चय से जाने कह पावे सुन्दरता से
यह निसर्ग उत्पन्न हुआ था किस कारण किस कर्ता से ।
इस निसर्ग के बाद हुई है देव गणों की भी सत्ता
तब कह सकता कौन कहां से हुई सकल जग की सत्ता ॥

जिससे जन्मी थी लीलामय सकलकला की सृष्टि कभी
उसने धारण किया स्वयं था इसको अथवा नहीं तभी।
जो अध्यक्ष बना है इसका है अनन्त का जो वासी
यह सब जाने या मत जाने हे प्रिय ! वह ही अविनाशी ॥

वेद में सृष्टि-उत्पत्ति

(ले०—राज्य रत्न श्री० प० आत्मारामजी अमृतसरी-बड़ोदा)
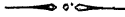
नामी अंग्रेज़ीमासिक [दी मौडर्न रिव्यू आफ कलकत्ता] मास जनवरी १६३५ के अङ्क मे अमरीका के सुप्रसिद्ध डाक्टर श्रीयुत जे० टी० संडरलैंड साहेब ने जो वर्तमान वैज्ञानिक तत्त्वो से भरपूर सारगर्भित लेख लिखा है—उसका सार भाव ही हम अपने शब्दों मे नीचे देना उचित समझते हैं। इसके क, ख तथा ग तीन परिच्छेद है।

(१) क—उन्होंने बाईबल आदि किसी भी धर्म ग्रन्थ मे प्रोक्त ईश्वर का वहां प्रसग नहीं छेड़ा किन्तु विज्ञान के आधार से सृष्टि कर्त्ता ईश्वर का विपय लिया है और इसकी सृष्टि तथा सृष्टि की चालु सृष्टि, उत्पत्ति आदि का भी वर्णन किया है और अमरीका की नामी Lick observatory (ज्योतिष-ग्रह) का वर्णन करते हुए वृहत् दूरबीक्षण [दूरबीन] से दिखाने की चर्चा की है। साथ ही कहा है कि इस समय अनेक नई रचनाएँ सृष्टि उत्पत्ति के रूप मे आकाश गगा के मध्य मे हो रही हैं जहां Nebula बन रहे हैं। फिर इन निबुलाओं से सूर्य तथा पृथिवियाँ बन रही हैं।

[१] ख—आपने विश्व की सीमा को अनन्त कहा है।

[१] ग—सब काम सर्वत्र नियम बद्ध हो रहे हैं। अत वह विज्ञान के आधार पर बडे बल से ईश्वर का लक्षण ही "Embodiment of Laws" [नियमों का स्वरूप] लिख रहे हैं।

अब हम इगलैंड के नामी Prince of Philosophers Herbert Spencer साहेब के लेखों का अति संक्षिप्त सार उनकी एक नामी पुस्तक का परिचय देकर अपने ही शब्दों में नीचे देंगे। मूल अंग्रेजी लेख पाठक उक्त पुस्तक में देख सकते हैं। विदित हो श्रीयुत हरबर्ट स्पैंसर साहेब के एक नामी शिष्य Mr Collins M A. ने एक ही पुस्तक मे जिसका नाम Epitome of Synthetic Philosophy है इस विषय को सूत्रो के रूप में लिखा है।

उक्त पुस्तक मे निम्न विज्ञान पूर्ण तत्व तार्किक ढङ्ग से भली भाँति दर्शाये गये है।

सृष्टि उत्पत्ति (Evolution), सृष्टि स्थिति [Equilibration] तथा सृष्टि प्रलय Dissolution यह चक्र अनादि काल से एक अनन्त चेतन तथा सामर्थ्य वान शक्ति चला रही है जो अनन्तकाल तक चलता रहेगा।

डा० संडर लैंड तथा हरबर्ट स्पैंसर साहेब के लेख जिस विज्ञान पूर्ण सृष्टि उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय के चक्रों का तर्क सिद्ध वर्णन करते हैं पाठक सत्यार्थप्रकाश के ८ वें समुल्लास मे वैसे ही विज्ञान पूर्ण तत्व पढ सकते हैं।

इसके साथ तीनों वेदो में जो पुरुष सूक्त है उसमे विराट शब्द से जज साहेब श्री प० गंगाप्रसाद जी एम ए. के शब्दो मे यही Nebula अभिप्रेत है।

अब हम नीचे एक वेद मन्त्र अर्थ संहित देकर इस विषय को समाप्त करेंगे। यह मन्त्र संध्या मे आता है

(अभीद्धात) सम्यक् ज्ञानयुक्त

(तपस) सामर्थ्य से।

(ऋतं) ईश्वरीय नियम अर्थात वेद विद्या।

(सत्यंच) और सृष्टि (अध्यजायत) उत्पन्न हुई (तत) उसके अनन्तर (रात्री) प्रलयकाल (अजायत) हुआ (तत) उसके अनन्तर

(समुद्रो अर्णवः) +मेघ रूपी सूर्य पिंड (Nebula) जन्मे ।
(समुद्राद् अर्णवात्) उनके अनन्तर
(संवत्सरः) संवत्सर गति कारक सूर्य (अजायत) हुआ ।
(वशी विश्वस्यमिषतः) वश करने वाले ईश्वर ने अपने सहज स्वभाव से ।
(अहोरात्राणि) दिन रात को बनाने वाली पृथिवियां ।
(विदधत्)-रचीं । (धाता) धारण करने वाले ईश्वर ने
(यथापूर्वम्) पूर्व के समान (सूर्या चन्द्रमसौ) सूर्यों तथा चन्द्रों की (अकल्पयत्) रचना की ।
(दिवंच) द्यौ से [illegible] लोकों (पृथिवीं च) पृथिवियों ।
(अथो अन्तरिक्षं स्वः) और अन्तरिक्ष मे स्वर्गों का सुख विशेष देने वाले लोकों को रचा ।+ P. See Page 4 also.

पूज्य महर्षि दयानन्दजी ने अपनी अमर पोथी पंच महायज्ञ विधि में इसी मन्त्र की जो सार-गर्भित वा सूत्रवत् परम उत्तम व्याख्या की है हमारी व्याख्या का मूल आधार वही उनके सार सूत्र हैं । याद रहे कि महर्षि दयानन्दजी ने उक्त उत्तम तथा परम प्रामाणिक सूत्र रूपी लेख मे ऋत शब्द के अर्थ वेदविद्या वा सर्व विद्या प्रकार किये हैं ।

+ अर्णवः "The Sun" (See Apte Page 149) तथा निरुक्त [illegible] ॥ अ० १ पा० ।३ ॥
(अन्तरिक्ष नामानि उत्तराणि षोडश)
अतः समुद्र के अर्थ हमने निरुक्त के अनुसार किये हैं ।

+ आप्टे कृत संस्कृत अंगरेजी शब्द-कोष के पृष्ठ १०८ पर ऋत शब्द के अर्थ इस प्रकार हैं । "Divine law, divine Truth"

उक्त अर्थ की पुष्टि आप्टे कृत नामी शब्द कोष "Divine Law Divine Fruth" इन शब्दों में भी करता है यह वही तत्व है जो ऊपर हमने पदार्थ के कोष्ठक में लिखे हैं । Divine Law के अर्थ हमने हिन्दी में ईश्वरीय नियम दिये हैं । और साथ ही Divine Truth के अर्थ हिन्दी में हमने ईश्वरीय वेदविद्या दिये हैं ।

यह मंत्र हमें क्यों क्या तत्व को ? बताता है ?

(१) प्रथम-नियम जो सर्वत्र विश्व तथा सृष्टि में पाये जाते हैं । उनका जनक ईश्वर है । यही विज्ञान कह रहा है (२) इंगलैंड तथा अमरीका सब विज्ञानी तथा तत्व वेत्ता ईश्वर को एक चेतन शक्ति "Intelligent Power" का नाम देते हैं इसी महती विश्व नियन्त्री शक्ति को

श्री—हर्बर्टस्पेंसर साहेब ने अगम्य (Unknowable) जो कहा है—इससे कई लोग उक्त स्पेंसर जी को संशयवादी (अर्द्ध नास्तिक) भूल से मानते हैं । पर वह तो मुझ से भी बढ़कर पूरा वैदिक आस्तिक है । हमारे वेद मंत्रों मे भी ईश्वर को अगम्य तथा अगोचर कहा गया है जिसका अनुवाद [Unknowable] ही तो हो सकता है

(क) ऋत शब्द का दूसरा अर्थ वेद-विद्या है । यह तत्व वेद के स्वरूप को जो श्रुतिरूपी आदि में था था जो शब्द अर्थ का सम्बन्ध है—उसका बोधन करा रहा है । पुरुष सूक्त भी वेद जन्म का यही काल दिखाता है ।

(ख) वेद की उत्पत्ति काल का निर्णय इसने कर दिया—अर्थात कल्प सृष्टि के जन्म के साथ—

(ग) Principal श्रीदीवानचन्द्रजी एम० ए० ने कुछ वर्ष हुए एक सारगर्भित लेख में पृथिवी की विज्ञानपूर्ण आयु की उत्तम चर्चा की थी—जो करोड़ों वर्ष पहिले तक जाती है । लेखक के मत में यही वेद-जन्म की भी हो सकेगी ।

(घ) जो सज्जन वेद में मानवी इतिहास वा डाक्टर श्रीअविनाश के समान वेद में मिसर देश के राजाओं के इतिहास तक मानते हैं वे भारी भूल मे

हैं—कारण कि जब सृष्टि के आदि काल में वेद का जन्म न हो तब तो इतिहास हो सकता है दूसरी दशा में नहीं।

(च) मनुस्मृति के प्रथम अ० मे महर्षिमनु का बड़ा गूढ श्लोक हैं जिसका भाव यह है कि—

ईश्वर ने सृष्टि के आदिकाल में वेद के शब्दों को वेद के शब्दो द्वारा सब पदार्थों के नाम सिखाये।

इस महत्त्वपूर्ण श्लोक ने इतिहास वाद तथा कल्पनावाद का खण्डन कर दिया। योरुपवाले इतिहास वादी हैं और सायण वादी (सायण भाष्यवादी) निस्सन्देह कल्पना वादी हैं। महर्षिमनु कहते हैं कि आदिकाल में सृष्टि के पदार्थों के बोधक वेद हैं। मनु का यह कथन निरुक्त की वर्णनशैली तथा महर्षि दयानन्द की आर्ष शैली का पोषक है।

त्रैत वाद

ईश्वर जीव, प्रकृति

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ।

ऋ० १-१६४-२०

वैदिक वाक्

[लेखक—आचार्य पं० हरिदत्तजी शास्त्री पञ्चतीर्थ]

अस्माकं धर्मशास्त्रेषु धनान्नादिमाहात्म्यं प्रशंसितमम्। अधुना वयं १०८ श्री मद्दयानन्द सरस्वती परिदर्शित दिशा तत्तद्वस्तु वैदिक वाङ् मयेऽन्वेषयन्तः नितान्तं प्रसीदामः। पठतामिव शृण्वता मपीदमृग्वेदीयं मन आकर्षति सूक्तम्। दृश्यता मस्य माधुर्यं पाठकैः।

कस्याप्याङ्गिरसस्यभिक्षोरिदं सूक्तमितिस एवास्य ऋषिः। सखलु दौर्गत्य पीडितोवक्ष्यमाण सूक्तार्थ क्रमेणात्मनो दारिद्र्य मवर्णयत्—ऋग्वेदे १० ममण्डले ११७ तमे सूक्ते—

ॐ नवाउ देवाः क्षुधमिद् वधं ददु रुताशित मुपगच्छन्ति मृत्यवः। उतोरयिः पृणतो नोप दस्यत्युतापृणन् मर्डितारं न विन्दते। इत्यादयो मन्त्राः सन्ति। तान् वय मेकैकश उदाहृत्यव्याख्यास्यामः—

अस्यायमर्थः—

देवः खलु सर्वेभ्यः क्षुधामेव नददुः, अपितु वधमेव। एतादृशी वधरूपां क्षुधामन्नदानेन यः शमयति सदाता। योऽदत्त्वा भुङ्क्ते तंमृत्यव उपगच्छन्ति। प्रयच्छतो जनस्यधनंनापक्षीयते। अप्रयच्छँस्तु पुरुषोनात्मनः सुखयितारं विन्दते। ॐ य आध्राय चकमानाय पित्वोऽन्नवान सन रफितायो पजग्मुषे।

स्थिरं मनः कृणुते सेवते पुरतो चित्समर्डितारं न विन्दते॥

अर्थः—यः पुरुषः स्वयमन्नवानपि दुर्बलाय क्षुधातुराय, दारिद्र्य पीडिताय गृहं प्रत्यागताय, अन्नं कामयमानाय किञ्चिदपि दातुं मनः स्थिरं करोति-मनः स्थैर्येण किञ्चिदप्य प्रदाय तं खेदयति तस्य पुरस्ताच्चभोगान् सेवते सोऽपिनात्मनः सुखयितारं विन्दते॥ २॥

ॐ स इद् भोजो योगृहवे ददात्यन्नकामाय चरते-कृशाय। अरमस्मै भवति यानहूता उतापरीषु कृणुते सखायम्॥ स एव दाता, यः कृशाय चरते अन्नं याचमानाय, प्रतिग्रहीत्रे अन्नं प्रयच्छति। यज्ञतस्य पर्याप्तं फलं भवति। शात्रवीष्वपि सेनासु चायं सखायं करोति। सर्व एव तस्य सखायो भवन्ति, न शत्रवः॥

ॐ न स सखा यो न ददाति सख्ये सचाभुवे—
सचमानाय पित्वः।

अपास्मात् प्रेयान न तदोको अस्ति पृणन्त
मन्यमरणं चिदिच्छेत॥

न स पुरुषः सखाभवति योनाम सहभाविने सहचराय, सेवमानाय सखिजनाय नान्नं प्रयच्छति। अस्माददातुः सख्युः सोऽप्यपगच्छेत। यद्ययं परित्यज्य गच्छेत तर्हितस्य सदनमेव न भवेत्। (तदेव हि सदनं यद् बन्धुपरिवृतम्) स खल्वित्थमपगतः पुरुषोऽन्नादिकं प्रयच्छन्त मेव स्वामिन मिच्छेत॥

ॐ पृणीयादिन्नाध मानाय तव्यान द्राघीयांसमनु पश्येत पन्थाम्। ओ हि वर्तते रथ्येवचक्रान्यमन्यमुप तिष्ठन्त रायः॥ धनैरति शयेन प्रवृद्धः पुरुषः याचमानायातिथये दद्यादेव। यदि दद्याद् द्राघीयांसं (सुकृतस्य) पन्थानमनुपश्येत्। धनानि खलु रथसम्बन्धीनि चक्राणीवाऽऽवर्तन्ते, उपतिष्ठन्ते चान्यमन्यं पुरुषम्॥ मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमिवधइत्सतस्य। नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघोभवति केवलादी॥

अर्थः—यस्य दाने मनो न भवति, सजनोमोघमेवान्नं विन्दते, सत्यमेवाहं ब्रवीमि वधएव सतस्येति? सखलु न देवं नापि सखायं पोषयति, पापमेव तस्य केवलं भवति। यो नाम केवलं स्वयं भुङ्क्ते॥ ६॥

ॐ कृषन्नित फाल आशितं कृणोति यन्नध्वान मपवृङ्क्ते चरित्रैः। वदन् ब्रह्मावदतोवनीयान् पृणन्नापि रपृणन्त मभिष्यात्॥ ७॥

कृषिं कुर्वन् फालः कर्षकः ओकारं करोति। अध्वानं गच्छन् पुरुषः आत्मीयैश्चरित्रैः स्वामिनो धनमावर्जयति। वदन् ब्राह्मणोऽवदतो जनात् प्रिय करो भवति। (ते यथा—स्वकर्मणि प्रवर्तमानाः परेषामुपकारकाः, तथा) दाता अदातार मभिलक्ष्य बन्धुर्भवति ॥ ७ ॥

ॐ एकपाद् भूयो द्विपदो विचक्रमे, द्विपात् त्रिपाद मभ्येतिपश्चात्। चतुष्पादेति द्विपदामभिस्वरे संपश्यन् पंक्तीरुपतिष्ठमानः ॥ ८ ॥

एक भाग धनः पुरुषो द्विगुणधनं पुरुषं भूयो विविधेन प्रकारेण गच्छति द्विभागधनस्त्रिभाग धनमभिगच्छति। चतुर्भाग धनस्तु एकभागधनद्विभाग धना दीनां पंक्ती-रभिगमने संपश्यन् गच्छति। (अन्योन्या पेक्षया सर्व एवोत्तमा धमा इति, अहमेव धनवानिति न मन्तव्यम्।

ॐ समौ चिद्धस्तौ न समंविविष्टः, सं मातरा-चिन्न समं दुहाते। यमयो श्चिन्न समावीर्याणि ज्ञाती चिनसन्तौ न समं पृणीतः ॥ ६ ॥

अर्थ.—हस्तौ समावपि न समान मेव कार्यं व्याप्नुत। समे अपि मातरौ धेनू न खलुसममेवपयो दुहाते। यमजयोः पुत्रयोरपि नैव समानि वीर्याणि भवन्ति। एवमेकस्मिन कुले जातावपि न समं प्रयच्छत। अत्र वेद मन्त्रार्थे श्री विद्वद्वरपण्डित विधुशेखरा भट्टाचार्याः प्रमाणम्। तदर्थानुवाद त्वात्। इत्थमेव प्राच्यार्याणां कस्मिन्नर्थेऽभूद् युद्ध सम्बन्धिनि भूयान् परिचय इति शक्यते परिज्ञातुम्। ऋग्वेदे वर्म, धनुः, ज्या, धनुष्कोटि, इषुधि, सारथि, रथ रश्मि, अश्व, रथ, रथरक्षक, इषु, अश्वकशा हस्तघ्ना (हस्तत्राण) नां वर्णनं भूय उपलभ्यते। गृह्य सूत्रकारा अपि ऋग्वेदीयैतत्सूक्तस्य केषाञ्चिन मन्त्राणां मित्थं विनियोग माहुः संग्रामे समुपस्थिते पुरोहितो राजानं वक्ष्यमाण विधिना संनाहयेत्। "आत्वाहार्षमन्तरे भूतीति" मन्त्रेण [ऋग्वेद १०,१७३,१] पश्चाद् रथस्या वस्थाय सूक्तोक्तेन प्रथमेन मन्त्रेण राज्ञे कवचं, द्वितीयेन च धनुः प्रदाय तृतीयं वाचयेत, चतुर्थं स्वयं जपेत्। पञ्चमेन तस्मै इषुधिं प्रयच्छेत् अथ रथेष्टौ दिश मभिप्रवर्तमाने [illegible] [illegible]। [illegible]तानु-मन्त्रयेत्। [illegible] [illegible] [illegible]। चतुर्दशं [illegible] [हस्तघ्नं, हस्तत्राणं] [illegible] [illegible] तं वाचयेत्। इत्यादि सूत्र काराः प्राहुः। अथ [illegible]ण राजा इषून क्षिपेत् युध्यकाले युध्येषु पुरोहितः सम्प्रद-शांस्त्वयंजपेत्। राज्ञे वा ब्रूयात् "अभिवर्तेन [illegible] मन्त्र-मिति"। आश्वलायनगृह्य सूत्रे ३-१२।१-११।१८-१६। अप्रमस्तु मन्त्रोऽध्यायोपाकरण-[illegible]-न्यहोमे विनियुज्यते। इति।

एवं वेदे युद्धो योग समर्थकाः, दानिप्रशंसापरा, द्यूतनिन्दापराः, यज्ञ प्रशंसापराश्च भूयांसोमन्त्राः-सन्ति। येषामंशः श्री १०८ मत्स्वामि दयानन्द महर्षिभिर्ऋग्वेदा दिभाष्य भूमिकायां मुपन्यस्तः। पतञ्जलि मुनि विषये गीयते यथा—

"योगेन चित्तस्यपदेन वाचाम्,
मल शरीरस्यतु वैद्यकेन।
योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनाम
पतञ्जलि प्राञ्जलिरानतोऽस्मीति ॥

अत्रत्ये बहवः पण्डिताः योगचर्याचरणा योगेनैव शरीर पुष्टिर्भवतीति समातिष्ठन्ते। वयन्त्वेतन्न मन्यामहे उपयुक्त पतञ्जलि श्रमस्य जलताडनवत् काकदन्तपरीक्षावद्वा प्रसक्तेः। वयंतु ब्रूमः शरीरारोग्यं वैद्यकेनैव सम्पाद्यमिति। अभ्यचमूलं वेदे स्पष्टमुपलभ्यते—तथाहि—अथर्व वेद व्याख्याना वसरे सायणाचार्य.—

व्याख्याय वेद त्रितयमा मुष्मिक फल प्रदम्।
ऐहिकामुष्मिकफलं चतुर्थं व्याचिकीर्षतीति प्राहस्म।
अत्रत्याथर्व वेदे औषधानां प्रयोगा तच्चर्चाबहुल मुपलभ्यते। तथाहि—

मूत्ररोध चिकित्सायाम्—

यदान्त्रेषु गर्वान्यो र्यद्वस्तावधि संश्रुतम्।
एवाते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम् ॥
अथर्व काण्ड १ अ० १ सू ३ म० ६
पूते भिनद्मि मेहनं वर्तं वेशान्त्या इव।
एवाते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालितिसर्वकम् ॥
अत्र लोह शलाका चिकित्सा विहिता।

एवं—सुख प्रसवचिकित्सायाम्—
प्रथमे काण्डे "वषट्तेपूषन्" इत्यारभ्य बहवो मन्त्रा आम्नाताः। विशेषस्तावदयम्—
वितेे भिनद्मि मेहनं वियोनिं विगवीनिके।
विमातरं च पुत्रंच कुमारं जरायुणा व जरायुपद्यताम् ॥ अ० २ सू ११ म० ५
श्वेत कुष्ठ चिकित्सायाम्—
नक्तं जातास्योषधे ' रामे कृष्णे ' असिक्नि '
इदं रजनि रजय किलासंचयत् ॥
का० १ अ० ५ सू० २३

कौशिकसूत्रेऽपि—"नक्तं जाता सुपर्णो जाता" इति मन्त्रोक्तं शकृता आलोड्य पृषृष्यालिम्पती त्युक्तम्। एव कृमिचिकित्साविषये, वातव्याधिचिकित्सा प्रसङ्गे, केशवृद्धि चिकित्सायाम्, विसर्पादि चिकित्सायाम् बह वो मन्त्रा दृश्यन्ते। महीधरश्च "कुम्भो व निष्ठुर्जनिता" इत्यादि मन्त्रं यजु० १३।८७ इत्यादि मन्त्रेण शारीरक विषयमाह। श्री कविराज गणनाथ सेन एम० ए० महोदयोऽपि तथैव प्रत्यपीपदत। एवंचवेदेन चिकित्सां कृत्वाऽऽरोग्यं सम्पादयेमेति भगवत उपदेश। वयंच साम्प्रतम्—

अनभ्यासेन वेदाना माचारस्य च वर्जनात्।
आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति ॥

इतिवचन शरव्यी भूता न शक्नुम आत्मान परित्रातुम। एतत्तु सन्देह मन्देह सन्दोह प्रहार परिरचितंयन—ऐहिकामुष्मिक परोन्नति साधनम् परमेश्वराराधन बाधन बाधनम्, मनुष्य मात्र धनं महाधन वैदिक्येव वागिति।

—॰—

ईश्वर का साम्यवाद

यथेमां वाचं कल्याणी मावदानि जनेभ्यः ब्रह्म राजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय

"वेद-विद्या"

रचयिता आचार्य श्री- प० हरिदत्त शास्त्री पञ्चतीर्थ

(गीतिः)

(१)

(टेक) हे देवि ! वेद विद्ये ! भवतीं वयं नमाम ।
मातः ? प्रसूतिरेषा जगतो विचित्र वेषा ।
जाता भवत्सकाशात् इति ते पदे श्रयाम ॥ हे देवि

(२)

असदेव चिरन्तनानां यदसद् परा भवानाम् ।
अमराधिमानपाणा, भवता मिति स्मराम ॥ हे देवि

(३)

जगतां त्वमेव सारं हत तुङ्ग पङ्क भारम् ।
दधतीं महोपकारं शरणं वयं प्रयाम ॥ हे देवि

(४)

मुनिमूल शङ्कर न तव मूल कूल हन्ता ।
विषमं विषं निपीय त्रिदिवं गतं भजाम ॥ हे देवि०

(५)

तव चित्रमेव चयानां, सविकल्पितान्नयानाम् ।
पारे गिरां महत्त्वं वहशो वयं गृणाम ॥ हे देवि

(६)

जगती तमोमया स्यात्, भवती न भासती चेत् ।
अयि वेद वाणि ! वाणी किमु ते नु वर्णयाम ॥ हे देवि०

(७)

शिवविष्णु वेधसां त्वं प्रभवं सदैव सर्वानाम् ।
सकलार्थ सार्थ वाह भवतीं वयं नमाम ॥ हे देवि०

(८)

श्रुति-संस्तुतौ नुता त्वं तनुजेन सत्यवत्याः ।
स कुमारिलो भवत्याः, चरणौ मुहुर्ननाम ॥ हे देवि०

"वेदों में आयुर्वेद का आवश्यक और महत्व-पूर्ण स्थान"

ले०— श्री पं० बदरीदत्त जी शास्त्री साहित्यायुर्वेदाचार्य प्रिंसिपल गुरुकुल महाविद्यालय बदायूँ

जगत् प्रसिद्ध सभी आदरणीय ग्रन्थों में वेदों की प्राचीनता सर्व सम्मत है। प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणों की शक्ति क्षीण होने पर और—

"रजस्तमोभ्यां निर्मुक्तास्तपो ज्ञानबलेन ये।
येषां त्रिकालममलं ज्ञानमव्याहतं सदा॥
आप्ताः शिष्टा विबुद्धास्ते तेषां ज्ञानम संशयम्।"

इस चरकोक्त आप्त लक्षण के लक्ष्य विशिष्ट जीवों के शब्द प्रमाण के अनन्तर "क्लेशकर्म विपाकाशयै रपरामृष्टः पुरुष विशेष ईश्वरः" योग प्रतिपादित क्लेशादि बन्धनो से नितान्त निर्मुक्त परमात्मतत्त्व और ऐहिक तथा पारलोकिक वस्तुतत्त्व के वास्तविक ज्ञान की पिपासा को शान्त करने के लिये ईश्वरीय ज्ञान (वेद) के अतिरिक्त और कोई उपाय नही रह जाता। यही आशय—

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न विद्यते।
तमर्थं वेद वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता॥

इस पद्य के द्वारा प्रकट किया गया है।

जीव को ईश्वरीय ज्ञान की उपलब्धि या मोक्ष की प्राप्ति बिना धार्मिक अनुष्ठान के नहीं होती, और धर्म निर्णय का एक मात्र आधार "वेद" ही है यह "वेदोऽखिलोधर्म मूलम्" इस आर्य सिद्धान्त से निर्धारित है। "अर्थावाप्ति और कामपूर्ति" रूप कल्याण भी धर्मावलम्ब से ही हो सकते हैं इसी लिये

"धर्मार्थकामाः सममेव सेव्या यो ह्येक सक्तः सजनोजघन्यः"।

ऐसा उपदेश मिलता है। मोक्ष सुख में यद्यपि "ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः" के अनुसार ज्ञान को ही प्रधान कारण माना गया है तथापि उसमें परम्परा से धर्म का हाथ मानना पड़ेगा। अतएव नैयायिकों ने "विहित (वेद विहित) कर्मजन्यो धर्मः" यह धर्म का लक्षण किया है। "धर्मं जिज्ञासमानान प्रमाणं परमं श्रुति!" यह वाक्य भी इसी आशय को पुष्ट करता है। धार्मिक विकास एक मात्र वेद पर अवलम्बित है अतएव "वेदाद्धर्मो हि निर्बभौ" इस सिद्धान्त की सार्थकता सिद्ध होती है।

यहाँ तक विचार करने के बाद अब यह विषय कौतूहल के साथ उपस्थित होता है कि वेद बोधित विधियों के विधान या आत्मज्ञान का अधिकारी कौन हो सकता है, इसका उत्तर स्वरसतः यही देना पड़ेगा कि शरीर और मानस बल से युक्त व्यक्ति ही इस कण्टकाकीर्ण मार्ग पर चल सकता है। "भोगायतनं शरीरम्" इस सिद्धान्त के अनुसार "शीर्यते व्याधिभिः" इस अर्थ को लेकर शरीर के सम्बन्ध मे "शरीरं व्याधिमन्दिरम्" यह सिद्धान्त भी निर्भ्रान्त है, बल हीन व्यक्ति आत्म ज्ञान का अधिकारी नहीं बन सकता जैसा कि—"नायमात्मा बल हीनेनलभ्यो न च प्रमादात्" इस मुण्डक श्रुति मे कहा गया है, यहाँ प्रमाद शब्द का अर्थ मनो दुर्बलता या मनोरोग (उन्माद) समझना चाहिये। शारीरिक और मानसिक बल की क्षीणता रोगो से ही होती है, स्वस्थ एवं नीरोग प्राणी ही "चतुर्वर्ग (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) फल" के अधिकारी बन सकते हैं। दोष, (वात, पित्त, कफ) धातु (रस रक्तादि) आदि की समानता आदि का नाम "स्वास्थ्य" सुख है, जैसा कि "समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः। प्रसन्नात्मेन्द्रिय मनाः स्वस्थ इत्यवधीयते॥"

इस सुश्रुत वाक्य मे धन्वन्तरि भगवान् ने बताया है। निदान यह कि "शरीर रक्षणाद्धर्मः" इस सिद्धान्त को ध्येय बनाते हुए आरोग्य की कामना करने वाले व्यक्ति ही वैदिक विधान (धर्मादि) के पात्र समझे जा सकते हैं, इसी अभिप्राय से—

"धर्मार्थकाम मोक्षाणामारोग्यं मूल मुत्तमम्।
रोगास्तस्यापहर्तारः श्रेयसो जीवितस्य च॥"

इस चरक वाक्य में महर्षि आत्रेय ने प्रत्यक्ष सिद्ध सत्य का अक्षरशः उल्लेख किया है, और यह बात—

"अनेन पुरुषो यस्मादायुर्विन्दति वेत्ति च।
तस्मान्मुनिवरैरेष आयुर्वेद इति स्मृतः॥"

इस आयुर्वेद लक्षण के अनुसार "आयुर्विन्दति" (सुखान्वित आयु पाता है) इस अंश मे सर्वथा निर्विवाद है।

अब हम स्वच्छतया इस परिणाम पर पहुँच गये कि वेदों को सत्य धर्मोपदेश आदि के साथ ही मनुष्यों को स्वस्थ और दीर्घ जीवी बनाने वाले "साधनों" की सृष्टि के पूर्व ही बताने की आवश्यकता थी। इसी लिये शास्त्रकारो ने "शब्द रूप" आयुर्वेद को सृष्टि की उत्पत्ति से प्रथम परमात्मा से ही प्रादुर्भूत माना है, जैसा कि—

"इह खल्वायुर्वेदमुपाङ्गमथर्ववेदस्यानुत्पाद्यैव प्रजा श्लोकशत सहस्त्र मध्यायसहस्रञ्च कृतवान स्वयम्भूः" सुश्रुत सूत्र स्थान प्रथम अध्याय में वर्णन किया है। "अर्थ रूप" आयुर्वेद को वेदार्थ की तरह अनादित्व आदि कारणों से नित्य मान कर वेदवत् द्विजों से "शब्द रूप" (आयुर्वेद) की उपादेयता का प्रतिपादन किया गया है, जैसा कि आशय यथाक्रम—

"सोऽयमायुर्वेदः शाश्वतो निर्दिश्यते अनादित्वात् स्वभाव संसिद्धलक्षणत्वाद्भाव स्वभाव नित्यत्वाच्च"

"स चाध्येतव्यो ब्राह्मणराजन्य वैश्यैः, तत्रानुग्रहार्थं प्राणिनां ब्राह्मणै रात्मरक्षार्थं राजन्यैः, वृत्त्यर्थं वैश्यैः सामान्यतो वा धर्मार्थकाम परिग्रहार्थं सर्वैः" इस चरक सूत्र स्थान के ३० वें अध्याय के वाक्यों मे वर्णित किया गया है। अन्तिम उद्धरण में पृथक् २ प्रयोजन बता कर भी धर्मार्थकाम रूप "त्रिवर्ग की उपादेयता में सबकी समानता दिखाई है। यही बात वैदिक स्वाध्याय के सम्बन्ध में—

"योऽनधीत्य द्विजो वेद मन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥"

इस स्मृति वाक्य मे पाई जाती है। वेद और आयुर्वेद के समानता प्रसङ्ग को छोड़ कर प्रकृत विषय मे आने पर हमे यह पता चला कि "अथर्ववेद" का अंग भूत (उपवेद) आयुर्वेद वैदिक विधान के अनुष्ठान मे प्राण स्वरूप है। "अथर्व" की उपवेदता के सम्बन्ध मे पूर्वोक्त (इह खल्वायुर्वेद मित्यादि) सुश्रुत सिद्धान्त का समर्थन "चरक संहिता" मे भी "आत्रेय" ने—

"चतुर्णामृक् साम यजुरथर्ववेदानां कं वेद मुपदिशन्त्यायुर्वेदविदः" (आयुर्वेद वेत्ता विद्वान आयुर्वेद को चारो वेदो मे से कौन सा या किसमें मानते है?) इस प्रश्न का उत्तर देते हुए—

"चतुर्णामृक् साम यजुरथर्ववेदाना मात्मनोऽथर्ववेदे भक्ति रादेश्या; वेदो ह्याथर्वणः स्वस्त्ययन बलि मङ्गल होम नियम प्रायश्चित्तोपवास मन्त्रादि परिग्रहाच्चिकित्सां प्राह" (चारो वेदो मे आयुर्वेद को अथर्व वेद का ही भाग मानना चाहिये, क्योंकि उक्त वेद स्वस्त्ययन आदि के द्वारा चिकित्सा विषय का वर्णन करता है। 'प्रायश्चित्त' शब्द का अर्थ "प्रायश्चित्तं प्रशमनं प्रकृति स्थापन हितम्। निघ्याद्भेषजनामानि" के अनुसार प्रधानतया औषध समझना चाहिये।) स्पष्ट एवं शब्दो मे तार स्वरेण किया है। वस्तुतः आयुर्वेद को—शल्य, शालाक्य, काय चिकित्सा, भूत विद्या, कौमार भृत्य, अगदतन्त्र, रसायनतन्त्र और "वाजी करण तन्त्र" रूप आठ अङ्गो में सामयिक आवश्यकतानुसार विभक्त किया गया है, जैसा कि—

"किन्तु ततोऽल्पायुष्ट्व मल्पमेधस्त्वञ्चालोक्य नराणां भू योऽष्टधा प्रणीतवान्" इस सुश्रुत वाक्य मे बताया गया है। इन उक्त आठों अङ्गो का ही नहीं प्रत्युत निदान, निघण्टु, शारीर आदि सभी आयुर्वेद के उपयुक्त अंशो का विस्तीर्ण वर्णन अथर्ववेद मे किया गया है जिसका दिग्दर्शन संक्षिप्त आशय के साथ इस प्रकार है—

(१) "रोहण्यसि रोहण्यस्थ्नश्छिन्नस्य रोहणी।
रोहयेदमरुन्धति"॥

"मज्जा मज्ज्ञा सन्धीयतां चर्मणा चर्म रोहतु।
असृक्ते अस्थि रोहतु मांसं मांसेन रोहतु॥"

'अथर्ववेद, के ४ थे काण्ड के १२ वें सूक्त के १ ले और ४ थे इन मन्त्रों में "चिमटी, सडासी; नश्तर, कैंची आदि के द्वारा इस समय चिकित्सा मे व्यवहृत होने वाले प्रथम अंग (शल्य) का "व्रण चिकित्सा" और "अस्थि सन्धान" (हड्डी जोड़ना) उदाहरणों मे संकेत पाया जाता है।

(२) "नैनं प्राप्नोति शपथो न कृत्या नाभिशोचनम। नैनं विष्कन्धमश्नुते यस्त्वा बिभर्त्याञ्जन ॥"

४ थे काण्ड के ६ वे सूक्त के इस ४ वें मन्त्र मे 'आंख, कान नाक आदि गर्दन से ऊपर के अवयवो का 'सलाई, द्वारा इलाज बताने वाले द्वितीय (शालाक्य) अङ्ग का वर्णन करते हुए बताया गया है कि अञ्जन; तेरे धारण करने (लगाने) से परकृत शाप नहीं लगता और न कोई अभिशोचनीय चेष्टा होती है, साथ ही किसी प्रकार का नेत्र व्यापार मे बाधक विघ्न उपस्थित नहीं होता।

(३) "नक्तं जातास्योषधे रामे कृष्णे असिक्नि च।
इदं रजनि रजय किलासं पलितं च यत् ॥"

प्रथमकाण्ड २३ वे सूक्त के इस प्रथम मन्त्र मे "शारीरिक रोगो" (ज्वरादि) की चिकित्सा बताने वाले तृतीय (कायचिकित्सा) अङ्ग का सङ्केत करते हुए "भृङ्गराज, (भांगरा) इन्द्रवारुणी, नीलिका, हरिद्रा, ओषधियो से 'किलास-कुष्ट, और 'पलित, रोगों की चिकित्सा वर्णित की गई है।

(४) "आरभस्व जातवेदोऽस्माकार्थाय जज्ञिषे।
दूतो नो अग्ने भूत्वा यातुधानान् विलापय ॥"

प्रथमकाण्ड ७ वें सूक्त के इस ६ ठे मन्त्र मे "भूतविद्या नामक, ४ थे अङ्ग का संकेत, अग्नि देव से यज्ञादि कार्य में बाधक राक्षसों" का नाश करने की प्रार्थना के द्वारा किया गया है।

(५) "शमीमश्वत्थ आरूढस्तत्र पुंसवनं कृतम्।
तद्वै पुत्रस्य वेदनं तत् स्त्रीष्वा भरामसि ॥
"पुंसि वै रेतो भवति तत् स्त्रियामनुषिच्यते।
तद्वै पुत्रस्य वेदनं तत् प्रजापतिरब्रवीत ॥"

६ ठे काण्ड के ११ वे सूक्त के इन प्रथम द्वितीय मन्त्रों में आयुर्वेद के ५ वें "कुमार के गर्भाधान से लेकर पोषणपर्यन्त" विषय का अवगाहन करने वाले "कौमार भृत्य" का संकेत "गर्भाधान, विधान बताते हुए किया गया है।

(६) "तिरश्चिराजे रसितात् पृदाकोः परिसंभृतम्।
तत् कङ्क पर्वणो विषमियं वीरुदनीनशत् ॥"

७ वें काण्ड के ५६ वें सूक्त के इस प्रथम मन्त्र मे "पृदाकु" जाति के सर्प के विष की वीरुध (लता) के द्वारा चिकित्सा बताते हुए आयुर्वेद के ६ ठे [अगदतन्त्र] अंग का विष विषयक चिकित्सा-सङ्केत प्रतिपादित किया गया है।

[७] "सं मा सिञ्चन्तु मरुतः सं पूषा सं बृहस्पतिः।
सं मायमग्निः सिञ्च प्रजया च धनेन च दीर्घमायुः कृणोतु मे" ॥

सप्तम काण्ड के इस ३३ वें सूक्त में "आयु, बुद्धि बल आदि को बढ़ाने वाले प्रयोगों से सम्बन्ध रखने वाले महर्षियो से अनुशीलित ७ वे [रसायनतन्त्र] अङ्ग का सङ्केत "मरुत्" आदि देवताओं से 'प्रजा, धन, और दीर्घायु की प्रार्थना करते हुए किया गया है।

[८] "आवृषायस्व श्वसिहि वर्धस्व प्रथयस्व च।
यथांगं वर्धतां शेपस्तेन योषितमिज्जहि ॥

६ ठे काण्ड के १०१ वे सूक्त के इस प्रथम मंत्र मे "क्षीण काम शक्ति वाले, दूषित-वीर्य आदि पुरुषों की चिकित्सा का प्रतिपादन करने वाले" आठवें "वाजीकरणतन्त्र" नामक आयुर्वेदांग का संकेत या दिग्दर्शन किया गया है।

"मुञ्च शीर्षक्त्या उत कास एनं परुष्परुराविवेशा यो अस्य। यो अभ्रजा वातजा यश्च शुष्मो वनस्पतिन्त्सचतां पर्वतांश्च ॥"

प्रथम काण्ड के १२ वें सूक्त के इस तृतीय मंत्र में आयुर्वेद के त्रिदोष [वात, पित्त, कफ) मूलक मूल सिद्धान्त के दिग्दर्शन और "सर्वेषामेव रोगाणां निदानं कुपिता मलाः" के समर्थन से 'निदान-संकेत, के साथ "चिकित्सक" से प्रार्थना की गई है कि इसको "शिरोग्रह" और 'कास, [खांसी] रोगों से रोगी को मुक्त कीजिए, और "अभ्रज" कफ से पैदा होने वाले

"वातज" वायु से पैदा होने वाले शुष्म, पित्तज [शुष्मः शोषकः पित्तविकारजनितः] सभी रोगों की वनस्पतिविधान और 'पर्वत निवास, आदि के द्वारा दूर कीजिए।

"यदा प्राणोअभ्यवर्षीद् वर्षेण पृथिवीं महीम्।
ओषधयः प्रजायन्तेऽथो याः काश्च वीरुधः॥

११ वें काण्ड के ४ थे सूक्त के इस १७ वे मन्त्र में 'ओषधि और वनस्पतियों की वर्षा काल में उत्पत्ति का निर्देश करने से और—

"पिप्पली क्षिप्रभेषज्युतातिविद्ध भेषजी॥ ता देवा समकल्पयन्नियं जीवितवा अलम॥" ६ ठे काण्ड के १०६ वें सूक्त में पिप्पली (पीपल] गुण वर्णन उपलब्ध होने से आयुर्वेद के निघण्टु भाग का निर्देश समझना चाहिये।

पाश्चात्यों के सिद्धान्त 'कीटाणुवाद' की चर्चा इस प्रकार है—

"ये क्रिमयः पर्वतेषु वनेष्वोषधीषु पशुष्वप्स्वन्तः।
ये अस्माकं तन्वमाविविशुः सर्वंतद्धन्मि जनिम क्रिमीणाम्॥,,

द्वितीय काण्ड के ३१ वें सूक्त के इस अन्तिम मन्त्र में मनुष्यों से लेकर पर्वतों तक समस्त क्रिमियो का वाचिक नियन्त्रण बताया गया है, और फिर इसी 'काण्ड' के ३२ वें सूक्त के प्रथम मन्त्र 'उद्यन्नादित्यः क्रिमीन् हन्तु निमोचन हन्तु रश्मिभिः।

ये अन्तः क्रिमयो गवि,,॥ मे सूर्य की किरणों से क्रिमिनाश, बतलाया गया है, जिस से आधुनिक "रश्मिचिकित्सा,, का सिद्धान्त प्रति-फलित होता है। इसी चिकित्सा को पुष्ट करने वाली 'ऋक्,, ऋग्वेद में भी इस प्रकार आई है—

"उद्यन्नद्य मित्रमहं आरोहन्नुत्तरां दिवम।
हृद्रोगं मम सूर्य हरिमाणं च नाशय॥,,
[ऋ० १। ५०। ११]

इस प्रकार [हृद्रोग और 'हरितता, की चिकित्सा सूर्य की रश्मियों के द्वारा निर्दिष्ट की गई है।

आधुनिक जल चिकित्सा का वर्णन नीचे के 'मन्त्र, के आधार पर वेद में पाया जाता है—

"आप इद् वा उ भेषजी रापोअमीवचातनीः।
आपो विश्वस्य भेषजीस्तास्त्वा मुञ्चन्तु क्षेत्रियात्॥,,

३ य काण्ड के ७ वे सूक्त के ५ वें इस मन्त्र में 'जलको 'सर्वोत्कृष्ट प्राण प्रद ओषधि 'आपो वै प्राणः,, के अनुसार माना, और उसे 'क्षेत्रिय, [असाध्य] रोग की चिकित्सा मे भी समर्थ कहा गया है।

सूची वेध Injection चिकित्सा का संकेत भी अधस्तन 'मन्त्र, के आशय से सिद्ध होता है—

"यस्याञ्जन प्रसर्पस्यङ्ग मङ्ग परुष्परुः।
ततोयक्ष्मं विबाधस उग्रोमध्यमशीरिव॥,,

४ थे काण्ड के ९ वे सूक्त के इस ४ र्थ मन्त्र मे प्रसर्पसि,, [प्रविश्य अन्तः शिरामुखे व्याप्नोषि] का "शिरा के मुख मे प्रविष्ट होकर अञ्जन, गतिशील [अञ्जू व्यक्ति भक्षण कान्ति गतिषु] ओषधि की शारीरिक व्याप्ति के अभिप्राय से उपर्युक्त चिकित्सा-प्रकार सिद्ध होता है।

पशु चिकित्सा—

"अपक्रीताः सहीयसीर्वीरुधो या अभिष्टुताः।
त्रायन्ताम स्मिन ग्रामे गामश्वं पुरुष पशुम्॥,,

अष्टम काण्ड के ७वे सूक्त के इस ११वे मन्त्र मे ग्रामवर्ती पुरुष, गो, अश्व एवं सभी पशुओं की रक्षा की वनस्पतियो से कामना करना, वनस्पति; से उपलक्षित औषध-संकेत से पशु चिकित्सा को सिद्ध करता है। सम्मोहन *Mesmerism* चिकित्सा का सङ्केत भी—

"हस्ताभ्यां दशशाखाभ्यां जिह्वावाचः पुरोगवी।
अनामयित्नुभ्यां हस्ताभ्यां ताभ्यां त्वाभि मृशामसि॥,,

४र्थ काण्ड के १३वे सूक्त के इस ७वें मन्त्र से किया गया है। सारांश यह है कि प्रचलित चिकित्सा पद्धतियो में कोई भी ऐसी नहीं मिलेगी जिसका बीजरूपेण सङ्केत "अथर्ववेद,, में न हो। वैदिक स्वाध्याय की परम्परा के शिथिल और नष्ट प्राय हो जाने से आज भले ही किसी को यह कहने का अवसर मिले कि "अमुक" चिकित्सा-प्रकार,, पाश्चात्य वायु में पले नवीन दिमागों की उपज है पर वास्तव में ज्ञान और विज्ञान सभी का एकमात्र 'केन्द्र' वेद

ही मानना पड़ेगा और वैदिक आयुर्वेद को ही वैज्ञानिक "चिकित्सा प्रणाली,, का "मूलस्रोत, कहना होगा। उपर्युक्त लेख और आयुर्वैदिक (चरक सुश्रुत) अनुमोदन से आयुर्वेद "अर्थोपकारक,, होने से "अथर्व,, का मुख्य और आवश्यक अङ्ग (उपवेद) सिद्ध हो चुका, परन्तु जिन लोगो को "त्र्य्युपसंहारोऽथर्ववेदः,, के अनुकूल अथर्ववेद की प्रधानता मे कुछ सन्देह हो उन्हे 'ऋग्वेद, का उपवेद मानने मे तो कुछ आना-कानी नहीं हो होनी चाहिए, क्योकि उसमे भी आयुर्वेद के 'मूलस्तम्भ त्रिदोष' (वात, पित्त, कफ) की चिकित्सा का वर्णन आया है—

"भिर्जो अश्विना दिव्यानि भेषजा,
त्रिर्न्ते पार्थिवानि त्रिरुदन्त्सम ऋ्यः ।
ओमानं शंयोर्ममकाय सूनवे,
त्रिधातु शर्म्मवहतं शुभ स्पती,, ॥
(ऋ० म० १।३४।६)

इसमे "अश्विनीकुमार,, वैद्यों से वात, पित्त, कफ का शमन करने वाली 'कल्याणप्रद, औषध देने की प्रार्थना की गई है। इस वेद में भी बीजरूपता होने पर हमारे सिद्धान्त में "द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति,, के न्याय से आयुर्वेद का मूल और भी पुष्ट हो जाता है—इन्हीं कारणो से यदि चरकसंहिता का निर्माता यह दावा करता है तो कुछ अत्युक्ति नहीं कही जा सकती कि—

"यदिहास्तितदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित ॥

वेद में आयुर्वैदिक-रसायन

ले०—श्री प० द्विजेन्द्रनाथजी आचार्य आ० स० बम्बई

प्राचीन काल से आज पर्यन्त जितने बड़े २ आचार्य हुए हैं प्राय सभी ने वेदो को अखिल विद्या निधान बताया है। आर्यों की भी यही मान्यता बहुत प्राचीन समय से चली आ रही है। भगवान् शङ्कराचार्य के शब्दों मे वेदो की महिमा निम्न प्रकार से है।

-' महत ऋग्वेदादे शास्त्रस्यानेक विद्यास्थानोप बृंहितस्य प्रदीपवत्सर्वविद्यावद्योतिन."

[शङ्कर भाष्य]

अर्थात् जो अनेक विद्या—ज्ञान विज्ञान से युक्त और दीपक के समान सकल पदार्थों को प्रकाशित करने वाले जो ऋग्वेदादि वेद चतुष्टय हैं वह सर्वज्ञ परमेश्वर की ही कृति है। जैसे दीपक अपने प्रकाश से सकल पदार्थों को प्रकाशित कर देता है इसी प्रकार वेद सकल विज्ञानो को प्रकाशित करते हैं। अर्थात वेद सर्व विद्याओं के द्योतक हैं। इसलिये भगवान मनु ने भी स्पष्ट कहा है—

"भूतं भव्यं भविष्यञ्च सर्वं वेदात्प्रसिध्यति।"

[मनु]

जो ज्ञान विज्ञान फैल रहा है जो फैल चुका तथा जो भविष्य मे फैलेगा उस सब का आदि स्रोत Fountain head वेद ही है। वेदो के प्रसिद्ध विद्वान पण्डित सत्यव्रत सामाश्रमी ने भी अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "त्रयीचतुष्टय" मे लिखा है—

"The study of certain portions of the Vedas leads even to the conclusion that certain scientific researches had been carried in the country to such perfection that even America and the advanced countries of Europe have not yet attained it"

अर्थात् वेदों के कतिपय स्थलो के अवलोकन से तो यह प्रतीत होता है कि भारत मे कई वैज्ञानिक गवेषणा तो उस कोटि तक पहुँच चुकी थी जिसे अमेरिका जैसे देश जहां निरन्तर वैज्ञानिक खोज होती रहती है तथा योरोप के अन्य समुन्नत देश भी अभी तक नहीं प्राप्त कर सके। परन्तु हम वेदो मे इतने विमुख एव उदासीन हो गये कि न केवल वेद का नाम शेष रह गया अपितु उसके स्वरूप व लक्षणो तक का हमे ज्ञान नही रहा। वेदो के रहस्य तथा तत्त्व ज्ञान की तो कौन कहे? किसी ने ठीक कहा कि वेद तो sealed book हो गई। औरो के विषय मे क्या कहा जाय स्वय ब्राह्मण वर्ग भी प्राय आज वेद के ज्ञान से वञ्चित हैं। जिन भूसुरों के लिये महर्षि पतञ्जलि ने लिखा था—

'ब्राह्मणेन निष्कारण षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्चेति"

अर्थात ब्राह्मण को निष्कारण-निस्स्वार्थ भाव मे षडङ्ग वेद का अध्ययन करना ही चाहिये। परन्तु कहाँ है आज वे ब्राह्मण? वेदो की शिक्षा के प्रति उदासीनता धारण करने से ही हमारी यह दुरवस्था हुई है। इसीलिये महर्षि दयानन्द सरस्वती ने भी वेदो की ओर जनता का ध्यान आकर्षित किया। परन्तु आर्य्य समाज का ध्यान इस तरफ जितना होना चाहिये था उतना नहीं। अस्तु आज हमें जितने वेद भाष्य प्राप्त है वे वेदार्थ रहस्य को खोलने के लिये अपर्याप्त ही नहीं कितने ही तो उनमे सायण महीधर आदि के असम्बद्ध अतएव हेय भी हैं। इन भाष्यकारो ने आधुनिक लोक भाषा के आधार पर वेदों के भाष्य किये परिणाम यह हुआ कि वेदो के यथार्थ ज्ञान के प्रकाश से जनता वञ्चित रह गई। सम्पूर्ण वेदो मे सायणादि को कर्मकाण्ड तथा विनियोग ही आभासित हुआ। वैदिक भाषा की व्याख्या आधुनिक लौकिक भाषा के आधार पर नहीं

हो सकती। परन्तु सायणादिक ने यह न समझ कर वेद को प्रचलित कर्मकाण्ड के रंग में रंग दिया। प्रो० मैक्समूलर ने एक बात बड़े महत्व की कही है, वे कहते हैं:—

"Nay, I believe it can be proved that more than half of the difficulties in the history of religious thoughts owe their origin to this constant misinterpretation of ancient language by modern language, of ancient thought by modern thought." [Science of Religion p 45]

जिसका भाव यह है कि प्राचीन धर्म तत्वों को यथार्थ रीति से समझने में जो कठिनतायें प्रतीत होती हैं उनमें अधिकतर का कारण तो, प्राचीन भाषाओं की आधुनिक भाषा के द्वारा व्याख्या करना अथवा प्राचीन विचारों को आधुनिक—वर्तमान विचारों के द्वारा समझने की धारणा ही है। प्राचीन भाषा तथा विचार आधुनिक भाषा तथा व्यवहार से कदापि नहीं समझे जा सकते। सायण आदि धुरन्धर विद्वानों ने यही भूल खाई। उन्होंने वेदों के रहस्यों को आधुनिक भाषा के द्वारा खोलने का प्रयत्न किया। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने इस रहस्य को समझा और सत्य वेदार्थ-शैली का पथ-प्रदर्शन किया। स्वामी जी दुर्भाग्यवश चारों वेदों का भाष्य नहीं कर सके। जितनों का भाष्य किया है वह भी दिग्दर्शन मात्र ही है। अति संक्षेप से होने के कारण वह केवल मार्ग प्रदर्शकता का कार्य कर सकता है। परन्तु उसे एक विशद एवं सुसमुपबृंहित भाष्य नहीं कहा जा सकता। अस्तु श्री स्वामीजी महाराज ने भी जो वेदों के परम आचार्य थे यही बतलाया—

"वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है।"

जब सभी ऋषियों का यह दावा है तो अवश्य ही वेदों में सर्व विज्ञान होने ही चाहिए। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं हो सकता। आज हम इस लेख के द्वारा पाठकों को यह बताना—चाहते हैं कि जिस प्रकार वेद में अन्य विज्ञान है उसी प्रकार आयुर्वेद विज्ञान भी है; उसमें भी विशेषकर आयुर्वैदिक रसायन के तत्वों को ही प्रदर्शन कराने का इस लेख का ध्येय है। यद्यपि अधिकतर आधुनिक आयुर्वेद के विद्वानों की यह धारणा है कि प्राचीन समय तथा प्राचीन आयुर्वेद के ग्रन्थों में, औषध विज्ञान—वनस्पति विद्या का ही विधान है रसायन का आविष्कार बहुत पीछे के काल में हुआ है। परन्तु हमारे विचार से यह धारणा निराधार है। जब हम वेदों तक में सब धातु उपधातुओं के न केवल नाम अपितु उनके गुण धर्म वर्णन पाते हैं फिर यह किस प्रकार कहा जा सकता है कि प्राचीन काल में रासायनिक चिकित्सा नहीं होती थी। वेद में यों तो पारद, लोह, रजत, सुवर्ण, ताम्र आदि सभी धातुओं के नाम आते हैं। परन्तु इस संक्षिप्त लेख में सब का वर्णन होना शक्य नहीं और न इस लेखका उद्देश ही है। इसलिये स्थाली पुलाकन्याय से केवल सर्वधातु शिरोमणि स्वर्ण का ही वर्णन करेंगे। आयुर्वेद में स्वर्ण की अत्यन्त प्रशंसा की गई है। जैसे। स्वर्ण धातुओं का राजा समझा जाता है उसी प्रकार रसायन में भी शिरोमणि गिना गया है। किसी रसायनाचार्य ने स्वर्ण की प्रशंसा में क्या सुन्दर कहा है:—

शीतं स्वर्ण समान शान्तिकरणं बल्यञ्च शुक्रप्रदम्।
निश्शेषामयनाशनं क्षयहरं वार्द्धक्य निर्मूलनम्॥
चक्षुष्यं वमिमेहकासहरणं पित्तास्त्ररोगाञ्जयेत्।
वृष्यं मेध्यमपस्मृतिक्षयकरं सौवर्णभस्मामृतम्॥"

अर्थात् सुवर्ण की भस्म अमृत के तुल्य है-शीतल है। स्वर्ण के समान कान्ति देने वाली है बल्य, शुक्रप्रद, क्षयहर, चक्षुष्य, वृष्य, मेध्य है कहां तक कहें सभी रोगों को नष्ट करने वाली है। यह हुई किसी रसायन शास्त्र के परमनिष्णात आचार्य की प्रशंसा परन्तु अब हम आपके सम्मुख वेदमन्त्र रखते हैं देखिये उक्त विषय में वेद की क्या सम्मति है। यजुर्वेद में आया है:—

"आयुष्यं, वर्च्चस्यं, रायस्पोषमौद्भिदम्।
इदं हिरण्यं वर्च्चस्वज्जैत्राया विशतादु माम्"॥

इस मन्त्र का देवता 'हिरण्यतेज' है। अर्थात् हिरण्य के क्या क्या गुण हैं यह इस मन्त्र मे बतलाया गया है। अर्थ स्पष्ट है। (इदं हिरण्यं) यह सोना (आयुष्यम्) आयु के लिये हितकारक है (वर्चस्यं) कान्ति का देने वाला है। (रायः पौषं) शक्ति तथा पुष्टि का देने वाला है।

(औद्भिदं) सर्वरोगों का भेदन करने वाला और (वर्चस्वतवर्चस्वी बनाने वाला है। (जैत्राय) रोगों से विजय प्राप्त करने के लिये उक्त सुवर्ण (मा आविशतानु) मुझे सदा प्राप्त हो, मैं सदा उसका सेवन करूं। सुवर्ण का कितना सुन्दर वर्णन है। और भी देखिये अगले मन्त्र में और भी अधिक वर्णन है:—

न तद्रक्षांसि न पिशाचास्तरन्ति देवानामोज प्रथमजं ह्येतत्। यो बिभर्त्ति दाक्षायणं हिरण्यं स देवेषु कृणुते दीर्घमायुः स मनुष्येषु कृणुते दीर्घमायुः।

[यजु० ३४।५१]

(तत्) उक्त गुण वाले सुवर्ण को कोई राक्षस (नरक्षसा) या पिशाच रूपी रोग (नपिशाचा) (तरंति) तरते हैं। अर्थात् सुवर्ण से कोई रोग नहीं बच सकता। (यो) (दाक्षायणं हिरण्यं) चतुर रसज्ञ से तय्यार किये हुए सुवर्ण का (बिभर्त्ति) सेवन करता कराता है। वह देवो की ही नही अपि मनुष्यो की भी (देवेषु मनुष्ये षु) (आयुः) आयु को (दीर्घं) दीर्घ (कृणुते) करता है (कृणुते) और फिर करता है। इससे बढ़कर और क्या वर्णन हो सकता है। भारतीय रसायनाचार्यों ने ही नहीं किन्तु योरोप के साइन्टिस्टों ने भी स्वर्ण की ऐसी ही प्रशंसा की है।

योरोप के प्रसिद्ध विद्वान डाक्टर डब्ल्यू० टी० फरने एम० डी० ने अपनी पुस्तक "Precious stones for curative wear" मे स्वर्ण के औषधीय गुणों (Remedial uses)के विषय में लिखा है कि:—
Gold is an admirable remedy for constitutions broken down by the combined infuence of Syphilis and mercury ",
अर्थात् क्षय पीडित रोगी के लिये सुवर्ण अति प्रशंसनीय महौषध है। यही तक नही आगे चल के वे लिखते है.—

अर्थात् मैंने स्वर्ण से बहुत से उन्माद के रोगियों को अति शीघ्र और सर्वथा अच्छा किया है। फिर आगे वर्णन करते हुए वे कहते हैं—
"gold is repated to increase the vitality"
यदि इस वाक्य का अनुवाद संस्कृत मे किया जाय तो ठीक ऊपर दिये हुए वेद मन्त्रका टुकडा हो जायगा "स मनुष्येषु कृणुते दीर्घमायु " अर्थात् स्वर्ण मनुष्यो की जीवन शक्ति (Vitality) को बढाता है। क्या यह वेदो का विजय नहीं। जिस सत्यकावेदो ने वर्णन किया संसार आज सहस्त्र मुख उसका गान कर रहा है, इसी प्रकार अन्य अनेक रासायनिक सिद्धान्तो का भी वेदो मेंबड़ी सुन्दरता से वर्णन किया गया है। यहां हमने वाचको के निदर्शन मात्र के लिये कुछ दिग्दर्शन कराया है। जो इस विषय मे तथा वेद के उच्चतम वैज्ञानिक तत्वो का विशेष रीति से पर्यालोचन करना चाहे वे हमारे वेद तत्त्वालोचन नामक ग्रन्थ मे जो प्रेस में है और शीघ्र ही प्रकट होने वाला है देखे। यह ग्रन्थ लगभग ५०० पृष्ठो का होगा जिसमे वेद सम्बन्धी अनेक रहस्यो का उद्घाटन किया गया है। इस लघु लेख मे अधिक क्या लिखा जासकता है। वेद के प्रेमियों से यही निवेदन है कि वे वेद के पठन पाठन को उत्तेजन दे वेद रत्नाकर का मन्थनकरे ता कि अनेक ज्ञान विज्ञान रूपी रत्नो की प्राप्ति हो जिस से संसार का कल्याण हो।

"कृषि और वैदिक खाद्य-सामग्री"

ले०—श्री प्रो० रुद्रदेव शास्त्री वेदशिरोमणि दर्शनालङ्कार (काशी)

ऋग्वेद (१० म० १०१ सू०) से विदित होता है कि वैदिक-काल मे कृषि विद्या मे पर्याप्त उन्नति हो चुकी थी। आधुनिक ऐतिहासिक कृषि का युग ईसा से पन्द्रह हजार वर्ष पूर्व मानते हैं। ऐतिहासिकों का कथन है कि जावा के ट्रिनिल स्थान मे उपलब्ध पिथेकन्थ्रोपस एरक्टस की हड्डियाँ छ लाख वर्ष पूर्व की हैं। हीडलबर्ग मे भी मनुष्यों की कुछ हड्डियाँ मिली हैं जिनका समय दो लाख पचास हजार वर्ष पूर्व बतलाया जाता है। पिल्ट डाउन मे प्राचीन काल के मनुष्यो की कुछ भग्नास्थियाँ और कपाल आदि मिले हैं। इन अस्थियो का समय विक्रम से न्यूनातिन्यून एक लाख वर्ष पूर्व है। यह अस्थियाँ जिन मनुष्यो की है उनका नाम—अन्थ्रापालाजी अथवा नृविज्ञान के पण्डितो ने—इयोअन्थ्रोपस् रक्खा है। जर्मनी मे ड्युसल्डाफ के निकट निअकथल मे चतुर्थ हिम-युग के बाद के मनुष्यों की हड्डियाँ मिली है। चतुर्थ हिम-युग का समय विक्रम से पचास हजार वर्ष पूर्व है।

होमो सयाइन्स अर्थात वर्तमान काल के 'वास्तविक मनुष्यो का समय बीस हजार वर्ष पूर्व रखकर कृषि का युग केवल पन्द्रह हजार वर्ष,पूर्व रखकर ऐतिहासिको ने बहुत बड़ा भ्रम फैला रक्खा है।

मनुष्य के जन्म के साथ ही अन्न की आवश्यकता हुई और इससे कृषि प्रारम्भ हुई। ऋग्वेद में कृषि का वर्णन है। वेद की अभिव्यक्ति सर्गारम्भ मे हुई है। सर्गारम्भ बड़ा ही अद्भुत और भावपूर्ण शब्द है। इसकी व्याख्या का यह अवसर नहीं। इस लेख को लिखते समय मैंने सर्गारम्भ की वैज्ञानिकी व्याख्या करने के विचार से दो एक पुस्तके उठाकर, फिर केवल इसीलिये—पृथक् रख दी कि यह विषय प्रकृत मे मेरे लेख के लिये अपरिहार्य नहीं है। पृथिवी की जिस प्रकार की अवस्थाओं का वर्णन वेदो में आता है उस प्रकार की अवस्थाएं प्रागैतिहासिक काल में ही थी। प्रोफेसर डाना की पुस्तक 'मैनुअल आफ जिआलाजी' तथा प्रोफेसर जे. डब्ल्यू० ग्रैगरी को पुस्तक 'दि मेकिङ्ग आफ दि अर्थ' आदि मे पृथिवी की उत्पत्ति आदि पर जो विचार प्रकट किये गये हैं उन विचारो में पूर्वापर के क्रम की सत्ता भले ही विवाद ग्रस्त न हो, पर पूर्वापर के निर्धारण के साथ-साथ सौर वर्षों मे काल-निर्धारण की जो परिपाटी है वह सर्वथा भ्रान्त, अयुक्त, अपुष्ट और अग्राह्य होती है, यह बात अब भूगर्भ शास्त्री भी स्वीकार कर रहे है। इसलिये भूगर्भ शास्त्र के आधार पर स्थित कृषि-युग का समय युक्ति प्रमाणानुमोदित नहीं है। अथवा काल-निर्णय मे भूगर्भ शास्त्र की दुहाई देना भारी-भ्रम है।

वेद मे कृषि-विद्या के कुछ मन्त्रो का दर्शन सोम के पुत्र बुध ने किया है। बुध के द्वारा दृष्ट कुछ ऋचाए इस प्रकार हैं—

"युनक्त सीरा वियुगा तनुध्वं कृते योनौ वपतह बीजम्। गिरा च श्रुष्टि सभरा असन्नो नेदीय इत् सृण्य पक्वमेयात्॥"

"सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वितन्वते पृथक्। धीरा देवेषु सुम्नया।"

"निराहावान् कृणोतन स वरत्रा दधातन। सिञ्चामहा अवतमुद्रिणं वयं सुषेक मनुपक्षितम्।"

"इष्कृताहावमवतं सुवरत्रं सुषेचनम्। उद्रिणं सिञ्चे अक्षितम्।"

"प्रीणीताश्वान् हितं जयाथ स्वस्तिवाह रथ

सिञ्चत्सुध्वम् । द्रोणाहावमवत मश्मचक्र मंसत्रकोशं सिञ्चता नृपाणम् ॥"

इन मन्त्रों का सरलार्थ इस प्रकार है—"हलों-को जोतो । जुओंको फैलाओ । इस जुती हुई और ठीक बनाई गयी भूमि में बीज बोओ । अन्न हमारी स्तुतियों के द्वारा बढ़े । और पके हुए अनाज से युक्त इन खेतों को काटने के लिए हंसिए हमारे पास आवें ।" "होशियार लोग हलों को जोत रहे हैं । जुओंकी खोल रहे हैं । और देवताओ की सुन्दर सुन्दर प्रार्थनाएं कर रहे हैं ।"

"पानी पीने के बड़े-बड़े हौज (=आहाव) बनाओ, चमड़े के रस्सो (=सुवरत्रम) को पकड़ो । कभी न सूखने वाले इस कुएं से हम लोग सिचाई का काम करे ।"

घोड़ों को प्रसन्न करो । "हित" अर्थात इकट्ठे किये हुए अन्न की ढेरी को लो । अनाज को अच्छी तरह ढोकर ले जाने वाले रथ (=छकड़ा और गाड़ी आदि) को तैयार करो । अश्म-चक्र अर्थात पत्थर के पहिया वाले (=घटि-चक्र) रहट से भरे जाने वाले इस आहाव (=हौज) मे एक द्रोण पानी आता है । इस नृपाण अर्थात् मनुष्यों के द्वारा पीने योग्य पानी की हौदी में—जिसमे टोंटी अथवा नल लगे हैं—पानी भरो ।"

इन मन्त्रों से आहाव, वरत्रा, अश्म चक्र, सीर, सुखि युग और गहरे-गहरे कुओं के नाम और इनकी उपयोगिता का परिचय मिलता है । इसी प्रकार सीता अर्थात हलके द्वारा की गयी लकीरों का नाम भी वेदों में आता है ।

इन मन्त्रों में अन्नों को बोने, काटने उसको खलिहान में इकट्ठा करने, साफ करने, और उसको उठाकर गाड़ी पर लादने तथा घर लाने का भी वर्णन है । मन्त्रों का यह भी आशय है कि खेती के काम में घोड़ो को भी लाया जाय ।

शतपथ ब्राह्मण (५।२।४।१३) में खेती के कार्य के लिए गाय को भी हल में जोतने का उल्लेख है । कात्यायन श्रौतसूत्र के राजसूय यज्ञ-प्रकरण (१५ अ० २ क० २७ सू०) में इन्द्र के लिए दी जाने वाली एक हवि का उल्लेख करते हुए कहा है—'वहिनीधृष्यैन्द्रम्' अर्थात गाड़ी को ढोने वाली (=अनोवहतीति वहिनी) गौका दही इन्द्रदेवताकी चौथी हवि है इससे विदित होता है कि गाय को भी पहले गाड़ी मे जोतते थे ।

पण्डित विद्याधर गौड वेदाचार्य अध्यक्ष धर्म विज्ञान विभाग हिन्दू विश्वविद्यालय, बनारस ने कात्यायन श्रौतसूत्र की एक वृत्ति लिखी है । इस वृत्ति की भूमिका मे 'वहिनी' का अर्थ गाड़ी को ढोने वाली गौ किया है । यह अर्थ स्वयं उनके ही किये हुये उस अर्थ के विरुद्ध है जिसको उन्होंने वहिनी दध्यैन्द्रम्' इस सूत्र की वृत्ति में लिखा है । अतः इस अर्थ की आलोचना अनावश्यक है । गो-दुग्ध के लाभों को देखकर गौ से श्रम-साध्य कार्यों को कर-वाने की शैली दूषित सिद्ध हुई और इसी परीक्षण का ही फल यह है कि आज घोड़ी आदि की भांति गौ से श्रम-साध्य कार्य नहीं करवाये जाते हैं ।

कृषि-विद्या सम्बन्धी कुछ मन्त्र वामदेव ऋषि के देखे हुएभी हैं । वामदेव दृष्टमन्त्रों का देवता 'क्षेत्र-पति' है । क्षेत्रपति देवता वाले सूक्त के (ऋ० ४ म० ५७ सू०) कुछ मन्त्र यह हैं—

'क्षेत्रस्य पतिना वयं हितेनेव जयामसि । गामश्वं पोषयित्न्वा स नो मृडातीदृशे ॥ 'शुनं वाहाःशुनं नरःशुनं कृषतु लाङ्गलम् । शुनं वरत्रावध्यन्तामष्ट्रामुदिङ्गय ॥ शुनं नः फाला विकृषन्तु भूमिं शुनं कीनाशा अभियन्तु वाहैः । शुनं पर्जन्यो मधुना पयोभिः शुना-सीरा शुनमस्मासु धत्तम्" ।

अर्थात "क्षेत्रपति की कृपा और सहायता से हम लोग खेतों को प्राप्त करे । खेती के कामों में पुष्टि करने वाला वह क्षेत्रपति इस प्रकार हमारी गौओं और हमारे घोड़ों को पुष्ट करके हमको सुखी करता है । "वाह" अर्थात् घोड़े, बैल, भैंसे, गधे, ऊंट, बकरा गोमृग (रेनडीयर) और कुत्ते आदि आनन्द से भूमि को जोते कोशकार "वाह" का अर्थ घोड़ा ही करते हैं, वेद मे आये हुए 'वाह' शब्द का

अर्थ केवल थोड़ा ही नहीं है।) मनुष्य भी प्रसन्नता पूर्वक खेती करें। लाङ्गल (हल) भूमि को आसानी से जोतें। जोतने के समय बांधी जाने वाली चमड़े की रस्सी को अच्छी तरह बांधो और बैलों को हाकने वाले डाके (पैने) को आनन्द से चलाओ।

"हमारे फाल (=चौड़े मुख वाले हल अर्थात मेस्टन हल आदि के समान हल) भूमि को सरलता से खोदें। किसान बाहों के पीछे आनन्द पूर्वक चलें मेघ मीठे पानियों से भूमि-को तृप्त करें। शुन (वायु) और सीर (=आदित्य) यह दोनों हम लोगो मे सुख की प्रतिष्ठापना करें।" इन मन्त्रों से वैदिक काल की कृषि का परिचय मिलता है यजुर्वेद (१८ अ० १२ मन्त्र) मे व्रीहि, यव, माष, तिल, मुद्ग, खल्व, प्रियंगु अणु, श्यामाक, नीवार, गोधूम और मसूर आदि अन्नो के नाम आये हैं। अथर्ववेद (१२ का० १ अ० १ सू०) मे एक पृथिवी-सूक्त है। इस सूक्त के बारहवे मन्त्र मे भूमि को माता तथा पर्जन्य को पिता कहा गया है और मनुष्य इनका पुत्र बतलाया गया है। इसी सूक्त के बाइसवें मन्त्र में अन्न को मनुष्यों के जीवन का साधन कहा गया है और इस अन्न को उत्पन्न करने वाली इस पृथिवी की ही इस सूक्त मे प्रशंसा की गयी है।

इन सब मन्त्रों से यह स्पष्ट हो जाता है कि कृषि विद्या अथवा अन्नोत्पत्ति का परिज्ञान मनुष्यो को सर्गारम्भ से ही है।

वैदिक-काल ही इतिहास में सबसे प्राचीनकाल कहा जासकता है। मिश्र, सुमर, अक्कद और माहकिनी आदि की सभ्यताएं वैदिक काल के बाद में ही पनपी हैं।

वैदिक-काल में चावल जंगलों में भी पैदा होता था। जंगलों में नीवार (=तिन्नी) सामा कोदों और बहुआ की भांति चावल भी स्वयं ही पैदा होता था। गेहूँ या गोधूम मैसोपोटामिया और पंजाब के दक्षिणीय भाग और "उदयन" अथवा सिन्ध में स्वयं पैदा होता था। पञ्जाब में पैदा होने वाले जंगली गेहूँ का नाम गवेधुक और सिन्ध [=उदयन] में पैदा होने वाले जंगली तिलों का नाम 'जर्तिल' है। एच० जी वेल्स ने दि आउट लाइन आफ् हिस्ट्री में जंगली गेहुँओं के पैदा होने की जगह यूफ्रेटीज और टाईगुस नदियों के मध्य की भूमि को लिखा है। वस्तुतः पञ्जाब में बहुत से अन्न जंगल में स्वयं पैदा होते थे। "ब्रीहि" और 'व्रीहि' बकारादि और वकारादि दो शब्द पृथक हैं। बकारादिका अर्थ धान और वकरादिका अर्थ धान्य है।

कात्यायन श्रौत सूत्र [१५ अ० ४ का० १२] में 'नाम्ब' नाम उन व्रीहियों के लिये आया है, जो जंगल में स्वयं पैदा होवें।

जंगल में उत्पन्न अनेक पौधों को पशु चर जाते थे। यह पौधे दूब [वैदिक 'दूर्वा' यजुर्वेद अ० १३ मं० २०] आदि घास के समान ही बार २ पैदा होते रहते थे। इन दुबारा पैदा हुए पौधों का एक विशेष नाम 'एजाशुक' है [कात्यायन श्रौतसूत्र १५ अ०। ४। ५]

अन्नों को एकत्र कर दाँय चला कर साफ किया जाता था। अन्नो को साफ करने वाले, दाँय आदि चलाने वाले व्यक्ति का नाम 'धान्यकृत' है। अन्नों को काट करएकत्र करने के स्थान को खल [=खलिहान] कहते हैं और इस खल में इकट्ठे किये गये पूलो का वैदिक नाम 'पर्ष' है [='खले न पर्षान प्रतिहन्मि ऋ०; निरुक्त नैघण्टुक काण्ड]

अनाज को एक बड़ी चलनी से छानने का उल्लेख वेद में है। इस चलनी का नाम 'तितउ' है। 'तितउ' शब्द के निर्वचन का उद्योग यास्क मुनि ने किया है। निर्वचन तो अस्पष्ट है; पर इस का अर्थ 'परिपवन' स्पष्ट है।

इस छने हुए अन्न को एक पात्र से नाप नाप कर मिट्टी और काठ के बने हुये बड़े-बड़े बर्तनों मे भरने का उल्लेख है। नापने वाले बर्तन का नाम ऋग्वेद २ म० १४ सू० ११ म० में 'ऊर्दर' आया है। भूमि को खोद कर अन्न को इकट्ठा करने की खत्तियों की चर्चा ऋग्वेद में आयी है। ऋग्वेद में इन खत्तियों का नाम 'स्थिवि' [ऋ० १० म० ६८ सू० ३ म०] आया है। अन्न का व्यापार वैदिक-काल में होता था। अथीव-कपोरल

करने वाले व्यापारियों का वैदिक नाम 'वस्न' [यजु० ३ अ० ४६ म०] है। एक अन्न को दूसरे अन्न के बदले में और कभी २ किसी भी वस्तु को किसी दूसरी वस्तु के बदले में लेते थे। बड़ी २ वस्तुओं को खरीदने और बेचने के समय मूल्य का निर्धारण करने के लिये विभिन्न आयु की गौ विभिन्न प्रकार का मानदण्ड मानी जाती थी। सोम को खरीदते समय गौ को ही मानदण्ड रक्खा गया है अरुणया एकहायन्यागवा सोमं क्रीणाति]।

धन का मूल अर्थ है 'धिनोति प्रीणयति यन तत् धनम्' जो खुश करे वही धन है। वैदिक काल मे भूमि और पशु ही सब से प्रधान धन थे। भूमि और पशुओं के रक्षकों के अनेक वर्ग थे। भूपति, भूमिपति, पृथिवी पति आदि नाम पृथिवी की रक्षा करने वालों के हैं। आभीर जङ्गल में घूमने वाले निर्भय चरवाहे थे। यही आभीर आज कल के अहीर हो गये हैं। आभीरो का नाम गोप और गोपति भी है। पति का प्रधान अर्थ रक्षक है। 'पति' शब्द जिस 'पा' धातु से औणादिक (आतेर्डति) 'डति' प्रत्यय करने से सिद्ध होता है, उस 'पा' धातु का अर्थ रक्षा करना ही है (पारक्षणे, धातुपाठ) रक्षक ही स्वामी भी बन जाता है। इसलिये 'पति' शब्द में रक्षक और अधीश्वर इन दोनो शब्दों के भाव का सामञ्जस्य है।

'पशु' सब से पहिला सुव्यवस्थित मानदण्ड है। आजकल जिस 'पैसा' शब्द को हम व्यवहार मे लाते हैं, वह पैसा शब्द भी पुर्त्तगाल वालो की भाषा के इसी अभिप्राय वाले एक शब्द का अपभ्रंश है। लैटिन मे पेकु अथवा पेशु (१) शब्द का वही अर्थ है जो वेद मे 'पशु' शब्द का। पशु, पेशु पिशा अथवा पैसा का उच्चारण बहुत अधिक भिन्न नहीं है। अत तुलनात्मक भाषा विज्ञान के पण्डित को पशु और पैसा के सम्बन्ध के अनुसन्धान करने में लेश भर क्लेश न होगा। लैटिन में 'पेकु' शब्द से निकला हुआ एक शब्द 'पेकुनिअरी' (२) है। इसका अर्थ भी वस्तुतः 'पशु' है, पर इसका प्रयोग द्रव्य अर्थ को सूचित करता है। पैसा और पशु का सम्बन्ध 'पेकुनिअरी' इस शब्द मे भी अनुस्यूत है। अन्नों का व्यापार भी पशुओं के द्वारा होता था। वैदिक काल मे ही रासायनिक प्रक्रिया से इन अन्नो का कूट कर पीस कर और भून तथा उबाल कर अनेक प्रकार की खाद्य सामग्री प्रस्तुत की जाती थी। दूध दही घृत, तक्र (मट्ठा) आदि के साथ सोम, शहद और अन्नो को मिलाकर अनेक प्रकार के सुस्वादु भोजन बनाये जाते थे।

दूध मे सड़े हुए आटे के द्वारा मिट्टी के ठीकरों पर पकाये गये बिस्कुटों का नाम 'पुरोडाश' है। अपूप (= मालपुआ) पायस (= खीर) करम्भ (दही और सत्तू) पक्ति (=पकौड़ी) घृतौदन (घृत मे पका भात, अर्थात हिन्दुओ का मीठा भात, जिसमे बादाम पिस्ता और चिरौंजी केशर लौंग तेजपात इलायची और केवड़ा आदि डालकर चावलो को भिगोकर घृत मे भूनकर, चीनी के साथ बनाते हैं, या मुसल्मानो का निरामिष पुलाव) दध्योदन (तीर भुक्ति अथवा तिरहुत के मैथिल ब्राह्मणों के भोजन का प्रधान पदार्थ) धाना (भूने हुये जौ) लाज (खील) यवागू, प्रधानत. जौ की और सामान्यरूप से द्विदलातिरिक्त अन्य अन्नो की पतली दलिया, (बंगाल के पाल वंशी राजाओं के रसोई के एक निरीक्षक चक्रपाणिदत्त ने अपने आयुर्वेद के ग्रन्थ चक्रदत्त मे "यवागू विरल द्रवा" यह यवागू की परिभाषा लिखी है। श्रौतसूत्रो की यवागू का तात्पर्य केवल यही नहीं है) आदि बड़े स्वादु भोजन थे।

लवण शब्द भाषा की दृष्टि से नवीन है।

लवण सिन्धु अर्थात समुद्र से और सिन्धु देश के पहाड़ो से मिलता था। सिन्धु देश और वर्त्तमान सिन्ध की सरहद एक नहीं है] अत इसका पुराना नाम 'सैन्धव' है।

पुराना नमक बहुत साफ और स्वच्छ होता था। इसीलिये संस्कृत का अत्यन्त मनोहर और सुन्दर शब्द 'लावण्य' लवण के रूप को देख कर बनाया गया है।

(१) Pecu (२) Pecuniary

सोमरस को कूटकर, छानकर दूध और दही आदि के साथ मिलाकर पीते थे। अर्थात् दध्याशिर, यवाशिर गो-सत्सर आदि शब्द इसी भाव के सूचक हैं। सोमरस, घी, और तेल इनको रखने के लिये चमड़े के वर्त्तनो के बनाने की भी चर्चा वेद मन्त्रो मे आती है। चमड़े की मशक का वैदिक नाम 'दृति' है और चमड़े के बड़े-बड़े कुप्पो का वैदिक नाम 'विनार' है। दूध, दही और घी की भाँति आमिक्षा छेना अर्थात् दूध को फाड़ कर उसका स्थूल-भाग) और वाजिन (फाड़े गये दूध का तरल-भाग) तथा पनीर भी खूब खाये पीये जाते थे।

यजुर्वेद (२५ अ० ३६ म०) मे एक शब्द 'मांस्पचनी' आता है। पश्चिमीय विद्वान और महीधर आदि ने इसका अर्थ मांस पकाने की हांड़ी किया है। मांस्पचनी का अर्थ यास्क के निरुक्त के आधार पर 'मानन-पचनी" भी हो सकता है। 'मानन-पचनी' का अर्थ है चिन्हो मे युक्त पकाने वाला वर्त्तन अर्थात् मेजुरटेड बॉयलर) इस मन्त्र मे अश्व अर्थात् महाशन एञ्जिन को बनाने की विधि बतलायी गयी है। इसका विस्तृत वर्णन यहाँ अवाञ्छनीय है।

फलो और ममालो की विविध जातियो के नाम वेदों मे नहीं आये हैं।

अश्वत्थ (पीपल) उदुम्बर = गूलर कुवल (= बैर) बिल्व (बेल) कर्कन्धु (= झरबेरी और न्यग्रोध (बरगद) आदि के नाम वैदिक-साहित्य मे आते हैं। यजुर्वेद ३ अ० ६० म० मे खरबूजे का नाम उर्वारुक आया है। हलदी नाम 'रजनी' अथर्ववेद (१।२३।१) मे है। एतरेय ब्राह्मण के हरिश्चन्द्रोपाख्यान में 'चरन् वैमधु विन्दति चरन् स्वादुमुदुम्बरम्" यह वाक्य भी मिलता है। यहाँ उदुम्बर अर्थात् गूलर का विशेषण 'स्वादु यह दिया है। इससे प्रतीत होता है उस समय गूलर की पर्याप्त स्वादु फलो मे गणना थी।

अनुमान होता है उदुम्बर का अर्थ अञ्जीर भी है। बॉटनी अर्थात् वनस्पति विज्ञान से दोनों की जाति एक है। सम्भव है उस समय भारत में भीटर्की के विश्व विख्यात प्रायः हथेली के बराबर-बड़े-बड़े इन अञ्जीरों के समान अञ्जीर पैदा होते हों, जो आजकल बोतलों मे रखकर कलकत्ता आदि बड़े-बड़े नगरों में ही बिकते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। इनको स्वादु उदुम्बर कहना यथार्थ ही है। गुड़ अथवा चीनी की अपेक्षा मधु अर्थात् शहद वैदिक-काल के लोगो में अधिक प्रचलित था।

सरस्वती, दृषद्वती, सतलज, व्यास, रावो, चिनाब, झेलम सिन्ध, काबुल, स्वात, गोमल और कुर्रम तथा गंगा और यमुना के तटों पर बड़े-बड़े जंगल थे। इन जंगलो मे नानाप्रकार की फलिनी और अफला; पुष्पिणी और अपुष्पा ओषधियां उत्पन्न होती थीं। हजारो वृक्षो पर मधु-मक्खियों के छत्ते लगे रहते थे। प्रचुर परिमाण मे शहद मिल जाता था। यही शहद अर्थात् 'मधु' सब से पहली और शुद्ध मिठाई है। 'मीठा' का पर्यायवाची वैदिक शब्द 'मधुर' है। 'मधुर' का अर्थ है 'मधु' अर्थात् 'शहद' वाला। नाना-प्रकार के बीजो का उल्लेख वैदिक साहित्य मे आता है। यह बीज अखरोट, बादाम, पिस्ता आदि हो हैं। जंगलो मे यह बीज खूब मिलते थे। अभी (= सितम्बर स० १६३५ ई०) लेजिस्लेटिव् एसेम्बली के शरत्कालीन अधिवेशन के समय मै कार्य वश शिमला गया था। वहां जाकर पहाड़ी के पास से संहजौली ग्राम की ओर तथा उसके आगे तिब्बतरोड़ पर कुछ दूर तक घूमने गया। हिमालय के इस अञ्चल में जंगली फूलो और फलो से लदे वृक्ष थे। अखरोट और अनार के जंगली वृक्ष तथा सेव आदि के जंगली वृक्षो को देख कर मैंने अनुमान किया कि केवल दृषद्वती (घग्घर) नदी के पार्श्ववर्त्ती स्थानो मे ही कितनी नैसर्गिक खाद्य सामग्री विद्यमान है। शिमला से लेकर श्रीनगर तक (काश्मीर) के पर्वतीय-मार्ग मे प्रकृति की जिस सुषमाके विलास को यात्रियों के मुख से सुना है; प्रकृति की उससे भी अधिक सुषमा की क्रोड मे क्रीड़ा करने वालों को अमृत-फलों के सम्मुख वर्तमान नागरिक विलासियों की मृत चाट का चस्का नहीं था। फलतः वैदिक खाद्य-सामग्री नैसर्गिक और सात्विक है। गीता में जिस प्रकार के आहार को सात्विक-प्रिय कहा है; बहुलांश वैदिक

आहार वैसा ही था; और इस सात्त्विक-प्रिय आहार के अनुरूप ही वैदिक खाद्य-सामग्री है। वैदिक प्रार्थना में भी यही भाव गुम्फित किया गया है—

अन्नपते अन्नस्य नो धेहि अनमीवस्य शुष्मिणः।
प्र प्र दातारं तारिष ऊर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे ॥
यजु० ११ अ० ८३ मन्त्र

वेद में व्यापार

(ले०—पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी, अथर्ववेदादि भाष्कार, आयु ८६ वर्ष)

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उतशूद्र उतार्ये ॥
अथर्ववेद १६। ६२। १॥

[हे परमात्मन्!] (मा) मुझे (देवेषु) विद्वानो में (प्रियम्) प्रिय (कृणु) बना, (मा) मुझे (राजसु) राजाओ मे (प्रियम्) प्रिय (कृणु) बना, (उत) और (आर्ये) वैश्य मे [उत] और [शूद्रे] शूद्र मे, और (सर्वस्य) प्रत्येक [पश्यत.] दृष्टि वाले का [प्रियम] प्रिय [बना] ॥

हे परम पिता! वेदो के पठन पाठन से हमे सामर्थ्य दे कि हम व्यापार कुशल होकर सब संसार का उपकार कर सके।

अब हमे यह विचारना है कि वेद मे व्यापार का क्या विधान है किन्तु व्यापार विषय लिखने से पहिले हम कुछ थोड़ा सा यह भी समझले कि वेद क्या है। वेद चार हैं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। इन चारों वेदों की संहिता मात्र का नाम वेद है। वेद ईश्वर कृत और निर्भ्रान्त है।

बुद्धि पूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे!

वैशेषिक दर्शन, अध्याय ६ आह्निक १ सूत्र १।

[वेदे] वेद में [वाक्यकृतिः] वाक्य रचना [बुद्धि पूर्वा] बुद्धि पूर्वक है—अर्थात वेद मे सब विषय बुद्धि के अनुकूल हैं।

चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्।
भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति ॥
मनु० अ० १२। ६७॥

[चातुर्वर्ण्यम] चारो वर्ण [ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्र], [त्रयः लोकाः] तीनो लोक [स्वर्ग, अन्तरिक्ष, भूलोक], [च] और [चत्वारः आश्रमाः] चारो आश्रम [ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास], और [भूतम्] भूत [भव्यम्] वर्त्तमान [च] और [भविष्यम्] भविष्यत [पृथक्] अलग अलग (सर्वम्) सब [वेदात] वेद से [प्रसिध्यति] प्रसिद्ध होता है।

चारों "वेदों" (विद्याधर्म युक्त ईश्वर प्रणीत संहिता। मन्त्र भाग) को निर्भ्रान्त स्वतः प्रमाण मानता हूँ ॥

महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती, सत्यार्थ प्रकाश मन्तव्य२ ॥

इतना वेद विषय कहकर वेद का व्यापार विषय संक्षेप से कहा जाता है—

इन्द्रमहं वणिजं चोदयामि स न ऐतु पुरएता नो अस्तु। नुदन्नराति परिपन्थिनं मृगं स ईशानो धनदा अस्तु मह्यम् ॥

अथर्व० का० ३ सू० १५ मं० १ ॥

(अहम्) मैं (इन्द्रम्) बड़े ऐश्वर्य वाले (वणिजम्) वणिक् [व्यापारी] को (चोदयामि) आगे बढ़ाता हूं, (सः) वह (नः) हम में (एतु) आवे, और (नः) हमारा (पुरएतां) अगुआ (अस्तु) होवे। (अरातिम्) वैरी (परिपन्थिनम्) डाकू और (मृगम्) बनैले पशु को (नुदन्) रगेदता हुआ (सः) वह (ईशानः) समर्थ पुरुष (मह्यम्) मुझे (धनदाः) धन देने वाला [अस्तु] होवे ॥

भावार्थ—मनुष्य व्यापार कुशल पुरुष को मुखिया बनाकर वाणिज्य और मार्ग की कठिनाई विचार कर वाणिज्य से लाभ उठावे ॥

ये पन्थानो बहवो देवयाना अन्तरा द्यावा पृथिवी संचरन्ति। ते मा जुषन्तां पयसा घृतेन यथा क्रीत्वा धनमा हराणि ॥

अथर्व० का० ३ सू० १५ मं० २ ॥

[ये] जो [देवयानाः] विद्वान् व्यापारियो के यानों रथादिको के योग्य [बहवः] बहुत से [पन्थानः] मार्ग [द्यावा पृथिवी अन्तरा] सूर्य और पृथिवी के बीच [संचरन्ति] चलते रहते हैं, [ते] वे [मार्ग] [पयसा] अन्न से और [घृतेन] घी से [मा] मुझको [जुषन्ताम्] तृप्त करे, [यथा] जिससे [क्रीत्वा] मोल लेकर [धनम्] धन [आहराणि] मैं लाऊं ॥

भावार्थ—व्यापारी लोग विमान, रथ नौकादि द्वारा आकाश, भूमि, समुद्र, पर्वत आदि देश देशान्तरों में जाकर अनेक व्यापार करके मूलधन बढ़ावें और घर आवें और सब लोग उनसे फुटकर लैन दैन करके हृष्ट पुष्ट होकर सुखी रहे ॥

येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धनमिच्छमानः। तन्मे भूयो भवतु मा कनीयो अग्ने सातघ्नो देवान् हविषा निषेध ॥

अथर्व० का० ३ सू० १५ म० ५ ॥

[देवाः] हे व्यवहार कुशल व्यापारियो! [धनेन] मूलधन से [धनम् इच्छमानः] धन चाहने वाला मैं [येन धनेन] जिस धन से [प्रपणम्] व्यापार [चरामि] चलाता हूँ, [तत्] वह धन [मे] मेरे लिये [भूयः] अधिक-अधिक [भवतु] होवे, (कनीयः) थोड़ा (मा) न [होवे]। (अग्ने) हे तेजस्वी विद्वान्! सातघ्नः लाभ नाश करने वाले देवान् उन्मत्त लोगों को (हविषा) लैन दैन से [निषेध] रोक दे ॥

भावार्थ—नव शिक्षित व्यापारी बड़े २ व्यापारियों से लाभ हानि की रीति समझ कर मूलधन बढ़ाते रहें और उन्मत्त छली लोगो के फन्दे में न फंसे ॥

[देवान] दिवु क्रीड़ामदादिषु-अच् मदवतो दुष्टान ॥

अब मैं श्रीमान् भगवान् महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती जी महाराज को अनेक धन्यवाद देता हूं, जिनकी कृपा दृष्टि से हम लोग मिलकर वेदों के महत्त्व को खोज रहे हैं ॥

वेद में पशु पालन

(ले०—श्री० पं० चन्द्रमणि विद्यालंकार, पालीरत्न, देहरादून)

अथर्ववेद में एक मंत्र आया है, जो इस प्रकार है—

तवेमे पञ्च पशवो विभक्ताः
गावो अश्वाः पुरुषा अजावयः।

हे मनुष्य ! ये पांच पशु तेरे विशेष तौर पर भक्त हैं, जो कि तेरी सेवा के लिए सर्वदा तत्पर रहते हैं। ये पांच पशु गाय, घोड़ा, मनुष्य, बकरी और भेड़ हैं।

इनमें से गाय और बकरी घी दूध की खान हैं, जो कि मनुष्य के भोजन के मुख्य व आवश्यक पदार्थ हैं। घोड़ा क्षात्रशक्ति के निर्माण में मुख्य सहायक है और राज्यशक्ति का एक प्रधान अंग है। भेड़ तन ढकने के लिए वस्त्र पैदा करने का साधन है। और मनुष्य मनुष्य के सुख दुःख का साथी व संगी है। अतएव वह मनुष्य समाज व राष्ट्र सर्वथा हीन तथा अधोगति को प्राप्त करता है जिसके व्यक्तियों में संगठन नहीं, एकता नहीं, सहकारिता नहीं और प्रेम बन्धन नहीं। इसीलिए भगवान गौतम बुद्ध अपनी शिक्षाओं में और विशेषतः अपनी मृत्यु के समय अन्तिम आदेश में यही बलपूर्वक कह गए कि ऐ मेरे अनुयायियो ! यदि तुम्हारे में संग शक्ति विद्यमान रहेगी तो तुम्हारी विजय पताका दिग्दिगन्तर में फहराती रहेगी, अन्यथा तुम नष्ट भ्रष्ट हो जाओगे। अतएव नित्यप्रति प्रातः स्मरणीय त्रिशरणों में एक शरण 'संघं शरणं गच्छामि' का भी निर्देश किया गया है।

एवं, उपर्युक्त पांच पशु सब से पहले और आवश्यक तौर पर पालन व रक्षा करने योग्य हैं। इनकी पूर्ण रक्षा में किसी तरह की बाधा उपस्थित न होने पर ऊंट, हाथी आदि अन्य पशुओं की रक्षा व पालन करने का विधान है।

इन पांचों में से प्रत्येक पशु के पालन के लिए फिर पृथक् पृथक् तौर पर वेदों के अनेक स्थलों में में आदेश दिए गए हैं। इनमें से दिग्दर्शन के तौर पर गोपालन पर कुछ इशारा मात्र किया जाता है।

ऋग्वेद के ६ ठे मण्डल का २८ वां सूक्त गोसूक्त है, जिसमें गाय का ही वर्णन है। उसके चौथे मन्त्र में दर्शाया है कि "उन गौओं को सूअर और कुत्ता आदि खाने वाला हिंसक चाण्डाल नहीं प्राप्त कर सकता और नाही वे गौएं कसाई खाने में ले जाई जाती हैं, प्रत्युत यज्ञ करने वाले द्विज मनुष्य की वे गौएं विस्तीर्ण और निर्भय प्रदेश में यथेच्छ निःशंक विचरती हैं" गोरक्षा सम्बन्धी ऐसी वेदाज्ञा किस कारण से है, इसका उत्तर निम्न ६ ठे मंत्र में मिलता है—

यूयं गावो मेदयथा कृशंचिद्,
अश्रीरं चित् कृणुथा सुप्रतीकम्।
भद्रं गृहं कृणुथ भद्रवाचो,
बृहद्वो वय उच्यते सभासु॥

गौएं निर्बल को सबल और कान्ति हीन निस्तेज को सुरूपवान बनाती हैं। ये मांगलिक शब्द करने वाली गौएं गृहस्थी के घर को सुखधाम बनाती हैं और राज्यसभाओं में इन के द्वारा उत्पन्न दूध घी अन्नादि भोजन सामग्री को अधिकतया बखाना जाता है।"

एवं, उपर्युक्त मन्त्र से बतलाया कि गौओं का पालन व रक्षण इसलिए करना चाहिए कि इनके कारण मनुष्य बलशाली, सुन्दर सुखी और अन्नादि उत्तमोत्तम भोजन सामग्री से परिपूर्ण होता है।

इसी सचाई को गौतम बुद्ध ने अपने ग्रन्थ 'सुत्त-निपात' में दर्शाया है। वहां वर्णन आता है कि एक समय बुद्ध के पास कुछ ब्राह्मण आए और यह प्रसंग

चला कि प्राचीन काल में आर्य ब्राह्मणों के धर्म क्या थे ? उसी प्रसङ्ग में गौतम ने कहा कि प्राचीन आर्य-लोग गोवध कभी न करते थे प्रत्युत गोरक्षा करना अपना परम कर्तव्य समझते थे। वहां एक गाथा इस प्रकार है—

अन्नदा बलदा चेता वन्नदा सुखदा तथा।
एतं अत्थवसं ञत्वा नास्सु गावो हनिंसुते ॥

अर्थात "ये गौएं अन्न देने वाली, बल देने वाली सुन्दरता देने वाली और सुख देने वाली हैं—इस बात को जानकर वे लोग गौओं का बध कभी न किया करते थे।"

जो अनार्य लोग गौओं की रक्षा नहीं करते प्रत्युत उनका बध करते हैं; उनके लिए अनेक तरह के दण्ड विधान हैं। उनमें से एक दण्ड विधान यह है—

किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु गावो,
नाशिरं दुह्रे न तपन्ति घर्मम्।
आनो भर प्रमगन्दस्य वेद:,
नैचाशाखं मघवन् रन्धया न: ॥

अनार्य देशों में गौएं रखने से कोई लाभ नहीं, क्योंकि वे अनार्य लोग न तो उन गौओं का दूध दोहते हैं और न यज्ञों के लिए गोघृत को तपाते हैं। इसलिए राजा का कर्तव्य है कि वे उन प्रमादियों व सूद खोरों से समस्त धन व गौएं छीन ले और आर्यों में वितरित कर दे, एवं नीच कुल को बढ़ाने वाले उन दुष्टों को सब तरह से अपने काबू में रखे या उन्हें कुचल दे। गोरक्षा के प्रसंग में 'गोघ्न' शब्द पर भी कुछ विचार कर लेना आवश्यक जान पड़ता है। 'पाणिनि' ने 'दाशगोघ्नौ सम्प्रदाने' सूत्र से सम्प्रदान अर्थ में 'गोघ्न' की सिद्धि की है और ब्राह्मणादि ग्रन्थो में यह शब्द अतिथि के लिए प्रयुक्त हुआ है। इसे देखकर अनेक प्राच्य और पाश्चात्य विद्वान् यह परिणाम निकालते हैं कि प्राचीन आर्य लोग अतिथि को गोमांस खाने के लिए दिया करते थे। परन्तु यह उनकी सरासर एकबड़ी भूल है, वेदमें इसी तरह का 'हस्तघ्न' शब्द प्रयुक्त हुआ है, जिस का अर्थ हाथ में पहरने वाला दस्ताना है। निरुक्ता-चार्य यास्क ने यही अर्थ अपने ग्रन्थ मे किया है। हस्ते हन्यते प्राप्यते धार्यते इति हस्तघ्नः। एवं, जिस प्रकार 'हस्तघ्न' मे 'हन' धातु हिंसार्थक न होकर 'गत्यर्थक है, इसी प्रकार 'गोघ्न' मे भी 'हन' धातु हिंसार्थक नहीं, प्रत्युत गत्यर्थक ही है। तब गोघ्न का अर्थ यह होगा—गां घ्नन्ति प्राप्नुवन्ति अस्मै इति गोघ्नः। जिसके लिए गृहस्थ लोग गाय को प्राप्त करते हैं और उसकी रक्षा करते हैं, उस गोरक्षक को अतिथि कहा गया है, गोभक्षक को नहीं।

विवाह-संस्कार के विधान मे गोदान भी एक आवश्यक विधान है। उसकी ओर निर्देश करके कहा गया है कि प्रत्येक गृहस्थ के लिए गोसंरक्षण आतिथ्य सत्कार के लिए आवश्यक है।

—:o:—

वेद में स्वराज्य का उपदेश

लेखक—श्री० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, संपादक वैदिकधर्म, औंध जि० सितारा
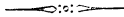
१

भद्र मिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपसे दुरग्रे। ततो राष्ट्रं बल मोजश्च जातं तदस्मै देवा उप संनमन्तु ॥ अथर्व १९।४१।१

(स्वः-विदः ऋषयः) आत्मज्ञानी ब्रह्मनिष्ठ ऋषियों ने भद्रं इच्छन्तः जनता का कल्याण करने की इच्छा करके अग्रे तपः दीक्षां उपसेदुः) आरम्भ में तप और दीक्षा का अनुष्ठान किया। (ततः राष्ट्र) उस तप से राष्ट्र बना और उसी से (बलं ओज च जातं) बल और पराक्रम भी प्रकट हुए। (तत् अस्मै) अतः इसके लिए (देवा. उप सं नमन्तु) सब दैवी संपत्तिसे युक्त लोग समीप जाकर एक होकर नमन करे।

२

नाम नाम्ना जोहवीति पुरा सूर्यात्पुरोपस । यदजः प्रथमं संबभूव, स ह तत्स्वराजमियाय। यस्मान्नान्यत्परमस्ति भूतम् ॥ अथर्व १०।७।३१

(यत् सूर्यात् पुरा) जो सूर्योदय होने के पूर्व तथा (उषसः पुरा) उषः काल के भी पूर्व (नाम नाम्ना जोहवीति) ईश्वर का नाम उसके यश के साथ लेता है अर्थात् ईश्वर भजन करता है तथा जो (प्रथमं सं बभूव) सब के प्रथम संघटित होता है (सः अजः ह) वही हल-चल करने वाला (तत् स्वराज्यं इयाय) उस स्वराज्य को प्राप्त करता है (यस्मात् अन्यत्) जिससे दूसरा (परं भूतं न अस्ति) श्रेष्ठ कोई बना नहीं है।

३

आ यद्वामीयचक्षसा मित्र वयंच सूरयः ।
व्यचिष्ठे बहुपाय्ये यतेमहि स्वराज्ये ॥
ऋग्वेद ५।६६।६

हे [ईयचक्षसौ] विस्तृत दृष्टि वालो ! हे (मित्र) सब के साथ मित्रता करने वाले, (यत् वां) आप दोनो और (वयं च सूरयः) हम सब विद्वान् मिलकर (व्यचिष्ठे बहु पाय्ये स्वराज्ये) विस्तृत और बहुतोंद्वारा पालन किये जाने वाले स्वराज्य में (यतेमहि) यत्न करेंगे।

४

अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानां। तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीं ॥ मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणिति य ईं शृणोत्युक्तम् ।

अमन्तवो मां त उपक्षयन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धिवं ते वदामि ॥

ऋग्वेद १०। १२५। ३-४

[अहं राष्ट्री] मैं राष्ट्रीय महाशक्ति हूँ। मैं [यज्ञियानाम् प्रथमा] पूजनीयोंमे मैं सबसे प्रथम पूजने योग्य हूँ। मैं [वसूनां संगमनी] धनों को प्राप्त कराने वाली हूँ तथा [चिकितुषी] ज्ञान बढ़ाने वाली भी मैं ही हूँ। अतः (देवाः तां) दैवी सपत्ति वाले लोग उस [भूरि-आवेशयन्तीं] बहुत आवेश उत्पन्न करने वाली और [भूरि-स्था-त्रां] बहुत स्थानो में रह कर रक्षा करने वाली मुझ शक्ति को [पुरुत्रा वि-अदधुः] बहुत प्रकार विशेष रीति से धारण करते हैं।

[यः मया उक्तं शृणोति] जो मेरा कहा हुआ सुनता है और [यः विपश्यति] जो विशेष रीति से देखता है। (सः अन्नं अत्ति) वही अन्न खाता है और वही [प्राणिति] जीवित भी रहता है। [मां अमन्तवः] मेरा निरादर [करने वाले लोग [ते उपक्षयन्ति] विनाश को प्राप्त होते हैं। [हे श्रद्धिवम् श्रुत] हे श्रद्धा-

वान् ज्ञानी मनुष्य ! [ते वदामि, शृधि] तुझे ही यह कहती हूँ, तू श्रवण कर ॥

५

स विशोऽनुव्यचलत् । तं सभा च समितिश्च सेना च सुरा चानुव्यचलन् ॥ अथर्व० १५ । १ ।१-२

[सः] वह राजा (विशः अनुव्यचलत्) प्रजाओं के अनुकूल होकर चलने लगा, तब (तं सभा च समिति च) उसके अनुकूल सभा समिति (सेना च सुराच अनु व्यचलन्) सेना और धनकोश अनुकूल होकर चलने लगे ।

(६)

विराड् वा इदमग्र आसीत् । सोदक्रामत् ।
सा सभायां न्यक्रामत् । सोदक्रामत् ।
सा समितौ न्यक्रामत् । सोदक्रामत् ।
साऽमंत्रणे न्यक्रामत् ।

अथर्व० ८ । १० । १-१२

(अग्रे) जगत् के प्रारम्भ मे (इदं वि-राज् वै आसीत्) यह एक राज-विहीन प्रजा शक्ति थी। [सा उत् अक्रामत्] वह उत्क्रान्त हुई। [सा सभायां न्यक्रामत्] वह ग्राम सभा में परणत हुई। [सा उत् अक्रामत्] वह फिर उन्नति हुई और [सा समितौ न्यक्रामत्] वह राष्ट्रीय समिति मे परिणत हुई (सा उत् अक्रामत्) वह फिर उन्नत हुई और [सा आमंत्रणे न्यक्रामत्] वह मन्त्री मण्डल मे परिणत हुई। इस तरह राष्ट्र शक्ति सुसंगठित हो गई है।

ये मन्त्र स्वयं स्पष्ट हैं अत इनका अधिक विवरण करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

अभयं मित्रादभय ममित्रा दभयं ज्ञाता दभयं परोक्षा दभयं नक्त मभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु—

मित्र और अमित्र परिचित और अपरिचित रात और दिन सभी ओर से मुझे अभय प्राप्त हो। सब दिशायें मेरी मित्र हो।

ॐ तत्सत्

वेदों का मुख्य तत्त्व

आदान-प्रदान

ले०— श्री पं० नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ

पाश्चात्य विद्वान् वेदों के विषय में अपना मत यह प्रकट करते हैं, और वह भी तिरस्कार और उपहास बुद्धि से, कि वेदों में आदान-प्रदान = लेदे = अर्थात् वैश्य वृत्ति की बात के अतिरिक्त और है ही क्या ? अग्नि, वायु, आदित्य आदि देवताओं को उद्देश करके यज्ञ करते रहो, द्रव्य त्याग करते रहो और उनसे मांगते रहो और वे प्रतिफल मे कुछ न कुछ देते ही रहेंगे । यज्ञ यागादि भी देवताओं के साथ एक प्रकार का सौदा ही है । उनको कुछ नहीं दोगे तो वे भी कुछ नहीं देंगे इत्यादि ।

चाहे पाश्चात्य विद्वान् वेदों के तत्त्व को भली भांति न समझ कर उपहास बुद्धि से भले ही कुछ कह डालें किन्तु वैदिक आदान-प्रदान कोई उपहास की वस्तु नहीं है। वह तो एक प्रत्यक्ष सिद्ध अनुभव है। यह समस्त संसार ही आदान-प्रदान पर स्थित है। वैदिक देवता अग्नि, वायु, आदित्य, अथवा इनके उप विभागों को लेकर जो संख्या मे तेहतीस होते हैं आदान-प्रदान के लिये ही बनाये गये हैं। ऋतु चक्र, संवत्सर चक्र भी आदान-प्रदान के लिए ही है। यज्ञ चक्र भी आदान-प्रदान की रीति को ही बतलाते हैं। अन्न से प्राणिमात्र की उत्पत्ति है, पर्जन्य से अन्न की उत्पत्ति, यज्ञ से पर्जन्य की उत्पत्ति, कर्म से यज्ञ की उत्पत्ति, कर्म की वेदो से, वेदो की ब्रह्म से इस प्रकार चक्र चलता रहता है। गीता में यही अर्थ स्पष्ट किया गया है।

> अन्नाद्भवन्ति भूतानि,
> पर्जन्यादन्न संभवः ।
> यज्ञाद्भवति पर्जन्यः,
> यज्ञः कर्म समुद्भवः ॥
> कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि,
> ब्रह्माक्षर समुद्भवम् ॥
> तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म,
> नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥
> (गीता—३—१४, १५

संवत्सरचक्र की बात भी ऐसी है—

> सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रं,
> एको अश्वो वहति सप्तनामा ।
> त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं,
> यत्रेमा विश्वा भुवनानि तस्थुः ॥
> (ऋग्वेद)
> पञ्चारे चक्रे परिवर्त्तमाने, (ऋग्वेद)
> द्वादशारं न हि तज्जराय (ऋग्वेद)
> द्वादश प्रधयश्चक्रमेकम् (ऋग्वेद)

इन मन्त्रों में संवत्सर चक्र का सुन्दर वर्णन है। दिन रात्रि के चक्र का वर्णन निम्न लिखित वेद मन्त्र मे आया है—

> तस्मिन्त्साकं त्रिशता न शङ्कवः,
> अर्पिता षष्टिर्न चला चलासः ॥ (ऋक्)

इसका अभिप्राय यह है कि इस संवत्सर चक्र में ३६० कीलें ठुकी हुई हैं अर्थात् ३६० दिन हैं। रात दिन पृथक् पृथक् माने जायँ तो ७२० कीलें हैं। इस संवत्सर रूपी चक्र की नाभि मे छह आरे लगे हुए हैं अर्थात छह ऋतुएँ हैं । इसमे पाँच आरे हैं अर्थात् हेमन्त और शिशिर ऋतु को मिलाकर = एक मान लेने से पाँच ऋतु रहते हैं। इस संवत्सर चक्र का प्रवर्तक सूर्य है जिसके सात अश्व इस चक्र के रथ को खेंचते रहते हैं, यह केवल आदान-प्रदान के आधार पर ही कहा गया है—

देवों में भी आदान-प्रदान होता रहता है। अग्नि अन्य देवताओं के पास पहुँचाता रहता है, अन्य देवता अग्नि के पास पहुंचाते रहते हैं—

"समानमेतदुदकम्, उच्चैत्यवचाहभिः।
भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति, दिवं जिन्वन्त्यग्नयः॥"
वैश्वानरो यतते सूर्येण।

इत्यादि उपर्युक्त मन्त्रो से यह स्पष्ट है देवता परस्पर भी आदान-प्रदान करते रहते हैं। सूर्य यदि नीचे से जल खेंचता है तो सहस्र गुण दे भी देता है। गीता अध्याय ३ में दो श्लोकों में सब कुछ स्पष्ट किया गया है—

देवान्भावयतानेन,
ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः,
श्रेयः परमवाप्स्यथ॥
इष्टान्भोगान् हि वो देवाः,
दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो,
यो भुङ्क्तेस्तेन एव सः॥

तुम देवो को प्रसन्न करो, वे तुम्हे प्रसन्न करेंगे इस प्रकार परस्पर प्रसन्नता से ही कल्याण होगा। इसी प्रकार से देव तुम्हे इष्ट भोग प्रदान करेंगे। इनकी दी हुई वस्तु को इन्हे न सौंपोगे तो चोर कहलाओगे—

प्रकृति तथा उसके संचालक देवो का अनुकरण करके मनुष्यो को भी परस्पर आदान-प्रदान करते रहना चाहिए जिससे परस्पर का कल्याण हो—नहीं तो हम स्तेन=चोर कहलायेगे।

ज्ञान का प्रतिनिधि ब्राह्मण
बल तथा रक्षा का प्रतिनिधि क्षत्रिय
धन, श्री, लक्ष्मी का प्रतिनिधि वैश्य
सेवा का प्रतिनिधि शूद्र—

इस प्रकार मनुष्य समाज चार विभागो मे विभक्त है। यदि परस्पर आदान प्रदान होता रहे, नियम पूर्वक होता रहे, कर्त्तव्य समझकर होता रहे तो संसार मे कभी भी अशान्ति नहीं रह सकती—संसार में परस्पर के गुणों से परस्पर की कमी की पूर्ति हो सकती है—आज संसार मे अत्यन्त अशान्ति हो रही है, इसी लिए कि, ज्ञान, बल, रक्षा, श्री, लक्ष्मी, सेवा इत्यादि का ठीक ठीक आदान प्रदान नहीं हो रहा है—

वेद मे (यजुः) आदान प्रदान का सुन्दर रूप बतलाया है। उस प्रकार का आदान प्रदान चल पड़े तो फिर संसार सुखधाम बने, फिर कोई किसी के अधिकार न छीनें, फिर कोई किसी पर अत्याचार न कर सके, फिर किसी को किसी को शिकायत न रहे—वह मन्त्र यह है,—

देहि मे, ददामि ते,
नि मे देहि, नि ते दधे॥
नीहारं च हरासि मे,
नीहारं निहराणि ते॥

हे भ्रातः यदि जो वस्तु मेरे पास नहीं है और तेरे पास है मुझे दे देगा, तो मैं भी उस वस्तु को तुझे दूंगा जो मेरे पास है और तेरे पास नहीं है। भ्रातः क्या तुम मेरे भाग मे से कुछ लेना चाहते हो? तो स्मरण रक्खो कि जब मुझे किसी वस्तु की आवश्यकता पड़ेगी तो मै उस वस्तु को तुमसे लेलूंगा जो तुम्हारे पास है किन्तु मेरे पास नहीं है।

आज संसार इस वैदिक पवित्र सिद्धान्त से कोसों दूर है। जिससे पास जो वस्तु है अथवा पहुँचगई है अथवा पूर्व जन्म फल के अनुसार विशेष रूप से मिली है उसको वही दबा बैठा है। यह भी हुआ सही, अपना अपने पास रहता ही है, दूसरे की वस्तु पर भी बल, अन्याय, अत्याचार पूर्वक अधिकार कर बैठते हैं। बहुत लेते हैं और प्रतिफल मे कम देना चाहते है। इस विषम आदान प्रदान में संसार किस प्रकार सुखी रह सकता है। जिसको जितनी आवश्यकता है उतने से अधिक जितना भी बचा रहे वह सब दूसरों के लिए हैं ऐसा समझ संसार की प्रवृत्ति हो तो फिर दुःख, क्लेश, परस्पर कलह, अत्याचार, अनाचार बल पूर्वक अधिकार आदि देखने को भी नहीं मिलेंगे।

प्रकृति का आदान प्रदान एक सर्वशक्तिमान् न्यायकारी नियन्ता के हाथ मे है इसी लिए उस कार्य

में विषमता नहीं, देवताओं का आदान प्रदान भी उसी नियन्ता के संकेतानुसार होता रहता है इसी लिए वहाँ भी विषमता का नाम नहीं। केवल मनुष्य समाज में ही मनुष्यों का स्वार्थ विषमता कराता रहता है। जब उसके स्वार्थ की सीमा नहीं रहती तभी अशान्त हो जाती है। यह नियम व्यष्टि और समष्टि रूप में सर्वत्र दिखलाई पड़ रहा है—

संसार के मान चित्र पर दृष्टि डाल कर देखिये कि क्या क्या अनर्थ हो रहे हैं और क्यों हो रहे है, उन उन राष्ट्रों का स्वराज्य, साम्राज्य, अधिराज्य, महाराज्य होने पर उनका देश उनका राष्ट्र क्यो असन्तुष्ट हैं—दूसरे छोटे छोटे राष्ट्रों को क्यो निगल रहे हैं। स्वस्वार्थ के लिए अन्य देश, राष्ट्र, जनपदो को सदैव के लिए दास्य शृङ्खला में जकड़ रखने के लिए क्यो चिन्तित हैं। सब की जड़ में स्वार्थ है, सबकी जड़ मे आदाम प्रदान की विषमता है। इन राष्ट्रों के परस्पर विरोधी स्वार्थ के कारण एक प्रकार विषमता को मिटाने के लिए दूसरे प्रकार की विषमता उत्पन्न हो रही है, उनको मिटाने के लिए तीसरे प्रकार की विषमता चल पड़ती है। स्वार्थ मूलक आदान-प्रदान, विषमता पूर्वक किया आदान-प्रदान संसार को विषम स्थिति में पहुँचा रहा है।

संसार वैदिक आदर्श के पीछे चलने लगे तो शान्ति ऋद्धि—समृद्धि मिल सकती है अन्यथा नहीं—वेद की जिस बात को पाश्चात्य विद्वान् उपहास पूर्वक कहते हैं वही बात संसार को सुख समृद्धि देने वाली है इस बात को वे जितने शीघ्र समझलेंगे उतना ही अच्छा है। कहाँ का इटली और कहाँ का एबिसीनिया तो भी इटली उसकी गर्दन पर सवार होना चाहता है। कहाँ का इंग्लैण्ड और महां का भारतवर्ष तो भी वह भारत को अपने स्वार्थपूर्ति का साधन बना रहा है, उसके हितसम्बन्धों की ओर ध्यान नहीं दे रहा है। भारत के बल पर समस्त संसार को मनमाना नाच नचा रहा है। अमरीका वासी रेड इण्डियनो को चैन से नहीं बैठने देता, उनको हर प्रकार से नष्ट कर रहा है, रूस केवल मजदूर किसानो का ही भला सोचता रहता है, अन्यो को नष्ट कर रहा है। पूंजीपति, सरदार, राजे आदि का अत्याचार गया तो किसान और मजदूरों का अत्याचार चल पड़ा—जापान कोरिया को निगल गया, मंचूरिया को दबा बैठा और चीन को दबोच रहा है। इसी प्रकार अन्यों की कथा है। यह सब केवल इसी लिए हो रहा है कि आदान-प्रदान की कथा ही जाती रही। कहीं आदान अधिक और प्रदान न्यून, कहीं आदान ही आदान और प्रदान का नाम नहीं—समस्त दुःखो का मूल यही है। भारत-वर्ष मे प्रदान अत्यधिक और आदान अत्यन्त न्यून इसी लिये दीन, हीन, पराधीन परिस्थिति मे पड़ा हुआ है। आदान प्रदान की इस गूढ मीमांसा को जो व्यक्ति, राष्ट्र, महाराष्ट्र देश, जानपद समझेगा वही चिर काल सुखी रहेगा। वेद ने मनुष्यमात्र के कल्याण के लिए

देहि मे ददामि ते

का मार्ग बतलाया है। आजकल संसार उन-उन देशो के राज्य नियम अथवा राष्ट्र-नियमो से पालित हो रहा है किन्तु वेदपालित नहीं ही रहा है इसीलिए संसार के समस्त ऐश्वर्यों से युक्त होने पर भी कोई राष्ट्र सुखी नही है। उनकी आसुरी प्रवृत्ति उनको धीरे धीरे मिटाती जा रही है। परमात्मा के परम अनुग्रह से संसार के लोग आदान प्रदान की विधि जानें यही हार्दिक अभ्यर्थना है। तथास्तु, एवमस्तु, परेशो मंगलं विभावयतु।
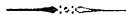
वेद-वैभव

साहित्यरत्न प० अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध

(प्रोफेसर, हिन्दू-विश्वविद्यालय, काशी)

[शार्दूलविक्रीडित]

छाया था जब अन्धकार भव म, ससार था सुप्त सा ।
ज्ञानालोक विहीन ओक सब था विज्ञान था गर्भ मे ॥
ऐसे अद्भुत काल में प्रथम ही जो ज्योति उद्भूत हो ।
ज्योतिर्मान बना सकी जगतको, है वद विद्या-वही ॥१॥

नाना देश अनेक पन्थ मत में है धर्म धारा बही ।
फैली है समयानुसार जितनी सद्वृत्ति ससार में ॥
देखे वे बहु पूत भाव जिनसे भू में भरी भव्यता ।
सोचा तो सब सार्वभौम हित के सर्वस्व हैं वेद ही ॥२॥

मूसा की वह दिव्य ज्योति जिसमे है दिव्यता सत्य की ।
सच्चिन्ता जरदस्त की सदयता उद्बुद्धता बुद्ध की ॥
ईसा की महती महानुभवता पैगम्बरी विज्ञता ।
पाती है विभुता विभूति जिससे, है वेद-सत्ता वही ॥३॥

नाना धर्म विधान के विलसते उद्यान देखे गये ।
फूले थे जितने प्रसून उनमे स्वर्गीय सद्भाव के ॥
फैली थी जितनी सुनीतिलतिका, थे बोध पौधे लसे ।
जाँचा तो श्रुतिसारसूक्तिरस से वे सिक्त होते सभी ॥ ४ ॥

देखे ग्रन्थ समस्त पन्थ मत के, सिद्धान्त बातें सुनीं ।
नाना वाद विवाद पुस्तक पढ़ीं, संवाद वादी बने ॥
जाँची तर्क वितर्क नीति युक्तिता, व्याख्या कुतर्कादि भी ।
तो जाना सर्वज्ञता जगत की है वेद-वैदग्धता ॥५॥

उद्बोधन

रचयिता—श्री० प्रो० मनोरञ्जन, एम० ए० हिन्दूविश्वविद्यालय, (काशी)

उठ, जाग, दिवाकर हुआ भोर।
रजनी का बीता तिमिर घोर॥
निज निज नीड़ों से निकल निकल।
पक्षी गण करते मृदुल शोर॥ १॥

निशि की अँधियाली भाग गई।
ऊषा की लाली जाग गई॥
जग उठा विश्व, चर अचर जगे।
जागी जीवन की ज्योति नई॥ २॥

यह देख दक्खिनी पौन चला।
उठ अब पूरब में आग जला॥
यह हवन कुंड सा धधक उठे।
हो अनुपम सुन्दर दृश्य भला॥ ३॥

यह अग्नि शिखा सुविशाल उठे।
प्राचीनभ हो अति लाल उठे॥
घर घर वन वन मे धक धक कर।
इस हवन शिखा की ज्वाल उठे॥ ४॥

फिर वेदों की हुँकार उठे।
वह पावन मन्त्रोच्चार उठे॥
हो दिग दिगन्त में व्याप्त पुन।
ऐसी गम्भीर पुकार उठे॥ ५॥

फिर पूर्वकीर्त्ति का ध्यान जगे।
ऋषि मुनियों का अभिमान जगे॥
हे पराधीन पददलित आज।
फिर से यह आर्यस्थान जगे॥ ६॥

फिर इन्द्र, वरुण, रवि सोम जगे।
घर घर में फिर से होम जगे॥
इस आर्यदेश की भूमि जगे।
इस आर्यभूमि का व्योम जगे॥ ७॥

रावी सतलज से गान उठे।
यह सोया आर्यस्थान उठे॥
गंगा जमुना के तट से फिर।
वह स्वतन्त्रता की तान उठे॥ ८॥

फिर ऋषियों की सन्तान उठे।
अपना सुषुप्त अभिमान उठे॥
फिर म्लेच्छनिवह निधने कठोर।
वीरों की कठिन कृपाण उठे॥ ९॥

यह अन्धकार का जाल हटे।
यह दैन्य दैत्य विकराल हटे॥
दासता हटे, सब दुख कटे।
सर से सारा जंजाल हटे॥ १०॥

हम अमृतपुत्र यह ध्यान रहे।
अपनेपन की पहचान रहे॥
हम अजर, अमर, फिर भय कैसा?
हुँकार उठे, जयगान रहे॥ ११॥

उठ जाग, दिवाकर, हुआ भोर।
पक्षी गण करते मृदुल शोर॥
फिर वेदों का सन्देश सुना।
बीता रजनी का तिमिर घोर॥ १२॥

वेद प्रचार का एक साधन

ले०—श्री रा० सा० मदन मोहन सेठ प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा यू.पी. (बदायूं)

आर्यमहिला प्रचार संघ

आर्यसमाज मे वेदो की ओर अधिकाधिक रुचि बढ़ती प्रतीत होती है—यह प्रसन्नता की बात है। पत्रो के वेदांक तथा वेद सम्बन्धी अनेक लेख प्रकाशित किये जा रहे है। आर्यसम्मेलनो मे—आर्यपुरुषो मे यही विचार है कि वेद-प्रचार—जो आर्य संस्कृति की रक्षा का मूल आधार है—किस प्रकार किया जावे। इतना सब होते हुये भी वेद-प्रचार मे पर्याप्त सफलता नहीं हो रही है। इसका क्या कारण है ?

मुझे तो यह प्रतीत होता है कि हमारे समाज के एक आवश्यक अंग स्त्री समाज—मे कुछ विशेष प्रचार कार्य नहीं हो रहा है इसलिए वेद प्रचार का सम्पूर्ण आन्दोलन केवल पुरुष समाज तक ही सीमित है। वैदिक धर्म का प्रभाव स्त्री समाज पर 'नहीं' के बराबर पड़ा है। बड़े बड़े आर्य पुरुषो और आर्य नेताओ के परिवारो की गृह देवियाँ और सन्तानें वैदिक धर्म तथा आर्य विचारा से दूर है, उनके परिवार अभी तक आर्य परिवार नहीं बन पाये हैं। जो महिलायें शिक्षित कहलाती हैं, उनके अन्दर पश्चिमीय शिक्षा-प्रणाली के कारण, वैदिक धर्म की दृष्टि से, नारीत्व का उन्नतम आदर्श कर्तव्य-परायणता, त्याग और तपस्या का भाव कम होता जाता है। इस प्रकार का अव्यवस्थित व एकाङ्गी समाज क्या अपने उद्देश्य मे कभी सफल हो सकता है ?

इसलिये आवश्यक है कि आर्य महिलाये अपना संगठित संघ स्थापित करें और स्त्रियों मे प्रचार का कार्य अपने हाथों मे लें। प्रत्येक नगर मे यदि १०-२० भद्र महिलायें भी सन्नद्ध होकर ईसाई स्त्री मिशनरिओ के ढंग पर परिवारो मे जा जाकर आर्य आचारो विचारो का नियमित रूप से प्रचार करें तो बहुत थोड़े समय मे ही कुछ ठोस कार्य हो सकेगा और आर्यसमाज की शक्ति और संगठन भी बहुत कुछ दृढ़ हो जायगा।

दूसरी बात यह है कि हमारे पास अभी तक उत्तम वैदिक साहित्य नहीं है। युक्तिवाद प्रधान इस वैज्ञानिक युग मे वैदिक सभ्यता तथा वैदिक धर्म-प्रचार के लिये नये ढंग का उत्तम साहित्य प्रकाशित होना आवश्यक है। इस ओर जहां आर्य विद्वानो की रुचि कम है वहाँ सर्व-साधारण आर्य जनता का स्टैण्डर्ड भी बहुत गिर गया है। उत्तम आर्य साहित्य के स्वाध्याय की प्रवृत्ति भी बहुत कम होती जाती है—आर्यसमाज की प्रारम्भिक अवस्था मे प्रायः प्रत्येक व्यक्ति मे वैदिक-धर्म सम्बन्धी तथा अन्य मतो के सम्बन्ध में भी इतना साधारण ज्ञान तो रखना ही था कि आवश्यकता होने पर प्रत्येक आर्यपुरुष शास्त्रार्थ के लिये तैयार रहता था। अब हम परमुखापेक्षी हो गये हैं। हम लोग वेद-प्रचार वैदिक-साहित्य-प्रकाशन की बातें तो बहुत करते है पर उसका उचित प्रबन्ध नहीं कर पाते—परिणाम यह है कि पुराने वेद प्रचार के अनुपयोगी ढंग को बदलकर उसके स्थान में नये ढंग या क्रम को सञ्चालित करना सर्वथा असंभव हो रहा है।

मेरा 'दिवाकर' द्वारा आर्यपुरुषों से निवेदन है कि वे इस चिन्तनीय दशा की ओर ध्यान दे और उन्नत वैदिक साहित्य प्रकाशित करने का प्रबन्ध करें।

वेद और क्रियात्मक जीवन

लेखक— प्रोफेसर प्रीतमलाल ऐम. ऐस. सी. ऐल.ऐल. बी. ऐडवोकेट, मन्त्री, आर्य प्रतिनिधि सभा
संयुक्त प्रान्त, अलीगढ़

इस में सन्देह नहीं कि वेद सब सत्य विद्याओं का भंडार है, इसमें संशय वह ही पुरुष करते है अथवा कर सकते है जिन्होंने वेदों को न पढ़ा और न सुना, पढ़ने और सुनने में हमारा तात्पर्य विवेक तथा श्रद्धा पूर्वक स्वाध्याय और श्रवण से है। जिन सज्जनो ने श्रद्धा और ज्ञान से वेदों का स्वाध्याय किया है अथवा केवल श्रवण किया है उनको उसके उपदेश अमृत मय प्रतीत हुए हैं। पाठकों के लाभार्थ हम इन पंक्तियो द्वारा यह दिखाने का प्रयत्न करेंगे कि वेदों मे क्रियात्मक जीवन के लिये परमोपयोगी नियम दिये हुए है।

ऋजीते परि वृङ्ग्धि नोऽश्मा भवतु नस्तनूः।
सोमो अधि ब्रवीतुनोऽदितिः शर्म यच्छतु ॥
यजु० अ० २६ मं० ४६

अर्थ—हे परमात्मा! आप सरल व्यवहार मे हमारे शरीर से रोगों को पृथक् कीजिये, हमारे शरीर को दृढ़ कीजिये। उत्तम ओषधि और पृथिवी के सदुपयोग से हम सुख और घर प्राप्त करे।

इस मन्त्र द्वारा हमको अनेक शिक्षा मिलती हैं। (१) हमारा व्यवहार, जीवन सरल प्रकृति-अनुकूल होना चाहिए—हमारा भोजन, वस्त्र, रहन सहन देश-काल के अनुकूल सरल होना चाहिए। (२) सरल जीवन से हमारे शरीर रोगों से मुक्त होंगे और उनमें बल और शक्ति का संचार होगा।

(३) रोग निवारण के लिये उत्तम ओषधि से लाभ उठाना चाहिये।

(४) जो पदार्थ पृथ्वी पर हैं वह भोग्य है। हमको चाहिये कि पृथ्वी पर ऐसे दृढ़, सरल, और सुन्दर मकान बनावे, जैसा शरीर एक घर है।

(५) शरीर, निवास-गृह, नगर, और देश को सुन्दर, दृढ़ और पवित्र बनाना सुख का साधन होता है। इसमें प्रकृति के अटल नियमो का ध्यान रखा जावे, जो सरल और लाभदायक हैं।

आ क्रन्दय बलमोजो न आ धा निष्टनिहि दुरिता बाधमानः। अप प्रोथ दुन्दुभे दुच्छुना इत इन्द्रस्य मुष्टिरसि वीडयस्व ॥ यजु० अ० २६ मं० ५६ ॥

अधिकारियो का कर्त्तव्य है कि दुष्टों को दण्ड देकर वश मे करें, दुर्व्यसनो को दूर करके सुखो को प्राप्त करें और श्रेष्ठ पुरुषो का सत्कार करे।

दुर्व्यसन, दुष्ट कर्म, दुष्ट जनो पर विजय पाना कर्त्तव्य और उनसे विमुख होकर उदासीन होना भीरुता है। अत. यह मन्त्र शिक्षा देता है कि हमको सज्जन का आदर और दुष्ट को दण्ड देना चाहिये ताकि संसार मे पाप का क्षय और सुख की वृद्धि हो। और भी:-

यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह।
तं लोकं पुण्यप्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना ॥
यजु० अ० २०,२५

जहां ज्ञान और शौर्य मिल जुल कर साथ २ चलते हैं और जहां विद्वान् अग्रिणी के साथ रहते हैं, वहाँ (उस देश मे) पुण्य बुद्धि से प्राप्त होता है। अर्थात् जो पुरुष अपनी सद् बुद्धि से विचार करके बल से कार्य करता है वह अपने कार्य में सफल होकर सुख पाता है। समष्टि रूप मे जिस समाज अथवा देश के लोगो में विचार शील विद्वान् ब्राह्मण उत्तम मन्त्र देते हैं और क्षत्रिय लोग उस परामर्श से शौर्य और बल के साथ कार्य करते हैं वह समाज सुखी होती है और पुण्य की भागी होती है। एक स्थान पर उपदेश है।

संशितं मे ब्रह्म संशितं वीर्यं बलम्।
संशितं क्षत्रं जिष्णु यस्याहमस्मि पुरोहितः॥
यजु० ११—८१

अर्थ—मेरा ज्ञान तीक्ष्ण है। मेरा वीर्य और बल तीक्ष्ण है। जिसका मैं अग्रेसर हूं उसका विजयी शौर्य तीक्ष्ण है।

अर्थात ज्ञान, शौर्य, वीर्य, बल तेजस्वी होना चाहिए। इस प्रकार अनेक उपदेशामृत वेद भगवान में भरे पड़े हैं जो हमारे जीवन को पवित्र और सुख मय बना सकते है। इन्हीं उपदेशों से प्राचीन ऋषियों ने भारत को संसार का भूषण, संसार का गुरु और स्वर्ग बनाया—महर्षि दयानन्द ने उसी वेदामृत को पान करने और कराने का संसार को मार्ग बतलाया—क्या हम उस महर्षि के मार्ग पर चल कर ऋषि और ब्रह्म ऋण चुकावेंगे?

आर्यसमाज और वेदभाष्य

ले०—श्री द्वारकाप्रसादजी सेवक सरस्वती सदन मंसूरी

कोई चाहे कुछ भी कहे, कितना भी रुष्ट हो और चाहे जितना कुढ़े किन्तु यह ध्रुव सत्य है कि भारत वर्ष में कोई सम्प्रदाय, समाज, सोसाइटी, संस्था या समूह डींग हाँकने में आर्यसमाज से आगे नहीं निकल सकता है। इस विषय में यदि कभी पुरस्कार की घोषणा हो तो निश्चय ही आर्यसमाज को सेंट पर सेंट नम्बर और रत्न जड़ित स्वर्ण पदक समर्पित किया जावगा। यह ही उसका सर्वोच्च पात्र ठहरेगी।

वेदों का डंगा आलम में बजाने की डींग, संसार भर के मत और मजहबों को हजम कर जाने की डींग "कालिज" और गुरुकुलों से कणाद-कणाद तथा सीता-सावित्री पैदा करने की डींग, सर्वोत्तम संगठन की डींग और सारी विद्या बुद्धि की ठेकेदारी की डींग इत्यादि पचासों डींगे हैं जिनका मुकाबला करने वाला कम से कम भारतवर्ष में तो दूसरा नहीं है और शायद संसार भर में भी कोई न हो। भला इतनी किसकी शक्ति और सामर्थ्य है। आये तो हमारे सामने।

और सब डींगो को थोड़ी देर के लिये छोड़कर आज जरा वेदों के प्रचारक होने की आकाश को कंपाने वाली, पृथ्वी को डुलाने वाली और जगत भर को दहलाने वाली इनकी डींग पर विचार करना है।

यह प्रमाणित करने लिये किसी भी युक्ति की आवश्यकता नहीं है कि गत दो सहस्र वर्षों में ऋषि दयानन्द जैसा वेदों का भक्त, भाष्यकार और व्याख्याता भारतवर्ष में दूसरा नहीं हुआ। ऋषि का जीवन वेद थे, प्राण वेद थे, आधार वेद थे, आदर्श वेद थे, उद्देश्य वेद थे और वेद, एक मात्र वेद ही ऋषि का सर्वस्व थे। हम इस डींग हांकने में सब से अव्वल हैं कि हम ऋषि दयानन्द के अनन्य भक्त हैं और उनही के पद चिन्हों पर, उनके ही बताये पथ पर चल रहे हैं। जरा इस दावे की पड़ताल कीजिये।

आर्यसमाज की स्थापना हुए ६० वर्ष से ऊपर हो चुके हैं। बहुत बाद को स्थापित हुईं प्रतिनिधि सभाओं तक की अर्ध शताब्दी हो रही है। इस सुदीर्घ काल में हमने कितने वेदों के विद्वान पैदा किये हैं ? आज जो २-४ वेदों के विद्वान आर्यसमाज में हैं उनके बनाने में आर्यसमाज को कितना श्रेय है ? आगे १०-२० वर्ष में कोई वेदो के पंडित पैदा होंगे। इसके लिये ही हम क्या कर रहे हैं ?

ऋषि का वेद भाष्य अब तक भी अधूरा है। उनके समय के प्रकाशित भाष्य का द्वितीय संस्करण होना तो दूर रहा प्रथम संस्करण तक पूरा नहीं बिका है। ऋषि के स्थापित किये हुए वैदिक यन्त्रालय को रेलवे का काम छाप कर बड़ा यन्त्रालय बनने की जितनी चिन्ता और चेष्टा है उससे आधी भी यदि ऋषि की वसीयत पूर्ण करने की होती तो मालूम नहीं कितना काम हो गया होता।

श्री पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकरजी, महा-महोपाध्याय श्री पं० आर्यमुनिजी, पंडित प्रवर श्री शिवशंकरजी काव्यतीर्थ, श्री पं० क्षेमकरणदासजी त्रिवेदी, श्री प्रोफेसर राजारामजी और श्री पं० जयदेवजी के उद्योग सराहनीय है किन्तु इन उद्योगो से वेदो की कुछ महिमा बढ़ी है अथवा क्या उनका कुछ प्रचार हुआ है ? इन उद्योगों से भी इन महानु-भावों के व्यक्तिगत परिश्रम के सिवाय आर्यसमाज की सामूहिक शक्ति का क्या उद्योग है ? कितना सह-योग है ? शायद इनमे से भी किसी का ही कोई एक संस्करण समाप्त बिका हो।

गत ६० वर्षों से वेद वेद चिल्लाकर जमीन आसमान के कुलावे मिलाने वाले समाज मे किसी एक भी वेद की शुद्ध छपी हुई प्रति उपलब्ध न हो उस समाज की डींग हांकने के साहस पर मनस्वी विद्वान रक्त के आँसू न रोवे तो और क्या करे ? गम्भीर विचार शक्ति विद्वानो के मुख से जब यह सुना जाता है कि वैदिक यन्त्रालय के छपे हुए अत्यन्त ही अशुद्ध वेद समुद्र मे डुबो देने के योग्य हैं तो लज्जा से गर्दन झुक जाती है।

आर्यसमाज मे वेदों के पंडित भूखो मर रहे हैं, उनको तुकड़ भजनीको जितना भी मान सम्मान प्राप्त नहीं है। व्यवसाय कुशल वेद भाष्यकार और उनके प्रकाशक अपने कार्यों की प्रशंसा के पुल बांध रहे हैं और जो वास्तविक वेदो के पंडित हैं उनकी टके सेर भी पूछ नहीं है। चारो वेदो के भाष्यकार और प्रकाशक प्रसिद्ध होने की जितनी लालसा की जाती है उतनी वेदो पर परिश्रम करने की चिन्ता नहीं है। कहाँ की विद्या और कहां साधना, विचार और मनन की जरूरत ही क्या है। दिन भर मे ४० वेद मन्त्रो का भाष्य कर देना तो हमारे लिये खेल सा ही है। प्रकाशकजी यदि पुरस्कार देने मे कंजूसी न करते तो एक ही वर्ष मे चारो वेद तो क्या षट दर्शन, पचासो उपनिषद्, ३६ पुराण-उप पुराण और यन्त्र-तन्त्र, इतिहास, वैद्यक आदि सभी का अनु-वाद करके फेंक दिया होता। किन्तु भाग्य से प्रका-शक जी हम से भी अधिक व्यवसाय कुशल हैं।

यही वेद भाष्य है जिन के लिये विद्वान खिल्ली उड़ाया करते हैं और हम ऊट पटांग व्याख्या को आर्य समाज का वेद प्रचार, वेद भक्ति तथा वेद उद्धार कह कर लज्जित किया करते हैं।

हमे तो उस दिन यह जानकर आश्चर्य हुआ कि श्री वेद तीर्थ जी ने "वेदाङ्क" का सम्पादन करना स्वीकार कर लिया है। वेदो के महान विद्वान को राजनीति के सुविस्तृत क्षेत्र मे विचरण करने से ही फुरसत कहां है जो वह वेद के अथाह समुद्र मे गोता लगावें या थोड़ा भी ध्यान दे। और यदि कभी कुछ विचार भी करें तो आर्य-समाज मे निर्वाह ही असभव हो जाय। मान, प्रतिष्ठा तो गई भाड़ मे यहां तो उदर देव की ज्वाला की शान्ति के लिये भी किसी जड़ी-बूटी की खोज करनी पड़ती है। फिर वेद पर मनन हो तो क्यो कर ? विवश होकर वेदो के विद्वान रूठ गये, उदासीन हो गये, उपराम हो गये या दूसरे क्षेत्रो मे अपनी योग्यता, शक्ति और समय का उपयोग कर रहे है। यहां तो वेदो का डंका आलम मे मुन्शी जी, बाबूजी, तुकड़ाचार्य ओवर सियर, ठेकेदार, पोस्ट मास्टर, वकील साहिब, डाक्टर जी, कलाल महोदय और कम्पोजीटर महा-

शय बजा रहे हैं। बस बेड़ा पार है। स्वर्ग २,४ हाथ ही रह गया है और संसार का उद्धार हो ही चुका समझिये। कृत-कृत्य हो गये हम। ऋषि का मिशन पूरा हो गया और ईश्वर के सीधे हाथ बैठने के अधिकारी हो गये।

संयुक्त प्रान्त की प्रतिनिधि सभा के परम उत्साही वर्तमान प्रधान महोदय उद्योग कर रहे हैं। पञ्जाब की प्रतिनिधि सभा मे भी चर्चा है। सार्वदेशिक सभा भी मीठी नींद लेते-लेते कभी-कभी चौंक पड़ती है। परोपकारिणी सभा को तो असेम्बली की मेम्बरी के लिये उद्योग शील रहने और बी० बी० सी० आई० आर० की सेवा से ही फुरसत नहीं है, उसने तो ऋषि की वसीयत की सम्पूर्ण पूर्ति इसी महाव्रत मे समझ रखी है।

श्री स्वामी नित्यानन्द जी और श्री स्वामी विशेश्वरानन्द जी महाराज वैदिक कोष बनाते २ स्वर्ग सिधार गये, लाखों रुपया इस पर व्यय हो चुका है। अब यह विद्वानो के गहरे गढ़े मे पड़ा है। भगवान अपने वेदो की स्वयम् सुध लेंगे, कौन सिर दर्दी मे पड़े।

उचित होता कि और नही तो ऋषि के संस्कृत भाषा की शुद्ध आर्य भाषा करके ही छपा दी जाती। इसकी व्याख्या ही बड़ी विस्तृत हो सकती थी। किन्तु हमें फुरसत कहां है। पार्टी बन्दी, आपस के ईर्ष्या-द्वेष, गाली-गलोच, संस्थाओं के लिये भिक्षा देही और 'हम चुनी दीगरे नेस्त' की बू दिमाग से निकले तब तो कुछ वास्तविक काम-सेवा हो।

वेद पड़े भाड़ में और वेद भाष्य करें निठल्ले लोग उसे खरीदे धर्म भीरु। हम तो वाक्य शूर, प्लेट फार्म के सिंह, दिग्विजयी, कर्मवीर,चन्द्राचार्य आर्य समाजी हैं। मस्तक भञ्जन हमारे हाथ में है तनिक जबान खोली और वह मारा!!!

बोल वैदिक धर्म की जय!!!
और स्वामी दयानन्द की जय!!!

सौ बार धिक्कार है इस वेद भक्ति पर और फटकार है इस डींग हांकने पर। डूब मरने के लिये हमे और गहरे पानी की जरूरत नहीं है।

ईश्वर ही रक्षा करे तो हमारी रक्षा हो अन्यथा हमारे कर्त्तव्य और वक्तव्य की यह विषम भिन्नता हमे रसातल को ले जाने के लिये काफी से भी बहुत अधिक है।

(वेद समालोचना की प्रत्यालोचना)

ले०—श्री० पं० जियालालजी वर्मा प्रधान आर्यसमाज आगरा

श्री चम्पावती जैन पुस्तक माला के प्रकाशन विभाग द्वारा अम्बाला छावनी से पं० राजेन्द्रकुमार न्याय तीर्थ लिखित वेद समालोचना नामक पुस्तक प्रकाशित हुई है। इसमें जैन पं० ने वेद के ईश्वर कृत न होने की अनेक बातो मे एक यह बात भी कही है कि वेद अपौरुषेय नहीं—पद वाक्यात्मक होने से। अर्थात् जो-जो पद वाक्यात्मक होते है वे सब पौरुषेय (पुरुष कृत) हैं। जैसे रामायणादि पद वाक्यात्मक हैं। अत ये भी पुरुषकृत है। हमारा पद वाक्यात्मक हेतु असिद्ध नहीं है। क्योंकि यह वेद में मौजूद है। विरुद्ध नहीं, क्योंकि इसकी व्याप्ति अपौरुषयत्व के साथ नहीं और न पक्ष, सपक्ष, विपक्ष मे ही रहता है। अतः अनैकान्तिक नहीं। कोई प्रमाण पक्ष का बाधक नहीं, अत कालात्ययापदिष्ट भी नहीं। अपौरुषेयत्व का साधक समान बलवान साधक नहीं, अत. प्रकरणासम भी नहीं। अतः हमारा हेतु निर्दोष है और जब हेतु निर्दोष है तब सिद्ध करता है कि वेद पौरुषेय है। अत वेद को अपौरुषेय मानना ठीक नहीं।

(प्रत्यालोचना)—वेद मे पदों की वाक्यात्मक रचना का मूल ज्ञान मनुष्य कृत नहीं है क्योंकि प्रतिवादी (आर्य-समाज) की तरह वादी (जैन समाज) भी किसी जीव को पक्ष, सपक्ष या विपक्ष मे ऐसा नहीं मानता जो वाक्य रचना स्वय कर सकता हो। जैन मत मे जो ज्ञान प्राप्ति गुरु-शिष्य परम्परा प्रणाली से होना मानी गई है उसमे अनवस्था दोष स्पष्टतया विद्यमान है क्योंकि पदो की वाक्यात्मक रचना का ज्ञान कहां से आया इस प्रश्न का उत्तर जैनमत मे जीवमात्र के अनादि काल से अज्ञानी होने से अस्थिर है। इस कारण अनादि निरतिशय ज्ञानी जिसने कोई ज्ञान किसी एक भी अन्य व्यक्ति से नहीं सीखा हो प्रत्युत स्वयं ज्ञान स्वरूप हो, ऐसा व्यक्ति जिसे वेद प्रतिपादित करता है, अवश्य स्वीकार होना चाहिये। तभी अवस्था में हेतु के पांचो दोषो का वैदिक सिद्धान्त मे सहज में परिहार हो जाता है और अनवस्था दोष हट कर सुव्यवस्था हो जाती है। अन्यथा सब विचार तर्काभास के आधीन हो जाते है। यह इस प्रकार कि तीर्थङ्कर देव के कथित जैन सिद्धान्तों को किसी जैन पं० के अन्य पर प्रकट करने से इस पण्डितार्य की उस तीर्थङ्करत्व के साथ व्याप्ति हो जाती है जिससे तीर्थङ्कर देव की कुछ भी विशेषता नहीं रह जाती प्रत्युत सर्वसाधारण में समानता हो जाती है जो जैनमत को अनिष्ट है।

हेतु के पांचो दोषो का परिहार निम्न प्रकार है—

(१) जैन हेतु वेद पक्ष मे असिद्ध है क्योंकि एक भी जीव अब तक जैन पक्ष मे ऐसा नहीं माना गया है जो अनादि काल से अज्ञानी न हो। तब पदों की वाक्यात्मक रचना अनादि सान्त स्वरूप कृत हुई। रामायणादि की रचना वेद रचना की नक़ल का एक प्रकार है जैसे तीर्थङ्कर देव कथित जैन सिद्धान्त किसी समागी जैन द्वारा कथन किया जाय।

(२) जैन हेतु वेद पक्ष मे विरुद्ध भी है क्योंकि कोई मौलिक रचना अनादिकाल से अज्ञानी वा मूर्छित ज्ञान वाले या सादि सिद्ध स्वल्परागी के साथ व्याप्ति नहीं रखती तब वेद मे पदो की वाक्यात्मक रचना अनादि ज्ञान स्वरूप कृत हुई।

(३) जैन हेतु वेद पक्ष मे अनैकान्तिक भी है क्यो कि जीव की अनादिकालीन अज्ञानता सपक्ष में तथा अल्पज्ञता विपक्ष मे विद्यमान है इस कारण वेद के पदों की वाक्य रचना एक अनादि ज्ञान स्वरूप कृत सिद्ध है।

(४) जैन हेतु वेद पक्ष मे कालात्ययापदिष्ट भी है क्योंकि जैन मत के जीव मात्र अनादि काल के अज्ञानी है जिससे अनादि कालीन शिष्य भाव बाधक प्रमाण जैन मत मे विद्यमान है तथा विपक्ष मे ईश्वर का अनादि गुरु भाव विद्यमान है। इसलिये यह जैन हेतु का बाधक प्रमाण भी हुआ।

(५) वैदिक साहित्य मे निरपवाद पूर्वक प्रत्येक ऋषि महर्षि को वेदो का ईश्वर द्वारा प्राप्त होना स्वीकार है तथा जैन दर्शनकारो को जीवमात्र की अनादिकालीन अज्ञानावस्था स्वीकार है तब वैदिक प्रमाण सबल तथा जैन मत का स्ववचन बाधित आक्षेप व सिद्धान्त सदोष तथा निर्बल प्रमाण है।

उपर्युक्त प्रकार से वेद अपौरुषेय है।

वेद और योरपीय विद्वान्

लेखक—भिषगाचार्य श्री पं० ईश्वरदत्तमेधार्थी, विद्यालंकार, अजमेर

भारतीय संस्कृति, सभ्यता और सदाचार का आदिम स्रोत वेद है। इस तथ्य को सब से अधिक अनुभव करने वाले योरोपीय विद्वान हैं। भारतीय विद्वानो ने तो वेदो का महत्व ही नहीं समझा। हां! गुरु विरजानन्द की कुटी मे एक लंगोटबन्द महा पण्डित तय्यार हुआ—जिसने वेदो की वास्तविकता समझी और खूब समझी। आज उसी के पुण्य प्रताप से आर्यसमाज वेदों का शुष्कनाद (क्योकि वेद स्वाध्याय नहीं है) चारो दिशाओं मे गुंजा रहा है। काश! वेदो का स्वाध्याय प्रत्येक आर्य नर-नारी करता हो तो आज भारत स्वर्ग हो जावे, 'वेद' का शब्दार्थ ही जब ज्ञान है—तब और अधिक क्या कहा या लिखा जावे. क्योकि न हि ज्ञानने सदृशं पवित्रमिह विद्यते। गीता।

अर्थात् ज्ञान (वेद) के समान कुछ भी पवित्र नही है। वेदो की विशेषता यही है कि मोक्षप्राप्ति के साधन भूत ज्ञान और कर्म का 'समन्वय' वेद बताता है। ज्ञान-पूर्वक कर्म करने से ही मोक्ष सिद्ध होता है—यह एक ऐसा यथार्थ तथ्य है जो संसार की किसी भी पौरुषेय धर्म-पुस्तक मे नहीं उपलब्ध होता। वेद का आदेश है—

विद्यां च अविद्यां च यस्तद् वेद उभयं सह।
विद्यया मृत्युं तीर्त्वा अविद्यामृत मश्नुते ॥यजु.॥

वेद व्यक्तिगत और समष्टिगत कार्यों को एक धारा मे और एक नियम मे बांधने का उपदेश करते हैं। इसी को सम्भूति (Social welfare) और असम्भूति (Individual all-round progress) शब्दो से वेद में बताया है। इसी प्रकार श्रद्धा (Faith) और मेधा (Reason) का सम्मिश्रण वेद बताता है जिसको दूसरे शब्दो में तर्क और विश्वास का संयोग कह सकते हैं। वेद मंत्र इस प्रकार है।

ओ३म्। अग्ने! समिध माहार्षं, बृहते जातवेदसे। स मे श्रद्धां च मेधां च, जातवेदाः प्रयच्छतु॥

इस प्रकार वेदो के महत्व के वेदों की अन्तः साक्षी प्रचुरतया उपलब्ध होती है। अब हम योरपीय विद्वानो की वेद विषयक सम्मति का दिग्दर्शन कराते हैं। जिन्होंने वेदों मे रचना (Formation) और सूचना (Information) के अद्भुत सिद्धान्तों को समझा है। उदाहरणार्थ—

पाश्चात्य विद्वानों मे डाक्टर अलफ्रेड रसेलवाल से का नाम अग्रगण्य है—जिन्होंने विकासवाद (Evolution) के सिद्धान्त को बढ़ाया है। उक्त प्रशंसित डाक्टर साहेब अपनी पुस्तक Social Environment and moral progress मे लिखते हैं—

The wonderful collection of hymns known as the Vedas is a vast system of religious teachings as pure and lofty as those of finest portions of the Hebrew Scriptures. Its authors were fully our equals in their conception of the Universe and the Deity expressed in the finest poetic language. In it we find many of the essential teaching of the most advanced religious thinkers.

भावार्थ यह है कि वेदो की भाषा बड़ी कवितामय और ओजस्वी है। वेदो मे सभी आवश्यक शिक्षायें निहित हैं। बड़े बड़े दिग्गज विचारकों के विचारो से बढ़कर विचार वेदो मे पाये जाते हैं। संसार की किसी भी धर्म पुस्तक के अच्छे उपदेशों का मिलान करने पर, वेद सर्वोपरि और सर्व श्रेष्ठ उतरते हैं। क्या यह सम्मति माननीय नहीं है? अवश्य माननीय है।

(२) बिशप हीरो अपनी Hindu superiority नामक पुस्तक मे लिखते हैं:—

The Vedas are without doubt the oldest works composed in Sanskrit. Even the most ancient Sanskrit writings allude to the Vedas as already existing. The Vedas alone stand serving as beacon of Divine Light for the onward march of humanity.

There is no movement of Greece or Rome more precious than the Rigved which is the most sublime conception of the great high ways of humanity.

भावार्थ—यह है कि वेदों से बढ़कर आज तक कोई धर्म पुस्तक नहीं निकली। संसार मे वेद सब से प्राचीन है। वेदों के विचार अत्यन्त सूक्ष्म, प्रिय और पवित्रतम हैं।

(३) मौरिस फिलिप अपनी प्रसिद्ध पुस्तक Teachings of the Vedas में लिखते हैं :—

After the latest researches into the history and chronology of books of old Testament, we may safely now call the Rigveda as the oldest book not only of the Aryan humanity, but of the whole world. We are justified therefore in concluding that the higher and purer conceptions of the Vedic Aryans were the results of a primitive Divine Revelation.

भावार्थ यह है कि वेद भारत की ही नहीं—अपितु समस्त संसार की सबसे प्राचीन सनातनधर्म पुस्तक है। संसार की सभ्यता का आदिम स्रोत वेद है, क्यो कि वेद ईश्वरीय है। वेद अपौरुषेय है। देखिये—कितनी सुन्दर सम्मति है ?

(४) नोबल प्राइज़ का विजेता मैटर लिन्क-जो संसार प्रसिद्ध फिलौसफर माना गया है, इस प्रकार लिखता है।

Only the glare of the clairvoyant directed upon the mysteries of the past may reveal unrivalled wisdom which lies hidden behind these Vedas.

भावार्थ यह है कि वेद ही एक मात्र ज्ञान के भंडार हैं—जिनकी तुलना हो ही नहीं सकती; वेदो में शुभ रूप से (मन्त्री शुभ भाषणे) अर्थात् मंत्र रूप से समस्त विद्याओं का उपदेश निहित है।

(५) रैगोविन अपनी पुस्तक 'वैदिक इंडिया' में लिखता है—

So nothing can be more nobly beautiful in feeling and wording than the following on alms giving, or rather on the duty of giving, of helping generally.

अर्थात् वेदों के उपदेश बड़े उत्तम हैं।

(६) पश्चिम का प्रसिद्ध सन्त एडवर्ड कार्पेन्टर अपनी पुस्तक में लिखता है:—

A new philosophy we can hardly expect or wish for, since the same germinal thoughts of the Vedic authors have come all the way down history, even to Schopenhauer and whitman inspiring philosophy after philosophy, religion after religion.

भावार्थ यह है कि आज तक एक भी नया विचार संसार में नहीं आया—जो वेदों मे न प्राप्य हो। चाहे शौपनहार की फिलासफी पढ़ जाओ और चाहे विटमैन के धर्मोपदेश—वेदो के ही विचार सर्वत्र मिलते है। वेद ही सनातन है। आज तक का इतिहास इस बात का साक्षी है कि वेदो से बढ़ कर ज्ञान, विज्ञान और ज्ञान प्रतिपादक कोई ईश्वरीय ग्रन्थ नहीं है। अन्त मे एक विद्वान की सम्मति लिखकर इस लेख को विस्तरभिया समाप्त करते है। सारांश यह है वेदों की अनुपम सुन्दरता को योरप के विद्वानो ने माना है।

(७) अमेरिका के सुप्रसिद्ध विचारक मिस्टर थौरो—निरन्तर वेदों का स्वाध्याय करने के बाद इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि—

What extracts from the Vedas I have read fall on me like the light of a higher and purer luminary which describes a loftier course through a purer stratum free from particulars, simple Universal, the Vedas contain a sensible account of God.

अर्थात् वेदों की विचार धारा पवित्रतम है। वेदों में प्रकाश, ज्ञान और विज्ञान है। वेद सार्वजनिक, सार्वकालिक और सार्वदेशिक हैं। वेदों में परमात्मा का पवित्रतम प्रकाश प्रसरित है।

❀ सरकार में रजिस्टर्ड ❀

कफ, खांसा हैज़ा, दमा पेचिश पेटदर्द नजला बुखार बालकोंके हरे पीले दस्त, आदि रोगों की स्वादिष्ट और बिना अनोपान का अचूक दवा है। कोमत फी शीशी ॥) आठ आ वी पी खरच एक से ३ तक ।≠) आना १२ शीशी का दाम सिर्फ ४≡) चार र तीन आना डाक खरच माफ

हाय ! खुजाते खुजाते मर चले

तो हम क्या कर हमने तो पहिले ही कहा था कि दादपर 'दादका काल' लगादो वरना जाओगे।

दाद का काल

पुरानेसे पुराने व कठिनसे कठिन दादको बिना किसी कष्ट व जलन के २४ घंटे मे जडसे खानेवाली मशहूर दवा है की. फी शी. ।) खर्च १से३ तक ।≠) १२ शी का मू १॥।–) खर्च माफ

पता ☛ सुन्दर शृङ्गार महौषधालय मथुरा।

घर बैठे होम्योपैथिक चिकित्सा सीखकर और हमारी मार्फत कलकत्ता के सबसे बड़े सरकार से रजिस्ट्री प्राप्त, होम्योपैथिक मेडिकल कॉलेज की डिग्री (उपाधि) ले, डॉक्टर बनकर जो लोग १,२ सौ रुपया मासिक की स्थायी आमदनी पैदा करने के इच्छुक हैं वह दो पैसे का टिकट भेजकर नियमावली मुफ्त मँगाएँ—

७४ पता—**प्रिंसिपल,**
युनिवर्सल होम्यो कॉलेज,
पोस्टबॉक्स १५०, लाहौर

श्वेतकुष्ठ की असली जड़ी

इस जड़ी के एक ही रोज़ के तीन ही बार के लेप से सफ़ेदी जड़ से नष्ट न हो, तो दूना दाम वापस दूँगा। जो चाहें, प्रतिज्ञा पत्र लिखवा लें। दाम ३), गरीबों के लिये आधा दाम।

पता—**वैद्यराज** ४१
पं० मथुरा पाठक,
प्रोप्राइटर मिथिला मेडिकल हाल, नं० ३२, दरभंगा

असली च्यवनप्राश

च्यवन ऋषि को वृद्ध से युवा बनानेवाली यही रसायन है। इसके सेवन से धातु क्षय, निर्बलता दिमागी कमजोरी, खाँसी, श्वास, क्षय रोग, प्रमेह, मूत्र-दोष, वात रक्त आदि अनेक रोग नाश होते हैं। स्मरण शक्ति तथा शरीर की कांति बढ़ाता और अजीर्ण नाशक तथा पुष्टकारी है। मूल्य प्रति डिब्बा १ पाव १॥), मँगाने पर ही ज्ञात होगा कि नकली च्यवनप्राश और इसमें क्या अंतर है।—

 मिलने का पता—**मैनेजर, गणेश औषधालय, जट्टारी, अलीगढ़।**

Registered No A 112"

ROYAL CORD

(१६१६) लिमिटेड

कानपुर लखनऊ आगरा देहली

* ओ३म् *

विषय-सूची

विनम्र निवेदन

प्रेमी पाठकों के कर कमलों में इस वर्ष का ऋष्यङ्क पहुंचाते हुए हमारे हृदय में जो अनेक प्रकार के भाव उठ रहे हैं उनका व्यक्त करना यद्यपि सरल नहीं है फिर भी हम इतना निवेदन करना अत्यन्त आवश्यक समझते हैं कि इस वर्ष ऋष्यङ्क बड़ी कठिन परिस्थितियों में निकाला गया है। जैसा कि पाठकों को ज्ञात है 'आर्यमित्र' का संचालनभार ऐसे हाथों में जाने वाला है जिनसे अभी हमारा पूर्ण परिचय नहीं है। आर्यमित्र के ठेके पर दिये जाने की तिथि प्रथम अक्टूबर रक्खी गई थी। अतः बहुत समय तक तो यह निश्चित ही नहीं होसका कि ऋष्यङ्क निकलेगा या नहीं। पीछे निश्चय हुआ भी तब भी प्रतिदिन आशा, निराशा, सन्देह आदि का वातावरण प्राय बना ही रहा और जब तक कि ऋष्यङ्क प्रेस में नहीं देदिया गया, हम निश्चित रूप से नहीं कह सकते थे कि वह निकल सकेगा या नहीं। इसीलिये प्राय बहुत कम लेखकों से लेख भेजने की प्रार्थना करसके और वह भी केवल चार छः दिन पूर्व। ऐसी अवस्था में भी जैसी सामग्री के साथ ऋषि के प्रति श्रद्धाञ्जलि रूप यह अङ्क हम पाठकों को पहुंचा रहे हैं उसी से उन्हें सन्तोष करना होगा। सब प्रकार की अड़चनों के होते हुए भी किसी प्रकार ऋष्यङ्क प्रकाशित हो सका है इतनी बात भी हमारे लिये परम सन्तोषदायक है। जिन विद्वान् लेखकों और कवियों ने अति अल्पकाल में ही हमें अपनी रचनाएं भेजकर अनुगृहीत किया है उनके हम अतीव आभारी हैं। जिन महानुभावों के लेखादि प्रकाशित होने से रह गये हैं उनसे हम अत्यन्त नम्रतापूर्वक क्षमा याचना करते हैं उनके लेख आगामी अङ्कों में प्रकाशित किये जायँगे। आर्यभास्कर प्रेसमें इस कशमकश की अवस्था में भी जो इतना कार्य इतनी शीघ्र हो सका इसके लिये हम कर्मचारियों की प्रशंसा बिना किये नहीं रह सकते। अन्त में गुण दोषों का निर्णय पाठकों पर छोड़ कर हम अपने निवेदन को समाप्त करते हैं और आशा करते हैं कि यदि भविष्य में 'आर्यमित्र' के सञ्चालन का अच्छा प्रबन्ध होसका तो 'आर्यमित्र' भी और अच्छे रूप में निकला करेगा और अनेक उत्तम विशेषांक प्रकाशित होंगे। परन्तु भविष्य भगवान् के हाथ में है।

विनीतः—बाबूराम सम्पादक

कृतज्ञता-प्रकाशन

को धन्यवाद है कि उसकी कृपा से आर्यमित्र का ऋष्यंक मैं, श्री सम्पादक जी के आदेशानुसार, ८ दिनके अन्दर अपने प्रेस और मित्र के कर्मचारियों के सहयोग से प्रकाशित करने में समर्थ होसका। ३१ अक्टूबर को माननीय श्री सम्पादक जी ने श्री अधिष्ठाता जी के साथ परामर्श करके ऋष्यंक निकालने का निर्णय किया था और यद्यपि प्रेस में धनाभाव था—हमारे कर्मण्य कम्पोजीटर-बन्धुओं को इसके कारण पर्याप्त संकट था तथापि उनके ऋष्यंक के प्रेम ने उनके अन्दर उत्साह बढ़ाया और फलस्वरूप यह विशेषाङ्क किसी प्रकार इस रूप में प्रकाशित होकर आर्य जनता के के सम्मुख आगया। इसमें मेरा कुछ भी पुरुषार्थ नहीं। सारे परिश्रम का श्रेय श्री सम्पादक जी, प्रेस के स्टाफ और अन्य कृपालु सज्जनों को है, जिनके लिए मैं इन महानुभावों का आभारी हू। मैंने तो केवल किसी प्रकार से नये टाइप और कागज़ का प्रबन्ध कर दिया। अतः इतनी शीघ्रता में और प्रेस की ऐसी परिस्थिति में जो कुछ भी हो सका उसी पर पाठकों को सन्तोष करना चाहिए और भविष्य में 'आर्यमित्र' को नये टाइप तथा और भी अच्छे रूप में देखने की आशा रखनी चाहिये।

विनीत.—

प्रेमशरण प्रणत

मैनेजर

नमूना काबिल फरोख्त
सम्मन बिनाबर इन्फिसाल मुकद्दमा
(आर्डर ५ कायदा १ व ५)

ब इजलास राय साहब मदनमोहन सेठ साहब बहादुर जज खफीफा बदायूं।

नम्बर मुकद्दमा २२११ सन् १९३६

बअदालत खफीफा सिविल जज बदायूं जिला बदायूं।

राय बहादुर सेठ श्री नरायन वल्द सेठ मनकूराम सा० उझियानी पर० उझियानी जिला बदायूं मुद्दई

बनाम

रामनरायन वल्द श्रीबक्स कौम वैश्य साकिन हाल मौजा नगरिया मानपुर परगना सोरों तहसील कासगंज जिला एटा। मुद्दाइले।

हरगाह मुद्दई ने आपके नाम एक नालिश बाबत ९८) के दायर की है लिहाजा आपको हुक्म होता है कि आप ब तारीख २१ माह नवम्बर सन १९३६ ई० व वक्त १० बजे दिन के असालतन या मारफत वकील के जो मुकद्दमा के हालात से वाकई वाकिफ किया हो और कुल उमूरात अहम मुतल्लिक मुकद्दमा का जवाब दे सके या जिसके साथ कोई और सख्श हो कि जो जवाब ऐसे सवालात का दे सके हाजिर हो और जवाब देही दावा करे और आपको लाजिम है कि उस रोज जुमला दस्तावेज पेश करें जिन पर आप ब ताईद अपने जवाब देही के इस्तदलाल करना चाहते हो।

आपको इत्तिला दी जाती है कि अगर ब रोज मजकूर हाजिर न होंगे तो मुकद्दमा बगैर हाजिरी आपके मसमूअ और फैसल होगा। बसब्त मेरे दस्तखत और मुहर अदालत के आज ता० ४ माह नवम्बर १९३६ ई० जारी किया गया।

द० देवकीनन्दन सक्सेना मुन्सरिम
सब जज कोर्ट बदायूं।

ब अदालत स्पेशल जज दर्जा दोयम आगरा। मुकदमा न० २८ सन् १६३६

फार्म इत्तिलानामा हस्ब दफा ११ ऐक्ट जायदाद हाय मकफूजा संयुक्त प्रान्त

हरगाह श्री देवेन्द्रनाथ वल्द ला० श्रीचन्द्र कौम वैश्य साकिन नगला भरी परगना बाह जिला आगरा ने एक दरख्वास्त हस्ब दफा ७ ऐक्ट जायदाद हाय मजकूरा पेश हुई है। लिहाजा इस तहरीर की रू से हस्ब दफा जिम्न १ दफा ११ ऐक्ट मजकूर इत्तिला दी जाती है कि उस जायदाद को जिसका ब्योरा नत्थी किये हुए जमीमों में दर्ज है दरख्वास्त देने वाले ने हस्ब दफा ८ या हकदारों ने हस्ब दफा १० श्रीदेवेन्द्रनाथ मजकूर की जायदाद बताया है।

अगर कोई शख्श जायदाद मजकूर पर कोई दावा रखता हो तो से जो इस इश्तिहार के संयुक्त प्रान्त के गजट में छपने की तारीख है तीन मास के भीतर अपने हकों के सम्बन्ध में उस हाकिम के आगे अपनी अर्जी पेश करे जिसके हस्ताक्षर नीचे दिये हुए हैं। ता० २६-१-३७ समाअत को मुकर्रर है

जमीमा (क)

कर्जदार के हक मालिकाना आराजी के मुताल्लिक

नं० सिलसिले	जिला	नाम जायदाद	मौजा मय नम्बर खेवट व महाल	दरख्वास्त देने वाले का मुतालिक व काबिल बिलाशर्त और काबिल इन्तकाल हकियत का ब्योरा	दरख्वास्त देने वाले की हकियत का विस्तार जो रजिस्टर दाखिल खारिज कलक्टर में दर्ज है	दरख्वास्त देने वाले की हकियत पर मौजूदा तशखीश मालगुजारी
१	आगरा	जमींदारी	स्याहपुरा खेवट न० ४	कुल	कुल	८६॥≈)
२	,,	,,	बसई भदौरिया खे. न. ३	,,	,,	२५।≡)
३	,,	,,	बसई भदौरिया खे. न. २	३ हिस्सा में से १ हि०	३ हिस्सा मे से १ हि०	३४॥।)
४	,,	,,	बसई भदौरिया खे. न. ४	१८ हि० मे से ६ हि०	१८ हि० मे से ६ हि०	१२।=)
५	,,	,,	बसई भदौरिया खे. न. ५	सामिलात	सामिलात	।≈)
६	,,	,,	बसई भदौरिया खे न. १	कुल	कुल	३३)
७	,,	,,	बसई भदौरिया खे. न ६	,,	,,	१५॥।-) (Mortgage)
८	,,	,,	बसई भदौरिया खे. न. ८	सामिलात	सामिलात	१७≡)
९	,,	,,	बसई भदौरिया खे. न. ९	,,	,,	५॥)
१०	,,	,,	बसई भदौरिया खे.न.१०	,,	,,	×
११	,,	,,	बसई भदौरिया खे.न.११	,,	,,	६॥≈)
१२	,,	,,	बसई भदौरिया खे न.१२	,,	,,	९।≈)
१३	,,	,,	बसई खेवट न० ४	½ हिस्सा	½ हिस्सा	१≡)॥।
१४	,,	,,	बसई खेवट न० ६	२ हि० में से ½ हि०	२ हि० मे से ½ हि०	२=)॥
१५	,,	,,	बसई खेवट न० ७	सामिलात	सामिलात	।≡)॥।
१६	,,	,,	बसई खेवट न० १	,,	,,	७≡)॥ mortgage)
१७	,,	,,	नगला भरी खेवट न०१६	४८ हिस्से मे	४८ हिस्से मे	६६॥≡)
१८	,,	,,	नगला भरी खेवट न.२७	१२० हि० में से १६	१२० हि० मे से १६	२३।≈)
१९	,,	,,	नगला भरी खेवट न०२८	४२० हि० में से १६	४२० हि० में से १६	६१॥।≈)
२०	,,	,,	नगला भरी खेवट न०३२	१०८ हि० में से ३हि०	१०८ हिस्से में से ३	६४≡)
२१	,,	,,	नगला भरी खेवट न०३६	कुल	कुल	१३५।≡)

अमीमा (ख)

कर्जदार का जायदाद जो भूमि सम्बन्धी मालिकाना हकों को छोड़ कर हस्ब दफा ६० जाब्ता दीवानी सन् १९०८ ई० कुर्क और नीलाम हो सकती है।

सिलसिलावार नम्बर	जायदाद की किस्म	दस्तयाब दन वाल को हकियत वसअत (विस्तार)
१	एक मकान वाके बसई भदौरिया परगना बाह जिला आगरा	कुल
२	तीन रास भैंस	,,
३	चार रास गाय	,,
४	एक रास घोड़ी	,,
५	सात रास बकरी	
६	जेवर सोना चाँदी कीमती २०००)	
७	एक कच्चा व पक्का मकान वाके रामनेक मजरा नगला भारी परगना बाह जिला आगरा	
८	एक बैठक वाके मौजा मजकूर	
९	बकाया लगान १३४१, १३४२, १३४३ फसली	

द० नजर मुहम्मद स्पेशल जज दर्जा दायम जिला आगरा

नोटिस तारीख मुकर्रा निसबत तसफिया (शरायत) इश्तहार नीलाम

बहुक्म मि० भानुप्रकाश रईस साहब मुन्सिफ अमरोहा

बमुकदमे कार्यवाही नीलाम

(आर्डर २१ कायदा ६६)

बअदालत मुन्सफी अमरोहा मुकाम अमरोहा जिला मुरादाबाद

मुकद्दमा नम्बर ४२ बाबत सन् १९३४ ई०

मुश्ताक अहमद वल्द तजमुलहुसैन कौम सेख साकिन अमरोहा मुहल्ला चाह गोरी मुत्तसिल हाफिज अलीकबक्श डिग्रीदार बजरिये बाबू रामचन्द्र एडवाकेट मुद्दई

(१) हकीम खलीलुलरहमान कादरी वल्द अब्दुल रहमान कौम मुगल सा० अमरोहा व रिद मुकाम शाहजहाँपुर मु० मीर बाजार रियासत ग्वालियर (२) उस्मान बेग वल्द अहमदबेग कौम मुगल साकिन अमरोहा मु० नौबतखाना व सुलतानबेग पिसर मुसम्मान मुहम्मदी कौम मुगल साकिन अमरोहा मु० जन्तरी मुत्तसिल नौबतखाना बामुस्मात साबरा उम्र तखमीनन १६ साल दुख्तर नाबालिग समीउल रहमान उम्र तखमीनन ११ साल पिसर नाबालिग खलीलुल रहमान कौम मुगल सा० अमरोहा मु० चाहगोरी व नाबालि गान मजकूर ब विलायत मुसम्मात रोशन दादी व बाबू प्यारे मोहन वल्द लाला मदनलाल कौम वैश्य साकिन अमरोहा मु० कोट पेर नुमाइस

बनाम

हकीम खलीलुल रहमान कादरी व उस्मान बेग व सुल्तानबेग मुसम्मात साबरा व समीउलरहमान व बाबू प्यारेमोहन

चूंकि बमुकद्दमा मुन्दर्जा उनवान मुश्ताक अहमद डिगरीदार ने वास्ते नीलाम जायदाद के दरख्वास्त गुजरानी है लिहाजा आपको इत्तिला दी जाती है कि तारीख ३० माह नवम्बर सन १९३६ ई० वास्ते तै करने शरायत इश्तहार नीलाम के मुकर्रर है।

आज बतारीख ४ नवम्बर सन् १९३६ ई० बसब्त मेरे दस्तखत और मोहर अदालत के जारी किया गया।

(द) हरस्वरूप मुन्सरिम।

[illegible] ॥

[illegible] भयंकर पतन नाटक छपगया !!

[illegible] पाठकों ! श्री सी [illegible] और [illegible] पर आपने बड़े बड़े विद्वानों और लेखकों की लेखनी द्वारा अनेकों पुस्तकें अब तक पढ़ी होंगी परन्तु आज हम एक बड़ी विचित्र "भयंकर पतन नाटक" को आपकी सेवा में सादर भेंट करते हैं। पुस्तक कैसी है इस विषय में कुछ भी न कहकर अपने मुँह से मियाँ मिट्ठू नहीं बनना चाहते हैं। पाठकों ! इस पुस्तक की आरसी क्या चीज है, आप जिस समय इस पुस्तक को पढ़ेंगे, आपको स्वयं ही इसकी उपयोगिता का [illegible] अवश्य पता चल जायगा। यदि आपको हरिजन भाइयों के प्रति हिन्दुओं के [illegible] किये जाने वाले भयंकर अत्याचारों और अन्यायों का जीवित जागृत ही नमूना देखना स्वीकार हो, ईसाइयों और मुसलमानों का दुःखी दुःख पीड़ित भाइयों को अपने २ शिकञ्जों में फाँस कर विधर्मी बनाने के लिये उचित और अनुचित उपायों को ही नहीं किन्तु अपने प्राणों पर भी खेल कर हड़प करने का अपूर्व दृश्य देखना स्वीकार हो और अन्यायियों और अत्याचारियों के समस्त अत्याचारों के परिणाम तथा विधर्मी मनुष्यों [illegible] की कुर्बानी के समान चोंचें देखना एवं शुद्धि और संगठन के अद्भुत-अद्भुत और अन्त में दूध का दूध और पानी का पानी इत्यादि २ फड़कते हुए दृश्यों का जिन्दा ही नमूना देखना मंजूर हो तो हमारा आप से अनुरोध है कि आप एक बार इस पुस्तक को आद्योपान्त अवश्य २ पढ़ने की कृपा करें। इस नाटक के पढ़ने से आप को इस बात का भी भली भाँति पता लग जायगा कि विधर्मियों की दृष्टि में आर्यसमाज किस प्रकार कांटे की तरह खटक रहा है और वे इसे नष्ट करने के लिये दिन रात कैसे २ गुप्त प्रपंच और षड्यन्त्र रच रहे हैं। पुस्तक हिन्दी साहित्य में बिल्कुल नई ढंग और अपने ढंग की एक दम निराली है समस्त घटनायें बड़ी ही रोचक मनोरञ्जक सामयिक शिक्षा प्रद तथा हृदय कम्पित कर देने वाली हैं। पुस्तक में समस्त दृश्यों को ऐसे अच्छे ढंग से निभाया है कि जिनको पढ़कर कभी आपके रोंगटे खड़े हो जायेंगे कभी होंठ फड़कने लगेंगे कभी क्रोध से दाँत पीसने लगेंगे और कभी नेत्रों से अश्रुपात करने लगेंगे। हम आपको पूर्ण विश्वास दिलाते हैं कि यदि आप एक बार इस पुस्तक को अपने हाथों में लेलेंगे तो इसे बिना समाप्त किये हुये कभी भी न छोड़ेंगे। बड़े २ महात्माओं तथा भक्तों और नेताओं के अनेकों सन्देश और महावाक्य आपको पढ़ने को मिलेंगे।

बढ़िया कागज पर चित्ताकर्षक छपाई वाली अनेकों रंग बिरंगे चित्रों से सुसज्जित लगभग १६० पृष्ठों की। मूल्य केवल १) है, डाक व्यय अलग। ना पसन्द आने पर वापिसी की शर्त है। पुस्तक शीघ्र ही प्रेस से निकलने वाली है अभी शीघ्र ही आर्डर भेज कर नाम रजिस्टर्ड कराने वाले प्रथम ५०० ग्राहकों को एक दूसरा धार्मिक नाटक मुफ्त में भेंट मिलेगा।

प्राप्ति स्थान:—[illegible] पुस्तक भंडार, पिलानी, (राजस्थान)।

ओ३म्

पुस्तकों के प्रेमी इसे न खोवें
वैदिक सिद्धान्त पोषक पुस्तकें

1. Fountain Head of Religion-A book of very high order by P Ganga Prasad M A 1/8/-

2. Introduction to the Vedas Commentary—by Pt. Ghasi Ram ji, M A Translation of Rig-Vedadi-Bhashya Bhumika by Rishi Dayanand Saraswati Rs 2/-

3 Religious Intolerance—very good treatise on the spirit of different religious and sects together with the beauty of Vedic Dharam in this respect by Swami Shradhanand Sanyasi Price annas - 1/-

4 Agni Hottra—by Pro Tarachand Gajra M A 0-1-6

5 Problem of Life—by Pt Ganga Prasad M A 0-1-0

6 Problem of Universe—by same author 0-1-0

7 A few hints of favour of a vegetarian diet—by B Madan Mohan Saith, M. A L L B. Sub Judge 0-1-0

8 Rapers on Education read at the Arya Educational Conference Cawnpore-/3/-

9 Ishopnishad—by Shri Narain Swami ji 0-4-0

10 Vedic Tract I. Vedic Tract II—by Pt Ganga Prasad M. A Chief Judge Each Parts. 0-1-0

11 Advent of Rishi Dayanand—by Prof Tarachand Gajra, M A 0-2-0

12. Dayanand the man of his work—by Syt Aribindu Ghosh 0-1-0

These books are worth while reading

13 The Arya Samaj & whst it stand for—by B Pooran Chand ji B A, L-L B. Advocate. 0-0-6.

१४ चाणक्य नीति—अनु० प्रेमशरण 'प्रणत' प्रसिद्ध नीति का ग्रन्थ है। मू ।=)

१५ विदुर नीति—अनु० प्रेमशरण 'प्रणत' मू० ।।।)

१६—जैनमत की उत्पत्तिकाल का निर्णय)।

१७—काव्य प्रदीपिका ≡)

१८—नानक जी की जीवनी)॥

१९—पञ्च यज्ञ-विधि. ≡)

२०—अविद्या के तीन अङ्ग -)

२१—जैन-धर्म की असम्भव बातें)॥

२२—पिण्डारी हिम प्रवाह ।)

२३—आर्यमत मार्तण्ड नाटक (द्वितीय भाग) ।-)

२४—कलावती उपन्यास ।)

२६—प्रायश्चित्तादर्श (प्रथम भाग) ।)॥

२७—नरनमियालाा ।)

२८—उपनिषत्तत्वम् १)

२९—वायस विजय—ले० प० नाथूराम शंकर शर्मा =)

३०—माडरेटों की पोल—देश-भक्त माडरेटों के सम्बन्ध में यथा नाम तथा गुण की पुस्तक है ।)

३१—साम्यवाद का सन्देश ।।।)

३२—व्रत सांगीत =)॥

३३—दिव्य दयानन्द ॥)

३४—श्री हर्ष ॥)

३५—आजकल की श्रीमती ।)

३६—पञ्च कोष और सूक्ष्म जगत =), ≡)॥

३७—धर्म का आदि स्रोत १)

मिलने का पता—प्रेम पुस्तकालय आगरा

बच्चोंको शर्दीसे बचाइये !

बालजन्म बटी !

यह बटी जन्म घुट्टी का काम देती है। थोड़े से गर्म पानी वा दूधमें मिलाकर बच्चों को तन्दुरुस्त रखने के लिये इसे काम लाइये इससे उन्हें कब्ज की शिकायत नहीं रहेगी। उनका वज़न बराबर बढेगा। हरे पीले दस्त बन्द हो जायगे, दांत आसानी से निकलने लगेंगे और उनको सूखा भी न सता सकेगा एक बार मंगाकर इस्तैमाल तो करिये। मू० ॥)

शिवरात्रि और स्वामी दयानन्द—इसमें शिवरात्रि का महत्व और ऋषि दयानन्द का प्रादुर्भाव तथा आर्यों से अपील करके पंजाब-केशरी ला० लाजपतिराय ने दयानन्द के नाम पर हिन्दू जाति के छिन्न भिन्न अगों को सुदृढ़ बनाने की हमसे आशा की है। मू० -)

मोक्ष की पुड़िया—विद्वद्वर श्री० स्वामी ब्रह्मानन्दजी सरस्वती के एक व्याख्यान का भाव जिसमे आश्रम-चतुष्टय को मोक्ष प्राप्ति का उपाय बताया है। मूल्य -)

स्वामीजी के अनुभूत योग—ऋषी दयानन्द के अनुभूत योग, जो धर्मवीर प० लेखराम के प्रचुर परिश्रम की खोज का परिणाम हैं, एकत्रित किये गये हैं मूल्य -)

ज्योनार

शुद्ध गारी विलास, जिसमे विवाहोंमे गाने योग्य शुद्ध गीत, भाँवर, जोनार, पत्तर खोलना आदि हैं। हर एक स्त्री ने इसे पसन्द किया है मूल्य ≈)

स्वर्ग में सब्जेक्ट कमेटी

'यथा नाम तथा गुणः' पुस्तक क्या है ? पढ़ने से प्रतीत होता है कि, हम वास्तव में देवताओं की कमेटी में बैठे है, देवताओं के प्रस्ताव कानो से सुनने का आनन्द आ रहा है। मू० ≡)

सिद्ध औषधालय की अनुपम दवाएं

सिद्धामृत संजीवनी

बालकोंके समस्त रोग सर्दी, खांसी, जुकाम, ज्वर, पसली, मुखका आजाना दूधका न पीना, मशानकी बाधा सूखा, बारबार दूध डालना, निरन्तर रोना, हरे पीले दस्त, दांत निकलने के समय के उपद्रव दूर होजाते है मू० ॥) शीशी डाकव्यय पृथक।

स्त्री संजीवनी सिद्ध बटी

इन गोलियोंके सेवन करने से मासिक धर्मका कष्ट ऋतु कालकी पीड़ा, मासिक धर्मका न होना घुटने और कमर की पीड़ा, माथेका घूमना, शरीर का भारी मालूम होना, रजोदर्शन का नियमसे न होना, शरीरकी दुर्बलता, नाभिके नीचेकी पीड़ा मन की ग्लानि आदि रोगसे दूर होकर मासिक धर्म सुख पूर्वक होता है। मू० १) १ डिब्बीका

अर्श कुठार

यह बवासीर का खूनी बादी आदिकी एक अलभ्य दवा है और इससे कब्ज दूर होता है। और बवासीर को लाभ होता है मू० १)

प्रमेह प्रहारी वटी

नया पुराना धातु सम्बन्धी रोग लाल पेशाब आना चिनग से पेशाब उतरना, खड़ियाके समान पेशाब होना आदि विकार दूर होजाते है। मू० १)

इनके अतिरिक्त अन्य औषधियां प्रेम पीयूष औषधालय, सिद्ध औषधालय, जनसेवक औषधालय की तथा रस भस्म, खार दशमूल काढ़ा मिल सकते हैं, जो विदेशोंको भेजे जाते हैं।

बहुत बढ़िया हवन सामिग्री ।॥) सेर मिलती है।

प्रेम पीयूष औषधालय प्रेम पुस्तकालय आगरा

—:मतमतान्तरों की पढ़ने योग्य अपूर्व पुस्तकें:—

हिन्दी क़ुरान

क़ुरान की मूल आयतें मोटे नागरी अक्षरों में और नीचे सरल भाषा में सुपाठ्य अर्थ explanatary notes सहित) दिया जाता है। साथ ही मुख्य २ आयतों के विषय में आवश्यकीय foot notes और शानेनुजूल तथा आयतों के पढ़ने का नियम भी दिया जाता है। भाष्य मौलाना शाह अब्दुलकादिर देहलवी शाह रफ़ीउद्दीन और शाह वलीउल्ला आदि मुस्तनिद भाष्यकारों तथा यूरोपियन भाष्यकारों के आधार पर किया जारहा है जिसमें कोई मुसल्मान इसे अमान्य न कह सकें। यदि आपको मुहम्मदी मत का मर्म जानना है, तो अवश्य ही इसके ग्राहक बन जाइये और इसका अध्ययन करके मुसलमानी मत में अपनी सभ्यता और धर्म और रक्षा के उपाय करिये। पहले खण्ड का मूल्य ।।।) दूसरे का ।।।=) तीसरे का ।।।) चौथा १।) मुहम्मद मीमांसा यानी जीवन १)

इस्लाम का इत्र।

अल्लामियां की हुलिया –) अल्लामियां की सुन्नत –) धर्मशिक्षा –)।। गप्पाष्टक मुहम्मदी –)।। कुफ्र-खण्डन भजनावली =)।। शुद्धि का ढकार –) अल्लामियां की चालों का नमूना =) बेटे की बहू से ब्याह =) जूमन्त्र)।। मौलानिह और मौलवीमियां –) इस्लाम शान्तिदायक नहीं –)।। मिलाप ≡ मलकानों की पुकार।–) हिन्दुओं पर वज्राघात =) अलार्मबेल =) मालाबार-हत्याकांड।–) विश्वासघात।) भयानक षड्यन्त्र =) प्रेम भजनावली ≡) संगठन संकीर्तन।) अन्य नवीन २ ट्रैक्ट और 'पैग़म्बर-प्रकाश' शीघ्र निकलेंगे।

स्त्री भजनमाला

स्त्रियों में धर्म के भाव, शत्रु से मुकाबिला करने की शक्ति के भजन मू० ।)

स्त्री शिक्षा—स्वर्गीय पं० लेखरामजी आर्य मुसाफिर ने स्त्रियों के लिये पाठ्य प्रणाली विदुषी देवियों के वृत्तान्त गर्भाधान सम्बन्धी गूढ़ ज्ञान, सतति संरक्षण स्त्रियों की उपासना विधि आदि २ पर पूरा २ प्रकाश डाला है। शताब्दी में हज़ारों हाथों-हाथ बिक गईं। थोड़ी सी शेष है। शीघ्रता करिये। मूल्य ।।)

संगठन संकीर्तन—इसमें संगठन विषय के उत्तम २ पुर जोश, गाने योग्य भजनों का संग्रह है जो संगठन में सहायता देंगे। मूल्य ।)

शताब्दी संकीर्तन—ऋषि दयानन्द और वैदिक धर्म तथा आर्यसमाज पर कविताओं का समावेश। मूल्य ।)

धर्म शिक्षा—ईश्वर, वेद, धर्म आदि विषयों पर बड़े उत्तम, प्रश्नोत्तर रूप में, बालोपयोगी और ज्ञान-वर्द्धक वैदिक सिद्धान्तों का समावेश मू० –)।।

बालप्रश्नोत्तरी—इसमें छोटे छोटे बालकों के लिये जानने योग्य वैदिक-धर्म-सम्बन्धी सिद्धान्त चुन चुन कर रक्खे गये हैं। प्रत्येक बालक को आरम्भ में ही इसको याद करा देना चाहिये, जिससे कि उनके हृदयों में आरम्भ से ही अपने धर्म के अंकुर जम जावें और किसी के बहकाने में न आवें। मू० –)

कन्याप्रश्नोत्तरी—कन्याओं के लिये उसी प्रकार के उत्तमोत्तम वैदिक सिद्धान्त सरल भाषा में लिखे गये हैं। आर्य कन्या पाठशालाओं में इसका बड़ा प्रचार है। मूल्य –)

अपौरुषेय वेद—स्वर्गीय पं० शिवशङ्कर शर्मा का काव्यतीर्थ कृत, वेद की वास्तविकता और अपौरुषेयता युक्ति, प्रमाण और तर्क से की गई है, स्वाध्याय योग्य –)।।

मिलने का पता—प्रेम पुस्तकालय आगरा।

ऋषि ऋण से उऋण होने के साधन

चाणक्य नीति

विष्णु गुप्त कौटल्य अर्थात् चाणक्य को कौन नहीं जानता ? इस महा पुरुष ने नन्द वंश द्वारा अपमानित होने के कारण, चोटी खोल नन्द का नाश और चन्द्र गुप्त को राजा बना के ही दम लिया चाणक्य के चातुर्य व्यावहारिक ज्ञान, देश काल और धर्म के अतिरिक्त राष्ट्रीय सामाजिक और धार्मिक जीवन चाणक्य नीति पढ़ लेने से स्वराज्य संग्राम मे कूद पड़ने के लिए चाणक्य नीति चिल्ला चिल्ला के कह रही है " वरं न राज्य न कुराज्य राज्य " अर्थात् अराजकता अच्छी परन्तु कुशासन को राज्य नहीं कहा जा सकता। कहाँ तक कहे, बालको को व्यावहारिक बोध कराने तथा कूट नीति का मुकाबिला करने के लिये 'चाणक्य नीति' का सहारा ले। मूल्य ।≈)

महता जैमिनी की पुस्तकें

दयानन्द का जादू ।≈) उपनिषदो का महत्व ।) दक्षिणी अमेरिका यात्रा १॥ फिजी यात्रा ॥ अमेरिका यात्रा ॥) स्याम की यात्रा ॥) मौरिशस यात्रा ॥) रिलीजन्स इन्टालरेंस स्वामी श्रद्धानन्द कृत ।)

नित्य कर्म पद्धति

यह शिकायत कि सन्ध्या मे मन नहीं लगता, अब नहीं रहेगी क्योंकि दिनचर्या, स्वास्थ्य रक्षा, आसन प्राणायाम के नियम और गुण तथा संध्या आदि पंचयज्ञ इस पुस्तक मे ऐसे रोचक ढंग से लिखे हैं कि जिनपर चलने से सध्या करने मे मन लगता और जीवन पवित्र हो जाता है, मू० ≡) ध्यान की रीति)॥।

सजीवन बूटी

ब्रह्मचर्य का उपदेश आल्हा मे दिखाया गया है, प्रत्येक को पढ़ना चाहिये, मू० ।≈)

ब्रह्मचर्य जीवन

जिसके सहारे अर्जुन ने गन्धर्व को जीता, नल ने ५ दिन मे समुद्र मे पुल बांधा, परशुराम ने क्षत्रियो का क्षय किया और देवि गार्गी ने याज्ञवल्क्य को निरुत्तर किया, कहां तक कहे ? मानव जीवन को सुफल बनाने के लिये 'ब्रह्मचर्य जीवन' अद्वितीय रसायन है। 'ब्रह्मचर्य जीवन' विद्या की प्राप्ति का साधन गुरुकुल वास का गौरव समय विभाग, ब्रह्मचर्य के नियम, स्वाध्यायादि का ब्रह्मचर्य म माहात्म्य और ब्रह्मचर्य की अवधि भली भाँति बतलाता है। कहां तक कहें इस पुस्तक मे ब्रह्मचारी और विद्यार्थियो के कर्तव्य नामधारी ब्रह्मचारियो से हानि, गृहस्थ और ब्रह्मचारी की भिक्षा निषेध और नियम मे ब्रह्मचर्य की समाप्ति आदि अनेक उपयोगी विषयो का समावेश है। अत यदि आपको ससार मे सदाचार का स्रोत बहाना है तो 'ब्रह्मचर्यजीवन' का प्रचार करिये, अपने और अपने सन्तान के जीवन को सफल बनाना है तो ब्रह्मचर्य जीवन' का पाठ पढ़िये। मूल्य ॥) " गृहस्थ शिक्षा शास्त्र " छप रहा है।

आर्य जाति की पुकार

आर्य जाति की अर्धांगनि विधवाओं की दुर्दशा, विधर्मियों के आक्रमण दिखाते हुए साधु जनो से उद्धारार्थ उठने की अपील और विधि है। कुम्भ पर बांटने के लिये. मू० ।) नई बहार मू० –)

शताब्दी संकीर्तन

आर्य धर्म का शंख बजाने वाले भजनो का अद्भुत संग्रह जिसका हिन्दू सभाओ समाजो ने बड़ा प्रचार किया है। मू० ।)

सृष्टि का इतिहास

जानना है तो आर्डर दीजिए खोज है ।॥) आर्य भजन कीर्त्तन –)॥ प्रेम भजनावली ≡)

मिलने का पता—प्रेम पुस्तकालय माईथान आगरा (इंडिया)

हिन्दीकुल्लियात आर्यमुसाफिर

क्या आपने अभी तक धर्मवीर पं० लेखरामजी कृत लेखों का उर्दू संग्रह नहीं देखा, यह वह पुस्तक है जिसने धार्मिक जगत में हलचल मचा दी है, इस्लाम की तो काया ही पलट दी है, कौन नहीं जानता कि इसके अध्ययन से बहुत से हिन्दुओं, मुसलमानों और ईसाइयों को सन्मार्ग सूझ गया। और इसी के पुण्य-पाठ से असगरी बेगम शुद्ध होकर शान्तिदेवी बन गई कहां तक कहें, इस पुस्तक में पाखण्ड की पूरी पूरी पड़ताल की गई है, एक दो नहीं, पण्डितजी की पूरी ३२ पुस्तकों का यह पोथा यवन, ईसाई और कादियानी मतों के मिथ्या मन्तव्यों का मर्म प्रकट करने तक ही समाप्त नहीं हो जाता अपितु इसमे वैदिक धर्म महत्व, सृष्टि-इतिहास, पुनर्जन्म पुष्टि, स्त्री शिक्षादर्श, श्रीकृष्ण परिचय, रामचन्द्रजी के सच्चे दर्शन, पतितोद्धार, पुराण-निर्माण, प्रतिमा-पूजन, गङ्गा का साक्षी, नियोग नियम और आर्य-सामाजिक सिद्धान्तों की सत्यता आदि आदि अनेक विषयों पर पूर्ण प्रकाश डाला गया है। यह पुस्तक महर्षि दयानन्दजी कृत सत्यार्थप्रकाश का समर्थन करता है और उसी के मानिन्द मान्य है, अतः हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक, कुरान के भाषानुवादक—

"**मुहम्मद सा० के विचित्र जीवन और देवदूत दर्पण के**—जिसे यू० पी० पंजाब और सी० पी० सर्कारों ने जब्त कर लिया है—लेखक, श्री प्रेमशरण जी प्रणत (आर्य प्रचारक) से बड़े आग्रह पूर्वक इसका अनुवाद "प्रेम-पुस्तकालय, आगरा" ने कराया है जो पण्डितजी के विद्वत्तापूर्ण लेखों और अनुपम अन्वेषण को **आर्य पथिक ग्रन्थावली** के रूप में प्रस्तुत करते हैं। जिसमें हिन्दी में सृष्टि का ऐतिहासिक अनुसन्धान, ज्योतिष सूर्य सिद्धान्त और विज्ञान के आधार पर आर्य संवत्, योरोपीयन विद्वानों की भूतत्त्व विद्या-विषयक खोज, संसार के समस्त संवतों का क्रम, वेद और आर्षग्रन्थों का अनुसन्धान आदि अनेक विषय हैं। स्वामी श्रद्धानन्दजी ने तो इसका प्रचार बड़ा आवश्यक समझा। ८४८ पृष्ठों का पोथा अब ग्राहकों को ४॥) की जगह ३) में मिलेगा।

मृत्यु और परलोक

प्रत्येक नर और नारी को जो दुःखित अवस्था में शान्ति प्राप्त करना तथा मृत्यु और परलोक के गूढ़ रहस्यों को जानना चाहते हैं यह पुस्तक बार २ पढ़नी चाहिये तथा दुःख में फँसे हुए अपने मित्रों और सम्बन्धियों में इसका प्रचार करें। मूल्य ।=)

तरुण-भारत की उपयोगी ग्रन्थमाला

धर्मशास्त्र।

श्रुति, स्मृति, पुराण, उपनिषद, गीता, षड्दर्शन, महाभारत, और अन्य अनेक धर्मनीति ग्रन्थों का गहन मन्थन करके इस ग्रन्थ को तैयार कर दिया है। मू० १)

गार्हस्थ्य शास्त्र

आपको मालूम होजायगा कि यह पुस्तक भी कितनी उपयोगी सिद्ध होगी। इसका मूल्य भी केवल १॥)

(१) अपना सुधार ॥)
(२) फ्रांस की राज्यक्रान्ति १=)
(३) मह,देव गोविन्द रानाडे—सचित्र जीवनचरित्र ॥।)
(४) ग्रीस का इतिहास १=)
(५) रोम का इतिहास ॥)
(६) दिल्ली—इन्द्रप्रस्थ का इतिहास ॥)
(७) इटली की स्वाधीनता ॥)
(८) सदाचार और नीति ॥=)
(९) एब्राहम लिंकन सचित्र जीवनचरित्र ॥=)
(१०) मराठों का उत्कर्ष—सजिल्द १॥)

पं० तुलसीराम आदि की पुस्तकें।

सामवेद भाष्य ३२), भाषा भाष्य ५), मनुस्मृति भाषानुवाद १॥।), भास्कर प्रकाश २), दिवाकर प्रकाश ।=) न्यायदर्शन भाषानुवाद ॥।), योगदर्शन भाषानुवाद ॥), सांख्यदर्शन १), वैशेषिक दर्शन भाषानुवाद ॥।), वेदान्त-दर्शन भाषानुवाद १।), गीता भाषानुवाद ॥), श्वेताश्वतरोपनिषद् भाषानुवाद ।=), नव उपनिषद् का भाष्य १॥), संस्कृत शिक्षा प्रथम पुस्तक -), द्वितीय=), तृतीय ≡), चतुर्थ ॥), चारों भाग सजिल्द १) तथा अन्य पुस्तकें।

तुलसीराम स्वामी के चारों व्याख्यान ।=), विदुरनीति भाषानुवाद ॥।) —प्रेम पुस्तकालय आगरा।

आर्य भाई ध्यान दें !

यदि आपको अपने प्रचार के प्रमुख साधन सुसम्पन्न और समुन्नत बनाने हैं

तो

अपने प्रकाशन और प्रेस विभाग
पुष्ट करने की ज़रूरत है

आपको चाहिये कि

काम हमारे प्रेस में छपावें इससे आपको बड़ा लाभ होगा, जहां अपने धर्म के एक मात्र रक्षक पुस्तकालय की उन्नति होने से आर्य प्रेस की शक्ति उपयोगी बनेगी और आपके विचारों का प्रकाशन भी अच्छी तरह हो सकेगा। इसलिये जिस किसी अपने समाज के या प्राइवेट काम के लिये आपको कुछ छपाने की आवश्यकता पड़े तो निःसंकोच हमारे प्रेस को हमारे पते पर लिख भेजिये। हमारे प्रेस में संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी, उर्दू की छपाई बुक व जाबवर्क (काम) बड़ी सफाई और शुद्धताई से की जाती है और हमने प्रूफ पढ़ने का प्रबन्ध भी पृथक् रूप से किया है ठीक रूप और ठीक ठीक दामों पर अपने जातीय मासिक पत्र, अखबार, पुस्तकें रसीद बुक, चैक बुक, बिल फार्म, चालान बुक, कैश बुक, लैटर पेपर, पोस्ट कार्ड, लिफाफे तथा स्कूल सम्बन्धी हर प्रकार का काम पर्चे आदि भी छपाना हो तो आर्य विचार के पुरुषों को सदैव हमारे प्रेस का आश्रय लेना चाहिये इसके अतिरिक्त आगरा जैसे नगर में सब तरह के कागज़ की सुविधा रहती है, जिसके लिये खाली पसन्द करने के अतिरिक्त आपको अधिक दिक्कत न उठानी पड़ेगी और आपका घर बैठे सन्तोषजनक काम होगा। रेटों में आश्चर्यजनक परिवर्तन कर दिया है।

विशेष जानकारी के लिये निम्न पते पर पत्र-व्यवहार कीजियेः—

मैनेजर---प्रेस-विभाग प्रेम पुस्तकालय आगरा

अग्रवाल प्रेस, मथुरा ।

आवश्यकताएं

आवश्यकता

(१)

एक आर्य युवक जिसकी अवस्था २२ वर्ष की है पढ़े लिखे स्वस्थ खाते कमाते के लिये आर्य कन्या की आवश्यकता है।

(२)

आर्य कन्या के लिए एक सुयोग्य आर्य वर की आवश्यकता है। लड़का खाता कमाता और स्वस्थ होना अनिवार्य है। लड़की पढ़ी लिखी गृह कार्य में चतुर और स्वस्थ है वर्तमान जाति का ख्याल न कर आर्य मात्र में सम्बन्ध हो सकेगा। (४२-४४)

नारायणसिंह सोलंकी
अगर्रा मिल के सामने
सोलंकी चाल इन्दौर शहर।

आवश्यकता

"एक कान्यकुब्ज कुमार की जो आर्यसमाजी हो, ५०) मासिक की स्वतन्त्र आय हो, सुन्दर और स्वस्थ हो, एक उपमन्यु गोत्र कुमारी के लिये आवश्यकता है। कन्या सुन्दर, सुशील और स्वस्थ है। हिन्दी-अंग्रेजी अपर मिडिल पास १५ व की आयु, मह कार्य्य में कुशल-पत्र विवहार सदानन्द दुबे हेड क्लर्क कन्टूनमेन्ट आफिस फतेहगढ़ से करें।" (४१-४४)।

आवश्यकता है

१५ वर्षीया गृह कार्य में निपुण स्वस्थ सुन्दर वर्नाक्युलर मिडिल पास श्रीवास्तव द्वितीय कायस्थ दृढ़ विचार आर्य कन्या के लिए एक दृढ़ आर्य श्रीवास्तव द्वितीय कायस्थ वर की जो बरसरे रोजगार या किसी कालेज तथा गुरुकुल में पढ़ता हो। आयु २५ वर्ष से अधिक न हो।

पत्र व्यवहार का पता—
राजबहादुर जिज्ञासु द्वारा बा० बिनकूलाल मन्त्री आर्य समाज शाहजहाँपुर यू० पी०।

आवश्यकता

१८ वर्षीया आर्य राजपूत कन्या गुरुकुल देहरादून की स्नातिका (विद्यालंकार) अंग्रेजी ज्ञाता गृह कार्य मे दक्ष आरोग्य पूर्णाङ्ग को २५-३० वष के मध्य गुरुकुल का स्नातक या दृढ़ आर्य किसी डी० ए० वी० कालिज या स्कूल का पढ़ा वा रोजगार या जायदाद इत्यादि से अस्थाई स्वतन्त्र, भोजन, वस्त्र इत्यादि का प्रबन्ध सन्तोषजनक रखने वाले योग्य वर की आवश्यकता है पत्र मय फोटू कुल हालात के निम्न लिखित पते पर हो, कल्पित जाति बन्धन नहीं। दहेज के प्रेमी कष्ट न करें। (३७-४८)

पता-खमानसिंह, ई० आई० रेलवे कार्टर हैदरी नहर चारबाग-लखनऊ।

आवश्यकता

एक आदर्श क्षत्रिय कुलोत्पन्न 'विद्याधर्मोदिनी' तथा हिन्दी-मिडिल परीक्षोत्तीर्णा, गृह कार्य में दक्ष रूपवती व सुशील १४ वर्षीय कुमारी के लिये एक सुवय एव शिक्षित कुमार वर की आवश्यकता है। वर क्षत्रिय मात्र में से होना चाहिये। पत्र व्यवहार निम्न लिखित पते पर फोटो सहित कीजिये। [४८]

पता—भारतभूषण बी० ए० विशारद सरोज सदन, (परसराम गली) गोकुलपुरा, आगरा।

योग्य अनुभवी कारिंदा चाहिये

जो पटवारियान व सर्वे के काम में निपुण हो। काश्त सीर तथा बागबानी के काम में अनुभवी हो तथा पहिले किसी सरकारी मौजे में सफलता पूर्वक काम किये हो। नकद या शख्सी जमानत देनी होगी। हिन्दू विशेषकर आर्यसमाजी हो तो अच्छा है। योग्यतानुसार वेतन दिया जायगा विशेष जानकारी के लिये नीचे लिखे पते से पत्र व्यवहार कीजिये।

सेठ बालकृष्ण, दादा (यू०पी०)

ओ३म्

आर्य्यमित्र

का

वर्ष ३९ | दीपावली संवत १९९३ वि० | अङ्क ४३-४४

ईश-वन्दना

ओ३म् उदुत्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः ।

दृशे विश्वाय सूर्य्यम् ॥ यजु० ३३-३१ ॥

विश्व में जो कुछ हुआ उत्पन्न ज्ञान विवेक है ।
उस सभी का सृष्टि कर्त्ता सत्य स्वामी एक है ॥
सृष्टि के विद्वान सारे, देव तुझको गा रहे ।
विश्व ज्ञान प्रकाश हित, सर्वेश सूर्य बता रहे ॥

—सूर्य

आदि शक्ति

(रचयिता—श्री प० उमाशंकर जी वाजपेयी 'उमेश' एम० ए०)

[श्री उमेश जी की यह कविता ऋग्वेद म० १० सूक्त १२५ के आधार पर लिखी गई और उनके 'ब्रज भारती' नामक काव्य ग्रन्थ में प्रकाशित हुई है। —सम्पादक]

(१)

तू रुद्र अस्विगन के संग
हैं करति निवास निरंतर,
आदित्य विस्व देवन में
हैं बितरति भास निरंतर।

(२)

जुग मित्रा बरुनन बसु की
अवधारन करिबे वारी,
नित अनिल-अनल रबि भू की
प्रतिपारन करिबे वारी।

(३)

बुधतैं बिभु मानि अराधित
सब बसुधा की संजमिनी,
बंदित बिसयज्ञा जग की
तू पहिली सक्ति-नियामिनी।

(४)

करि सरन लोक प्रानिन कौ
पावन उपदेस सिखावति;
तेजसी प्रजापति रिखि कौं
गति दै मतिमान बनावति।

(५)

सब जगती के जीवन की
मुख-दृग अरु सांस-स्रवन री,
जे तोहि न जानत, बिनसत,
ये सत-सत सतत बचन री।

(६)

जन सुख साधन-हित, असुरन
हनिबे कौं धनुस चढ़ावति;
बढ़ि भानु-भूमि भुवनन मैं
भीमन आतंक जमावति।

(७)

भव अनल अनिल-रवि-तारन
निज सत्ता सों करि धारन;
भगतन—भै—भीर—बिदारन,
निरवारति दै उपहारन।

(८)

जस दाइनि सुर मुनि-पूजित
चौदह लोकन की माया;
प्रतिपालिनि सकल जगत की—
रबि की छबि तेरी छाया।

(९)

निज माया तैं प्रगटी तू
चर-अचर विस्व मैं व्यापी;
भासी दिसिदिसि तुव महिमा
तू आद्या सक्ति अमापो।

क्या आर्यसमाज अकर्मण्य हो रहा है?

(ले०—श्री महात्मा नारायण स्वामीजी)

कई भाई वास्तविकता का विचार न करते हुये आर्य्यसमाज पर अकर्मण्यता का दोष लगा दिया करते हैं। परन्तु मैं इसे उनकी भूल समझता हूं। आर्य्यसमाज इस समय अपनी संख्या (१७००) से प्रायः द्विगुण संस्थायें चला रहा है जिनमें अनेक कॉलिज, गुरुकुल, अनाथालय, विधवाश्रम, औषधालय और सैकड़ों हाई स्कूल कन्यापाठशाला, संस्कृत पाठशाला और अछूत पाठशाला आदि शामिल हैं, जिनका औसतन वार्षिक व्यय बीस लाख से कुछ अधिक है। जो लोग आर्यसमाज पर अकर्मण्यता का इलजाम लगाते हैं उन्हें बतलाना चाहिये कि फिर ये इतनी संस्थायें किस प्रकार चल रही हैं? इन संस्थाओं के लिये इतना धन, बिना हाथ पाँव हिलाये, कहां से आजाता है? जो बात कि आर्य्यसमाज के कार्यकर्ताओं के विरुद्ध कही जा सकती है वह यही नहीं है कि वे कार्य नहीं करते या उनमें कार्य करने का उत्साह नहीं है किन्तु वह बात यह है कि आर्यसमाज का, ऋषि दयानन्द की वसीयत और प्रचारक समाज होने के नाते से, कर्तव्य यह था कि देश देशान्तर और द्वीप द्वीपान्तर में वेद प्रचार करता और इस कार्य के लिये अनेक संन्यासी, वानप्रस्थी और गृहस्थ उपदेशकों की प्रचार सम्बन्धी सेवाओं से लाभ उठाता। परन्तु इस मामले में उसने अपने कर्तव्य का बहुत थोड़ा पालन किया। उसके पुरुषार्थ का जो भाग इधर लगाना चाहिये था वह भी उस ने संस्थाओं के चलाने ही में लगा दिया। संस्थाओं से कौन कह सकता है कि लाभ नहीं हुआ? पंजाब में यदि हिन्दी के प्रचार ही को लें तो उसका मुख्य कारण यही संस्थायें (स्कूल और कॉलज आदि) हुईं और इसी प्रकार के अनेक लाभ इन संस्थाओं से हुए जिनसे आर्यसमाज के यश और गौरव की वृद्धि हुई—यह सब कुछ सही परन्तु प्रचार के लाभ और फल से आर्यसमाज बहुमात्रा में वंचित रहा। यदि प्रचार की वृद्धि होती तो उसका आवश्यक परिणाम यह होता कि आर्यसाहित्य की भी वृद्धि होती परन्तु प्रचार भुलाया अथवा अल्प ध्यान दिया हुआ विषय बना रहने से साहित्य भी नहीं बढ़ सका। अस्तु लोगों का यह ढिंढोरा पीटना कि आर्यसमाज में अकर्मण्यता आगई और वे कुछ नहीं करते, सचाई से मुँह छिपाना और असल में अपनी भीतरी निराशा का प्रकट करना है। आर्यसमाजों को जैसा अजमेर शताब्दी के समय हुये सम्मेलन में निश्चय होचुका है, उचित है कि नई संस्थायें न खोलकर और रोगी और सदैव धन के लिये व्याकुल संस्थाओं को बन्द करके अपना ध्यान मौखिक और लेखबद्ध प्रचार की ओर देवें। देश देशान्तर और द्वीप द्वीपान्तर में प्रचार की वृद्धि ही से आर्यसमाज का विस्तार और वैदिक धर्म का प्रचार हो सकता है।

---

* सामवेद के स्वर *

(ले०—श्री प० नरदेवजी शास्त्री वेदतीर्थ)

अभ्युदय और निःश्रेयस की प्राप्ति का साधन होने से वेद हमारे परम आलम्बन हैं। अति प्राचीन समय से अनन्तकाल से हमारे अति प्राचीन पूर्वज मन्त्रभाग को ही वेद मानने चले आ रहे हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में वेद प्रतिपादित इतिकर्त्तव्यता की ही व्याख्या होने से उनको भी वेद मानने वालों का एक प्रबल पक्ष चला ही आ रहा है—याज्ञिकों की परिभाषा में ऋक् को होतृवेद, यजु को अध्वर्युवेद, साम को उद्गातृवेद और अथर्व को ब्रह्मवेद कहते हैं—अस्तु आज हम संक्षेप से सामवेद के स्वरों की बात कहने लगे हैं। हम यहाँ इस विषय पर संक्षेप से और स्थूल रूप में ही कुछ लिखेंगे।

वैसे तो चारों वेदों में उदात्त, अनुदात्त, स्वरित ये तीन ही स्वर हैं—नारद शिक्षा में उपवर्णित

> प्रथमश्च द्वितीयश्च, तृतीयोऽथ चतुर्थक ।
> मन्द्रः क्रुष्टो ह्यतिस्वरः, एतान् कुर्वन्ति सामगाः ॥

प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ मन्द्र, क्रुष्ट अतिस्वर इन सात स्वरों से सामवेदी काम चलाते हैं। ये सप्त स्वर उदात्तादि के ही भेद हैं। इनमें मन्द्र को पञ्चम क्रुष्ट को सप्तम और अतिस्वर को षष्ठ कहते हैं—

साम की महत्ता इन स्वरों से ही है। छान्दोग्योपनिषद् में शालावत्य शिलक ने चैकितायन से पूछा है।

प्र०—का साम्नो गतिः ?

साम की गति क्या है।

उ०—स्वर इति होवाच।

साम की गति स्वर है।

सामवेद के सब गाने के प्रकार एक सहस्र है—जैमिनि मुनि कहते हैं कि "सहस्रवर्त्मा सामवेद" इसका अभिप्राय "गीतिषु सामाख्या" सहस्र प्रकार के गानों से है। आभ्यन्तर प्रयत्न द्वारा स्वर तथा उनके अवान्तर भेदों का नाना प्रकार से व्यक्तरूप में प्रकट करना ही सामगान है। उनके प्रमाण नियत हैं। स्वर प्रमाणों को नियमित करने के लिए ही सामवेद के मन्त्रों पर अंक और 'र' लिखा रहता है। अंगुलियों के संचालन के साथ साथ यथानियम सकोच विकोच करना पड़ता है। जैसे जब 'र' के साथ '१' अंक लगा हो तो हाथ धीरे धीरे वक्षःस्थल की ओर जाता है और वक्षःस्थल को छूते ही स्वर की क्रिया संकोचानुरूप कम होती जाती है। यदि 'र' के साथ अंक '२' का लगा हो तो स्वर का विकोच होता जाता है। ऐसे ही अंक ३-४-५-६-७ की कथा है स्वर का विकोच होता जायगा, इसीलिये 'ओ' के स्थान में 'ओ' 'आ' के स्थान में 'आयो' इत्यादि स्वरों की दीर्घता अतिदीर्घता संभालने के हेतु सुनाई देगी।

इसी प्रकार ३, २, १ आदि चिन्ह हैं—

> अंगुष्ठस्योत्तमे क्रुष्टो ह्यंगुष्ठे प्रथमः स्वरः ॥
> प्रादेशिन्यां तु गान्धार । ऋषभस्तदनन्तरम् ॥
> अनामिकायां षड्जस्तु । कनिष्ठायां च धैवतः ॥
> तस्याधस्ताच्च योऽन्यासु, निषादं तत्र विन्यस्येत ॥

नारदीयशिक्षा

१—६—३,४

इसमें कौन कौन सा स्वर किस किस अंगुलि के किस पोर के सहारे में बोला जाय यह बतलाया है। इसका विस्तार कभी किसी समय करेंगे—आज आर्यमित्र के वाचकों के स्थूल परिचयार्थ इतना ही पर्याप्त है।

क्रान्तिकारी
दयानन्द, गान्धी, जवाहरलाल

(ले०—प्रो० बाबूरामजी सक्सेना, एम० ए०, डी० लिट्०)

भारतवर्ष में आज हम लोग क्रान्ति के युग में हैं। कोई कोई पौराणिक भी कहने लगे हैं कि युग बदल रहा है, यह कलि और कृतयुग की सन्धि है। दस वर्ष के भीतर कृतयुग आजावेगा। कोई भी युग हो पर एक विभिन्न समय, एक दूसरा ही जमाना आ रहा है। धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक सभी क्षेत्रों में घोर उथल पुथल के लक्षण दिखाई देते हैं।

यह युग परिवर्तन क्या अनायास ही आ रहा है? नहीं। प्रत्येक नेता अपने काल की जनता की मूक वाणी को क्रिया रूपी शब्दों में परिवर्तित कर देता है। जैसे किसी किसी कविता को पढ़कर मन कहने लगता है—'यह तो मेरे ही हृदय की बात है, मेरी अपनी भावना है'। इसी प्रकार नेता द्वारा भी जनता के हृद्गत भावों का व्यक्तीकरण होता है। नेता और अनुयायियों के हृदय की अभिन्न एकता होती है।

दयानन्द, गान्धी और जवाहरलाल अपने अपने समय के नेता रहे हैं। भारतीय स्वतन्त्रता की आत्मा ने इन तीनों के द्वारा विकास पाया है।

दयानन्द ऐसे समय में कार्य-क्षेत्र में आये जब भारतीय जनता हताश और किंकर्तव्य विमूढ़ थी। पश्चिमीय सभ्यता की धाक जमी हुई थी। भारतीय वीर आत्माओं और आदर्शों की खिल्ली उड़ाई जा रही थी। विदेशी सभ्यता को हृदय और मस्तिष्क दोनों समर्पित करके, भारतीय (नेटिव) ईसाई पादरी भारत की आत्मा को ठुकरा रहा था। अलग बैठा हुआ मुसलमान मौलवी भी इन बुभुक्षित, कृशगात्र भारतीय बलीवर्द के पीछे से आ एक लाठी जमा देता था। पर इस बलहीनता और सत्वक्षीणता के नीचे धधक रही थी एक आत्मगौरव की ज्वाला। इस ज्वाला का व्यक्त स्वरूप था दयानन्द। बैल लेटा था, उठ खड़ा हुआ, सींगे हिलाना आरम्भ किया। डरपोक, विदेशी आक्रमणकारी जरा सनके। भारतीय आत्मा ने सांस ली। यह थी एक गहरी सांस।

इसी समय और भी नेता हुए। राममोहनराय और पहले पहल के कांग्रेसी। राममोहन राय और दयानन्द में महान अन्तर था। राय साहब का भौतिक शरीर-पोषक था देशी कपड़े का अंग्रेज़ी सूट। दयानन्द का साफा, लम्बा अंगरखा और धोती और हाथ में एक लम्बा सोटा। इसीसे दोनो के ध्येय का पता चल सकता है। उस समयके कांग्रेसी आदमी की बात छोड़िये। अच्छी अंग्रेजी बोल लेना, कुछ धनिक श्रेणी के भारतीयों को दस पांच नौकरियाँ दिलवा देना, परन्तु अन्यथा विदेशी सभ्यता का प्रभुत्व क़ायम रखना। थियासफिकल सोसाइटी और पादरियों के मिशन में बहुत कम अन्तर था। पादरी भारतीय देवी देवताओं को कोसते थे, थियासफ़िस्ट भारतीय देवताओं को पुचकारते थे और भारतीयों को बतलाते थे कि तुम्हारी सारी सभ्यता हेय नहीं है, कुछ अंश पश्चिमी सभ्यता के टक्कर के हैं। इन्हें संभाले रहो। पर भारतीय सभ्यता के पुनरुज्जीवन के लिये यह संरक्षता वाला दृष्टिकोण यथेष्ट नहीं साबित हुआ।

दयानन्द ने भारतीय सभ्यता को आत्म गौरव दिया। हम किसी से नीचे नहीं हैं। हमारी ओर किसकी मजाल है कि उंगली उठा सके। यूरोप

हम लोगों की दृष्टि में असभ्य है। ईसाई और मुसलमान धर्म विधर्म हैं, विदेशी हैं। जो इन्हें सहारा देता है वह देशद्रोही है। इस प्रकार के भाव दयानन्द ने व्यक्त किये और भारतीय जन-समाज की हृत्तन्त्री अनुरणन कर उठी।

दयानन्द ने धार्मिक, सामाजिक और शिक्षा के क्षेत्रों में उथल पुथल पैदा करदी। इस उथल पुथल में बहुतों से खटपट हुई। जो लोग अब तक भारतीयों के अज्ञान से अनुचित लाभ उठा रहे थे उनको ठेस लगी। इनमें कुछ अपने थे कुछ पराए। दयानन्द ने पुरानी इमारत के ही अंशों को लेकर, कुछ नई ईंटें ढलवा कर, नया चूना लगाकर, पुराने ही ईंट पत्थरों से नई इमारत की नींव तय्यार की। पुरानी इमारत के सड़े गले भाग उखाड़ कर फेंकने पड़े। यह भाग रोए, चिल्लाए पर इनकी कोई परवाह न की गई।

दयानन्द ने राजनीतिक क्षेत्र को नहीं छुआ। केवल आदर्श बतलाकर छुट्टी ली। वह आदर्श विदेशी प्रभुता के स्वार्थ के विपरीत था, इसी कारण पिछली पीढ़ी में आर्य समाजी विदेशी शासकों द्वारा सन्देह की दृष्टि से देखा जाता था। और यह सन्देह उचित ही था। जितने भी राजनीतिक आन्दोलन तब से हुए हैं उनमें आर्यसमाजी तन मन धन से शामिल हुए हैं। जो आर्यसमाजी इस समय भी विदेशी प्रभुता के पृष्ठ पोषक हैं वे अपने हृदय मसास कर, और आत्मा को कुचल कर ऐसे हुए हैं।

दयानन्द और गान्धी के बीच में बहुत से नेता और पथ-प्रदर्शक आये। तिलक, एनीबेसेंट, मालवीय। सभी विदेशी प्रभुता को हटाना चाहते थे पर अन्य बातों में भारतीय सभ्यता को दूर से ही जैसा का तैसा रखना चाहते थे। तिलक चित्त पावन बने रहकर, मालवीय कट्टर पौराणिक, अंग्रेजों से हाथ मिलाने पर घर पर आकर स्नान करने वाले! ऐनीबेसेंट का शरीर था विदेशी पर आत्मा भारतीय शरीर के ही कारण वह भारतीय आत्मा के बहुत निकट न आ सकीं। इन पथप्रदर्शकों में से किसी की दृष्टि सर्वतोमुखी नहीं थी। कितना अन्तर था इनमें और दयानन्द में!

दयानन्द के बाद यदि कोई क्रान्तिकारी आया तो वह था गान्धी। भारतीय बलीवर्द उठ बैठा। एक हुङ्कार ली। हुङ्कार ने विदेशी प्रभुता का हृदय दहला दिया। गान्धी ने देखा कि दयानन्द के आदर्शों ने कुछ भारतीयों को भड़का दिया है। उनको फिर भारतीय पुनरुज्जीवन की ओर लाने का प्रयत्न गान्धी ने किया। देश की स्वतन्त्रता की १९२०–२२ की लड़ाई में मुसलमान भी लड़े और पौराणिक, कन्धे से कन्धा मिलाकर। १९२०–२२ की लड़ाई में मुसलमान पीछे हट गये और विदेशी प्रभुता के पृष्ठपोषक हो गये। संग्राम की भाषा में कहना चाहिये कि वे शत्रु पक्ष से जा मिले। पर पौराणिक संग्राम में साथ रहे और अच्छी तरह भाग लिया। पर यह भी कब तक हो सकता था। गान्धी के हरिजन आन्दोलन ने दूध का दूध और पानी का पानी कर दिया। वही लोग जो गान्धी को पूजते थे उन पर बम फेंकने लगे, उनको काले झण्डे दिखाने लगे! क्या ये लोग अगली लड़ाई में शामिल होंगे? मेरा विश्वास है, नहीं। गान्धी के प्रभाव को ठेस लगाई है मुसलमानों ने और कट्टर पौराणिकों ने—उन पौराणिकों ने जो महन्तगीरी, छुआ-छूत और जन्म-जाति को क़ायम रखना चाहते हैं। आज देवदास और लक्ष्मी के विवाह पर कटाक्ष होते हैं - इन्हीं विचारों वाले पुरुषों के द्वारा। आज गान्धी के पुत्र, शराबी दुर्व्यसनी हीरालाल को मुसलमान बनाकर मुसलिम जनता समझती है कि वह सातवें आसमान को, इस क़यामत की चौदहवीं सदी में भी, उठी जा रही है। क्या गान्धी की अन्तरात्मा में विप्लव नहीं मचा होगा? क्या वह क्षण भर यह न सोचते होंगे कि दयानन्द की सूझ इस विषय में ठीक थी, मेरी ग़लत!

गान्धी हैं वैष्णव, अहिंसावादी। फिर जन्म से वैश्य। और उस पर गुजरात के जैनमत से प्रभावित। अहिंसा उनके लिए नीति ही नहीं, धर्म भी है।

तभी तो चौराचौरी के हत्याकाण्ड से १९२२ में और कांग्रेस की गुपचुप कार्यवाही से १९३२-३३ में उन की आत्मा विद्रोह कर गई। गान्धी को यह समझ पाना कि राजनीति दण्ड का रूप धारण करती है पुष्पका नहीं, असम्भव है। उन्होंने वैयक्तिक आत्मिक उन्नति के साधन द्वारा देश की स्वतन्त्रता लौटा लाने का प्रयास किया। इस प्रयास के फल स्वरूप देश जाग उठा। उठ कर बलीवर्द खड़ा हो गया। खड़े खड़े ही दो चार लाते फटकारी पर अपने स्थान से हिला नहीं। दयानन्द की खड़ी की हुई नींव पर आदमकद दीवारें खड़ी हो गईं।

देश की आत्मा की आवाज आज जवाहरलाल के मुख से निकल रही है। वह किसी जन समूह को पुचकारते नहीं। एक ओर मसजिद के सामने बाजा बजने पर गुर्राने वाले मौलवियों को खरी खोटी सुनाते है तो दूसरी ओर छुआछूत के पृष्ठ पोषक आरती-नमाज का भगडा खड़ा करने वाले कट्टर पौराणिकों को भी आड़े हाथों लेते हैं। अहिंसा उनके लिए नीति है पर वे यदि आवश्यक हो तो हिंसा को स्वतन्त्रता का साधन स्वीकार करने मे डरेंगे नहीं।

दयानन्द और गान्धी को विश्वास था कि पुराना संगठन कायम रखकर भी देश उन्नत किया जा सकता है। दोनो जन्म की जाति तोड़ कर गुण, कर्म, स्वभाव की परख पर वर्ण कायम करना चाहते थे। दोनों को मनुष्य की देव शक्ति मे विश्वास था। दयानन्द राजा महाराजों के समक्ष खड़े होकर उनको खरी खोटी सुनाकर उनको कर्त्तव्य पथ पर लाना चाहते थे। वे राज्य, जमींदारी, सेठ साहूकार सभी को कायम रखना चाहते थे। उनके लिए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र संगठन के आवश्यक अंग थे। इनकी असमानता भी इस संगठन का एक आवश्यक अङ्ग थी। स्वामी दयानन्द के आदर्शों के अनुसार आर्य महिला शूद्राणी को दूध पिलाने का काम सुपुर्द करेगी! और प्रतिकार स्वरूप शूद्राणी का भरण पोषण करेगी! गान्धी भी असमानता के पोषक रहे हैं। वे जमींदारों, राजा महाराजो और सेठों को कायम रखना चाहते हैं। राजों को राम जैसा और सेठों को अनाथपिण्डिक* ऐसा बना लेना चाहते हैं। यह दरिद्रों का भरण पोषण करेंगे। गान्धी और दयानन्द के इस विषय के ध्येय में कोई अन्तर नहीं था। साधनों में अवश्य थोड़ी सी विभिन्नता थी।

जवाहरलाल इस पुराने संगठन के हिमायती नही हैं। वे असमानता की जड़ बुनियाद खोद डालना चाहते हैं। उनकी दृष्टि में जमींदार, महाराज और सेठ को कोई अधिकार नही कि वह गुलछर्रे उड़ावें—और किस की कमाई पर? दीन भूखे किसानो और मजदूरों की। वह सम्पत्तिशाली वर्गों की सम्पत्ति छीनकर दीनों के बीच बखेरना चाहते हैं। और दीनो को यह आत्म गौरव देना चाहते हैं कि इस सम्पत्ति के उपभोग करने का तुमको अधिक हक़ है और उनको कम जिनके हाथ मे इस समय यह सम्पत्ति है। वे किसान और मजदूर को भिक्षा और दया का पात्र नहीं होने देना चाहते। वे स्वतन्त्रता का संग्राम इसलिये लड़वाना चाहते हैं कि दीन कृषक और मजदूर, सम्पत्ति के उत्पादक, पनपें और अपने बल पर खड़े होकर मस्तक ऊंचा करें। बला से, यदि महाराजा, जमींदार और सेठ साहूकार इस संग्राम मे जल कर राख हो जावें। उनके लिए जवाहरलाल की आंखों से एक आंसू भी न टपकेगा। आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक सभी क्षेत्रो से वह असमानता मिटा देना चाहते हैं। धर्म की वह रत्ती बराबर भी पर्वाह नहीं करते। प्रचलित वैयक्तिक धर्म की। यदि यह धर्म, वैयक्तिक धर्म, राष्ट्र धर्म में बाधा खड़ी करता है तो रसातल को जावे यह वैयक्तिक धर्म। जवाहरलाल हैं राष्ट्रधर्म के पोषक। और राष्ट्रधर्म है समानता। कौन कहता है कि जवाहरलाल धार्मिक नही है?

बलीवर्द अब उछलने कूदने लगा है। इमारत की दीवारें पूरी खड़ी होगई हैं। गर्डर डालकर छत पाटने की कसर है।

---

*यह बुद्ध भगवान के समकालीन एक सेठ का नाम है जिसने अपनी विपुल सम्पत्ति धर्मार्थ देदी थी। बौद्ध ग्रन्थों में इसका नाम बार बार आता है—सम्पादक

सरकारी यूनिवर्सिटी की परीक्षाएं जुआ वा लौटरी हैं।

(ले०—राज्यरत्न मास्टर आत्मारामजी अमृतसरी)

रत की प्रजा को विचारहीन करने का जो काम उसके अनेक प्राच्यान्वेषणालय (Oriental Research Departments) कर रहे हैं— उनसे भी बढ़कर परम भयंकर तथा परम–हानिकारक काम सरकारी विश्वविद्यालयों की परीक्षा प्रणाली है।

मैट्रिक, बी०ए० आदि परीक्षाएं वह बाहर के (परीक्षक) लेते हैं जिन्होंने कभी छात्रों के दर्शन तक नहीं किये—कहां वैदिक काल की उत्तम स्वाभाविक परीक्षा-रीति जिसमें गुरु आदि ही जो शिक्षण देते रहे है वही न केवल उसको स्नातक ही बना सकते थे किन्तु उसकी विशेष योग्यता तथा गुण कर्म स्वभाव अनुसार उसको समाज के चार उत्तम अंग अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र तक बना सकते थे।

(क) वेद के सब शब्द यौगिक हैं अतः वेदकाल में ब्राह्मण शब्द के अर्थ वेद का पण्डित तथा ईश्वर–उपासक लिये जाते थे। वैदिक क्षत्रिय वह हो सकता जो रक्षा के लिये तथा सभ्य न्याय के लिये काम करे।

इसी प्रकार वैश्य तथा शूद्र के अर्थ थे। वेदमे शूद्र को "तपस्वी" कहा गया है।

(ख) उक्त गुरुजन का दिया हुआ वर्ण–अधिकार महर्षि मनु के वचनों में अजर अमर रहता था। ठीक जिस प्रकार आज बी० ए० की पदवी अजर अमर हो रही है। आज कल की परीक्षाएं निःसन्देह लौटरी है। कारण कि अनेक छात्र प्रति वर्ष वे अनुत्तीर्ण होते हैं जिनको प्रथम श्रेणी में पास होना चाहिये था।

जापान में वैदिक आर्य परीक्षा पद्धति उसके सब स्कूलों और कालिजों में प्रचलित है। वहां सदा वही अध्यापक और प्रोफेसर परीक्षा लेकर दीक्षा (Degree) देते हैं जो स्वयं अपने छात्रों को पढ़ाते रहे हैं।

किसी अंगरेज पादरी ने किसी जापानी प्रिंसिपल को कहा कि तुम्हारी जापानी सरकार बाहर के परीक्षक क्यों नियत करती है। तो जापानी विद्या गुरु ने निम्न उत्तर दिया कि—"हमारे सब शिक्षक तथा प्रोफेसर वा प्रिंसिपल अधर्मी नहीं है। अतः वह हमारे पूर्ण विश्वास के पात्र है। तुम्हारी परीक्षा की रीति जहा तुम्हारे अध्यापक आदि का अपमान करती है वहां एक प्रकार का विचित्र हानिकारक जुआ नहीं तो क्या है। जिसके कारण प्रति वर्ष अनेक छात्र आत्महत्या तक करने को तैयार रहते है।"

हम अभी ऊपर लिख चुके हैं कि वैदिककाल में आचार्य ही परीक्षा लेकर दीक्षा दिया करता था। आज यही बात जापान कर रहा है। उक्त बात के सम्बन्ध मे 'संस्कारविधि के समावर्त्तन संस्कार म से नीचे के कुछ परम उपयोगी प्रकरण तथा इस समय मे भी जो अनेक आर्य गुरुकुलो में जारी है, दिये जाते है। अनेक हिन्दू सज्जन कहा करते है कि 'संस्कारविधि' आदि ग्रन्थो मे ऋषि दयानन्द ने "गुरु दक्षिणा" आदि बाते उड़ा दी है। पर उनका यह भ्रम है। परमयुगप्रवर्त्तक, धर्ममूर्त्ति, परमयोगी दयानन्द ऋषि की 'संस्कारविधि' के उक्त प्रकरण मे सब सज्जन स्वयं भी देख सकते हैं।

"विधिः-जो शुभ दिन समावर्त्तन का नियत करे उस दिन आचार्य के घर मे वेदी बना कर विधि करे।" और

"आचार्य जी को उत्तम अन्नपानादि से सत्कार पूर्वक भोजन कराकर, सुन्दर पुष्पमाला, वस्त्र, गोदान धन आदि की दक्षिणा यथाशक्ति देवें।

(देखो संस्कारविधि)

वैदिक काल मे प्रत्येक ग्राम में कमसे कम दो गुरुकुल एक कन्याओं के लिये दूसरा लड़कों के लिये जरूर होते थे।

स्वामी दयानन्दजी और वेदार्थ

(ले०—श्री प० शिवशर्माजी महोपदेशक)

—— :○::○:——

महाभारत का लोकक्षयकारी युद्ध समाप्त होचुका, धन, जन, राष्ट्र और सुखसंपत्ति का नाश पर्याप्त होचुका। अस्त्र, शस्त्र और रथोंकी दौड़के शब्द बन्द हुए। कौरव और पाण्डव दोनों के भाग्य मन्द हुए। ऋषि और मुनियोंने स्वर्ग को पयान किया, पाँचों पाण्डवों और द्रौपदी ने हिमालय की ओर ध्यान दिया। आर्यजाति पर ऐसा दैवी कोप हुआ कि वैदिक धर्म का सचार भरसे लोप हुआ। नाना पन्थाइयों का राज्य हुआ, अविद्याका साम्राज्य हुआ। भारतवर्ष में वेदज्ञ ऋषियोंका ह्रास हुआ, पौराणिक कथकड़ोंका स्थान स्थान पर वास हुआ। कुछ धर्मामृत-पिपासु तृषित आत्मायें व्याकुल होकर पुकार कररही है, "नैकोमुनिर्यस्य वचः प्रमाणम्" कहकर संसार में चीत्कार कररही है। वैदिक धर्म के जिज्ञासुओंने इस प्रकार जब अपना सिर धुना, देवदयानन्द ने इस करुणाजनक वाक्य को जब सुना। तर्क शास्त्र रूप तरकस से तर्क के तीर तैयार किये, आर्यगण के हाथ में यह कह कर हथियार दिये कि—यही "तर्क ऋषि" वेदार्थ बतलायेगा। सत्य सत्य वेदाशय यही जतलायेगा। यही तर्क तीर अविद्यान्धकार का नाश करेगा, यही पाखंडियों के झुंडको हताश करेगा। फिर भी पौराणिक मण्डल हमसे शास्त्रार्थ में जूझता है; और हठ पूर्वक बार बार यही बूझता है—"स्वामी दयानन्दजी ने वेदार्थ करना कहाँ से सीखा"? "उनको संसार में कौन सा ऋषिकृत भाष्य दीखा"? 'जिसके अनुसार वेदोंका भाष्य किया" "और नये भाष्यकर्त्ताओं का स्थान स्थान पर हास्य किया"? हमारा उनके लिये उत्तर स्पष्ट है—आपको ऋषि कृत भाष्य से इतना क्यों कष्ट है? देवदयानन्द का ऋषि 'तर्क' था, जिससे सदैव उनका किया हुआ अर्थ सतर्क था। सायण और महीधरादिने तर्कऋषि को तर्क किया-सुतर्क को छोड़कर हाथ में कुतर्क लिया। तर्क ऋषिने वेदार्थ करने के लिये जो जो आज्ञायें प्रदान की, देवदयानन्द ने वे सबही सहर्ष आदान की। वे आज्ञायें नीचे लिखी जाती है, जो हमको वेदार्थ करना सिखलाती है—

१—बुद्धि पूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे। वैशेषिक अध्याय ६ आह्निक १ सूत्र १। २—अनियतत्वेपि नायौक्तिकस्य संग्रहो बालोन्मत्तादि समत्वम्। सांख्य १। २६॥ ३—लोके व्युत्पन्नस्य वेदार्थप्रतीतिः। सांख्य ५। ४०॥ ४—यस्मिन्नदृष्टेपि कृतबुद्धिरुपजायते तत् पौरुषेयम्। सांख्य

इन स्थानिक सहस्रों ग्रामीण गुरुकुलों के अतिरिक्त बौद्धकाल से पूर्व सात महाविद्यालय वा वेद महाविद्यालय भारतवर्ष में थे। इन महान वेदविद्यालयों के आचार्य को जो परम सदाचारी, परम विद्वान, वेदज्ञ, योगी तपस्वी तथा परम ईश्वरभक्त वा जीवनमुक्त होता था कुलपति कहा जाता था।

आप्टेकृत संस्कृत अंग्रेजी शब्द कोष में कुलपति के अर्थ में निम्न अंगरेजी शब्द हैं।

"A sage, who feeds and teaches, 10,000 pupils".

अर्थात्—एक ऋषि जो दस सहस्र छात्रों को अन्नदान तथा विद्यादान देवे वह कुलपति है।

याद रहे कि गो ब्राह्मण की रक्षा उस काल में इन महान् तपस्वी पवित्र वेद विद्यालयों द्वारा ही होती थी।

जीवनमुक्त जनक आदि राजर्षि सहस्रों गायें दान करके इन वेद विद्यालयों के छात्रों को अन्नदान तथा वेद विधान का भागी बनाते थे चाहे उनकी संख्या दस सहस्र तक क्यों न हो।

ग्रामों में 'ब्रह्म' देश के समान ग्राम निवासी प्रजा अपने ग्राम के कमसे कम दो स्थानिक गुरुकुलों को अन्नदान तथा विद्यादान देकर पुण्य तथा यश का भागी स्वयं बनकर शत प्रतिशत् प्रजा को विद्वान् बनाकर वैदिकधर्म के प्रचार का साधन बनाती थीं।

५ । ४७ ॥ ४—निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः प्रमाणयम् । सांख्य ५ । ५१ ॥ ६—आकाशस्तल्लिंगात् । वेदान्त १ । १ । २२ । ७—अतएव प्राणः । वेदान्त १ । १ । २३ ॥ ८—अत्ताचराचर ग्रहणात् । वेदान्त १ । २ । ६ ॥ ९—प्रकरणाच्च । वेदान्त १ । २ १० ॥ १०—विशेषणाच्च । वेदान्त । १ । २ । १२ । ११—नैकस्मिन्नसम्भवात् । वेदान्त २ । २ । ३० ॥ १२—श्रुत्यादि बलीयस्त्वाच्च नबाधः । वेदान्त ३ । ३ । ४० । १३—उक्तन्तु शब्दपूर्वत्वम् । मीमांसा १ । १ । २९ ॥ १४—आख्याप्रवचनात ॥ १ । १ । ३० ॥ १५—परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम् । मीमांसा १ । १ । ३१ । १६—विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्यादसतिह्यनुमानम् ॥ मीमांसा १ । ३ । ३ । "परमतमप्रतिषिद्धं स्वमतं हितन्त्र युक्तिः" । वात्स्यायनभाष्य, इसके अतिरिक्त देवदयानन्द या "यस्तर्केणानुसन्धत्ते सधर्मवेदनेतर." मन्वाज्ञा पर भी पूरा ध्यान था, इसका ऋषिवर के हृदय में भरपूर सम्मान था । क्या सायण और महीधरादि ने इन ऋषि-वाक्यों का आदर किया ? वास्तव में यदि सत्य पूछो तो अत्यन्त ही निरादर किया । उदाहरणार्थ कुछ मन्त्रार्थ पाठकों के समक्ष धरते हैं, और उनके विचारों में यह सत्यार्थ भरते हैं कि–देवदयानन्द ने तर्क ऋषि की आज्ञानुसार ही वेदार्थ किया है, और इस तमोमय समय में वेदभाष्यकारों में ऋषि कृत भाष्यों के अनुकूल भाष्य करनेका यश लिया है । जबकि मीमांसा कार जैमिन मुनि–"परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम्" । १ १ । ३१ में बतलाते हैं और कई सूत्रों–१ । १ । २९, १ । १ । ३०, १ । १ । ३१, में बार बार यह जतलाते हैं कि वेदों में सामान्य शब्द हैं—किसी विशेष व्यक्ति का नाम नहीं, प्रॉपर नाउन Proper Noun का श्रुतियों में काम नहीं । फिर महीधर और उव्वट "त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुसं यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नोअस्तु त्र्यायुषम्" यजु० मन्त्र में आये हुए जमदग्नि और कश्यप शब्दों को ऋषि विशेष क्यों मानते हैं ? ग्रिफिथ और लिडविग (?) भी इन असत्य अर्थों को क्यों सत्य जानते हैं ? ये पौराणिक सनातन नामधारी कितना भूलते हैं कि ऐसे ऐसे भ्रमोत्पादक अर्थों पर फूलते हैं ? ऐसी ही तर्कऋषि की अवहेलना सायणाचार्य करते हैं, जिसके वेदार्थ का दम पश्चिमी गोरे ही विद्वान् भरते हैं । ऋ० १० । ३९ । ७ का अर्थ करते हुए सायणाचार्य—वध्रिमत्याः संग्रामे शत्रुभिः छिन्न हस्ता या हवमाह्वान मगच्छतम् । आगत्य तस्यै हिरण्य हस्तं प्रयच्छतम्" । इसमें सायणाचार्य "वध्रिमती" को स्त्री विशेष लिखता है, क्या इसको यह मुनि वाक्य—"परन्तु श्रुति सामान्यमात्रम्" । १ । १ । ३१ दीखता है ? पाठको ! तनिक और और आगे बढ़िये, और ऋ० १ । ११६ । १५ के मन्त्र के भाष्य को ध्यान से पढ़िये—"विश्पला" को स्त्री विशेष कहता है, क्या इसको मीमांसाके १ । १ । ३१ सूत्र पर ध्यान रहता है ?

परन्तु देव दयानन्द जी मीमांसा १।१।३१ सूत्र का मान करते हुए "विश्पला" शब्द के यौगिक अर्थ करते हैं, अपने सुभाष्य में इसके अर्थ— 'विशानां प्रजानां पलायै सुख प्रापिकायै नीत्यै" प्रकाशित करते हैं, अर्थात् इसका देश भाषा में इस प्रकार आशय विकसित करते हैं—जो राजनीति प्रजा को पालन रूप सुख पहुँचाती है, वही वैदिक परिभाषा 'विश्पला' कहलाती है । इसी प्रकार "शाश्वतीनार्यभिचक्ष्याह" में 'शाश्वती' को नपुंसक राजा की एक स्त्री विशेष बखानता है, वह यह बात बिलकुल नहीं पहचानता है कि "विशेषणाच्च" वेदान्त १।२।१२ सूत्र क्या आदेश देता है ? क्या महाभाष्य के वचन "कथं नैगमाश्च रूढिभवा." ? से यह उपदेश लेता है ? कह। वह इतिहासों से वेदों को भरता है, न ऋषियों के शाप से न परमात्मा से डरता है । इतिहास सदैव परत प्रमाण होते हैं, वे इति + ह + आस शब्दों से ही अपनी स्वत प्रमाणता खोता है । इसकी पुष्टि तर्क ऋषि इस प्रकार करता है—"निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वत. प्रामाण्यम्" सांख्य ५।५१ सूत्र को कपिल मुनि अपने शास्त्र में धरता है । परन्तु देवदयानन्द जी सर्वत्र ऋषियों की आज्ञा पालन करते हुए यौगिक अर्थ करते हैं, वे परमात्मा और विद्वानों के कोप से अत्यन्त डरते हैं । ऋगादि वेदों में "इन्द्रं मित्रं वरुणमग्नि माहुरथो दिव्यः ससुपर्णः०" में वेद भगवान् के यह कहते हुए भी कि–इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि सुवर्ण आदि नाम सब एक ईश्वर के ही हैं, फिर भी सायणादि इन सबको ईश्वर से भिन्न देवता विशेष बतलाया करते हैं, और संसार को, ऋषियों का अनादर करके, यह जतलाया करते हैं कि–वे

देवता अपने अपने लोगों में रहने वाले व्यक्ति विशेष हैं, अपसराओं का अखाड़ा जमाने वाले यह इन्द्र-सुरेश हैं। कहीं वृत्रासुर और इन्द्र का युद्ध जमाते हैं, शोक कि निरुक्ताचार्य यास्कमुनि के सन्देश इनके हृदयों में तनक नहीं समाते हैं!—अपांज्योतिषश्च मिश्री भावकर्मणो वर्षकर्म जायते तत्रौपम्येन युद्धवर्णा भवन्ति।" अर्थात्—जल और ज्योतिः के मिलने से वर्षा होती है, उसको (वेद ने) उपमालङ्कार से वर्णन किया है, कि इन्द्र (विशेष व्यक्ति) ने इन्द्रलोक से आकर व्रत्रासुर को बध करने के लिये पृथिवी लोक वासियों को दर्शन दिया है। देवदयानन्द जी ने इनके अर्थ वेद भाष्य मे परमात्मा परक, विशेषण को देखकर "विशेषणाश्च" इस ऋषिकृत सूत्र का आदर करते हुए, किये है, जहाँ कहीं अल्पज्ञता और प्राकृतिक सम्बन्ध है वहां पर इनके भौतिक अर्थ भी कर दिये है। "अग्नेनय सुपथा" और "अग्निमीले कवि क्रतुम् ऋ० ३।२७।१२ मे अग्नि का विशेषण 'विद्वान्' और 'कविक्रतुम्' होते हुए भी "विशेषणाश्च" इस सूत्र को भूल कर ये सायणादि भौतिक अग्नि के ही गीत गाते हैं, तिस पर भी सत्य वेदार्थ कर्त्ता कहाते है! देवदयानन्द जी 'विद्वान्' और 'कविक्रतुम्' विशेषणों को देखकर भौतिक अग्नि को छोड़ते है, और चेतन ब्रह्म प्रकाशस्वरूप से नाता जोड़ते हैं। सायणाचार्य आदि "नार्यान्तिकस्य संग्रहो बालोन्मत्तादि समत्वम्" सांख्य १।२८ को तिलाञ्जलि दे कर परमात्मा के मुखादि से चारों वर्णों की उत्पत्ति करते है, युक्ति विरुद्ध बालकों के समान भ्रष्ट विचार संसार के सामने धरते हैं।

ऋषि दयानन्द जी युक्ति युक्त ऋषि सम्मत आशय दिखलाते हैं, भाष्य की तर्क युक्त शैली आने वाली सन्तति को सिखलाते हैं। यही ऋषिकृत भाष्य के अनुकूल है, जो इन शास्त्र वचनों के विरुद्ध है वही ऋषि प्रतिकूल है। ऋषि भाष्य पर जो श्री अरविन्द घोष जी की सम्मति प्रत्यक्ष है, वह पाठकों के अवलोकनार्थ उनके समक्ष है—

There is than nothing fantastic in Dayanand's idea that the vedas contain truth of science as well as truth of religion. I will even add my own conviction that the Vedas contain other truths of science the modern world does not at all posses, and in that case Dayanand has rather understand than overstated and depth and range of the Vedic wisdom In the matter of Vedic interpretation, I am convinced that whatever may be the final complete interpretation, Dayanand will be honoured as the first discover of the right clues Amids the chaos and obscurity of old ignorance and age long misunderstanding, his was the eye of direct vision that pierced to the truth and fastened on that which was essential He has found the key of doors that time has closed, and rent as under the seals of the imprisoned fountain

पुष्पाञ्जलि

ऋषि दयानन्द ने प्राचीनता को पुनरुज्जीवित करने का दावा किया था किसी नवीन मत को स्थापित करने का नहीं—और मै दृढ़ निश्चय के साथ अनुभव करता हूँ कि उन्हें यह कभी भी स्वीकार न होता यदि—आर्य समाज को किन्हीं ऐसे नामों से पुकारा जाता जो बहुधा नये विचारों या नवीन विचार विकासो को दिये जाते है। इसलिये वह कार्य जो ऋषि दयानन्द ने अपने लिये चुना अत्यन्त महान् था और उन्होने उसे बड़ी उत्तमता से पूरा किया। उन्होंने वेदों को देव मन्दिरों के छिपे हुए कोनों से निकाल कर मनुष्य मात्र की पूजा के लिए रख दिया और उन सारी संकुचित सीमाओं को जो वेदों के अध्ययन के लिये कुछ मनुष्यों को रोकती थीं तोड दिया—एक महान् योगी होने के कारण वे पुरानी प्रथा को उसके असली मतलब को नष्ट किये बिना तोड़ने मे समर्थ हो सके उन्होने हिन्दू धर्म के प्राचीन वृक्ष को योग्यता के साथ कलम करके तथा उसकी खाद को बदल के उसे अधिक फल दायक बनाया—मैं अपनी भक्ति पुष्पाञ्जलि उस महान् दार्शनिक महान् संन्यासी तथा विचार शक्ति और देशभक्ति के पूजनीय आचार्य के चरणों में रखता हूँ।

—दादासाहब, जी० एस० खापर्डे।

आचार्य शङ्कर और दयानन्द

(ले०—श्री पं० लेखरामजी शास्त्री)

विद्वत् समाज मे जो धाक आचार्य शंकर की है वह सम्भवतः किसी विद्वान् की न होगी। उनकी प्रखर तर्क पूर्ण युक्तियाँ किस सिद्धान्त का मुंह तोड़ खण्डन नहीं कर सकी है ? उन्होंने जो गम्भीर वाक् सलिला गंगा निज निर्मित प्रस्थान त्रयी में प्रवाहित की है वह क्या कोई अन्य विद्वान इतनी सुन्दरता से प्रवाहित कर सका है ? इसी लिये चाहे उनके सिद्धान्त से सहमत हो या नहीं उनके व्यक्तित्व की उत्कृष्टता से प्रभावित हुए बिना बड़े से बड़े व्यक्ति भी नहीं बच पाये है। विरोधियो के कथनानुसार अत्यन्त कठोर भाषा मे सब का युक्ति पूर्ण खण्डन करने वाले महर्षि दयानन्द जी महाराज भी उनकी विद्वत्ता, ब्रह्मचर्य, तर्क शक्ति आदि की प्रशंसा किये बिना न रह सके। और अभ्युपगमवाद से यथा तथा उनके सिद्धान्तो को भी अच्छा लिख गये। ऐसे व्यक्ति के विरोध मे लिखते हुए हम संकोच करते हैं—तथापि "सर्वः सर्वं न जानाति" के सिद्धान्तानुसार कुछ ऐसी भी बाते है जो कुशाग्र बुद्धि आचार्य शंकर को भी न सूझीं और सूझी भी होंगी तो वे तात्कालिक प्रवाह से बाहर न निकल सकने के कारण उसी मे बह गये। इसलिए उनके बाद के महर्षि दयानन्द द्वारा अनुमोदित सिद्धान्तों से प्रकाश पाकर हम आचार्य शंकर की दुर्बलता को प्रकट करने का साहस करते है।

प्राचीनकाल मे मनुष्य ने मनुष्य को नीच समझ कर उसका अपमान किया हो, या ज्ञान प्राप्त करने के साधनों से वंचित रक्खा हो ऐसा उदाहरण नहीं मिलता। प्रत्युत राम ने भिलनी के बेर सप्रेम खाकर विपरीत दृष्टान्त उपस्थित किया है। श्रेष्ठ कार्यों में जाति गत नीचता के कारण अनधिकार के जो दृष्टान्त यत्र तत्र लिखे मिलते हैं वे कर्मकाण्ड के प्रचार के विकृत हो जाने पर अर्थात २००० हजार वर्ष से इधर ही लिखे गये हैं, ऐसा बुद्धिमानो का मत है। क्योंकि सृष्टि के आदि काल में ही परमपिता परमात्मा ने "यथेमां वाचं कल्याणी मावदानि जनेभ्यः" इत्यादि मन्त्रो द्वारा अपने ज्ञान का अधिकार मनुष्यमात्र को सामान्य रूप से दिया है। यदि मनुष्य मात्र मे भिन्नता करनी अभीष्ट होती तो "समानीप्रपा" "सहवोऽन्नभागः" "समानो मन्त्र." "समिति समानीः" "अज्येष्ठा सो अकनिष्ठास." इत्यादि वेद वाक्य कैसे संगत हो सकते हैं। इससे प्रतीत होता है कि छोटे और बड़े का भेद जातिगत उच्चता या नीचता के कारण नही माना जाता था। हा, योग्यताकृत भेद तो सदा ही रहे है और रहेंगे। परन्तु बाद मे वैदिक व्यवस्था के शिथिल हो जाने के कारण स्वार्थी चतुर विद्वानो ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन वर्णों को जन्म से ही मानकर ऊंच और नीच की दीवार खड़ी की। ब्राह्मण के कुल में जन्म होने के कारण अमुक व्यक्ति ब्राह्मण है चाहे त्याग, शील, विद्वत्ता आदि गुणो से रहित क्यों न हो। इसका परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक व्यक्ति ने अपने अन्दर योग्यता उत्पन्न करने की आवश्यकता न समझी। हर तरह से लोगों में हीनता आने लगी। "शौचात् स्वाङ्ग जुगुप्सा परैरसंसर्गः" इत्यादि सूत्रो का आश्रय लेकर एक दूसरे से स्पर्शास्पर्श का भी झगड़ा खड़ा करने लगे। आध्यात्मिकता के इस देश मे इस प्रकार के विचार जल्दी ही प्रचलित होगये। पतञ्जलि आदि के इन वाक्यों का अविद्वान् होने के कारण यथार्थ अर्थ न समझ सके। पाखण्डी लोगों ने धार्मिकता

का रङ्ग देकर इन बातों से अपना मतलब सिद्ध किया। हमारी सम्मति में अपशूद्राधिकरण का प्रश्न इस प्रकार के सूत्रों से ही अंकुरित हुआ है। मध्य-काल में अर्थात् कर्मकाण्ड के जमाने में यह सब अन्धेरगर्दी चल रही थी। यज्ञों में पशु वध होता था, जन्मगत उच्चता या नीचता जोरों से प्रचलित थी इसी समय महात्मा बुद्ध ने इन सब पाखण्डों की जड़ यहाँ से उखाड़नी चाही। परन्तु बुद्ध भगवान् वेदों को छोड़ बैठे। इसलिये भारतवर्ष मे वह सफलता लाभ न कर पाये। वेद के नाम पर पौराणिक तांत्रिक पण्डित प्रजा को बहका कर इनका विरोध करते रहे। बुद्ध के बाद उनके शिष्य सर्वथा नास्तिक हो गये। और नास्तिकता का प्रचार सारे भारत मे करने लगे। देश मे ऐसे समय आचार्य शंकर आये और उन्होंने अपनी विद्वत्ता, तार्किकता से समस्त विरोधियो को परास्त किया। जहाँ उन्होंने बौद्धो का खण्डन किया वहाँ कर्मकाण्ड का भी खण्डन किया परन्तु वेद के नाम पर होने वाले सामाजिक अत्याचारों का उन्होंने समर्थन किया। (समझ मे नहीं आता अद्वैत का प्रचारक सबको ब्रह्म मानने वाला आचार्य भी वैदिक मिथ्या रुढियो का समर्थक कैसे रह सका) इससे यही प्रतीत होता है कि बुद्धि का पुतला आचार्य शंकर ऋषि दृष्टि सम्पन्न व्यक्ति नहीं था,/आग्रह रहित नहीं था। पाठक गण अब हम यह दिखाने का प्रयास करेंगे कि आचार्य ने क्या भूल की है शूद्रों के सम्बन्ध में उनके क्या विचार थे।

"न शूद्रस्याधिकारः, वेदाध्ययनाभावात् अधीतवेदो हि विदितवेदार्थः वेदार्थेष्वधिक्रियते। न च शूद्रस्य वेदाध्ययन मस्ति, उपनयन पूर्वकत्वाद्वेदस्य, उपनयनस्य वर्णत्रय विषयत्वात्। यत्त्वर्थित्वं न तद्, असति सामर्थ्ये अधिकार-कारणं भवति। सामर्थ्यमपि लौकिकं न केवलमधिकार कारणं भवति, शास्त्रीयेऽर्थे शास्त्रीयस्य सामर्थ्यस्यापेक्षित त्वात्। शास्त्रीयस्य च सामर्थ्यस्य अध्ययननिराकरणेन निराकृतत्वात्।"

अर्थात् शूद्र को ब्रह्मविद्या में अधिकार नहीं है वेद न पढ़ने के कारण। क्यों कि वेद पढ़ने पर वेदार्थ ज्ञान के बाद तत्प्रतिपादित विषयों का अधिकारी होता है। और शूद्र को उपनयन संस्कार न होने के कारण वेद का अधिकार नहीं है। और जो यह देखा जाता है कि इच्छा है तो क्यों न उसे वेद ज्ञान दिया जाय तो उस पर हम कहते हैं कि सामर्थ्य होने पर ही इच्छा पूर्ति भी सम्भव है यदि कहो कि सामर्थ्य भी है परन्तु सामर्थ्य लौकिक ही तो है। वह सामर्थ्य तो शास्त्रीय चाहिये। और शास्त्रीय सामर्थ्य बिना पढ़े नहीं हो सकता, और शूद्र के शास्त्र पढ़ने का निषेध कर चुके हैं। इसलिये इच्छा और लौकिक सामर्थ्य अर्थात् ज्ञान ग्रहण सामर्थ्य होने पर भी शूद्र को वेद पढ़ाया ही नहीं जासकता।/ (पाठक गण सामर्थ्य का अर्थ यदि शास्त्र प्रतिपादित विषय ग्रहण सामर्थ्य है तो वह यदि किसी जन्मजात शूद्र मे है तो वह क्यों न ब्रह्मविद्या को सीखे) और फिर जन्म के शूद्र को जब वेद शास्त्र पढ़ने का निषेध कर दिया तो इससे अधिक पक्षपात क्या हो सकता है। शूद्र को वेदादि सत्य शास्त्रो को न पढ़ने देने के लिये आचार्य शंकर इस अपशूद्राधिकरण मे इतना जोर लगाया है जो उनकी संकीर्णता का सर्वथा परिचायक है।

हमारे बहुत से शंकर-पक्ष पोषक मान्य विद्वान् कह सकते हैं कि "वस्तुतः शूद्र शूद्र होने की दशा में ब्रह्मविद्या का अधिकारी कैसे हो सकता है, उसको वह समझ मे ही नहीं आ सकती क्योंकि (जो पढ़ाये से भी न पढ़े वह शूद्र है) परन्तु उन्हे समझना चाहिये कि आचार्य शंकर का शूद्र का लक्षण यह नहीं है उनके दिमाग मे तो जन्मजात शूद्रत्व ही शूद्र है। वह ('जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते') इस स्मृति को दृष्टि से ओझल किये हुए हैं। (भला जो किसी कार्यवश शूद्र कुल मे उत्पन्न हो गया हो और उसको पूर्व जन्म संचित पुण्य के कारण उत्तम बुद्धि, वैराग्य, कामादि की न्यूनता हो वह ब्रह्मविद्या का अधिकारी क्यो नहीं)? उसे वेद शास्त्र पढ़ने से वंचित कैसे रक्खा जा सकता है? आचार्य शंकर तो यहाँ

इतने संकुचित हो गये हैं कि विदुर को भी शूद्र लिख गये हैं। उनका लेख है—

(येषां पूर्वकृत संस्कारवशाद् विदुर धर्म व्याध प्रभृतिनां ज्ञानोत्पत्तिस्तेषां न शक्येत फल प्राप्तिः प्रतिषेद्धुं ज्ञानस्यै कान्तिक फलवत्वात्।)

अब आप समझ गये होंगे कि यहाँ किस विवशावश आचार्य को इतना लिखना पड़ा है। इससे यह तो स्पष्ट ही है कि कौरव और पाण्डवों मे सब से अधिक आचारवान, महाविद्वान्, नीतिज्ञ विदुर को भी शूद्र मानना क्या आग्रह बुद्धि का फल नहीं है। क्या इतने ऊंचे चरित्र वाला और इतना ज्ञानी शूद्र कहला सकता है? सभापर्व मे ब्राह्मण कीसी स्पष्टोक्ति विदुर के अतिरिक्त और किसी की सुनाई देती है?

("तदभाव निर्धारणे च प्रवृत्तेः"), सूत्र के भाष्य में सत्यकाम जाबाल की कथा को उद्धृत करके स्वयं शंकर सत्य न भाषण को ब्राह्मणत्व का चिह्न माना है। क्या महाभारत मे विदुर सा सत्यवादी कोई दूसरा दिखाई देता है?

छा०—४—२–४ मे रैक्व मुनि ने जान श्रुति शूद्र को पढ़ाया, लिखा मिलता है परन्तु उसको क्षत्रिय सिद्ध करने में अनेक प्रयत्न किये हैं। सीधे सादे उपनिषद् के शब्दो को न मालूम कहाँ कहाँ से मिलाकर आखिर यही लिखा है कि—"जाति शूद्रस्यानधिकारात्" जाति शूद्र को वेद पढ़ने का अधिकार नही है।

("श्रावयेच्चतुरो वर्णान्") का अर्थ लिखते हुए कहते हैं कि "इतिहास पुराणाधिगमे चातुर्वर्ण्यस्याधिकारः, वेद पूर्व कस्तु नास्त्यधिकारः शूद्राणामेति स्थितम्" अर्थात् इतिहास पुराण तो चारों वर्ण सुने लेकिन वेद शूद्र न पढ़ें और पढ़ें। यह मनुष्यता है—यह निष्पक्ष विचार हैं। सामर्थ्य का बहाना करना भी उचित नहीं है, शास्त्रीय सामर्थ्य शास्त्र पढ़ने पर ही तो उत्पन्न होगी। जब जाति शूद्र को शास्त्र पढ़ने की मनाई पहिले ही करदी फिर बेचारा किस प्रकार सामर्थ्य प्रदर्शित करेगा। कहाँ से सामर्थ्य आजायगी।

परमात्मा की सारी चीजें सबको समान मिले और ज्ञान का ठेका कुछ लोगो का ही हो यह सम्भव नही प्रतीत होता। इतना ही नहीं आचार्य शंकर ने जाति शूद्र के लिये इतने अपमानजनक शब्द लिखे हैं कि कोई सहनशील भी नहीं सह सकता।

("पद्यु ह वा एतच्छ्मशान यच्छूद्रस्तस्माच्छूद्र समीपे नाध्येतव्यम्")

'शूद्र चलता फिरता श्मशान है, अर्थात् श्मशान के सदृश अपवित्र है। इसलिये इसके समीप बैठकर अर्थात जहाँ तक यह सुनता हो वेद नहीं पढ़ना। और अगर वह बेचारा सुनले तो आप उसके लिये प्रमाण रूप से दण्ड उद्धृत करते है

अथास्य वेदमुप श्रृण्वतस्त्रपु जतुभ्यां श्रोत्र प्रति पूरणम्।

कि वेद सुनने की दशा मे उसके कान लाख और सीसा से भरदे।

और अगर बेचारा वेदोच्चारण कर बैठे या पढ़ लेवे और इन उदार चेताओं को मालूम हो जावे तो—भवति च वेदोच्चारणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीर भेद इति*। जिह्वा काटली जावे, शरीर के टुकड़े टुकड़े कर दिये जावे।

क्या कोई भी समझदार आदमी इस प्रकार के वाक्यो को जो अत्यन्त स्वार्थी आग्रह ग्रहीत व्यक्तियो द्वारा लिखे गये है कभी प्रमाण मान कर यह निर्णय करने मे प्रवृत्त हो सकता है कि किसी वर्ग विशेष को परम पिता की अमुक वस्तु का अधिकार नहीं है। अत्यन्त खेद और आश्चर्य है कि आचार्य शंकर इस विष पूर्ण मन्तव्य को किस प्रकार समर्थन कर गये? इस प्रकार के अमानुषिक अत्याचार पूर्ण वचन क्या शास्त्रीय वाक्य कहे जा सकते हैं?

इस लेख से यही सिद्ध होता है कि मध्य काल के बड़े से बड़े विद्वान् भी पक्षपात से शून्य नहीं थे। और न वे सामान्य प्रवाह मे से निकलने का साहस रखते थे। धन्य है आचार्य वर्यायमा महर्षि दयानन्द

*इस समस्त प्रकरण के लिये देखो वेदान्त सूत्र शांकर भाष्य प्रथम अध्याय तृतीय पाद अपशूद्राधिकरण—सम्पा०

आर्यसमाज की वर्तमान शिथिलता और उसको दूर करने के उपाय

(ले०—देशभक्त कुंवर चांदकरण शारदा अजमेर)

आज आर्य भाइयों का महान पुण्य पर्व है। आज के कल्याणकारी दिवस ही आर्यसमाज के प्रवर्तक भगवान दयानन्द ने भारत में नवजीवन संचार कर इस संसार से अपनी लीला संवरण की थी। वास्तव में आर्यसमाज ने भारत में एक नवयुग उपस्थित कर दिया, और संसार की काया ही पलट दी। कोई भारतीय उन्नति का ऐसा क्षेत्र बाकी नहीं बचा है जिसमें आर्यसमाज पथप्रदर्शक न रहा हो। आर्यसमाज ने धर्म, देश और जाति की निस्वार्थभाव से इतनी अधिक सेवा की है कि आर्यसमाज के कट्टर से कट्टर विरोधी भी आर्यसमाज की मुक्तकंठ से प्रशंसा करते हैं। और उसका लोहा मानते हैं। आर्यसमाज सूर्य की तरह स्वयं प्रकाशित हुआ और उसने दूसरों को प्रकाशित किया। परन्तु आज आर्यसमाज की दुर्दशा है। समाज के सभासदों की वृद्धि बहुत कम है। साप्ताहिक अधिवेशनों में उपस्थिति बहुत ही कम होती है। जहां देखो वहां दलबन्दी के दलदल में लोग फंस रहे हैं। कुछ लोगों ने अपने स्वार्थ सिद्ध करने के लिये अनाथालय आदि संस्थायें खोल ली हैं, और दुराचार का जीवन बिताकर वैमनस्य फैला कर आर्यसमाज को बदनाम कर रहे हैं। जब से कई आर्यसमाजों ने ऋषि दयानन्द के मिशन को पूरा करने के स्थान में और परम पवित्र वैदिक धर्म के प्रचार करने की जगह लुच्चे लफंगों को स्थान दे दिया है। तब से लोगों के हृदय से आर्यसमाज का आदर कम हो रहा है। अब छोटी छोटी बातों को लेकर परस्पर में लड़ाइयां हो रही हैं। संसार को आर्य्य बनाने के महान लक्ष्य को यह लोग भुला बैठे हैं। संस्थावाद इतना फैला है कि कुछ मत पूछो। कुछ तो मठाधीश बनकर सनातनी मन्दिरों के महन्तों को भी मात कर रहे हैं। सार्वदेशिक आर्य्य सम्मेलन के तीन वर्ष तक एक ही पदाधिकारी न रहे यह नियम होते हुए भी पदलोलुप लोगों ने न्याय से अथवा अन्याय से आर्यसंस्थाओं के मन्त्री तथा प्रधानों ने

सरस्वती को जिसने पौराणिकता के घने बादलों को छिन्न भिन्न करके वेदों का प्रकाश फैलाया और वेद का यथार्थ अर्थ करना सिखाया। मनुष्य को मनुष्य समझना सिखाया। महर्षि यदि आप न आते तो भारतीय सभ्यता को बर्बरता पूर्ण बताकर आज दुनियाँ कभी की छोड़ चुकी होती। इस विषय में आचार्य शंकर तनिक विवेक तथा साहस से काम लेते तो भारत का बहुत उपकार हुआ होता।

आज भी इस प्रकार के वाक्यों को प्रमाण मान कर पचासों पुस्तकों का शब्द जाल अपने मस्तिष्क में ठूंस रखने वाले पण्डितम्मन्य लोग पुराने जमाने की याद कर रहे हैं। परन्तु प्रगतिशील काल क्या इन पोंगा पन्थियों की इस चाल को सफल होने देगा? समय दूर नहीं है जब इस प्रकार के विचार वालों के साथ ही लोग घृणा का व्यवहार करने लगेंगे। जो मनुष्य को नीच समझना सिखाता है वह अवश्य ही तिरस्कार का पात्र है। अभी एम० सी० राजा के प्रस्ताव के विरोध में ये लम्बे तिलकधारी जगह जगह सभा करके अपनी संकीर्णता और मूर्खता का परिचय दे रहे हैं। भगवान इन्हें सुबुद्धि दे. ये मनुष्य को मनुष्य समझना सीखें, वेद की वाणी के सच्चे अभिप्राय को समझें।

पर्दों को दांतों से पकड़ रखा है। कई आर्यसमाजों में तो यहां तक नौबत आगई है कि म्युनिसिपल कमेटियों के चुनाव के लिये जैसे उम्मीदवार वोटों की भीख मांगते फिरते हैं वैसे गुटबंदी करके वोटों की भीख मांगते हैं। आर्यसमाज के कुछ लेखक और वक्ता भी जैसा अन्न खाते हैं वैसे ही गीत गाने लगे हैं, और निष्पक्ष भाव से सत्य समालोचना करके लोगों को सन्मार्ग पर लाने का प्रयत्न नहीं करते। आर्यसमाज में इस समय साक्षात् महाभारत का दृश्य उपस्थित हो रहा है। इन कौरवों को ठीक करने के लिये कृष्ण जैसे नीतिज्ञ की आवश्यकता है। दूसरी ओर हम देखते हैं कि आर्यसमाज के सिद्धान्त इतने उच्च हैं कि विदेशों में आर्यसमाज की चर्चा दिन दूनी रात चौगुनी फैल रही है। श्री० पं० अयोध्याप्रसादजी विदेशों से वैदिक धर्म प्रचार कर लौटे हैं। वो वहां आर्यसमाज का अति उज्वल भविष्य बता रहे हैं। प्रश्न यह है कि भारत की आर्यसमाजों की वर्तमान शिथिलता को दूर करने का क्या उपाय किया जाय ? अजमेर में दयानन्द निर्वाण अर्धशताब्दी के अवसर पर संसार भर के आर्यों ने जो प्रस्ताव पास किये थे वे किस प्रकार कार्य रूप में परिणत किये जावें ? मेरा उत्तर यही है कि निष्पक्ष आर्य संन्यासी विद्वानों की मंडली सारी समाजों में भ्रमण करे और वैमनस्य दूर करे। कोरी लीपा-पोती से काम नहीं चलेगा। दोषी को दोषी बताकर सत्यासत्य का निर्णय कर न्याय और धर्म का राज्य प्रत्येक स्थान पर स्थापित करना चाहिये। बहुत से लोग मुझे कहेंगे कि इस ऋषि उत्सव पर बजाय आर्यसमाज की प्रशंसा के गीत गाने के मैं यह क्या निंदा करने की चर्चा ले बैठा ? । त्रुटियों को बतलाने से हम कमज़ोर होते हैं। इन सब आर्य्य भाइयों को मेरा उत्तर यह है कि फोड़े को चीर कर मवाद निकालने की अत्यन्त आवश्यकता है। जीवित जाति का यही लक्षण है कि अपनी निर्बलता को दूर कर उन्नति के पथ पर चलने के लिये पुरुषार्थ करे। जब तक निष्पक्ष दल आर्यसमाजों में घुसे हुए षड्यन्त्रकारियों, दलबन्दियों, पार्टीबाज़ियों, धोकेबाजियों को मारकर नहीं भगावेगा सच्ची समालोचना कर लोगों को नहीं सुधारेगा तब तक आर्यसमाज जीवित नहीं कहलाया जा सकता। हमें स्वार्थों को छोड़कर धर्म की बलिवेदी पर चढ़ने वाले सच्चे आर्यवीरों की आवश्यकता है। इस समय स्थान स्थान पर मुसलमान व ईसाई मिशन हिन्दुओं की दलित जातियों को ईसाई मुसलमान धड़ाधड़ बना रहे है। मद्रास मे ईसाई और मुसलमानों का प्रचार बढ़ता जा रहा है। ट्रावनकोर राज्य में थिया लोग धड़ाधड़ ईसाई बन रहे हैं। मलाबार में तो ज़ोरो ज़ुल्म से मोपले लोग हिन्दुओं को मुसलमान बना रहे हैं। प्रिय आर्य्य वीरो ! गृहकलह को फौरन बन्द कर इधर ध्यान दो। आर्यवीरो ! आओ। आज के पवित्र दिवस व्रत लो कि हम महर्षि दयानन्द के पद चिन्हों पर चल कर महर्षि के मिशन की पूर्ति करेंगे। अपना जीवन शुद्ध त्याग और तपस्या बनावेंगे और कर्मवीर बनकर परम पवित्र वैदिक धर्म और आर्य्यसंस्कृति के प्रसार के लिये शुद्ध प्रेम दर्शा कर आर्यसमाज की विजय दुंदुभी सारे संसार में बजावेंगे। बोलो संसारोद्धारक ! पाखंड-खण्डिनी पताका फहराने वाले ! सच्चे तपस्वी महर्षि दयानन्द की जय।

धार्मिक सुधारक दयानन्द

स्वामी दयानन्द के सिद्धान्त उनके सत्यार्थप्रकाश में सन्निवेष्टित हैं। यही सिद्धान्त वेद भाष्य भूमिका में हैं। स्वामी दयानन्द एक धार्मिक सुधारक थे। उन्होंने मूर्तिपूजा से अविराम युद्ध किया। —सर वेलन्टायन शिरौल।

——::०::——

* वैदिक साम्यवाद की एक झलक *

(ले०—श्री बाबूलाल जी 'प्रेम' सिद्धान्त शास्त्री)

(१)

जिनके वरद हस्त के द्वारा, तृप्त हुआ सारा त्रिभुवन ।
करतल-गत-आमलक विश्व था ज्ञान दिया सबको गुरुवन ॥
अति वात्सल्य और ममता से, अर्पण कर निज तन मन धन ।
पालन पोषण किया जिन्होंने, भेद भाव तजकर विभु बन ॥

× × × ×

(२)

अतल वितल भूतल नभतल के, जो थे चक्रवर्ति नरपाल ।
जिनके चरण रेणु को छूकर, लौह स्वर्ण बनता तत्काल ॥
जो जग-विश्रुत पुरुषसिंह थे, मृत्युञ्जय था जिनका ध्येय ।
जिनकी उज्वल चरित-गीतिका, सत्य लोक में अब भी गेय ॥

(३)

समदर्शी थे साम्य भाव था, उच्च नीच का था नहिं भाव
विद्या-विनय-शील-द्विज,गो,करि श्वा, श्वपाक में था न दुराव ॥
ईश्वर से आवास्य विश्व लखि, तत्प्रदत्त वसुधा को जान ।
सब समान भागी ठहराकर, अपरिग्रह था किया महान ॥

× × × × × × × ×

(४)

उनके पावन साम्यवाद में, सहज वैर विसरा करके ।
एक घाट पानी पीते थे हरिण व्याघ्र क्रीड़ा करके ॥
पितु-कुल से गुरुकुल में आकर, रंक नृपति सब एक बने ।
क्या गंगा-जमुनी मिलाप ! जहँ, कृष्ण सुदामा प्रेम सने ॥

× × × ×

(५)

सब अमृत-सम्भव-सपूत फिर, एक शास्य क्यों शासक अन्य ।
क्यों यह भोग्य और भोक्ता वह, क्यों वह सभ्य और यह वन्य ॥
क्यों स्वर्गीय-सौख्य वे भोगें, क्यों दाने को यह मुहताज ।
उन पर क्यों वर्षा प्रसून की, इन पर क्यों दरिद्र की गाज ॥

(६)

क्यों वे व्योम विहारी बनकर, त्रस्त करें वसुधा क्षण क्षण ।
क्यों ये महा दैन्य दुख पावें, बनकर भू-लुंठित रज कण ॥
सूर्य्य चन्द्र जब अखिल भुवन को, दें अबाध गति से निज दान ।
फिर ये क्यों वंचित उस निधि से, क्यों नहिं भोगें एक समान ॥

× × × × × × × ×

(७)

क्यों अबोध कोमल कलिकायें, विनोदार्थ मसली जावें।
क्यों उन्मुक्त सारिकायें यह, पंजर में कसली जावें॥
क्यों पयस्विनी के प्रिय छौरे, माँ से विलग किये जावें।
क्यों इनका अमूल्य अमृतोपम, दुग्ध स्वार्थी ले जावें॥
× × × ×

(८)

नव-रसाल-वन विहरण-शीला, श्यामा क्यों करील सेवे।
क्यों अहारिणी मुक्त-माल की, झख, सिवार, शंबुक लेवे॥
वे शुचि हीरक, हरित दूर्ब को, रजनि भेंट जो दे जावे।
अरु ऊषा-सुहाग की लाली, सहस्रार्चि क्यों ले जावे॥

(९)

जो दूर्भाङ्कुर-मात्र-वृत्ति जन, हरिण साथ चरने वाले।
क्यों मघवा उनको बंधवा कर, तपो भंग करवा डाले॥
जिनकी जीवन-सरित और, स्वातन्त्र्य समानान्तर जावें।
क्यो उन अविरल धाराओं मे, दुर्वृत्त शिला खंड आवें॥
× × × × × × × ×

(१०)

क्यो विभावरी शरचन्द्र से, क्यों शफरी हो नीर विहीन।
भ्रमर कमलिनी मधुर मिलन में, क्यो घातक हो करिणि मलीन॥
क्यों सागर राकेन्दु बिम्ब लखि, पुत्र प्रेम से हो न अधीर।
निज समक्ष सुत व्यथा देखकर, क्यो न जननि को होवे पीर॥
× × × ×

(११)

सिंहिनि निज शावक घाती लखि, क्यो न रोप हुंकार करे।
व्याली मणि-विहीन होकर के क्यों न कोप फुंकार भरे॥
क्यों न नराधम खल नृशंस का आर्य युवक प्रतिकार करे।
क्यों न कान्ह खल कंस मारि, निज जननी का उद्धार करे॥

(१२)

उन ऋषियो ने सर्व भूत में, आत्मभाव भरने वाला।
"ग्रहण करो मत स्वत्व किसी का" यह आदर्श सदा पाला॥
उनकी सहज कल्पनाओ ने, द्वैत जगत को पार किया।
सब में अपना ही स्वरूप लखि त्रिभुवन एकाकार किया॥
× × × × × × × ×

(१३)

एक धर्म था, एक कर्म था, एक भेष था भाषा एक।
एक लक्ष्य था, एक भक्ष्य था, एक सदा रक्खी थी टेक॥
एक पतिव्रत, एक स्त्री व्रत, एक उपास्यदेव गुरु एक।
एक तन्त्र था, एक मन्त्र था, एक भाव, बल, बुद्धि, विवेक॥
× × × ×

——:——

ऋग्वेद में दानस्तुति

[ले०—पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक विरजानन्दाश्रम लाहौर]

ऋग्वेद में कई स्थलों पर दानस्तुतियों का वर्णन आता है। सबसे अधिक दान स्तुतियाँ ऋग्वेद के अष्टम मण्डल में उपलब्ध होती हैं। इन स्तुतियों का क्या अभिप्राय है इस विषय में विद्वानों के दो मत है। पाश्चात्य तथा कतिपय एतद्देशीय विद्वान् यह मानते है कि राजाओं ने समय समय पर ऋषियों को जो दान दिया उसी दान का वर्णन इन मन्त्रों में आता है। प्राच्य वैदिक विद्वानों का मत है कि वेद नित्य हैं उनमें किसी भी ऐतिहासिक घटना का वर्णन नहीं हो सकता। इसलिये वेद की इन दानस्तुतियों में भी किन्हीं व्यक्ति विशेष राजाओं के दान की स्तुति नहीं है। किन्तु जिस प्रकार ऋ०१०। १७३, १७४ का देवता 'राज्ञः स्तुति' अर्थात् सामान्य राजा की स्तुति का उल्लेख है (इन सूक्तों से प्रत्येक अभिषिक्त राजा की स्तुति होती[1] है) इसी प्रकार इन दान स्तुतियों मे भी सामान्यतया राजाओं द्वारा (विशेष व्यक्तियों द्वारा नहीं) प्रदत्त दान की स्तुति है। और जो तत् तत्स्थलों पर व्यक्ति विशेषों के नामों के उल्लेख का आभास होता है वह केवल वेद सम्बन्धी नियमों के अज्ञान के कारण होता है। निरुक्त तथा ब्राह्मण ग्रन्थों की प्रक्रियानुसार वे शब्द निर्वाचन द्वारा सामान्य वाचक ही हैं। इस लेख मे संक्षेप से इन्हीं दोनों पक्षों पर विचार करने के लिये एक दान स्तुति पर विचार किया जाता है।

सर्वानुक्रमणीकार कात्यायन परिभाषा प्रकरण में लिखा है "प्रायेणैन्द्रे मरुतः, राज्ञां च दान स्तुतयः" [२।२२, २३] अर्थात् इन्द्र देवता वाले सूक्तों में प्रायः (बहुत) करके मरुतों का निपात होता है। और राजाओं की दान स्तुतियां भी ऐन्द्र सूक्तों में उपलब्ध होती हैं। 'राजा च दानस्तुतय.' इस सूत्र के 'च' पद से पूर्व सूत्रान्तर्गत 'प्रायः' पद का अनुकर्षण होता है। कई व्याख्याता[1]च पद को अवधारणार्थ मानते हैं। उनके पक्ष मे ऐन्द्रसूक्तों के अतिरिक्त दानस्तुति नहीं हो सकती। किन्तु ऋ० मं० १० सू० ६२ मं० ८–११ तक सावर्णि की दानस्तुति ऐन्द्र सूक्तान्तर्गत नहीं है। इसलिये च पद की प्रथम व्याख्या ही ठीक है।

ऋग्वेद मं० ८ सू० ३ मं० २१–२४ तक का देवता सर्वानुक्रमणी मे "...... चान्त्याः कौरयाणस्य पाकस्थाम्नो दानस्तुति." अर्थात् कुरयाण के पुत्र पाकस्थामा राजा की दानस्तुति लिखा है। इन मन्त्रों मे पाक स्थामा और कौरयाण दोनों ही पद आते है। अतः स्वभावतः शंका उठती है कि क्या वस्तुतः इन मन्त्रों मे उक्त राजा के दान का वर्णन है ? या इन पदों का सम्बन्ध राजा के साथ करके दानस्तुति का वर्णन किया है। इस पर कुछ लिखने से पूर्व अनुक्रमणीकार के विषय में भी कुछ विचार कर लेना उचित होगा।

सर्वानुक्रमणी का कर्त्ता आचार्य कात्यायन शौनकाचार्य का शिष्य[1]था। उसने अपने ग्रन्थ की रचना अपने आचार्य विरचित बृहद्देवता आदि ग्रन्थों के आधार पर की है। जो कि उक्त दोनों ग्रन्थों के अवलोकन से स्पष्ट प्रतीत होता है शौनकाचार्य अपने बृहद्देवता में आचार्य यास्क के मत का असकृद् उल्लेख करता(२)है। जो प्रायः निरुक्त में उपलब्ध होते है (कुछ स्थल ऐसे भी है जो निरुक्त में उपलब्ध नहीं होते। सम्भव है वह किसी अन्य यास्कीय ग्रन्थ से उद्धृत किये गये हों। एक यास्कीय तैत्तिरीय सर्वानुक्रमणी भी

(१) अभिषिक्तस्य राज्ञः स्तुतिरूपोऽर्थोदेवता इति सायणः ॥ ऋ० १०।१७३ ॥

(२) 'चकारोऽवधारणे' इति षड्गुरुशिष्यः ॥

(१) ननुच एकोहि शौनकाचार्य शिष्योभगवान् क यतः कथं बहुवचनम् इति षड्गुरुशिष्यः।

(२) देखो बृहद्देवता २।१११–११४ ॥

उपलब्ध(३)हुई है। सम्भव है शेष स्थल उसमें उपलब्ध होजावें।) कात्यायन के आचार्य द्वारा सम्मानित यास्क का दानस्तुतिपरक मन्त्रों के विषय मे क्या मत है, यदि यह विदित होजाय तो वह अवश्य ही महत्वपूर्ण होगा।

यास्काचार्य निघण्टु अ० ४ खं० २ मे कौरयाणः पदको पढ़ता है। चतुर्थाध्याय में वे ही पद पढ़े गये हैं जो अनेकार्थ या अनवगत संस्कार अर्थात् जिनका प्रकृति प्रत्ययरूपी विभाग प्रतीत नहीं होता है। निरुक्त के चतुर्थाध्याय के प्रारम्भ में लिखा है–'अथ यान्यनेकार्थानि एक शब्दानि तान्यतोऽनुक्रमिष्यामोऽनवगत संस्कारांश्चनिगमान्" [४। १] यास्काचार्य ने कौरयाणपद की व्याख्या करते हुए लिखा है कौरयाणः कृतयानः पाकस्थामा कौरयाण इत्यपि निगमो भवति" [नि० ५। १५] निरुक्त की इस व्याख्या से प्रतीत होता है कि कौरयाणः पद अपत्य प्रत्ययान्त नहीं है इसका वाच्य कोई व्यक्ति विशेष नहीं है। यदि ऐतिहासिक परम्परा अनुसार इन पदों का वाच्य कोई व्यक्ति विशेष होता तो यास्क उसका भी उल्लेख अवश्य करता। और यदि यह पद अपत्यप्रत्यान्त होता तो इसका निघण्टु के चतुर्थाध्याय में समाम्नान भी व्यर्थ होता क्योंकि ऐसी अवस्था में यह पद अनवगत संस्कार नहीं रहता। जो विद्वान् वर्तमान निघण्टु का कर्त्ता कश्यप प्रजापति को मानते हैं। (वस्तुतः यह मत अयुक्त है) । उनके मत मे यह पद और भी महत्वपूर्ण हो जाता है क्योंकि कश्यप प्रजापति का काल यास्क से अत्यन्त प्राचीन है।

दुर्ग ने उपर्युक्त नैरुक्त पाठ की व्याख्या निम्न प्रकार की है—'कौरयाण.' इत्यनवगतम्। 'कृतयानः' इत्यवगम। यं मे दुरिन्द्रो मरुतः पाकस्थामा कौरयाणः। विश्वेषां त्मना शोभिष्ठमुपेव दिवि धावमानम्॥ ऋ० ८। ३। २१॥ मेधातिथेः काण्वस्यार्षम्। यानमनया प्रशस्यते। यं मे मम दुर्दत्तावन्तो मरुत इन्द्रश्च पाकस्थामा विपक्वप्राणः कौरयाणः संस्कृतयान. विश्वेषां त्मना सर्वेषामपि यानानामन्य प्रतिगृहीतृसत्ताकानां मध्य आत्मना तदेवशोभिष्ठं शोभनतममने करत्न विचित्रत्वात् दिवीव ज्योतिश्चक्रं उपधावमानं दृश्यते।

एवमत्र शब्द सारूप्यादर्थोपपत्तेश्च कौरयाणः कृतयान इत्युपपद्यते॥

दुर्ग की इस नैरुक्त व्याख्या में व्यक्ति विशेष का वर्णन तो दूर रहा दान की स्तुति भी उपलब्ध नहीं होती। उसके मत में यह मन्त्र यान की स्तुति का है।

बृहद्देवताकार इन ऋचाओं के सम्बन्ध में लिखता है—पाकस्थाम्नस्तुभोजस्य चतुर्भिर्यमिति स्तुतम् ६। ४५॥ यहां पर शौनक ने पाकस्थामा का विशेषण कौरयाण नहीं दिया क्योंकि उसे यास्कीय 'कृतयानः' अर्थ प्रतीत था। इससे भी यह स्पष्ट है कि पाकस्थामा कुरयाण का अपत्य नहीं था। शौनक पाकस्थामा का विशेषण 'भोज' देता है जोकि इसी प्रकरण की अन्तिम ऋचा में उपलब्ध होता है। स्कन्द महेश्वर अपनी निरुक्त टीका में इस मन्त्र का अर्थ निम्न प्रकार करता है—

कौरयाण इत्यनवगतम्। कृतयान इत्यवगमः। शत्रून् प्रतिकृतमेव यानं येन नित्य कृतगमन इत्यर्थः। हस्त्यश्वरथेत्यादि साङ्ग्रामिकं कृतमाकल्पित प्रयाणाभिमुख यानं यस्य। उदाहरणम् –य मे दुरिन्द्रो मरुत. पाकस्थामा कौरयाणः। विश्वेषां त्मना शोभिष्ठमुपेव दिवि धावमानम्॥ मेधातिथिर्दानमनयाचष्टे यमिति रोहितस्य ऋषभस्य प्रतिनिर्देशः। कुत एतत ? उत्तरस्यामृचि—रोहित मे पाकस्थामा सुधुरं कक्ष्यप्राम अदाद्रायो विबोधनम्॥

इति पाकस्थाम्नस्तस्य दानदर्शनात्। अतोऽयमर्थः। यं रोहितमृषभं मे मह्यं दुरदुर्दत्तवन्तः। के ? इन्द्रो मरुतश्च। पाकस्थामा इत्थाम शब्दो लोके प्राणे प्रसिद्धः पाकः परिपक्वो महान् स्थामो यस्य स पाकस्थामा महाप्राणश्चेत्यर्थ.। भोजो नाम राजा कौरयाणः शत्रून प्रति कृतयानः। विश्वेषां सर्वेषां वृषभाणां मध्येत्मना 'मन्त्रेष्वाङ्यादेः' इत्याकारलोप., आत्मना एवं शोभिष्ठमतिशयेन शोभावनाम। महता नादेन उपदिवि धावमानमिव। दिवि द्वितीयार्थे सप्तमी। दिव्याकाशेनेव गच्छन्तमित्यभिप्रायः। यच्छ्रुतेः साकाङ्क्षत्वात् तच्छब्दोऽध्याहार्यः। तमहं प्रतिगृहीतवानिति शेषः।

अथवा यमिति सप्तम्यर्थे द्वितीया। उत्तरयार्चा चैकवाक्यता। यस्मिन्काले मह्यं दत्तवन्त इन्द्रादयो दानानि। यस्मिन्निति श्रुतेस्तस्मिन्नित्यध्याहार्यम्। तस्मिन्नेव सर्वेषां

---

(३) वैदिक वाङ्मय का इतिहास भाग १ (ख) पृ० २०४, २०५॥

मध्येऽतिशयेन शोभावन्तं महता नादेन बृहता उपधावन्त मिषद्विरोहितं वृषभं मे मह्यं पाकस्थामा महाबलो भोजो राजा सुधुरं सम्यगूह्यमानत्वात् शोभनावूर्यस्य तं सुधुर सम्यग् वोढारमित्यर्थः। कक्ष्यप्रां कक्ष्यया पाशेना पूरयितारं पीवरं बलवन्तमित्यर्थः। अदाद् दत्तवान् रायो गोधनस्य विवोधनं विवोधनकरं मन्थन कर मित्यभिप्रायः।

इस व्याख्या को देखते हुए प्रतीत होता है कि स्कन्द ने अर्थ को करते हुये बृहद्देवता का आश्रय लिया है उसने इस मन्त्र में राजा भोज के दान की स्तुति का वर्णन किया है और सर्वानुक्रमणी प्रतिपादित व्यक्ति विशेष वाची (पाकस्थामा-कौरयाणः) पदों का यौगिक अर्थ किया है। दुर्ग और स्कन्द दोनों ही इनका अर्थ पाकस्थामा = महाप्राण (बलवान्) कृतयान = जिसने शत्रुओं पर चढ़ाई की हो करते हैं। जिससे यह स्पष्ट है कि ये दोनों पद व्यक्तिविशेष वाची नहीं है।

अब प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या वस्तुतः ये मन्त्र किसी व्यक्ति विशेष की दानस्तुति परक नहीं हैं? इस का उत्तर यह है कि निरुक्त के अर्थ की तथा शौनक और कात्यायन के परस्पर के भेद को लक्ष्य मे रखते हुए यह निश्चय होता है कि इन मन्त्रों में आये हुए पाकस्थामा और कौरयाण ये पद किसी व्यक्ति विशेष के नाम नहीं हैं। साथ ही इसका भी ध्यान रखना आवश्यक है कि इस नाम वाले किसी भी राजा का वर्णन इतिहास में उपलब्ध नहीं होता। जिस प्रकार यास्क वेदों को अपौरुषेय मानता(१) है उसी प्रकार शौनक तथा कात्यायन ये दोनों आचार्य भी वेद को अपौरुषेय मानते हैं। अतएव उन्होंने स्थान स्थान पर अपने ग्रन्थों में ऋषियों के साथ दृश् धातु का ही प्रयोग किया है यथा—

मन्त्र दृग्भ्यो नमस्कृत्य समाम्नायानुपूर्वशः॥बृ०दे० १।१॥
गृत्समदो द्वितीयं मण्डलमपश्यत ॥सर्वा० २।१॥
वामदेवो गौतमश्चतुर्थमण्डलमपश्यत् ॥सर्वा० ४।१॥
इत्यादि(२)॥

(१) १।२॥

(२) द्रष्टव्य—आर्यसिद्धान्त विमर्श में मुद्रित "क्या ऋषि मन्त्र रचयिता थे?" शीर्षक मेरा लेख पृ० ४७३—४७६॥

जब यह निश्चित होगया कि पाकस्थामा और कौरयाण पद व्यक्ति विशेष के वाचक नहीं हैं तो दूसरा प्रश्न उपस्थित होता है कि कात्यायन तथा शौनक ने इस रूप से वर्णन क्यों किया? इसका उत्तर यह है कि मन्त्रों में केवल दान स्तुति प्रतीत होती है जिस प्रकार ऋ० मं० १० सूक्त १७३, १७४ में किसी व्यक्ति विशेष राजा की स्तुति नहीं है हम प्रत्येक राजा की स्तुति उक्त सूक्तों से कर सकते हैं। इसी प्रकार दान स्तुति वाले मन्त्रों में भी किसी व्यक्ति विशेष के सम्बन्ध से रहित केवल दान की स्तुति मात्र का उल्लेख है। वह दान स्तुति राज सम्बन्धिनी है या मनुष्य-मात्र सम्बन्धिनी, इसके लिये कात्यायन ने लिखा है—'राज्ञां च दानस्तुतयः' अर्थात् ये दान स्तुतियां राज सम्बन्धिनी हैं। राजा के अर्थ में इन्द्र शब्द का प्रयोग वैदिक साहित्य मे प्रायः करके उपलब्ध होता है यथा ऋ० ७।२७।३ अथ० ६।६८।१॥ इत्यादि

प्रकृत मन्त्र में पाकस्थामा और कौरयाणः पद स्पष्टतया इन्द्र के विशेषण प्रतीत होते है। मन्त्र का पाठ ऊपर दिया जा चुका है। अब रहा शौनकाचार्य उल्लिखित 'भोज' शब्द। अथर्ववेद का० २० सूक्त ८९ मं० ३ मे 'भोज' शब्द इन्द्र के लिये आया है मन्त्र भाग इस प्रकार है—"किमङ्ग त्वा मघवन् भोज माहु."।

महाभारत में भोज शब्द को राजा सम्राट् भूपति नृप आदि शब्दों का पर्यायवाची माना है श्लोक निम्न प्रकार है—

राजा भोजो विराट् सम्राट् क्षत्रियो भूपति र्नृपः।
य एभिः स्तूयते शब्दैः कस्तं नार्चितुमर्हति ॥
शान्ति प० ६८।५४॥

अतः उपर्युक्त विवेचना से विवशतया यह मानना पड़ेगा कि कौरयाणः, पाकस्थामा और भोज ये पद व्यक्ति विशेष के वाचक नहीं हैं अतएव प्रस्तुत मन्त्र भी किसी व्यक्ति विशेष राजा की दानस्तुति के नहीं हैं। कात्यायन तथा शौनक ने मन्त्रार्थ को सुगमतया समझाने के लिये ही इस आख्यान की कल्पना की है। आचार्य यास्क लिखता है "ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता" [निरु० १०।१०] अर्थात् मन्त्रार्थ के द्रष्टा ऋषि की आख्यान से युक्त वर्णन में प्रीति होती है। इसका अभिप्राय यह है कि जब ऋषियों को किसी मन्त्र के अभिप्राय का प्रतिभान होता

है तो वह अन्यों को उसका अभिप्राय समझाने के लिये आख्यान की कल्पना करके उस पर मन्त्रार्थ को घटाकर बतलाता है जिससे वह गूढ़ार्थ सर्व साधारण मनुष्यों को भी हृदयङ्गम हो जावे। यही बात निरुक्त १०।४६ में भी लिखी है। यही निरुक्त तथा अन्य वैदिक ग्रन्थों में उपलब्ध होने वाले आख्यानों का स्वरूप है। वृत्रासुर युद्ध का वर्णन करते हुए यास्क ने लिखा है "तत्र उपमार्थेन युद्धवर्णा भवन्ति" [नि० २।१६] अर्थात् इन्द्र और वृत्र का वास्तिक युद्ध नहीं है किन्तु वृष्टि विद्या का वर्णन [ऋ० १।३२] है वहां पर उपमा रूप से युद्ध का वर्णन किया है। इसलिये सम्पूर्ण वेद सम्बन्धी आख्यान कल्पना (१) मात्र हैं उनका ऐतिहासिक मूल्य कुछ भी नहीं है और न उनसे कोई बात निश्चित हो सकती है। जो लोग इस विज्ञान को न जान कर वेद मे इतिहास ढूंढने का यत्न करते है वे निष्फल प्रयत्न करते है।

ऋग्वेद मे जितनी भी दान स्तुतियां उपलब्ध होती हैं उनका यही स्वरूप है (वे किसी व्यक्ति विशेष राजा के दान की स्तुतियां नही है)। जिस प्रकार इस दान स्तुति पर प्रकाश डाला गया है उसी तरह समय समय पर अन्य दान स्तुतियों पर भी प्रकाश डाला जायगा ॥ इति शम् ॥

(१) जो इस विषय में अधिक जानना चाहें वह मेरे पूज्य आचार्य श्री पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु लिखित 'वेद में इतिहास' लेख को पढ़ें। वह लेख आर्य सिद्धान्त विमर्श पुस्तक मे पृ० ३७१—४२६ तक मुद्रित हुआ है।

स्मृति

(ले०—रचयिता प्रो० मुंशीरामजी शर्मा 'सोम')

आह, गईं वे बातें, वे दिन, और वीरता का वह बाना।
अरे, अरे, सब स्वप्न होगया, वह सब देखा भाला जाना ॥
वह आदर्श प्राप्ति के पथ में मर मिटने की शुभ अभिलाषा।
मुक्ति मार्ग में सब कुछ खोकर एक वस्तु पाने की आशा ॥
आह ! गईं वे घड़ियों निशि की जिनमे तारकचय झिलमिलकर।
देते थे संदेश, रहो, ओ भारत के बच्चो ! हिलमिलकर ॥
और मलय मारुत सन सन स्वन सहित मधुर गाना गाता था।
रजत-राशि शशि हँस हँस जिसपर नूतन नर्तन दिखलाता था ॥
सीखा, हाँ, हम सबने सीखा, उन घड़ियों में हँसना रोना।
मातृभूमि पर नाचनाच कर शीश चढ़ाना, मल-दल धोना ॥
निरत कर्म में, ध्यान मर्म में, नीरवगतिमय प्रकृति सिखाती।
खेले इसकी विमल गोद में पाई अतुल राशि मन भाती ॥
आह ! किधर हैं वे पल मेरे ? क्या न पलट कर फिर आवेंगे ?
मृदुल कामना दबी पड़ी है, क्या न उसे ऊपर लावेंगे ?
सार्थक होंगे वे क्षण जिन में उषा लालिमा दिखलावेगी।
इस जीवन की चिर आराध्या हँसती स्वतंत्रता आवेगी ॥

राष्ट्र भाषा का प्रश्न

[ले० श्री प्रो० रमेशचन्द्रजी बनर्जी एम० ए० जैसोर बंगाल]

अब इस विषय में कुछ भी संदेह नहीं रहा कि हमारी राष्ट्रभाषा हिन्दी है। ऋषि दयानन्द की अपार करुणा से हमारा ज्ञाननेत्र खुला हुआ है। अब कॉंग्रेस ने भी मान लिया है कि हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा होने की योग्यता रखती है। कांग्रेस के जन्म से पूर्व, जब राष्ट्रभाषा का प्रश्न हमारे मन में स्वप्न मे भी न देखा जाता था, तब से ऋषि की दूर दृष्टि ने राष्ट्रभाषा को आवश्यकता समझली थी। इस निबन्ध के तुच्छ लेखक का हिन्दी प्रेम ऋषि की अपार करुणा का फल है जिस से मुझ जैसे दरिद्र के एक छोटे पुस्तकालय का आधा भाग हिन्दी पुस्तकों से भरा हुआ है, और वह भी पुस्तक आर्य साहित्य की। लिखना और बोलना अभ्यास के अभाव से कठिन होता है, परन्तु पढ़ना आसानी से होता है।

यू० पी० और बिहार के लिए हिन्दी मातृभाषा ही है। पंजाबियो मे हिन्दी प्रचार आर्यसमाज का ही प्रशंसनीय कार्य है और पजाबी सज्जन आर्य समाज की प्रेरणा से शीघ्रातिशीघ्र लाभ उठा रहे हैं। बंगाल में हिन्दी प्रचार थोड़ा बहुत हो रहा है। अब बंगाल के हिन्दी शिक्षार्थी के सामने प्रश्न उठता है कि शिक्षणीय हिन्दी कैसी हो। क्या वह उर्दू का ही दूसरा संस्करण होगी, अथवा विशाल हिन्दू जाति की सुगमता के लिए वह भारतीय भाषा मातृदेवी संस्कृत की यथा सम्भव अनुगामिनी होगी।

इस विषय मे कांग्रेस का नाम स्वतः आ जाता है। कांग्रेस के अनुसार एक राष्ट्र की केवल दो भाषा ही नहीं, दो वर्णमालाएं (Alphabet) भी रहेंगी। भूमण्डल में ऐसा अद्भुत विचार कहीं नहीं है। हमारे लिए यह विस्मय का कारण नहीं है, क्योंकि, खिलाफत से लेकर साम्प्रदायिक निर्णय Communal Award) तक कांग्रेस की जो नीति हो चुकी है साधारण व्यक्तियों की बुद्धि में वह मुसलमानों की खुशामद ही है। मुसलमान उर्दू छोड़ेंगे नहीं। हिन्दी केवल हिन्दुओं की राष्ट्रभाषा रहेगी।

हिन्दी में अरबी फारसी शब्दों का प्रयोग कितना होना उचित? एक एक प्रान्त में हिन्दी का आदर्श थोड़ा थोड़ा भिन्न होता है। बिहार से जितना पश्चिम चलो उतना ही हिन्दी और उर्दू का प्रभेद कम होता जाता है। जितना फारसी अरबी शब्दो का प्रयोग होगा उतनी ही हिन्दी "अच्छी" होती है। प्रयाग मे विशेषतः यह मेरा वैयक्तिक अनुभव है। "मनुष्य का स्वास्थ्य" न कह कर "इंसान की तन्दुरुस्ती," "व्यवहार करना" के स्थानमे "इस्तेमाल करना," 'भलाई" के स्थान में "नेकी" "सुन्दर" और "स्त्री" न कह कर "खूबसूरत" और "औरत" कहने से हमारी हिन्दी "उम्दा" होती है। परन्तु बंगाल के (तथा महाराष्ट्र आदि दक्षिण देश के) हिन्दू ऐसी यावनिक भाषा का यथासाध्य वर्जन करना उचित समझते हैं। इस विषय मे आर्य साहित्य आदर्श स्थानीय हो चुका है। परन्तु कथित हिन्दी और आर्य समाज के बाहर के लेखको का मनोयोग इस विषय मे होना चाहिये। हिन्दुओ में हिन्दी प्रचार की बाधा होगी। मेरा आशय यह नहो है कि यावनिक शब्द एक भी प्रयोग न किया जाय। जितना वर्जन हो सकता है। होना चाहिये यह नीति बंगभाषा में मानी जाती है; हिन्दी में वह असम्भव न होगी। मैं हिन्दी का एक अति तुच्छ पाठक हूं। हिन्दी के सम्बन्ध में कुछ भी समालोचना मेरी योग्यता के बाहर है। एक अयोग्य

पाठक और शिक्षार्थी के रूप में अपना विचार आप के सामने मैं रखता हूँ। स्मरण होता है कि देश-भक्त सावरकरजी का एक लेख इस विषय में "आर्यमित्र" में प्रकाशित हुआ था। उनका कथन था कि यदि अत्यधिक यावनिक प्रभाव से हिन्दी को न बचाया जाय, तो हिन्दी के प्रचार का कुफल यह होगा कि विशुद्ध मराठी भाषा की अधोगति होगी। बंग-भाषा के सम्बन्ध में भी बात एक ही है। हम बंगाली लोग बंगभाषा की मर्यादा रक्षा के लिये प्रबल आन्दोलन कर रहे हैं। मकतबो और मदरसो में एक विकृत बंगभाषा की शिक्षा सरकार के सहाय से हो रही है। जिस से बालकपन से ही मुसलमान लड़का अपनी मातृभाषा बंगला को भूल जाय और एक "नकली अरबी" भाषा को अपनी कर सके। हम इसके विरुद्ध आन्दोलन चला रहे हैं, जिसमे कुछ भाग इस तुच्छ लेखक का भी है। जिस अनर्थ को हम दूर रखना चाहते है, हिन्दी के प्रचार से अनर्थ हमारे घर में घुस जाय इस पर ध्यान रखना चाहिये।

कुछ एक यावनिक शब्दों ने ऐसा अड्डा जमा लिया है कि उनका वहिष्कार प्राय: असम्भव है। जैसे बंगाल में ऐसी बंशपदवी (Family names) सरकार, मजुमदार, कानुनगो, खाँ (देवन्द्रलाल खाँ) इत्यादि और उत्तर भारत मे :—मातागुलाम, राम दीन, इकबाल नारायण इत्यादि परन्तु किसी भद्र व्यक्ति के नाम के साथ "साहब" "मित्र" के बदले "दोस्त" इत्यादि का वर्जन सहज है। बंगाल का कोई अशिक्षित हिन्दू भी "सलाम बाबू साहब" कह कर हिन्दू का अभिवादन नहीं करता। "नमस्कार" "प्रणाम" ऐसा कहता है।

दोहा

शङ्कर के प्यारे बनो बैर विरोध विसार।
वैदिक वीरो जाति का, करदो सर्व सुधार॥
—'शङ्कर'।

ऋषि राज

(ले०—साहित्य भूषण श्री कालीचरण विशारद)

—x—

वह धर्म ध्वज शोभित सुपाणि
वह मुख मंडल रवि सा प्रदीप्त
कौपीन युक्त वह शुभ्रवेष
है दयानन्द का विश्व ज्ञात—
उसने देखा वैदिक स्वराज्य।
अरु शिखा सूत्र की रखी लाज॥

वाणी मे उसकी रही शक्ति
सम्मुख जिसके करना विरोध
होता था घन गर्जन समक्ष
ज्यों मेढक का जल मे निनाद—
जिसने दिखलाया धर्म राज।
अरु शिखा सूत्र की रखी लाज॥

वह ब्रह्मचर्य मय मूर्त्ति लाल
ज्यों सोने का पर्वत विशाल
बलवान यथा हो हनूमान
वह सत्य-सिन्धु निर्भय महान—
था किया जन्म भर देश काज।
अरु शिखा सूत्र की रखी लाज॥

भय भी जिसमे भयभीत रहा
उस नरवर के उपदेश रत्न
निर्भय करते जगतीतल को
दिखला कर सच्चा कर्म मार्ग—
वह सदा रहा अरि हेतु गाज।
अरु शिखा सूत्र की रखी लाज॥

आर्ष-संस्कृति का केन्द्र—अरण्य

(ले०—श्री प० रामदत्तजी शुक्ल एम० ए० एडवोकेट)

भद्रमिच्छन्त ऋषय. स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे ।
ततोराष्ट्रं वलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उपसंनमन्तु ।

अथर्व-१६-४१ ।

अनन्त शक्ति-सम्पन्न विश्वम्भर विरचित व्यापक विश्व विस्मयोत्पादक वैचित्र्य पूर्ण विशाल वन है। सुविस्तृत वन मे प्रवेश करके जिस प्रकार परिमित साधन शक्तिसमन्वित प्राणी सब प्रकार की चेष्टाओं के उपरान्त भी हताश होजाता है और उस के ओर छोर का ठीक पता लगाने म सर्वथा असमर्थ सिद्ध होता है विश्राम लेकर पुन: प्रयत्न करता है, किन्तु परिणाम यथा पूर्व ही होता है। उसी प्रकार अपने शुभ अथवा अशुभ प्राक्तन संस्कार वश एवं इह जन्म सम्पादित शिक्षा दीक्षानुसार न्यूनाधिक कृत कार्यता लाभ कर जीवनलीला समाप्त करने को विवश होता है। अथवा अपनी योजनाओं के अनुरूप समस्त कर्त्तव्यों को पालन करते हुये अपना कार्य अधूरा छोड़कर ही जीवन क्रीडा क्षेत्र से वहिर्वर्त्ती होजाता है। अनन्त काल से असख्य प्राणियों ने इस परिवर्तनशील विश्ववन को अपनी २ सामर्थ्यानुसार निर्दिष्ट कर्मो का क्षेत्र बनाने का साहस के साथ उद्योग किया उनमे से कुछ सफल समझे गये और शेष पथच्युत श्रेणी मे रक्खे गये। इस प्रकार के लेखे का नाम ही इतिहास हुआ।

व्यक्तियों के जीवन जातियों, राष्ट्रों और संस्कृति के जीवन की अपेक्षा न्यून कालिक होते हैं अत: यथावसर संस्कृति की रक्षा के लिये राष्ट्र, राष्ट्र के जीवन के लिये जाति, जाति के अस्तित्व की रक्षा के लिये व्यक्ति का उत्सर्ग किया जाता रहा। यह पारस्परिक क्रम प्राय: संसार के समस्त भूखण्डों में अबाध रूप से प्रचलित रहा। एक शब्द में संग्राम अथवा युद्ध पद से इस प्रकार की महती एवं समष्टि साध्य चेष्टाओं को मानव जाति ने व्यवहृत किया। अनेक प्रकार के विचार भेदों की चरम सीमा का स्वरूप ही संग्राम कहा जा सकता है। संग्राम मे सदा प्राण संहार प्राणी संहार वृक्ष-वनस्पति-संहार, संपत्ति विनाश एवं सब प्रकार की हानि अनिवार्य रूप से होती है किन्तु ऐसा होने पर भी ससार में युद्ध के पुरोहित सदा अपने अपने देश के सुचतुर दूरदर्शी बुद्धिमान नेता गण होते रहते हैं। और यह बड़े बड़े राष्ट्र सूत्रधार संयम से होने वाली प्राय समस्त रौद्र और नादम पाशविक घटनाओं का चित्र अपने मस्तिष्क में रखते हैं तथा अपने देश के होनहार युवकों को अधिक से अधिक संख्या में बलि प्रदान करने में अणुमात्र संकोच नहीं करते। विश्व प्रेम और विश्वबन्धुत्व के बड़े २ पुजारी धर्म सम्प्रदायों के बड़े २ मठाधीश, विज्ञान पीठों के विश्व विख्यात आचार्य, अणु परमाणुओं को ही मन्थन करने में देवासुरों को भी परास्त करने वाले दर्शनाचार्य कानून कूप म प्रवेश करके अन्तिम फूटी कौड़ीका कण अर्थात जल में से भी सफलता के साथ निकाल कर अपनी विजय दुन्दुभी से दशा दिशाओं को ध्वनित और प्रतिध्वनित करने वाले राजनीति विशारद अपने अमर काव्यों की गूंज से अखिल ब्रह्माण्ड को व्यामोहित करने वाले महाकवि महाधनी महान पराक्रमी आदि आदि सब प्रकार के लोग रणभेरी की ध्वनि मात्र से अपने अपने स्थानों पर जयघोष से दशोदिशाओं को निनादित करते हुये एक स्वर से अपने पक्ष की जय और परपक्ष की पराजय कामना पूर्वक अपनी सामर्थ्य के अनुसार जन, धन एवं प्राणिनाश में

सहयोग देते हैं। इस प्रकार से अनेकों वार पृथ्वी को जल से नहीं अपितु उष्णरक्त से प्रायः प्रत्येक जाति ने परिषिञ्चित कर इतिहास में अपने नाम को यथोचित किया। संसार का इतिहास और साहित्य का एक बड़ा भाग ऐसी ही रौद्र घटनाओं का चित्र है।

भाग्य चक्र के शिव अथवा रुद्र;आवर्त्त परम्परानुसार भारतदेश आर्यजाति और वैदिक आर्य संस्कृति भी समय समय पर अनेक प्रकार के संघर्षों विप्लवों क्रांतियों और आन्दोलनों से ग्रस्त होता रहा। और अपनी संस्कृति की आत्मरक्षा के लिये देश कालानुसार नाना प्रकार के उपायों का अपनी शक्ति के अनुसार अनुष्ठान करता रहा।

इन सब घटनाओं पर तात्विक दृष्टि डालने से यह निष्कर्ष निकलता है कि व्यक्ति की भांति किसी समष्टि कार्य की सफलता पूर्ण रूप से अपने ही आधीन नहीं हैं। अपनी बुद्धि, अपना बल, अपने साधन, अपने सहायक सब कुछ रखते हुये भी कोई ऐसी अनिर्वचनीय शक्ति है कि जो हमारे मनोरथों को सफल अथवा असफल बनाने मे अपना प्रभाव डालती रहती है। अतः जब कभी वह शक्ति अपनी चेष्टाओं के अनुकूल होती है तो सहज ही सफलता प्राप्त होती है किन्तु विपरीत होने पर परिणाम भी विपरीत होता है। एक उदाहरण से यह तत्व स्पष्ट हो जायेगा। पाठक जानते है कि परकार (compass) का एक पद स्थिर रहे और दूसरा गतिमान रहे तभी चक्र (circle) बन जाता है। किन्तु यदि इस नियम का उल्लघन करके दोनों पदो को एक साथ चला कर अथवा दोनों को एकही समय मे निश्चय करके वृत्त बनाने मे कितना ही समय और शक्ति का उपयोग किया जाय पर वृत्त कदापि न बन सकेगा। इसके विपरीत हमारी भगीरथ चेष्टा से जो कुछ भी बनेगा उससे वृत्त के स्थान में हमको न जाने क्या दिखाई पड़ेगा कि जिसके देखने पर हम चकित होकर यही कहने लगेंगे कि—

यच्चिन्तितं तदिह दूरतरं प्रयाति, यच्चेतसापि न कृतं तदिहाभ्युपैति।

आर्ष वैदिक संस्कृति के उपासक और प्रतिपादक ऋषियो ने इस मर्म को भली भाँति हृदयङ्गम किया। अनन्त व्यापक विश्ववन की जटिलता मे अणु मात्र भी व्यामोहित न होकर क्रान्तदृष्टि से उसके स्वभाव को जानने का अमृत उपदेश दिया। पाठको के समक्ष हम इस प्रसङ्ग मे संकेत मात्र केनोपनिषद् की अमरश्रुति को रख कर आशा करते है कि ध्यान के साथ उसके गम्भीरतत्व को आत्मसात् करने का प्रयत्न करेंगे।

तद्धतद्वन नाम तद्वनमित्युपासितव्य स य एतदेवं वेदाऽभिहैनं सर्वाणि भूतानि सम्वाञ्छन्ति
(केन० उप० ४-६)

उसका वन नाम है उसकी वन इस नाम से उपासन करनी चाहिये। जो इसको इस प्रकार जानता है उसके प्रति सब प्राणी अभिवाञ्छा करते हैं। उसको सब चाहते हैं द्वेष नहीं करते है।

लेख के आरम्भ मे विश्व का वन कहा गया है क्योंकि विश्वम्भर का एक नाम वन भी है। स्वभावतः वन अव्यक्त अपेक्षाकृत अपरिमित, अनिरुक्त विस्तृत और विश्वम्भर की स्वाभाविक लीला का समुचित प्रतिमान है। उसके विपरीत मानव निर्मित आराम, उपवन वाटिका, आदि स्वभावत. व्यक्त, परिमित, निरुक्त, संकुचित और मनुष्य की लीला का यह प्रतिमापक है। आर्ष संस्कृति के अनुसार स्थूल से सूक्ष्म की ओर व्यक्त से अव्यक्त की ओर निरुक्त से अनिरुक्त की ओर परिमित से अपरिमित की ओर, संकुचित से विस्तृत की ओर अल्प से भूमा की ओर, अनृत से ऋत की ओर, असत् से सत् की ओर, तम से ज्योति की ओर अध्रुव से ध्रुव की ओर, वृजिन से ऋजु की ओर, घोर से अघोर की ओर, रुद्र से शिव की ओर, वरुण से इन्द्र की ओर और मृत्यु से अमृत की ओर गतिमान होने का ही नाम पुरुषार्थ है। और बुद्धि पूर्वक प्रवृत्ति सम्पन्न मनुष्य को देव

प्राण और आर्ष प्राण समन्वित करना ही परम धर्म है।

इस प्रकार की व्यापक भावना से अनुभावित मानव समष्टि की सार्वजनीन विधियों, योजनाओं और विधान नियमों में स्वभावतः समन्वयी (Inclusive) दृष्टिकोण (Point of view) का मुख्य स्थान है और इसके विपरीत संस्कृतियों का सव्यतिरेकी (Exclusive) दृष्टिकोण (Point of view) रहना स्वाभाविक है। इसी लिये भौगोलिक ऐतिहासिक, सामाजिक, राजनीतिक, साहित्यिक, आर्थिक औद्योगिक, व्यापारिक, वैज्ञानिक, दार्शनिक साम्प्रदायिक आदि आदि मर्यादाओं से मर्यादित अन्य संस्कृतियों की भांति आर्ष वैदिक संस्कृति नहीं है। पाठकों का सुविदित है कि ऋग्वेद को सब से प्राचीन ग्रन्थ मानने वाले इतिहास और पुरातत्व के प्रसिद्ध विद्वान भी अभी तक देशकाल कृत मर्यादाओं के विषय में वैदिक आर्यों को कोई निश्चित भूखण्ड और B. C. (ई० पू०) अथवा A. D (ईसवी) में निश्चित रूप में केन्द्रित नहीं कर सके है।

अब तक के अनुसन्धानों से यही अटकल लगाया जाता है कि वैदिक संस्कृत भाषा संसार की अन्य भाषाओं की जननी है। इस स्थल पर हम पाठकों के मनोरंजनार्थ अमेरिका के प्रसिद्ध विद्वान-विचारक मि० विलडुरेन्ट (Will Duraut) के कतिपय शब्द उद्धृत करना पर्याप्त प्रमाण समझते हैं।

"India was the motherland of our race, and Sanskrit the mother of Europe's languages she was the mother of our philosophy mother through the Arabs of much of our mathematics , mother through Budha of the ideals embodied in christianity mother through the village community of self government and democracy Mother India is in many ways the mother of us all"

अर्थात् भारत हमारी जाति की माता है और संस्कृत योरोपीय भाषाओं की जननी है। वह हमारे दर्शन शास्त्र की जननी है; वह अरबों के द्वारा हमारे अधिकतर गणित शास्त्र की जननी है; बुद्ध के द्वारा उन आदर्शों की माता है कि जो ईसाई धर्म में समन्वित किये गये : ग्राम पंचायतों के द्वारा स्वराज्य और गणराज्य की जननी है। भारतमाता अनेक प्रकार से हम सब की जननी है।

आर्ष वैदिक साहित्य जो कुछ वर्तमान समय तक उपलब्ध होता है, उसके आधार पर निस्सन्देह कहा जा सकता है कि आर्य संस्कृति के केन्द्र सघन विस्तृत बन थे। स्वाभाविक कन्द मूल फल, नदी, सरोवर, वृक्ष वनस्पति, ओषधि गुल्म लतादि परिपूर्ण आरण्य प्रदेश ही उन तपोधन ऋषियों के निवास स्थान थे कि जहां मनुष्य तो क्या वन्य पशु भी सहज वैर त्याग पूर्वक आर्ष प्राणों के प्रचुर प्रभाव से प्रभावित होने के कारण अपनी जन्म जात जिघांसा के स्थान में वात्सल्यभाव का परिचय देते रहते थे। दौष्यन्ति बालक भरत का सिंह कराल दन्तावली में से कतिपय दान्तों का उत्पाटन भारतीय आश्रम जीवन का एक लघुतम दृष्टान्त है। वैदिक वाङ्मय में अन्तस्थित ऐसे अनेक वर्णन प्राप्त होते हैं। मध्यकालीन संस्कृत साहित्य में भी यशस्वी महाकवियों ने अपने अपने महाकाव्यों, आख्यानों, नाटकों आदि में आश्रम जीवन का पर्याप्त रूप से चित्रण किया है। पुराणकारों ने भी इस विषय में बहुत कुछ सामग्री संकलित की है। वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति, व्यास, बाण प्रभृति के चित्रण तो प्रायः पाठक अवलोकन करते ही होंगे किन्तु बौद्ध साहित्य में भी आश्रम जीवन की परम प्रभावोत्पादिनी प्रभालोक का बड़ी हृदयग्राही और सजीव भाषा में वर्णन उपलब्ध होता है। उदाहरणार्थ महाकवि अश्वघोष कृत बुद्धचरित नामक महाकाव्य का आश्रम वर्णन पाठक ध्यान से देखें।

अग्राम्यमन्नं सलिल प्ररूढं, पर्णानि तोयं फलमूलमेव। यथागमं वृत्तिरियं मुनीनां, भिन्नास्तु वेते तपसां विकल्पाः। ७-१४

स्वच्छेन जीवंति खगा इवान्ये, तृणानि केचिन्मृग-वच्चरन्ति केचित् भुञ्जै, सह वतयन्त, वत्स क भूता इव मारुतन। ७–१५
अश्मप्रयत्नार्जित वृत्तयोऽन्ये, केचित्तपवन्तो पद्-ताम भक्ताः कृत्वा परार्थं श्रमण तथान्ये, कुर्वन्ति कार्यं यदि शेषमस्ति। १६।
कश्चिज्जलाक्लिन्न जटाकलापा, द्विः पावक जुह्वति मन्त्रपूर्वम् मानै समं केचिदपो विगाह्य, वसति कूर्मोल्लिखितैः शरीरैः। १७।
एवं विधैः कालचितैस्तपोभिः, परर्दिवं यान्त्यपरन्तृ-लोकम् दुःखेन मार्गेण सुख क्षिपन्ति, दु:खांहि धर्मस्य वदन्ति मूलम्। १८।

तपोधन ऋषियों के आश्रम जीवन की इस छटा से ही उनका प्रकृति साहचर्य सुस्पष्ट हो जाता है। भगवान शंकर, सती पार्वती, जाबाल, कण्व, जमदग्नि, वसिष्ठ, याज्ञवल्क्य पिप्पलाद, अगस्त्य आदि आदि ऋषियों के आश्रमों का उल्लेख विस्तारभय से करना उचित नहीं है। तथापि वनवास अथवा आश्रमवास भारतीय संस्कृति, सभ्यता, धर्म, सदाचार, नीति, दर्शन, विज्ञान, साहित्यादि के केन्द्र थे, इसमें संशय शेष नहीं रहता है। सर्वोत्कृष्ट वैदिक साहित्य ग्रन्थ रत्नों की संज्ञा इसी कारण आरण्यक हुई है। ब्राह्मण, उपनिषद् सूत्र, स्मृति पुराणादि के प्रतिपादक और दार्शनिक शिरोमणि महर्षियों का कर्मक्षेत्र प्रायः आरण्य ही रहा है।

इससे विपरीत संस्कृतियों के केन्द्र विशाल नगर रहे हैं। उदाहरणार्थ मिश्र, बबिलान, फोनेशिया, सेमेटिक, यूनान, रोम आदि तथा आधुनिक सभ्यता की ओर दृष्टि डाले तो प्रतीत होगा कि उन सब का केन्द्र बड़े बड़े शहर हैं। इसी लिये उन सब के मौलिक विचारों में बहुधा स्वर्थातरेकी (Exclusive) भावनाओं (Tendencies) से ओत प्रोत परिपूर्ण दृष्टिकोण (Point of view) का प्रमुख स्थान रहा है और उन उन संस्कृतियों के मनुष्यों ने सघन वन पर्वतों को विनष्ट करके उनके स्थान पर विशाल नगरों का निर्माण किया। निदान शनैः वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन में बनावट, विलास प्रियता, भोगवाद, आडम्बर बाहुल्यता, दम्भ, अशान्ति, संघर्ष, असन्तोष, महत्वाकांक्षा, भय, राग द्वेष, आधिक्याधिप्राचुर्य, क्रूरता, मिथ्याचार, विश्वासघात, स्वार्थपरता, छल कपट पूर्ण कूट नीति, परपीडन पूर्वक आत्मोन्नति की इच्छा इत्यादि महती अनर्थ परम्परा प्रवाह के अदम्य भँवर में पड़ कर मनुष्य जाति अनायास प्रलयकारी भीषण जन संहार रूपी महा ज्वालामुखी के मुख प्रदेश पर अपने को स्थित अनुभव करके किंकर्तव्य विमूढ़वत् प्रतीत हो रही है।

अहा किसी बुद्धिमान् ने कितना सुन्दर कहा है कि "Mills of Providence grind sowly but exceedingly small" विधाता का चक्र धीरे धीरे पीसता है किन्तु अत्यन्त सूक्ष्म रूप से पीसता है। मनु ने भी इसी तत्व को 'अधर्मेणैधते तावत्ततो भद्राणि पश्यति। ततः सपत्नान् जयति समूलस्तु विनश्यति ॥' इस श्लोक में कहा है। किन्तु जानबूझ करके भी भवितव्यतावश इत्यादि असाध्यावस्था में पहुंचने पर कोई उपाय सफल नहीं होता है। वनवासी ऋषियों को गडरिया, किसान असभ्य, बर्बर, मूर्ख, विद्या बुद्धि हीन कहने वाले संसार के विराट नगरों में अतुल वैभव, विज्ञान, व्यापार, राजनीति सभ्यता सब कुछ रखते हुये भी वर्तमान भौतिक नागरिक सभ्यता के ऋत्विक् अवसान्निय का दुःशासन की भांति प्रवाहित और विनष्ट होते हुये भी अब पुनः स्पेन के जनसंहार की चश्मा चढ़ा कर देख रहे हैं तथा अपने अपने स्वरक्षित गढ़ों में चित्र लिखे से सांसे ले रहे हैं। अथवा विश्वकवि शेक्सपियर के शब्दों में

"Judgment thou hast fled to brutish beasts and man have lost their reason

ओ न्याय ? क्या तू क्रूर पशुओं के पास चला गया है और क्या मनुष्य बुद्धिहीन हो गये हैं। ग्रामीणों का यह उक्ति भी कुछ कुछ चरितार्थ होती है, "बोये बीज बबूर के आम कहाँ से खायँ।"

संसार व्यापी इन सब आक्रन्दनकारी आन्दोलनों की गति विधि परखने वाले सूक्ष्म विवेचक इस प्रलयकारी निकट भविष्य के वीभत्स चित्र का विचार करके अपने अपने सामर्थ्यानुसार उपाय, उपचार बताते रहते हैं। हमारे देश के अग्रणी नेतागण भी सतर्कता के साथ अब ग्रामसुधार, ग्रामसंगठन, किसान, मजदूर सुधार, हरिजन उद्धार आदि आदि योजनाओं को यथाशक्ति प्रचलित कर भविष्य में होने वाली विभीषण महामारी से त्राणपाने के लिये सजग कर रहे हैं। उधर दयालु सरकार भी बड़ी तत्परता के साथ ग्राम सुधार, हरिजन सुधार, दूध प्रचार, शिक्षा प्रसार, कृषि उन्नति, स्त्री शिक्षा विस्तार, वेकारी संहार, संक्रामक रोग नाश, स्वराज्य संस्थापन आदि आदि कार्यों के द्वारा भावी महाव्याधि के लिये एक प्रकार का बीमा कर रही है। कौन नहीं चाहता कि यह सब प्रयत्न सफल हों और सब देश समृद्धिशाली बन कर फूल फलें किन्तु विधाता की निश्चित मर्यादाओं का उल्लंघन कोई शक्ति नहीं कर सकती है।

"त्वं ता विश्वा भुवनानि वेत्थ स चिन्नुत्वज्जनो मायी विभाय"

यह आथर्वण श्रुति तो हमको आदर्श देती है कि, "हे वरुण आप समस्त भुवनों को जानते हैं, ऐसा कोई भी मायावी (Deplomate) कूटनीतिज्ञ जन नहीं है जो आपसे न डरता हो।" वारुणपाशों से त्राण पाने का उपाय उनमें अनेक आगम पूर्ण आयोजन अनुष्ठान के साथ फँस जाना नहीं है।

अथर्वाऋषि से वरुण ने पूछा—

"केन नु त्वमथर्वान् काव्येन केन जातेनासि जातवेदा ?"

हे अथर्वन् तुम किस काव्य से और स्वभाव से जातवेद (सर्ववित्) हुये हो ? इसका उत्तर अथर्वाऋषि कितने सुन्दर शब्दों में देते हैं।

"सत्यमहं गभीरः काव्येन सत्य जातेनास्मि जातवेदाः। न मे दासो नार्यो महित्वा व्रतंमीमाय यदहं धरिष्ये" (अथ० ५-११-२, ३)

सचमुच मैं काव्य से गम्भीर (ज्ञान) युक्त हूँ सत्य ही मैं स्वभाव से ही जातवेद (सर्ववित्) हूँ, अपने महिमा से कोई दास या आर्य मेरे धारण किये हुये व्रत (Law) का उल्लंघन नहीं कर सकते हैं। अन्यत्र अथर्वण श्रुति इस काव्य के विषय में कहती है कि "पश्यदेवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति"। [देव के काव्य को देखो न यह मरता है और न जीर्ण होता है] देव के इस काम को ही वेद और कभी कभी विश्व कहा जाता है। "कविर्मनीषी" इस याजुषी श्रुति में विश्वम्भर का एक नाम "कवि" भी है।

अतएव विश्वव्यापी सत्-रज-तममयी वरुणपाश से मुक्ति प्राप्त करने के लिये वनवास, अरण्याश्रम तप साधना पूर्वक आर्ष संस्कृति के स्वरूप को भलीभांति प्रकृति रूपी पृथ्वी (कामधेनु गौ) के सहवास से यथोचित रीति से जानने से ही परित्राण होना शक्य है, ऐसा तपोधन ऋषिवरों का अनुभवपूर्ण अनुशासन है। महाकवि अश्वघोष के शब्दों में,

"भवन्तिह्यर्थदायादा पुरुषस्य विपर्यये।
पृथिव्यां धर्मदायादा दुर्लभास्तु न सन्ति वा॥"

मनुष्य के मरने पर अनेक दायाद सम्पत्ति लेने वाले होते हैं किन्तु पृथ्वी पर धर्म के दायाद (वारिस) या तो दुर्लभ हैं या होते ही नहीं हैं। इस तथ्य कथनानुसार इस समय संसार की संस्कृतियों को दायाद भी अत्यल्प संख्या में दिखाई पड़ेंगे। सांस्कृतिक संघर्ष ही निकट भविष्य में एक ऐसा क्षेत्र होगा कि जिसमें अवतरित होकर विभिन्न संस्कृतियों के प्रतिपादक अपनी अपनी संस्कृतियों की महिमा प्रदर्शित कर उसको सर्व श्रेष्ठ स्थान प्रदान कराने में पूर्ण शक्ति का उपयोग करेंगे। इस प्रकार के आन्दोलनों में से वर्तमान समय का हर हिटलर प्रतिपादित आर्यन् संस्कृति (Aryan culture) और यहूदी संस्कृति (Semitic Culture) का संघर्ष है। जर्मनी में आर्य संस्कृति की संस्थापना और यहूदी संस्कृति का विनाश कार्य बड़े वेग से चल रहा है। किन्तु बहुत कुछ अनुसन्धान करने पर भी वैदिक आर्यों की संस्कृति का शुद्ध स्वरूप वर्तमान जर्मन

विद्वानों को कदाचित् उपलब्ध नहीं हुआ है। इस कार्य की सफलता के साथ पूर्ति वह भारतीय आर्य कर सकते हैं कि जो प्राचीन वैदिक ऋषियों के अरण्य आश्रम जीवन का साक्षात् अनुष्ठान करके कुछ काल यौगिक साधना में व्यतीत कर चुके हों। क्योंकि साम्प्रतिक विद्वानो के संकीर्ण विपासिका मार्ग से तो व्यापक आर्य संस्कृति का शुद्ध स्वरूप दर्शन हो नहीं सकता है। अतः क्रान्तदर्शी ऋषि के शुक्र मार्ग का अनुगमन अनिवार्य रूप से आवश्यक है। एक प्रकार से यह सुअवसर है कि जब सांस्कृतिक विजयाभिलाषी संसार के कल्याणार्थ आर्य-संस्कृति का साम्राज्य स्थापित करने के लिये दृढ़ संकल्प के साथ ज्ञान पूर्वक दीक्षा लेकर सर्व प्रथम "वनी" बनकर उग्र तप साधनारत हो। इसके परिणाम में अभिलषित सिद्धि अवश्यम्भावी हो सकती है।

किन्तु तस्माद्वनमुपासीत् का अर्थ कदापि यह न समझें कि चलो वनों को काट कर वहां भी नगर सदृश कोठियां बना लेंगे और नगर की समस्त भोग विलास सामग्री लेकर विरोचनवाजी (Hedonism) का अनुष्ठान करने लगेंगे। यह है महतीविनष्टि का सीधा मार्ग। और न कपड़े रंग कर कोरी बाबाजी से कोई प्रयोजन सिद्ध होगा। यह तो 'वन च लिङ्ग बहि भीरु चिन्हम्" मात्र होगा। वस्तुतः ऐसे वृथाकषाय पुरुषाकरों के सम्पर्क से तो अन्यथा पावन वन भी मलिन हो जायगा। वह तप. पूत त्यागी मनीषियों के लिये आप्तकाम बनकर 'उरुव्यातिश्चक्षुरार्याय," "वैश्वानर ज्योतिरिदार्याय," अपावृणोज्योतिरार्याय" "अह भूमिमददमार्याय," "उरु ज्योतिर्जनयन्नार्याय" इत्यादि श्रुति प्रतिपादित आर्य (ईश्वर पुत्रः) नाम के सत्यार्थ में अधिकारी होना है। अपने वनवास जीवन से मन वच कर्म में समस्त अभ्यासमपूर्ण वृजिन् पर विजय प्राप्त करते हुये ऋजुता का अनुष्ठान करने वाले आर्षप्राण समन्वित पुरुष ही ऐसे बन सकते है कि जिनके विषय में "एवं सर्वाणि भूतानि संवाञ्छन्ति" यह औपनिषदिक वाक्य कहा जा सके और तब ही "तस्मै देवा नपमन्नमन्तु" चरितार्थ होगा। इतिदिक्॥

दान

(ले०—श्री बा० पूर्णचन्द्रजी बी० ए० एल-एल० बी० एडवोकेट)

मुझे यह बड़ा सकोच था कि, मैं इस विषय पर कुछ लिखूं कि नहीं ! दान पर वही लिखने के अधिकारी हैं, जिन्होने बड़ी मात्रा मे दान किया हो । मैं-तो एक निर्धन-साधारण-गृहस्थी हूं । दान करने के योग्य होने का सौभाग्य अभी नहीं हुआ है । परन्तु जैसे आराम कुरसी पर पड़े-पड़े राष्ट्र-निर्माण का चित्र खाचा जाता है, वैसे ही दान के सम्बन्ध मे कुछ विचार पाठकों के सम्मुख उपस्थित करता हूं । दान और देना दोनों पर्यायवाची शब्द है । साधारणतया-धन देने के सम्बन्ध में दान शब्द का उपयोग होता है, और वह भी जब एक उच्च आदर्श को लेकर दान दिया जावे । जिसमें स्वार्थ की मात्रा कम हो और परोपकार अधिक हो । वैसे तो जैसे निष्काम कर्म भ्रम-मूलक हैं, वैसे ही निष्काम दान भी, कामना के बिना कोई कर्म नहीं हो सकता । हाँ, यह हो सकता है कि कामनायें अच्छी और बुरी दोनों होती हैं । अच्छी कामना से अच्छा काम, और बुरी कामना से बुरा काम । जीवन के चार उद्देश्य है, अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष । जब काम उद्देश्यों के अन्तर्गत है, तो निष्काम से अभिप्राय शुभ कामना वाले कर्मों से है । इसलिए दान भी निष्प्रयोजन नहीं हो सकता, प्रयोजन मोक्ष प्राप्ति हो, चाहे इस लोक की उन्नति हो । दान के सम्बन्ध में पात्र और कुपात्र का प्रश्न सदैव उत्पन्न होता है दान के विषय पर विचार करते हुये, सदैव इस बात पर बल दिया जाता है कि दान सुपात्र ही को देना चाहिये । कुपात्र को दान देने से देश और जाति की बड़ी हानि होती है, आज हिन्दुओं में दान ने रूढि का रूप धारण कर लिया है, और साधारणतया हिन्दू लोग पारिवारिक अथवा जातीय परम्परा के अनुसार दान करते रहते हैं, जिसका यह परिणाम हुआ है कि करोड़ों मुफ्त-खोर आलसी और प्रमादी भारतवर्ष मे मौजूद हैं, किसी भजनीक ने ठीक भी कहा है:—

एक चौथाई आदमी भीख मांग कर खाते हैं । और मुफ्त खोरों ने अपने नाम कैसे सुन्दर रक्खे हैं । ब्रह्मचारी, त्यागी, जोगी (योगी) उदासी, साधू, संन्यासी, यह सब त्याग सूचक शब्द हैं । आज महान भोगियों के लिए लागू हैं । "नाम बड़े और दर्शन थोड़े ।" आज तीर्थ स्थानों और ठाकुर जी के मंदिरों मे चौबीस घंटे रहने वाले जिनको निर्वाह के लिये बिना परिश्रम के दान मिल जाता है, मौज उड़ाते हैं । जैसे थाने के समीप रहने वालों को थानेदार से भय नहीं लगता, क्यों कि उनको उसके वास्तविक स्वरूप का ज्ञान होता है, वैसा ही हाल ठाकुर जी के पुजारियों का है । पत्थर के ठाकुर जी से डर किसका । यह कुछ शब्द तो हम दान लेने वालों के सम्बन्ध मे कहेंगे, परन्तु आज हम एक नवीन बात भी पाठकों के सम्मुख रखना चाहते हैं, इस पर भी विचार होना चाहिये कि दानी दान देने का पात्र है कि नहीं । दान मे तन, मन, धन तीनों दिए जाते हैं । कभी एक अर्थात् केवल धन कहीं केवल तन, और कहीं केवल मन और कहीं तीनों । बहुतेरे ऐसे दानी हैं जो दान देने के पात्र नहो, और जिन्होने दान देने की धृष्टता की और दान लेने वालों का नाश कर दिया, तन के सम्बन्ध में तो बात सहज ही समझ मे आ सकती है, यदि किसीका तन अर्थात् शरीर, खुजली या अन्य सड़े हुए रोग से गृसित हो और वह किसी सभा में जा बैठे, तो सारी सभा को सड़ा देता है परन्तु मन और धन की बात जरा बारीक, आज बड़े-बड़े संन्यासी और उपदेशक विलाप करते हैं कि धार्मिक संस्थाओं मे लाखों रुपया दान में आता है और व्यय होता है, परन्तु सफलता नहीं होती । यदि रिश्वत में आई हुई व छल कपट से कमाई हुई धन की मात्रा धन्यवाद पूर्वक स्वीकार की जायगी तो और क्या परिणाम होगा । क्या गंदे पानी से सींच कर मीठे फल की आशा हो सकती है, तीर्थ स्थान और मंदिरों मे बड़े-बड़े व्यापारी साल भर बेईमानी से धन कमाते हैं और उसका एक भाग मन्दिरों में दान दे देते हैं । पुजारी व मठधारी उसका उपयोग

करते हैं और समय बेईमानी और दुराचार की सूझती है। इसी प्रकार परन्तु लघुमात्रा में धार्य सामाजिक संस्थाओं की दशा है। नहीं तो कभी-कभी गुरुकुल में पढ़कर, गुरुकुल के ही विरोध करने वाले निकलते हैं, आर्यसमाज में दान देने वाले बहुधा हैं—वकील, इञ्जीनियर, डाक्टर, और व्यापारी, यह सब ईश्वर को साक्षी करके अन्तरात्मा में विचार करें कि धन कैसे कमाते हैं—तब फिर बात सहज में समझ में आजावेगी। मैं दानियों को निरुत्साह नहीं करना चाहता केवल विचार के लिये एक प्रश्न किया है, धन से भी अधिक बारीक प्रश्न मन के दान का है। हम मन का दान दो प्रकार से कर सकते हैं, एक आन्तरिक शिव सङ्कल्प से दूसरे सम्मति से। हृदय के अन्दर का हाल तो ईश्वर ही जान सकता है, या परमयोगी ही पहचान सकता है, बहुधा ऐसा हुआ है कि दो तीन घण्टे सत्सङ्ग में बैठ कर, उपदेश सुना, और मन के अन्दर बैठे बैठे किसी के नाश की स्कीम पर विचार करते रहे, उपदेश से तनिक भी लाभ नहीं हुआ बल्कि यदि चार छः आदमी ऐसे ही कुटिल स्वभाव के बैठे हों तो समस्त वातावरण दूषित हो जाता है, यह बहुधा सुना जाता है कि आर्यसमाज के साप्ताहिक अधिवेशन में भक्ति-रस प्रधान नहीं रहता। विद्यार्थियों का-सा क्लब या चौधरियों की-सी चौपाल रहती है। कम से कम छः वार, शान्ति शान्ति शान्ति का पाठ किया जाता है, और उतनी ही अशान्ति बढ़ती है। मैंने जहा तक विचार किया है यह हमारी आन्तरिक कुटिलता का परिणाम है। हम भौंरे की तरह गोबर मुंह में लेकर बाग में जाते हैं, और पुष्पों में सौरभ न होने की शिकायत करते हैं, आइडो फार्म की हाथ पर पट्टी बंधी हुई है और शिकायत करते हैं कि न जाने बदबू कहां से आरही है उपदेशक कहते हैं मन लगा कर सुनो, जितना ही मन लगता इतनी ही अपवित्रता अथवा कुटिलता की मात्रा बढ़ जाती है, मेरा अभिप्राय यह है कि हमारे मन के दान से यदि मन अपवित्र है तो बड़ी हानि होती है, सम्मति की बात आन्तरिक सङ्कल्प से अति स्थूल है, आज सब काम "सम्मति" पर चलते हैं, रायसाहब और रायबहादुरों का ज़माना है, 'माननीय मुन्शी कसरत राय' का बोल बाला है, यदि हमें कोई राय देने के अधिकार से वंचित करता है, तो हम बड़ा कोलाहल करते हैं परन्तु यह नहीं सोचते कि हम सम्मति देने योग्य हैं भी कि नहीं, आज राजनीति में प्रजातन्त्र के बड़े परीक्षण हो रहे हैं, बहुत से देशों में सम्मति देने की योग्यता शिक्षा अथवा एक विशेष प्रकार की धन की मात्रा पर आश्रित है, परन्तु ऐसे भी देश हैं, जहां कोई बाधा नहीं है। १८ वर्ष से ऊपर प्रत्येक स्त्री-पुरुष को सम्मति देने का अधिकार है। परन्तु किसी भी राष्ट्र का प्रबन्ध सुख और शान्ति से नहीं हो रहा है। जितनी अधिक संख्या सम्मति देने वालों की है, उतना ही अस्त व्यस्त प्रबन्ध होता है। एक समय था कि जब आयुर्वेद शास्त्र की शिक्षा का विकाश नहीं हुआ था, उस समय प्रत्येक मनुष्य वैद्य था, और इसलिये 'नीम हकीम ख़तरे जान' वाली बात प्रसिद्ध होगयी। आज चिकित्सा जगत में विशेषज्ञों का युग है, यही हाल जीवन के अन्य विभागों का है परन्तु राष्ट्र के निर्माण में जहां सब से बड़ी योग्यता की आवश्यकता है, प्रत्येक औषधि बताने का साहस करता है। ऋषि दयानन्द ऋषि थे। वह भविष्य का वर्तमान से मिलाकर विचार कर सकते थे, उन्होंने लिखा है कि दस विद्वानों की राय (सम्मति) माननी चाहिए, परन्तु १०० मूर्खों की नहीं। परन्तु आर्यसमाज में प्रबन्ध की प्रचलित प्रथा इसके प्रतिकूल है, कोई विषय हो, चाहे न मैंने समझा और न मेरे बाप ने परन्तु सम्मति अवश्य दूंगा और कोई नहीं मानेगा तो उससे रुष्ट हो जाऊंगा। सम्मति का दान सब से साधारण दान है, न इसमें कोई खर्चा है, और न इसमें कोई त्याग, बैठे बैठे सिर हिला दिया या हाथ उठा दिया, सारी संस्था या समाज के प्रबन्ध को लौट पोट कर दिया। यदि गम्भीरता से देखा जाय तो सम्मति सब से अधिक मूल्यवान् वस्तु है। और इसका दान बहुत सोच कर बड़ी क़िफ़ायत शारी से करना चाहिये। ऋषि की व्यवस्था क्रियात्मक रूप से प्रचलित होना बहुत कठिन प्रतीत होती है। क्योंकि दस विद्वान कौन है यह निश्चित नहीं हो सकता। यदि १०० मूर्खों की सम्मति ली जायगी तो वह अपने भाई बन्धुओं को ही विद्वान् निर्वाचित करेंगे। यह बात तो केवल आर्यों की सद्भावना पर ही छोड़ी जा सकती है। हम इस बात का अभ्यास करें कि सम्मति देने के लिए उतावले न हों, पहले अपनी योग्यता पर विचार करलें, और फिर

शिक्षा-सिद्धान्तों का आदि-स्रोत वेद

(ले०—प्रो० किशोरीलाल जी गुप्त एम० ए० साहित्यवाचस्पति)

व र्तमान युग साइंस का युग कहा जाता है। खाना साइंस के ढंग से; पीना साइंस के नियमानुसार; उठना बैठना साइन्स की रीति से; और सोना जागना भी ठीक उसी प्रकार जिसमे साइन्स के नियमो का उल्लंघन न हो। यदि बाज़ार की ओर निकल जाइये तो आप देखेंगे कि कपडों का कटिङ्ग साइन्टिफिक; खेल के गेंद-बल्ले साइन्टिफिक, कहां तक गिनायें दाढ़ी मूँछों की हजामत तक साइन्टिफिक मिलेंगी। जहां ऐरे गैरे सभी मामले साइन्टिफिक हो वहां शिक्षा जैसा आवश्यक विषय साइन्स की जंजीरों से बिना जकड़े रह जाय, यह क्यों कर सम्भव हो सकता था? अच्छा तो देखें वर्तमान शिक्षा-कला मे साइंस ने क्या नवीनता उत्पन्न की है और वेद में कहां तक उसका प्रतिपादन मिलता है—

सबसे आवश्यक बात, जिसका अध्यापक को सबसे अधिक ध्यान रखना पड़ता है, छात्रों में पाठ्य विषय के प्रति उत्सुकता, कौतूहल, जिज्ञासा उत्पन्न करना है। यदि यह जानने की इच्छा ही जाग्रत न की गयी, तो शिक्षक का सारा प्रयत्न व्यर्थ जायगा। आप पढ़ाते रहिये, लड़का अपने गेंद-बल्ले और क्रिकिट का स्वप्न देखता रहेगा, और घंटा बजते ही पल्ला झाड़ अपना मार्ग लेगा। यदि प्रश्न किया, तो एक अक्षर बताकर न देगा। कारण? वहीं जब अध्यापक महोदय अपनी अमृत वर्षा कर रहे थे, विद्यार्थी के मस्तिष्क के कपाट बन्द थे। अत. इन मानसी-कपटों का खुलवाना शिक्षक का सर्व प्रथम कर्तव्य है।

सम्मति दें, यदि इस प्रकार सम्मति के दान मे उचित सङ्कोच किया जायगा तो संभव है कि परिणाम अच्छा निकले और ऋषि का उद्देश्य पूरा हो। फ्रेञ्च फिलौसफर वोलटेयर (voltaire) ने प्रजातन्त्र से एक राजा के राज को इसलिये उत्तम समझा कि जहां एक राजा होगा वहां केवल एक ही को शिक्षित बनाने की चिन्ता होगी, प्रजातंत्र में लाखों को शिक्षित बनाना पड़ेगा। और यह असंभव है। Emerson ने अपनी पुस्तक Representative men के सफे २१ पर लिखा है कि यह अनुमान लगाया गया है, इस संसार मे प्रत्येक मिनट में २०० मूर्खों की संख्या में वृद्धि होती है, जो प्रजातंत्र के लिए एक कठिन समस्या है। अमेरिका के एक लेखक "Will Durant ने एक विज्ञान की पुस्तक लिखी है जिसका नाम है The mausions of Philosophy है, इस पुस्तक में यह विचार किया गया है क्या प्रजातंत्र के परीक्षण सफल हैं? वह इस परिणाम पर पहुंचे है कि मूर्खों की संख्या अधिक होने के कारण प्रजातंत्र सफल नहीं हो सकता। उन्होंने यह लिखा है कि यदि राष्ट्र के प्रबन्ध को मूर्खता की हानि से बचाना है अर्थात यदि फूल प्रूफ fool Proof Democracy स्थापित करनी है तो केवल उम्मेदवार वही होने चाहिये जिन्होंने जीवन पर्यन्त राजनीति का विशेष अध्ययन किया हो। इसी बात का परीक्षण आर्यसमाज मे भी होना चाहिये। हम से मूर्खों को त्यागी और विद्वानों के हाथ में प्रबन्ध की बागडोर छोड़ देनी चाहिये। चाहे हमे कोई दानी न कहे. कृपण ही कहे, मूर्ख की बात यदि उस तक ही रुक जाय अच्छी है। मैं आर्यसमाज के संचालकों से निवेदन करूंगा कि जब वह दान के लिए उत्साहित करें तो दान देने वाले और लेने वाले दोनों को पात्र होने का उपदेश करें। आरंभ में कठिनाई तो होगी परन्तु परिणाम अवश्य अच्छा होगा।

बच्चे बात चीत करना बहुत पसन्द करते हैं। आप उन से प्रश्न कीजिये, वे उत्तर देंगे; वे प्रश्न करे आप उत्तर दें। बातों बातों में गहन विषय हृदयङ्कित किया जा सकता है। यदि बच्चे ने पूछा "अम्मा चन्दा कौन" ? मूर्खा मा ने कह दिया "तेरा मामा" बच्चे ने कहा "इसमें कौन बैठी है ?" पगली ने कह दिया 'तेरी नानी'। फिर प्रश्न हुआ 'वह क्या कर रही है' ? 'उत्तर मिला बैठी चर्खा कात रही है' बच्चा चुप अवश्य हो गया, किन्तु पाठ मूर्खता का पढ़ा।

यजुर्वेद का तेईसवाँ अध्याय शिक्षा कला का परमोत्कृष्ट आदर्श हमारे सामने उपस्थित करता है। अध्यापक कोई विषय ऐसा न छेड़े जिसे विद्यार्थी सुनना पसन्द न करे। बड़ी कठिन समस्या है ! कैसे जाना जाय कि क्या पसन्द करेंगे और क्या ना पसन्द होगा ? बच्चे बड़े चालाक होते हैं। कुशल अध्यापक उनके इस स्वभाव से बड़ा लाभ उठा सकता है। बस कक्षा में पहुँचते ही बातें करना प्रारम्भ कर दीजिये और अपने पाठ्य विषय को इस ढंग से छेड़िये कि विद्यार्थियों की अभिरुचि आपकी ओर आकर्षित हो उठे। आकर्षित होने का प्रमाण यह है कि वह स्वयं आपसे प्रश्न करने लगे बस समझ लीजिये कि उनके अन्दर जिज्ञासा उत्पन्न हो गई। अब जो कुछ आपके श्री मुख से उच्चरित होगा बड़े ध्यान पूर्वक सुना जायगा।

आइये वैदिक काल की पाठ प्रणाली का छोटा सा नमूना इस मंत्र द्वारा देखने का प्रयत्न करें।

को अस्य वेद भुवनस्य नाभिः को द्यावा पृथिवी अन्तरिक्षम्। कः सूर्यस्य वेद बृहतो यो जनित्रं को वेद चन्द्रमसं यतोजाः। (यजु० अ० २३ मंत्र ५६)

अध्यापक अपने शिष्यों को यजन शील बनाना चाहता है। उसकी इच्छा है कि वे

(१) 'संगति करण का तत्व समझे मिलजुल कर एक तन और एक मन हो कार्य करने के लाभों से परिचय प्राप्त करे।

(२) वे 'देव-पूजा' का वास्तविक मर्म समझलें ईंट मिट्टी और कंकड़ पत्थरों के सामने माथा न टेकते हुए विद्वानों और विज्ञानवेत्ताओं का समुचित आदर और सम्मान करना सीखें।

(३) "दान और त्याग" के अनन्त लाभों से जानकारी प्राप्त करें। देश काल और पात्र को भली-भाँति सोच-विचार कर परमात्मा से प्राप्त धन को उचित रीति से लोकोपकारार्थ व्यय करने का स्वभाव डालें।

अध्यापक ने पहले वार्तालाप से ही अपना विषय प्रारम्भ किया है यह मन्त्र के दो शब्द "को वेद ?" (कौन जानता है) बतला रहे हैं। किन्तु इतने मात्र से काम न चलेगा। अभी शिक्षाकला का पहला बात का ही प्रयोग हुआ है। अन्य सिद्धान्त भी तो प्रयोग में आने चाहिये ?

आधुनिक शिक्षाकला का दूसरा मार्के का सिद्धान्त यह है कि जो बात अविदित हो, दूरस्थ हो, क्लिष्ट हो, सूक्ष्म और दुर्ज्ञेय हो, तो उसका अनुमान ऐसी बातों की सहायता से कराया जाय जो जानी हुई हो, समीप की हो, सरल हो, स्थूल हो, और बड़ी आसानी से समझ में आजाव। उदाहरण के लिये तालाब दिखाकर झीलों का अनुमान कराया जा सकता है, नाली नालों से नदियों का, ऊँचे टीलों द्वारा पहाड़ों का, बिल्ली से शेर का, कुत्ते से भेड़िये का, और इसी प्रकार अन्य अविदित वस्तुओं का ज्ञान विदित वस्तुओं द्वारा कराया जा सकता है।

समझानी है सिर्फ एक बात। और वह यह कि यह संसार केवल यज्ञ के सहारे स्थिर है। यदि यह यज्ञ होना बन्द हो जाय तो विश्व में हाहाकार मच जाय, लोग एक दूसरे को पशुओं की भाँति खाने को दौड़ने लगे, एक मिनिट को भी चैन मिलना दुर्लभ हो जाय, विषय गहन अवश्य है; किन्तु समझाना है; और समझाना है उन बातों की सहायता से जो दिन प्रतिदिन देखने में आती है। इन्हीं विदित वस्तुओं के साहाय्य से—

(१) संगति करना।
(२) देव पूजा।
(३) दान-महिमा।

समझानी है। संगति करण का आदर्श मन्त्र में द्यावा, पृथिवी, अन्तरिक्ष, सूर्य्य और चन्द्रमस उपस्थित कर रहे हैं। विद्यार्थी, चाहे वह छोटे से छोटा क्यो न हो माता पिता को अवश्य जानता है। पृथिवी माता है, और द्यावा (द्यौः) पिता। अकेली पृथ्वी माता सन्तान उत्पन्न नहीं कर सकती। जब द्यौ पिता जल का सेचन करते है तभी नाना प्रकार के अङ्कुर उपजते हैं। माता पृथ्वी और द्यौ पिता धीरे धीरे उनका लालन पालन करके उन्हें हमारे प्रयोग के योग्य बनाते है। मेघ मंडल अन्तरिक्ष मे विचरण करते है, सोमराज चन्द्रमस् अपनी सुधा जड़ीबूटियों को प्रदान करते हैं, जिनके द्वारा हमारे रोगो की निवृत्ति होती है। चन्द्रमा अपना प्रकाश सूर्य से लेता है; अतः वह भी सूर्य का पुत्र हुआ, और हुआ रिश्ते मे हमारा भाई। सूर्य का जनित्र (पिता) अर्थात सृष्टि का बुड्ढाबाबा भी खामोश नहीं बैठा। कुटुम्ब या कुटुम्ब यज्ञ कर्म मे पिल पड़ा है और विश्व का उपकार कर रहा है।

आर्य बालक अपने हवन-यज्ञ से भली भाँति परिचित हैं। अध्यापक इसका महत्व भी अपने विद्यार्थियों के हृदयङ्गम कराना चाहता है। सूर्य के ताप से पृथ्वी के जल का भाप बन कर ऊंचा उठना, और फिर मेघ रूप से अन्तरिक्ष द्वारा पुनः उसका पृथ्वी पर बरसना वह समझा चुका है। इसी भाँति वह इस यज्ञ द्वारा भी वृष्टि का होना बातो बातो मे समझा देता है, जिससे अनावृष्टि काल में बृहद्यज्ञ की आयोजना करके वृष्टि कराली जा सके।

दान और त्याग इस दैवी कुटुम्ब का प्रत्येक व्यक्ति खूब मनमाना करता है। पृथ्वी माता ने अपना जल रूप सर्वस्व अपने पति द्यौ को समर्पण किया, वह मेघ बना, और द्यौ पिता ने अपनी कमाई की एक एक बूंद विश्व के हितार्थ वर्षा रूप से पृथ्वी पर बरसादी। यही चक्र चलता रहता है। जिधर देखो उधर त्याग! फिर भी हानि और टोटे का नाम नहीं। सब हरे भरे और प्रसन्न।

रह गई देव पूजा—पूजा का अर्थ है सत्कार, सत्क्रिया, परिशोधन। जितने देव हैं सब के सब इसी परिशोधन कार्य मे संलग्न हैं। पृथ्वी गंदे खाद को खाकर हरी भरी और ताजा सब्जी और पौष्टिक शुद्ध अन्न के रूप मे हमे प्रदान करती है। जल द्वारा मल की शुद्धि एक साधारण सी बात है। पवन गन्दगी को ऊपर उठा कर हमसे दूर करता ही है। अग्निदेव गंदी से गंदी वस्तु को क्षण मात्र में जला कर भस्म कर देते है। सूर्यदेव भी अपनी ताप से वही कार्य करते हैं जो अग्निदेव। चन्द्रमा तो अपनी सुधा से सबके अन्दर संजीवनी शक्ति प्रदान करते ही है। अध्यापक इस उदाहरण द्वारा अपने विद्यार्थियो को सहज ही मे विदित वस्तुओ द्वारा उसके भावी कर्त्तव्य का स्मरण करा रहा है कि बच्चो! जब परमात्मा तुम्हे यह देव-पद प्राप्त कराये, तुम पढ़ लिख कर विद्वान बनो, तो तुम्हे भी यही परिशोधन क्रिया करनी पड़ेगी। एवज मे तुम्हारा सत्कार भी संसार मे होगा इसमें सन्देह नहीं। हवन द्वारा इन देवताओ की शुद्धि का मर्म भी साथ ही साथ समझा दिया जाता है।

इसी अध्याय के इकसठवे मंत्र मे विद्यार्थियो द्वारा प्रश्न किया जाना दिखाया गया है। कैसे सुन्दर प्रश्न हैं। जब बालक उत्तर देने मे असमर्थ हो तो गुरुवर्य से ही प्रश्न किया जायेगा। भगवन्! हमतो यह सब बाते नहीं जानते। फिर आपही बताने की कृपा करें। अच्छा तो बतलाइये।

पृच्छामित्वा परमन्त पृथिव्याः, पृच्छामियत्र भुवनस्य नाभिः। पृच्छामित्वा वृष्णो अश्वस्य रेतः, पृच्छामि वाचः परमं व्योम॥ यजु० अ० २३ मन्त्र ६१

पहले मन्त्र में वार्तालाप अध्यापक ने छेड़ा था। फल यह हुआ कि विद्यार्थियो मे उत्सुकता बढ़ी और जिज्ञासा उत्पन्न हुई। अब वे स्वयं प्रश्न करते हैं—

(१) बताइये भगवन इस ठोस गोलाकार पृथ्वी का अन्त कहां है?

(२) और यह जो चर और अचर भुवन सृष्टि दिखाई देती है इसकी नाभि (केन्द्र स्थान) कहां है ?

(३) इस वर्षणशील अश्व (सूर्य) का रेतः (पुत्र) कौन है ?

(४) वाचः (वेद वाणी) का परम व्योम (उद्गम स्थान) क्या है ?

आगे चलकर बासठवाँ मन्त्र क्या है मानो गुरुवर्य्य का सांकेतिक उत्तर है—

इयं वेदि. परो अन्तः पृथिव्याः, अय यज्ञो भुवनस्यनाभिः। अयं सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतो, ब्रह्मायंवाचः परमं व्योम ॥ यजु० अ० २३, मन्त्र ६२

प्रश्न विद्यार्थियों के थे। उन्हे उत्तर जानने की उत्सुकता है। ध्यान इधर उधर नही जा सकता। गुरुवर्य्य उपदेश करते हैं—

इस ठोस गोल पृथ्वी का एक निश्चित अन्त नही नियत हो सकता। प्रत्येक स्थान उसका अन्त बन सकता है। (इयं वेदिः) तुम्हारी यह यज्ञ वेदिका ही (पृथिव्याः अन्तः) इस पृथ्वी का अन्त है। (अयंयज्ञः) यह यज्ञ ही (भुवनस्यनाभिः) सृष्टि की उत्पत्ति और पालन का वैसे ही मुख्य कारण है जैसे बच्चे की नाभि का नाल जिसके द्वारा गर्भावस्था में उसका पालन पोषण होता है। (अयं सोमा) यह चन्द्रमा (वृष्णोऽश्वस्य) जल बर्षाने वाले सूर्य का (रेतः) वीर्य अर्थात् पुत्र है। (ब्रह्माऽयं) इस दैवी यज्ञ के संचालक ब्रह्मदेव ही (वाचः परमं व्योम) वेद विज्ञान के जन्मदाता है। जिस प्रकार ब्रह्माण्ड के अन्दर वह दैवी यज्ञ हो रहा है वैसा ही तुम भी अभ्यास करो।

लेख बहुत बढ़ गया। केवल एक मन्त्र अथर्व से लेकर शिक्षा कला का एक और उत्कृष्ट सिद्धान्त दिखाया जायगा।

पुनरेहि वाचस्पते देवेन मनसा सह।
वसोष्पते निरमय मय्येवास्तु मयिश्रुतम् ॥
(अ० १-१-२)

शिक्षक को अपने विषय का पूर्णज्ञान होना चाहिये। जो स्वयं किसी वस्तु को ठीक नहीं समझा, वह दूसरो को क्या खाक समझाएगा ?

अध्यापक प्रसन्न मन मे, शिष्यों की कल्याण-कामना से, किसीकी ओर क्रोध अथवा द्वेष भाव न रखकर, कक्षा मे प्रवेश करे। मुहर्रमी सूरत बनाकर तो हरगिज़ न जाय।

पढ़ाने का ढङ्ग ऐसा हो जिससे विद्यार्थियो की ज्ञान वृद्धि के साथ साथ मनोविनोद भी हो जाय।

पढ़ाना प्रभावोत्पादक भी इतना हो कि जो सुना जाय पत्थर की लकीर हो जाय। फुटबॉल की हवा की भाँति रात को भरी और प्रात काल निकल गयी, ऐसी दशा न हो। ज्ञान स्थायी हो।

मन्त्र मे यही आदर्श उपस्थित किया गया है। विद्यार्थी की मनोवृत्ति का नक्शा खींच दिया है—

(वाचस्पते) हे वाणी के स्वामी, जिसको अपने विषय मे पूर्ण अधिकार प्राप्त है, और हे (वसोष्पते) ज्ञान-विज्ञान-रूपी-खजाने के अधिपति ! (देवेन मनसासह) प्रसन्न, आल्हादयुक्त, दिव्य मन लेकर (पुनरेहि) बार बार आपका शुभागमन हुआ करे। (निरमय) इस प्रकार पढ़ाइये जिससे आपका अध्यापन रमणीय जान पड़े। चित्त विनोद की सामग्री हो। (मयिश्रुतम) जो कुछ मैं सुनूं (मय्येवास्तु) मुझ में हो रहे रात का रटा प्रातः सफाचट न हो जाय।

वेद ऐसे अनेकों उदाहरण उपस्थित करता है जो शिक्षा कला के नवीनतम सिद्धान्तो से भी दो कदम आगे बढ़ जाते है।

ऋषि दयानन्द का धर्म

(ले०—श्री प्रो० महेन्द्रप्रताप जी शास्त्री, एम० ए०, एम० ओ० एल०)

आज संसार में धर्म-मन्दिरों की कमी नहीं। क्या पूर्व और क्या पश्चिम सभी देशों में भिन्न भिन्न धर्मावलम्बियों के हजारों और लाखों की संख्या में देवालय अथवा पूजा करने के स्थान बने हुये हैं। पाश्चात्य देशों मे जहाज पर से किसी नगर को देखने पर उसका सबसे ऊंचा दीखने वाला भवन प्राय गिरजाघर होता है और यदि वह नगर मुसल्मानों का हुआ तो मस्जिद की मीनार सब से पहिले दीखेगी। अपने देश में भी जब रेल किसी नगर के पास पहुँचने लगती है तो उसके मन्दिरों या मस्जिदों की चोटिया सबसे पहिले दीखती हैं। यही नहीं कि मनुष्य जाति का धर्म के लिये प्रेम या जोश इन ऊंचे ऊंचे और विशाल भवनों के बनवाने में ही समाप्त होगया हो, वह और आगे बढ़ता है और लाखों और करोड़ों की संख्या में नर नारी प्रतिदिन कहीं-कहीं दिन में कई वार धर्म के नाम पर इन स्थानों पर जाते हैं। केवल यही नहीं कि वे इन स्थानो पर जाकर ही सन्तुष्ट हो जाते हों, अपने अपने विश्वास के अनुसार वे नाना व्रत और उपवास करते है, तीर्थ-यात्रा में धन और समय का व्यय करते हैं और आवश्यकता होने पर बडे से बड़ा त्याग करने के लिये उद्यत रहते है। सारांश यह है कि मनुष्य जाति के अन्दर धर्म के लिये नैसर्गिक प्रेम है और उसके लिये उसने बहुत कुछ किया है एव करने के लिये तैयार रहती है। परन्तु जब इस सब के परिणाम पर दृष्टि पड़ती है तो बड़ी निराशा होती है। इतने व्यय और त्याग के बाद यह आशा की जा सकती थी कि ससार में धर्म का अखण्ड राज्य हो जावेगा और उसकी छत्रच्छाया में सुख-शान्ति-प्रेम-ऐश्वर्य की अनवरत वृद्धि होती रहेगी, परन्तु स्थिति इसके विपरीत है। आज ससार में सब ओर अशान्ति और दुःख का साम्राज्य है—सभ्य से सभ्य और धन धान्य की दृष्टि से समृद्ध से समृद्ध देश यह दावा नहीं कर सकते कि वे सुखी हैं, सारे देश की कौन कहे थोड़े से व्यक्ति भी ऐसे न मिलेंगे जो वास्तव में सुखी हों। आज कौन सा देश ऐसा है जिसमें झूठ बोलने वाले, चोर, डाकू, दुराचारी एव अन्य प्रकार से पापी आदमी न हो। इनको दूर करने के लिये पुलिस और फौजे रक्खी जाती है परन्तु उन से छुटकारा नहीं होता, उल्टे उनकी सख्या बढती जाती है—ज्यों-ज्यों
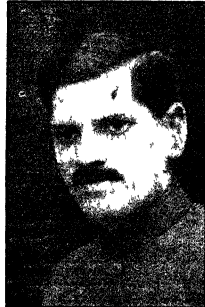
श्री महेन्द्रप्रतापजी शास्त्री

इलाज होता है मर्ज बढता जाता है। राजनैतिक दृष्टि से देखने पर तो और भी अधिक निराशा के दृश्य दिखाई देते हैं। पराधीन देश स्वतन्त्रता के लिये फड़फड़ा रहे हैं और स्वतन्त्र देश दूसरे देशों को हड़प कर अपनी स्वार्थ-पूर्ति का साधन बनाना चाहते हैं। प्रत्येक देश अपने राज्य की सीमा

को अधिक से अधिक बढ़ाना चाहता है और उसके कारण जहां दो देशों के स्वार्थ में टक्कर लगती है अशान्ति के बादल उमड़ने लगते हैं और दुःख की वर्षा हो जाती है। आज के सभ्य देशों की यही दशा है।

इस सब का कारण क्या है? क्या धर्म संसार में शान्ति-स्थापन नहीं कर सकता? यदि नहीं तो संसार से उसका नाम क्यों न मिटा देना चाहिये? यदि हां, तो उसके रहते हुये इतनी अशान्ति क्यों है? इसका संक्षिप्त उत्तर यही है कि धर्म शान्ति का मुख्यतम कारण व उपाय है परन्तु धर्म वास्तविक धर्म होना चाहिये और उसे प्रयोग में लाने वाला व्यक्ति वास्तव में धर्मात्मा होना चाहिये। आज संसार में जिसे धर्म कहा जाता है उसे धर्म कहने में संकोच होता है और जो आदमी अपने आपको धर्मात्मा समझते हैं उन्हें देखकर लज्जा आती है। इस समय के धार्मिक आदमी धर्म की रूढ़ियों को तो पूरा करते हैं परन्तु उसकी आत्मा से वे बहुत दूर हैं। मन्दिर, मस्जिद, पूजा-पाठ, आरती, नमाज, व्रत, रोज़ा आदि धर्म के बाहिरी रूप हैं और इनके पालन से उत्पन्न होने वाली शान्ति उसकी आत्मा रूप है। उसे तभी प्राप्त किया जा सकता है जब आदमी वास्तविक धर्मात्मा हो। परन्तु आज ऐसा है नहीं— मन्दिर और मस्जिद में जाने वाले आदमी बड़े बड़े पाप करते हैं; अपने इष्ट-देव और धर्म-पुस्तक की आज्ञा के विरुद्ध आचरण करते हैं। यही नहीं कि यह आज्ञा-उल्लंघन मन्दिर के बाहिर और पूजा के समय के अतिरिक्त समय में किया जाता हो, बल्कि मन्दिर की सीमा के अन्दर ही भयङ्कर से भयङ्कर पाप हो जाते हैं। जीभ से परमात्मा का नाम जपते समय भी एक बगुला-भगत मन से पाप करता जाता है। आजकल इस प्रकार के 'मुंह में राम बगल में छुरी' पर आचरण करने वालों की संख्या बहुत बड़ी है— ऐसे दम्भी धर्मात्मा वास्तविक धर्मात्माओं से कहीं अधिक है। फिर शान्ति और सुख कहां से हो सकता है। रात को चोरी, दुराचार आदि करने वाले व्यक्ति दिन में देवालयों में आते जाते देखे जा सकते हैं—शायद वहां भी इसी प्रयोजन से जाते हों। पर जब कभी त्यौहार आता है या आपत्ति आती है तो परमात्मा और धर्म की दुहाई देने में वे किसी से पीछे नहीं रहते। प्रायः वे धर्म के ठेकेदार बन जाते हैं। भोली भाली जनता उन्हें धर्म की नौका का केवट स्वीकार कर लेती है वे अपना उल्लू सीधा करते हैं। फिर भला वह नौका कैसे पार लगे; यात्रियों को सुख के धाम में कैसे पहुँचा दे।

राजनैतिक क्षेत्र में तो धर्म की मट्टी और भी बिगाड़ दी गयी है। इटेली के ईसाई राज्य ने आज धर्म और सभ्यता के नाम पर ही अबीसीनियां को अपने पैरों तले रौंधा है और पाश्चात्य भाग के विभिन्न ईसाई राज्य धर्म के अनुयायी होते हुये एक दूसरे के रक्त के पिपासु हो रहे हैं। कहने को राजनीति में धर्म का स्वरूप ही बदल जाता है—परन्तु धर्म की अवहेलना का फल वही होगा जो अन्य स्थानों पर होता है।

इस प्रकार के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं जिनसे पता लगता है कि आज संसार में धर्म के रहते हुये भी दुःख और अशान्ति बढ़ रही है—फिर धर्म का पल्ला क्यों न छोड़ दिया जावे? इसका संक्षिप्त उत्तर यही है कि धर्म की रूढ़ियों को छोड़कर वास्तविक धर्म को ग्रहण करना चाहिये। दिखावे के धर्म को तिलाञ्जलि देकर आन्तरिक धर्म का अनुयायी होना चाहिये और धर्म के सिद्धान्तों को समझ कर उन पर आचरण करने का व्रत ग्रहण करना चाहिये। ऋषि दयानन्द का धर्म के बारे में यही उपदेश है और धर्म के क्षेत्र में उन्होंने इसी क्रान्ति का बीज बोया था। वे चाहते थे कि धर्म केवल मन्दिरों, पुस्तकों व बातों की ही वस्तु न रहे अपितु वह प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में प्रत्येक कार्य में काम में आने वाली वस्तु बननी चाहिये। धार्मिक व्यक्ति को पग-पग पर धर्म का विचार रखना चाहिये और उसकी प्रत्येक श्वास धार्मिकता की गन्ध से पूर्ण होनी चाहिये। कोई देखे या न देखे, फल मिले या न मिले, लाभ हो या हानि धार्मिक व्यक्ति को कर्त्तव्य समझ कर धर्म का पालन करना चाहिये। यह धर्म का व्यावहारिक रूप है। इस प्रकार के धर्म के पालन से व्यक्ति के हृदय में, समाज में, देश में, साम्राज्य में और संसार में सुख-शान्ति की स्थापना हो सकती है। ऋषि दयानन्द यही चाहते थे—उन्होंने अपनी पुस्तकों में स्थान स्थान पर इसकी ओर संकेत किया है। हमारा कर्त्तव्य है कि आज उसकी स्मृति में उसके इस महान आदर्श को समझें और इस पर चलने का व्रत लें।

———

मैं आर्य्य कैसे बनारहा ?

श्री पं० गङ्गाप्रसाद उपाध्याय एम० ए०

लाहौर के आर्य गज़ट में एक लेख माला निकलती है जिसका शीर्षक है "मै आर्य कैसे बना ?" इसमें कई महानुभावों ने अपने आर्यसमाज मे सबसे प्रथम सम्मिलित होने के अनुभव दिये है। श्री सम्पादक जी ने मुझसे भी आग्रह किया था। और जब मै अपने आदिम अनुभवों को लिख रहा था तो मेरे मन मे यह विचार उत्पन्न हुआ कि आर्यसामाजिक "बनने" का प्रश्न इतना महत्व का नहीं है जितना आर्यसामाजिक "बने रहने" का, क्यों कि आर्यसमाज के आरंभ काल से अब तक लाखों पुरुष आर्यसमाज मे सम्मिलित हो चुके है परन्तु बहुत कम ऐसे है जिनके परिवार मे आर्यसमाज के सम्बन्ध मे वही स्थिति बनी रही। कई ऐसे सज्जन थे जो जीवन पर्यन्त अथक कार्य करते रहे परन्तु उनकी आंख मुंदते ही उनका परिवार फिर पौराणिक होगया।

इसका मुख्य कारण मुझे यह मालूम होता है कि आर्यसमाज के सिद्धान्तों का प्रचार महिलाओं मे नहीं होने पाता और जब सस्कार आदि का प्रश्न आता है तो पुराने सस्कार उभर ही आते है। भिन्न भिन्न धर्मों के इतिहास पर दृष्टि डालने से पता लगता है कि पुरुष तो नये विचार लाते हैं और स्त्रियाँ उन विचारों को स्थित रखती हैं, पुरुष बीज बोता है स्त्रियाँ उसको सींचती है। यदि महिलाओं को एक बार संस्कारों की आदत पड़ जाती है तो वे लकीर पीटती ही जाती हैं। बहुधा लोग 'लकीर', 'परिपाटी', 'रूढ़ियों', की अवहेलना करते हैं। वस्तुतः इन रूढ़ियों में बहुत कुछ आक्षेप जनक होता है,परन्तु रूढ़ियाँ सर्वथा ही हानिकार नहीं होतीं। यदि रूढ़ियों को निरर्थक बनने से रोक दिया जाय तो रूढ़ियों और रस्मों से अधिक किसी विचार को स्थित रखने के लिये कोई उपयोगी चीज़ नहीं हैं। व्यक्ति के लिये 'आदत' या 'स्वभाव' का जो मूल्य है वही मूल्य किसी जाति या परिवार के लिये 'संस्कार रस्म' या 'रूढ़ि' का है। आम आदि का अचार डालने के लिये नमक की ज़रूरत होती है। नमक बिना चीज़ सड़ जाती है, इसी प्रकार संस्कारों के बिना विचार भी बिगड़ जाते हैं। मैंने कई लोगों को कहते सुना है कि यज्ञ या संस्कारों की क्या आवश्यकता। ऐसे पुरुष मानवी मस्तिष्क के स्वभाव का निरीक्षण नहीं करते। संभव है कि आप दार्शनिक हो परन्तु सभी तो दार्शनिक नहीं हैं' मै समझता हू कि यदि कोई पुरुष आर्यसामाजिक बना रहना चाहता है तो उसको इतनी बातों पर अवश्य ध्यान देना चाहियेः—

(१) आर्यसमाज के सत्संगों में सपरिवार जाना।

(२) विशेष उत्सवो मे स्त्रियों का विशेष भाग लेना।

(३) सस्कार नियमित रूप से करना।

(४) विशेष अवसरों पर घरों में यज्ञ की परिपाटी

* आर्यसमाज क्या है? *

(ले० –श्री पं० सूर्यदेव शर्मा साहित्यालंकार, सिद्धान्त शास्त्री, एम. ए. एल. टी.)

(१)

आर्यसमाज! अहो यह क्या है? कोई आन्दोलन है?
अथवा सामाजिक सागर का, विस्तृत विन्ध्य-विलोडन है।
वा मुमूर्ष प्राचीन रूढ़ियों का यह अन्तिम रोदन है?
चना बना लोहे का उनको, जो समझे थे ओदन है?

(२)

अथवा वैदिक वाङ्मय गो का, गवेषणा मय दोहन है?
श्रुति-संगीत-मयी सरगम का आरोहण अवरोहण है?
माम्य मनीषी मस्तिष्कों का, उत्तम ऊहापोहन है
अथवा श्रुति प्रिय वंशी वाला, विश्व-विमोहन मोहन है?

(३)

कुटिल क्रूर कट्टर कुरीतियों का कटु कंटक-शोधन है।
अल्प आयु, पर ज्ञान वृद्ध है, कोरा बाल अबोधन है॥
मत मतान्तरों के मन्तव्यों का निष्पक्षालोचन है।
विषम-विषय-विषधर-विस्तारित, बहु विधि बन्ध विमोचन है॥

(४)

या प्रज्वलित अग्नि ज्वाला है, पाप पुञ्ज जहं जलते हैं?
अशुभ अनय अत्याचारों के हिमगढ़ घोर पिघलते हैं॥
जिसमें पड़कर असत् असित आयस् के गोले गलते हैं।
स्वच्छ सुवर्ण रूप होकर के, सत सिद्धान्त निकलते हैं॥

(५)

वा प्रचण्ड मार्तण्ड अखण्ड है, खण्ड खण्ड तम करने को?
अनय अविद्या अनाचार की, निशा तमिस्रा हरने को॥
हृत् सरसिज विकसित कर उनमें, अतुलित आभा भरने को।
सहस रूप में सत्साहित्यिक, दैवी दीधिति धरने को॥

(६)

अहह! चमत्कृत चारु चन्द्र है, दिव्य छटा छिटकाने को।
जगज्जनों के मन कुमुदों को मुद से मुदित बनाने को॥
तपते जगतीतल हर शीतल, शान्ति-सुधा बरसाने को।
नव जीवन की भव्य ज्योत्स्ना से सुखमा सरसाने को॥

(७)

अथवा यह मानव हिमगिरि में, सुन्दर मान-सरोवर है।
ब्रह्म-ज्ञान-सिन्धू का जिसमें आदि स्रोत अति सुखकर है॥
जहां समिति संस्था सरसीरुह खिलते नव्य निरन्तर हैं।
नीर क्षीर वत् सदसत् ज्ञाता, हंस आर्य नारी नर हैं॥

(८)

अथवा पुण्यापगा जाह्नवी का यह पुण्य प्रवाह बहे।
जिसकी कल कल मन्त्रध्वनि में, प्रभु का शुभ सन्देश रहे॥
कलि मल मलिन मनुज तन जो भी, उसका पावन पुलिन गहे।
पौराणिक भव बाधाओं से, छूट मुक्ति का मार्ग लहे॥

(९)

अथवा यह संसार सिन्धु में सुदृढ़ सगठित बोहित है।
अनगिन आन्दोलन मय अर्नुलित तुङ्ग तरंगाशोभित है॥
मत मतान्तरों की आँधी में, आवेष्टित आलोडित है।
है आरूढ़ आर्य जग, नेता खेता नित समयोचित है॥

(१०)

अथवा यह मन्दार हार है, सुन्दर सुख कर सुरभित है।
जो बलिदानी वीर नरों के, बलि-पुष्पों से भूषित है॥
धर्म प्रेम भावना सूत्र में, समावद्ध सगुम्फित है।
मातृभूमि की भेंट हेतु जो, सदा सर्वथा सज्जित है॥

(११)

क्या है आर्यसमाज? आज तक नहीं समझ में आता है।
पाप पुञ्ज का प्रलयङ्कर वा, सत्य सृष्टि निर्माता है॥
यह कोई स्वर्गीय दूत आ, नव सन्देश सुनाता है।
"वेद धर्म का रक्षक प्यारा, आर्य जाति का त्राता है"॥

यदि ऋषि दयानन्द पुनः लौटकर आएं

(ले०—श्री महता जैमिनिजी भूमण्डल प्रचारक)

महर्षि दयानन्द को हम से पृथक् हुए ५३ वर्ष व्यतीत हो गये। आपने आर्य्यसमाज की स्थापना १० अप्रैल १८७५ को बम्बई नगर मे की। जिसका मुख्य उद्देश्य वैदिक धर्म संसार भर में शान्ति तथा आनन्द फैलाना था। स्वामीजी के कार्य्यारम्भ से पूर्व भारत में वेद का प्रचार तथा गौरव नष्ट हो चुका था तथा वेद लुप्त हो चुके थे। यूरोप के विद्वानों को १८ वीं शताब्दी के अन्त मे वेदो के स्वाध्याय करने तथा उनके अनुसन्धान के लिये उत्साह पैदा हुआ कतिपय विद्वानो ने तो वेदों को कटाक्ष की दृष्टि से पढ़ना आरम्भ किया ताकि उन पर कटाक्ष करके बाइबिल के मत का श्रेष्ठतर सिद्ध करें तथा भारत के लोगो को ईसाई बनालें परन्तु कई खोजकों ने उनमें उत्तम विचारों को देखने के लिये अवलोकन किया। स्वामीजी ने वैदिक सिद्धान्तो का सक्षिप्त रूप से ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका मे वर्णन कर दिया है उसे देखकर पश्चिम के विद्वान् चौंक उठे। अब उनको श्रद्धा की दृष्टि से वेद पढ़ने का शौक उत्पन्न हुआ। प्रोफेसर मैक्समूलर ने १८७३ मे आङ्गल भाषा में वेद का अनुवाद किया था, उसकी भूमिका में वह वेदों को चर्वाहों के गीत तथा बालको की बलबलाहट से उपमा देता है। उनमें मिथ्या भ्रम जाल, जादू टोना भूत पूजा आदि लांछन लगाता है, परन्तु जब उसने १८७७ में स्वामी दयानन्द रचित ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका को देखा तो उसकी मनोवृत्ति में परिवर्तन हुआ, उसके पश्चात् उसने एक पुस्तक लिखी जिसका नाम "भारत से हमें क्या शिक्षा मिल सकती है (India what can it teach us) रखा। इस पुस्तक में उसने वेद सम्बन्धी अपनी सम्मति को यूं प्रतिपादित किया।

(क) I maintain that for the study of human being there is nothing in importance equal to the Vedas. I maintain that to everybody who cares for himself, for his intellectual development, the study of Vedic Literature is indispensible.

अर्थात् मेरा यह दावा है कि मनुष्य मात्र के स्वाध्याय के लिये वेद के तुल्य कोई महत्वपूर्ण ग्रन्थ नहीं है। मेरा यह भी निश्चय है कि प्रत्येक मनुष्य के लिये जो अपनी आत्मा को पहचानने तथा बुद्धि के विकास की अभिलाषा रखता हो, वैदिक साहित्य का पढ़ना अनिवार्य है।

(ख) There is hardly any department of learning which has not received new life and light from the ancient literature of India.

अर्थात् विद्या का कोई क्षेत्र ऐसा नहीं जिसने भारत के प्राचीन साहित्य (वेद) से नया जीवन तथा प्रकाश प्राप्त न किया हो।

(ग) इसी एडवर्ड कार्पेंटर (Edward Carpenter) ने अपने पुस्तक आर्ट आफ क्रियेशन (Art of Creation) में लिखा है, 'A new Philosophy we can hardly expect, for the some germinal thoughts of Vedic seers came down from Kant to Schaupenheaur inspiring philosophy after philosophy and religion after religion.

अर्थात् हम किसी नई फिलासफी की आशा नहीं कर सकते क्योंकि वैदिक ऋषियों के बीजरूप विचार ही कॉन्ट से शौपनहार के समय तक नाना प्रकार के दार्शनिक विचारो और भिन्न भिन्न धर्मों को प्रेरित करते आये हैं।

ऋषि शब्द का अर्थ और तात्पर्य

(ले०—पं० धर्मदेव जी शास्त्री दर्शनकेसरी सांख्य वेदान्तादि तीर्थ)

निरुक्तकार और 'ऋषि'—निरुक्तकार ने ऋषिपद की निरुक्ति 'ऋषिर्दर्शनात्' की है, अर्थात् जो तत्वदर्शी है वही ऋषि है। निरुक्त सातवें अध्याय में देवता का अर्थ बताते हुए यास्काचार्य ने कहा है—

'यत्काम ऋषिर्यस्यान्देवतायामार्थ पत्यमिच्छन् स्तुति प्रयुक्ते तद्देवत स मन्त्रो भवति, यहां यास्क ने ऋषि और देवता का पृथक् पृथक् विश्लेषण किया है। मंत्र में जिस विषय की स्तुति है निरूपण है वह उसका देवता है और जो मनुष्य जिस कामना से उस देवता का अर्थपति—अर्थ निरूपण के कारण स्वामी बनना चाहता है वह उस मंत्र का ऋषि है। वही मनुष्य किसी विषय का निरूपण करना चाहता है जो विषय उसका अपना होता है जिसमे उस का प्रवेश होता है। काम ही मनुष्य का स्वरूप है 'यत्कामते तदभिसंपद्यते'। तात्पर्य यह है कि मंत्र के देवता को, प्रतिपाद्यार्थ को देखने की योग्यता जिसमें है वही उस मंत्र का ऋषि है। इसका यह भी तात्पर्य है कि मंत्रों के ऊपर जिन ऋषियों का निर्देश है वह भी योग्यता परक है यौगिक है। रूढ़ नहीं। वैसे तो सभी मनुष्यों को साधारणतया ऋषि कहा जा सकता है परन्तु जो उन मे अधिक तत्वदर्शी हैं वे ही ऋषिपद के वाच्य हैं। इसी बात का वेद ने भी स्वीकार किया है—

(क) ऋ० १०। १०७। ६ 'तमेव ऋषिं तमु ब्रह्माणमाहुर्यज्ञन्यं सामगामुक्थशासम्। सशुक्रस्यतन्वो वेद तिस्रो यः प्रथमो दक्षिणया रराध। जो दक्षिणा में उपदेशादि के दान में प्रथम है वही ऋषि है।

(ख) ऋ० ८। ६। ४१ ऋषिर्हि पूर्वजा अस्येक ईशान ओजसा, इसमें अधिक बलवान् पराक्रमी एक मात्र शासक-डिक्टेटर, को ऋषि कहा है।

इसी प्रकार जर्मनी, रूस तथा अमेरिका के संस्कृतज्ञ अब स्वामीजी के वेद सम्बन्धी महत्व तथा उत्कृष्टता का अनुभव कर रहे हैं। भारत मे भी अब घर घर गाँव गाँव मे वेद उच्चारण होने लगा है, इस प्रकार वेद का नाद संसार भर में बजने लगा है। यदि अब स्वामीजी फिर एक बार भूलोक में लौटकर आएँ तो देखें कि आज उनके वैदिक ज्ञान का सूर्य तमाम संसार में प्रकाशमान हो रहा है। तथा संसार भारत की ओर टकटकी लगाये देख रहा है कि कब भारत संसार की अशान्ति, क्रान्ति तथा उद्विग्नता को दूर कर सकता है।

मुझे शोक है कि अभी आर्यसमाज ने स्वामीजी के स्वीकार पत्र के अनुसार कार्य्य नहीं किया तथा अन्य जातियों और देशों में वैदिक धर्म का स्थायी रूप से प्रचार करने का यत्न नहीं किया। सबसे भारी आवश्यकता तो यह है कि वेदों का अनुवाद तथा व्याख्या अन्य भाषाओं, विशेषकर अंग्रेजी भाषा में किया जावे ताकि पश्चिम के लोग वेद का सत्य भाष्य देखकर वेद के महत्व का अनुभव कर सकें। जब मैं विदेशों में प्रचार करने जाता हूं तथा वेद की उत्कृष्टता और महत्ता पर व्याख्यान देता हूं तो वहां के लोग अंग्रेजी भाषा में वेद मांगते हैं, उस समय मारे लज्जा के सिर झुकाना पड़ता है। इस प्रकार हम पाप के भागी होंगे यदि हम धर्म की प्यासी आत्माओं की तृष्णा को वेद रूपी अमृत से मिटाने का यत्न न करेंगे। इसलिये हम ऋषि दिन मनाने के अधिकारी तब ही बन सकते हैं जब कि हम पहले ऋषि ऋण उतारने का निश्चय करें जो देश देशान्तरों में वैदिक धर्म फैलाने ही से निवृत हो सकता है।

(ग) ऋ० ८ । ७५ । १ में कवि विप्र को ऋषि कहा है।

(घ) ऋ० ६ । ३५ । ४ में साम विद्या विशारद को ऋषि कहा गया है।

(ङ) ऋ० ६ । ८७ । ३ में धीर विद्वान् कवि-ब्राह्मण को ऋषि बताया है।

(च) ऋ० ९ । ९६ । ६ में ब्राह्मणों मे सर्वोत्तम ब्राह्मण को ऋषि कहा है।

(छ) ऋ० ६ । १०७ । ७ में शान्त स्वभाव अधिक व्याख्याता, ब्राह्मण, विचक्षण, पुरुष को ऋषि कहा है।

(ज) मद रहित पुरुष ऋषि है ऋ० १० । २३ । ७ ।

(झ) जल विज्ञान का उत्कृष्ट वेत्ता ऋ० १० । ३० । १० ।

(ञ) देवयुग ऋषि है। नाना रूपवाले गम्भीर-शरीर वाले तेजस्वी पुरुष ऋषि हैं ऋ० १० । ६२ । ४५ ।

उपर्युक्त गुणों वाले विशिष्ट पुरुषों को ऋषि कहा जाता है। यही तात्पर्य है।

ऋषि विशेष—मन्त्रों में अथवा उनपर जिन विशिष्ट वसिष्ठ विश्वामित्र-आदि ऋषियों का उल्लेख है, वे भी किसी विशेष व्यक्ति के नाम नहीं ऐसा मेरा विचार है। वे नाम भी यौगिक हैं। अतः उन उन गुणों वाले सभी व्यक्तियो के नाम हो सकते हैं। अर्थात् सभी मनुष्य-वसिष्ठ-कामदेव होकर उन उन स्थलो के तत्वार्थ को देखसकते हैं। परन्तु ऋषि विशेष बनने से पूर्व सामान्य ऋषि बनना आवश्यक है। वेद में जिन ऋषियो के नाम आते हैं उन सबका अर्थ लिखने के लिये तो बहुत स्थान की आवश्यकता है। इस पर कभी मित्र के पाठकों के सम्मुख विचार उपस्थित करेंगे।

यह बात शायद आजतक किसी ने नहीं कही कि जिन ऋषियों के नाम मन्त्रों पर लिखे हैं वे भी सामान्य शब्द है और किन्हीं व्यक्तियों के नाम नहीं है। लेखक ने उसके लिये कोई प्रमाण नहीं दिये। प्रत्येक मनुष्य को ऋषि कहने की बात भी निराली है अब तक तो मन्त्रार्थद्रष्टा को ही ऋषि कहा जाता रहा है—सम्पादक।

महात्मा श्रीकृष्ण और उनका यदुकुल

(ले०—श्री धारेश्वरजी वैदिक आश्रम बेगम पेट)
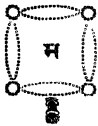
महात्मा श्रीकृष्ण जी महात्मा बुद्ध से बहुत प्राचीन काल में हुए थे, यद्यपि दशरथ, राम, सीता, कृष्ण, अर्जुन, इत्यादि नामो का उल्लेख ऋग्वेद के भिन्न भिन्न स्थानों मे प्राप्त होता है, तथापि रामायण और महाभारत आदि ग्रन्थों मे बताये हुए पुरुष ही वे थे ऐसा नहीं कह सकते। अर्थात् रामायण और महाभारत की व्यक्तियों का समय ऋग्वेद के समय से बहुत अर्वाचीन मानना पड़ता है। महात्मा श्रीकृष्ण जी का नाम प्रथम छान्दोग्य उपनिषद मे प्राप्त होता है। वहाँ पर ऐसा कहा है कि श्रीकृष्ण जी 'घोर आङ्गिरस' जी के उपदेश से वितृष्ण बने थे, प्रायः यह 'घोर आङ्गिरस' जी का श्रीकृष्ण जी के प्रति उपदेश यज्ञ के रहस्य के विषय मे था और उस यज्ञ की 'दक्षिणा' तप, दान, आर्जव, अहिंसा तथा सत्य वचन इत्यादि हैं, ऐसा उस उपनिषत् के प्रकरण से प्रकट होता है। इससे बढ़कर कोई प्रमाण श्रीकृष्ण जी के विषय में वेद उपनिषत् जैसे प्राचीन ग्रन्थों मे नहीं मिलता है, परन्तु उपनिषद मे का यह जो श्रीकृष्ण जी के विषय का उल्लेख यद्यपि अपूर्ण है तो भी वह बड़े, महत्व का है, इस विषय मे शंका नहीं है।

वेद अत्यंत प्राचीन हैं, हिमयुग के भी पूर्व के हैं, क्यों कि हिमयुग के पश्चात् जो प्रलय हुआ है उसका वर्णन ब्राह्मण ग्रंथ ज़ेन्दावस्ता, बायबल आदि प्राचीन ग्रंथो में उपलब्ध होता है, परन्तु वेद में नही अर्थात् वेदों के पश्चात् हिम प्रलय हुवा तथा हिम प्रलय के पश्चात् सब अन्य प्राचीन ग्रंथ हुवे। अतएव दुर्बोध होने से वेदों का अर्थ समझने का प्रयत्न ब्राह्मणादि ग्रंथों मे किया है। वेदार्थ को समझने की ये जो भिन्न भिन्न प्रथाएं निकल पड़ीं उन सबका समन्वय करने का श्रेष्ठ काम श्रीकृष्ण जी ने गीता में किया है अतएव श्रीकृष्ण जी ब्राह्मण, आरण्यक उपनिषद्, योग, सांख्य आदि वेदार्थ समझने की भिन्न भिन्न प्रथाओं के पश्चात् वा समकाल मे हुए अर्थात् वेदो के अनेक शताब्दियों के पश्चात् श्रीकृष्ण जी हुए हैं। छान्दोग्य उपनिषद् में 'घोर आंगिरस' के शिष्य देवकीजी के पुत्र कृष्ण और गीतोपदेश करने वाले महाभारत के कृष्ण सम्भवतः एक ही व्यक्ति हैं। क्यों कि, (१) श्रीकृष्ण जी छान्दोग्य के समय से पूर्व वा समकाल थे (२) यज्ञ का रहस्य तथा उसकी दक्षिणा तप, दान इत्यादि सिद्धान्तों के विषय में श्रीकृष्ण जी को घोर आंगिरस जी से उपदेश मिला था (३) और यह श्रीकृष्ण दूसरा कोई नहीं था प्रत्युत इतिहास पुराणों मे प्रसिद्ध देवकीजी का पुत्र है ऐसा सिद्ध होता है। ऊपर ऊपर देखने वालों को इन तीन बातों मे कोई विशेष बात है ऐसा नहीं दीखेगा, परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखने वाले इस छोटे से वट वृक्ष के बीज में ही भागवत धर्म रूपी तथा भगवद्गीतारूपी विशाल वट वृक्षों का उत्पत्ति स्थान देख सकते है। उदाहरण के लिये गीता को ही देखिए, गीता मे जो यज्ञ के रहस्य के विषय मे वर्णन है तथा यज्ञ, दान, तप, आर्जव अहिंसा, सत्य इत्यादि सिद्धान्तों के महत्व के विषय में जो लिखा है, वह सब छान्दोग्य उपनिषत् से सम्बन्ध रखता है सो पाठक जान सकते है।

भारतवर्ष के विद्वानों का मत है कि, छान्दोग्य उपनिषत् का समय बुद्ध से पूर्व १२०० वर्ष था। श्रीकृष्ण जी छान्दोग्य से भी पूर्व थे, अतएव न्यून से न्यून श्री कृष्ण जी का समय चार सहस्र वर्ष पूर्व मानना पड़ता है। तिलक जी का मत भी इसी प्रकार का है, तथापि निश्चय से श्रीकृष्ण जी के समय के विषय मे नही कह सकते, केवल अनुमान कर सकते हैं, परन्तु इतना सिद्ध हो सकता कि, महात्मा श्रीकृष्ण जी महात्मा बुद्धजी से बहुत प्राचीन हैं।

छोटी एशिया (एशिया माइनर) मे जो प्राचीन लेख 'बोगाज़कोय मे मिला है, उस लेख में इन्द्र, मित्र, वरुण अश्विनौ इत्यादि ऋग्वेद के देवताओं के नाम स्पष्ट लिखे हैं,

और विद्वानों के मत से इस लेख का समय बुद्ध के पूर्व १२०० वर्षों का है ऐसा सिद्ध हुवा है। अब यह एक विचाराई बात है कि, बुद्ध से १२०० वर्षो के पूर्व ऋग्वेद की देवताओं के नाम उतने दूर देश में कैसे पाये जाते हैं ? इस गूढ़ प्रश्न का उत्तर हम इस प्रकार देते हैं कि—पुराणों में प्रसिद्ध है कि महाभारत के युद्ध के पश्चात यदुकुल में कलह उत्पन्न हुवा तथा समस्त यदुकुल का नाश हुवा था। संस्कृत में 'नश' धातु का अर्थ अदर्शने ऐसा समझा जाता है, अर्थात् यदुकुल भारतवर्ष मे अदृश्य हुवा तथा यदुकुल ने भारतवर्ष से निकल कर दूसरे किसी स्थान में निवास किया इस विषय मे मेरा मत इस प्रकार का है कि, महाभारत के युद्ध के पश्चात् यदुकुल मे जो कलह उत्पन्न हुवा था उस कलह के कारण बहुत से यदुकुल के लोग भारतखंड को छोड़कर पालिस्थान (प्यालिस्टाइन) आदि देशो में जाकर रहे और जहाँ जहाँ वे बस गये थे वहाँ वहाँ वे अपने साथ आर्यसंस्कृति को भी लेकर गये थे। इस विषयका समर्थन निम्न लिखित विषय से होता है। जैसा (१) प्यालिस्टाइन, ज्यूडिया, ज्यूड हेब्रू इत्यादि नाम उस देश और देशवासियो के दिखाई देते हैं, वे नाम संस्कृत नामों से साम्य रखते हैं। पालिस्थान से प्यालिस्टाइन, यदु यादवी से ज्यूड ज्यूडिया बभ्रु से हेब्रू अर्थात् कपिल वर्ण के लोग गोवर्धन से योर्धन ज्यार्डन इत्यादि सुस्पष्ट है (२) उन लोगों से जो ईश्वर के नाम है वे भी आर्यसंस्कृति के ही द्योतक है, जैसा वैदिक शब्द यव्ह. (बलवान्) से ये होवा, जेहोवर, याह्म, वैदिक अर्ह. (पूजनीय) से अल्हः एलि एल्; वैदिक ईश् इशा में इश् इशा इत्यादि उस देशवासियो के ईश्वर के नाम देश के निकले हुए है, (३) इस रीति से उस देश के, जाति के, वंश के, ईश्वर के, नाम ही नही परन्तु उन लोगो के महापुरुषों के नाम आर्य नाम ही हैं, जैसा आत्मा, आदिम से (आदम) नाम; स्वधा से से हवा (इव्ह); ब्रह्मा से अब्राहम; सरस्वती से (सर), इक्ष्वाकु से (ऐझाक्), नोधा से नोहा; यशपः से याकप्; सु (पु) लोमन् से सालोमन्, इसकी पुत्री शची नाम की त्रिविष्टप (तिबेट्) के राजा इन्द्र की विवाहिता पत्नी थी। द्विवेद से दाविद्, वैदिक सुशेषः से युसफ़ इत्यादि।

इस रीति से यादवों ने आर्यावर्त को छोड़कर पश्चिम में विद्यमान यहुदी लोगों में रहकर उनमें मिल कर अपने महापुरुषों के, ईश्वर के, गाँव के, जाति के नाम भी उनमें प्रसिद्ध कराये। इन्ही यदु लोगों की शाखा* एशिया माइनर में भी रही थी। उनमें से एक शाखा के लोग मिट्टानि (मित्राणि) नाम के थे। उनके राजा ने हिट्टाइट लोगों के राजा के साथ समय (करार पत्र) लिख दिया था। उस करार पत्र मे इन्द्र, मित्र, वरुण अश्विनौ इत्यादि ऋग्वेद की देवताओं के नाम पाये जाते हैं तो कोई आश्चर्य की बात नही है, क्योंकि एक आर्य राजा दूसरे राजा को करार पत्र लिखकर देते समय अपनी देवताओं के नाम अवश्य ही लिखेगा और यदि इस करारपत्र का समय बुद्ध से १२०० वर्ष पूर्व है, तो उससे भी हमारे कथन की पुष्टि होती है, क्योकि यदु लोग जो आर्यावर्त से निकल गये सो बुद्ध से १२०० वर्षों से भी पूर्व ही गये थे, इन्ही गये हुए लोगों में से कुछ लोगों ने यहूदी लोगों तक पहुंच कर उनमे अपनी आर्य संस्कृति को ऊपर बताये हुये रीति से फैलाकर चिरस्थायी किया है।

अब ऐसा प्रश्न उत्पन्न होता है कि आगे इतिहास में इन लोगो का नाम क्यों नही सुनाई देता है ? तो इसका उत्तर ऐसा है—वे लोग वहाँ पर दृढ़मूल होकर रहे थे। प्रत्युत उस वसति स्थान को छोड़कर उससे पैलीवर (जिस को आजकल ग्रीस देश कहते हैं) जाकर उन्होने अपना नाम अजरामर किया है। ऐसा प्रतीत होता है। इतना ही नहीं परन्तु उन्होने इससे पैलीवर पहुंच कर उनकी एक शाखा ने रामनगर (रोम) शहर को बसाया है। जिनकी भाषा ल्याटिन् अर्थात् लाटीय भाषा अर्थात् लाटदेश की भाषा जिसको आजकल लढक कहते हैं। लढक से आये हुए कुछ लोग गुजरात, मुम्बई, हैदराबाद आदि प्रान्तों में लाड नाम से प्रसिद्ध हैं। अत्यन्त प्राचीनकाल में आर्य लोगों की जिस शाखा ने पश्चिम की ओर जाकर रोम नगर

* ऐसा ही अन्य एक शाखा भारतखण्ड के बाहर जाकर "पार्थिया" नामक देश बसाकर "पार्थियन्स" नाम से इतिहास में प्रसिद्ध हुए जिनके एक राजा का नाम भी मित्रदत्त (Mithridates) आर्य नाम ही प्रसिद्ध है। ये लोग पृथा के पुत्र कर्ण और अर्जुन के वंशज होने से उनके समान अत्यंत कुशल धनुर्विद्या निपुण थे।

की स्थापना करके लाटीय भाषा तथा आर्या संस्कृति को जन्म दिया है। यह रोमनगर निसंशय रामनगर ही है। क्योंकि रामः (रामन् रोमस्) नाम के एक प्रसिद्ध पुरुष ने उस नगर को बसाया था ऐसा कहते हैं। संस्कृत 'आ' का लाटीय वंगीय आदि भाषाओं में ओ आदेश होना है। जैसा वासु शब्द का बोस्, राय् शब्द का रोय्, प्रजनितर् (Progeniter) विशराय् (Viceroy) अगस्त्यम् (Augustas) इत्यादि सिद्ध होते हैं। वैसे ही रामस् शब्द का रोमस् शब्द लाटीय भाषा में हुआ है। बंगाली लोग भी रामेश् कहते हैं। उन लाटीय लोगों का देव (Deus) ज्यूपिटर् (द्यौष्पितर) का रूप है। उनकी एक देवता (Ceres) अर्थात हमारी श्री· अर्थात् लक्ष्मी हीहै। क्योंकि उन लोगों में सिरिस् धान्य देवता थी। इसी सिरिस् शब्द से अंग्रेजी (Cereals) धान्य का वाचक शब्द निकला है।

ग्रीस देश में जिन यादवों ने उपनिवेश किया है उन ग्रीक लोगों की संस्कृति अजरामर हुई है यह तो हमने पहिले बताया ही है इन ग्रीस देश के लोगों के महापुरुषों के और देवताओं के नाम तथा भाषा सब ही आर्य संस्कृति के सूचक हैं यह सब कोई जानते है ये लोग ईश्वर को 'थियास्' (देवः) कहते थे और ज्यूस् (द्यौस्) कहते थे एक पश्चिमीय विद्वान् लेखक ने (India in Greece) नामक पुस्तक में सिद्ध किया है कि, ग्रीक संस्कृति आर्य संस्कृति की पुत्री है और वे कहते हैं कि, ग्रीस देश के नदी पर्वत आदि के नाम भी आर्यावर्त के ही है वे कहते है कि, हरि-कुलेश से हरक्युलिस् शब्द निकला है मुझे तो उनका कहना अधिकांश सत्य प्रतीत होता है क्योंकि, यादवों का एक उपनिवेश ग्रीस देश था जिसको उन्होने अपनी संस्कृति से अजरामर किया है उदाहरण के लिये उस देश के महापुरुषों के नाम देखिए उसमें बहुधा नामक आदि में अरिष्ट और अन्त में इन्द्र शब्द आता है जैसे अलक्षेन्द्र (अलेक्झांडर) संस्कृत सुकृतिः (साक्रेटिस्) अरिष्ट तातिः (अरिस्टटाटल) अरिष्ट क्रतुः (एरिस्टोक्रेट) भिल्लपः (फिलिप्) इरदत्त (हिरोडोटस्) आदि।

इस प्रथम महात्मा श्रीकृष्ण जी के विषय में थोड़ा लिखकर उनके समय के निर्णय के विषय में तथा प्रवाह से यदुकुल के विषय में लिखने लिखते ज्युडिया ग्रीस रोम तक पहुंचे है, अब महात्मा श्रीकृष्ण जी के विषय में दो वाक्य लिखता हूं, हमारे आर्यावर्त देश मे जो अनेक महात्मा हो चुके है उनमें श्रीकृष्ण जी बड़े उच्चकोटि के महात्मा हुए थे। इस विषय में शंका नहीं है, परन्तु वे अत्यन्त प्राचीन-काल में हुए थे इसलिये उनका चरित्र अमानुषिक अर्थात दैविशक्ति सम्पन्न समझा जाता है। कुछ लोग ऐसा समझते है कि, एक ही कृष्ण नहीं था दो तीन कृष्ण हुए होंगे, मेरा मत तो ऐसा है कि कृष्ण तो बहुत हुए, परन्तु महात्मा श्रीकृष्ण एक ही हुआ है, जैसा महात्मा बुद्ध हुए है। इस छोटे से लेख में अनेक घटनाओं से पूर्ण अद्भुत कृष्ण चरित्र का वर्णन हम नहीं कर सकते है, परन्तु ऐतिहासिक दृष्ट्या महात्मा श्रीकृष्ण जी ने की हुई जन सेवा, देश सेवा, तथा धर्म सेवा का थोड़ा सा विवरण मैं यहा करता हूं। श्रीकृष्ण जी के चरित्र से पता लगता है कि, उन्होंने मधु, मुर, काल-यवन इत्यादि अनेक दस्यों का नाश किया था, और उन्होने मथुरा को छोड़कर द्वारका की स्थापना की थी, इससे ऐति-हासिक सत्य प्रकट होता है तथा उनके देश सेवा रूपी कार्य का महत्व जान सकते है, जिस प्रकार महादेवजी ने त्रिपुरा-सुर का वध किया था तथा उनके पुत्र ने तारकासुर को मारा था, इसमें कुछ न कुछ ऐतिहासिक सत्य अवश्य ही है, उसी प्रकार श्रीकृष्णजी के चरित्र में की इन दो तीन बातों में भी सत्य अवश्य ही है, महादेवजी के समय मे त्रिपुरासुर (त्रिपोली का असुर) कुमार कार्तिकेय जी के समय में तारकासुर (तुर्को का असुर) कृष्ण जी के समय मे मुर (मूर नाम के प्रसिद्ध लोगों का राजा) और कालयवन (कालेयवन अर्थात् सिद्दी हब्शी) ऐसे लोगो ने भिन्न भिन्न समय मे आर्यावर्त पर आक्रमण किया था तथा उन आक्रमणों का प्रतिकार करके महादेव, कुमार तथा श्रीकृष्ण जी इन तीनो महात्माओं ने आर्यावर्त की बड़ी सेवा की है। जैसा शिवजी को हब्शी लोगो का आक्रमण रोकने के लिये नौसेना की स्थापना करनी पड़ी है, वैसे ही श्रीकृष्णजी को भी शिद्दी हब्शी तथा मूर लोगों से होने वाले आक्रमण को रोकने के लिये मथुरा को छोड़कर आके समुद्र में द्वारका की स्थापना करनी पड़ी थी, तथा च दुष्ट नरकासुर जैसे कंटक

राजाओं को मारकर प्रजा की रक्षा करना भी बहुत बड़ी देश सेवा समझी जाती है।

(२) धर्मरक्षा:—जिस समय वेदों का ज्ञान नष्ट प्राय होने से आर्यावर्त में अनेक मत मतान्तरों का प्रादुर्भाव हुआ था, (ब्राह्मण ग्रन्थो की कर्मकाण्ड पिशाचिका, आरण्यक उपनिषत् ग्रन्थों की ज्ञान काण्ड पिशाचिका, सांख्यों की सन्यास काण्ड पिशाचिका, योगियों की कैवल्य पिशाचिका इत्यादि अनेक एक देशी अहमन्य पाखण्डो का द्वैधीभाव देश मे फैला था) उस समय बड़ी बुद्धिमत्ता से वैदिकधर्म के मूल तत्वो का पुनरुज्जीवन करने के लिये श्रीकृष्णजी ने घोर आंगिरस से शिक्षा प्राप्त करके अलौकिक धर्मरक्षा की है और श्री शङ्कराचार्य जी के कथनानुसार प्रवृत्ति-निवृत्यात्मक सपूर्ण वैदिक धर्म के तत्वों का पुनरुज्जीवन करके उस महात्मा ने वैदिकधर्मियों मे श्रेष्ठ स्थान प्राप्त किया है (३) यहूदी लोगों मे जो जो आर्य सस्कृति के चिह्न ऊपर बताई हुई रीति से चिरस्थायी हुए है, इन सब बातों का यश और ग्रीस रोम आदि देशों में यादवों ने जाकर बसकर आर्य सस्कृति को समस्त यूरोपादि पाश्चिमात्य देशो मे फैलाने की कीर्ति भी श्रीकृष्ण जैसे महात्मा की ही है क्योंकि यादव भरतखण्ड को छोड़कर दूसरे स्थान पर उपनिवेश करने के लिये गये सो वे स्वयं स्फूर्ति से नहीं गये थे, जिस प्रकार अशोक ने बौद्ध धर्म प्रचार के लिये चारों ओर अपने बौद्ध लोगो को भेजा था, उसी प्रकार श्रीकृष्णजी ने यादवादि आर्य लोगो को आर्य संस्कृति के प्रचार के लिये देश देशान्तरों मे जाकर बसने के लिये प्रोत्साहित किया था, ऐसा हमको प्रतीत होता है अर्थात् अशोक के पूर्व अशोक के समान काम करने वाला महात्मा शिवाजी के पूर्व शिवाजी के समान काम करने वाला महात्मा चाणक्य के पूर्व चाणक्य के समान काम करने वाला महात्मा राम के बाद राम के जैसा काम करने वाला महात्मा शङ्कराचार्य जी बुद्धादि के पूर्व लुप्त प्राय हुए सो वैदिकधर्म को पुनरुज्जीवित करने वाले महात्मा केवल एक श्रीकृष्णजी है। बहुत से लोगों का कहना है कि, अनेक श्रीकृष्ण हुए होगे, क्योंकि उनका कहना ऐसा है, जिस प्रकार योगदर्शन लिखने वाला पतञ्जलि भिन्न है, व्याकरण महाभाष्य लिखने वाला पतञ्जलि भिन्न है और वैद्यक शास्त्र लिखने वाला पतञ्जलि भिन्न है उसी प्रकार गीता धर्म का बोध करने वाला श्रीकृष्ण भिन्न है, छान्दोग्य उपनिषद् में निर्दिष्ट कृष्णजी भिन्न हैं इत्यादि परन्तु मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि, श्रीकृष्ण नाम के एक बहुत बड़े महात्मा बुद्ध के पूर्व विद्यमान थे उन्होंने अनेक सत्कार्य किये थे क्योंकि, वे ऐसे महापुरुष थे कि वे किसी भी सत्कार्य में स्वयं अग्रसर न होकर दूसरों से काम कराने वाले प्रेरणा, उपदेश, उत्साह आदि मनुष्यों के मन में उत्पन्न कराके काम कराने वाले स्वयं अनासक्त सूत्रधार के समान थे, कुछ लोगो का कहना है कि, श्रीकृष्णजी ईश्वर के पूर्णावतार थे और श्रीराम इत्यादि अंशावतार थे, यदि हम इसका अर्थ ऐसा समझेंगे तो ठीक है, ईश्वर के दिव्य गुण श्रीरामचन्द्रजी से भी श्रीकृष्णजी मे अधिक थे, ऐसा न समझ कर यदि शब्दशः अर्थ किया जाय तो ठीक नहीं है, क्यो कि? सर्वव्यापी ईश्वर का अवतार मानना (अवतार अर्थात् नीचे उतरना) तथा अवतार समाप्ति के पश्चात् ऊपर जाना इत्यादि कल्पना नहीं हो सकती है। तो पूर्णावतार अंशावतार खण्डावतार इत्यादि अखंड निरवय ईश्वर मे खंड, अंश इत्यादि कल्पना करना ठीक नहीं है। हाँ श्रीकृष्ण जैसे महात्मा पुनः पुनः जगत मे जन्म लेकर जगत् का हित करने का जो बड़ा कार्य है, उस कार्य के साधन हो सकते हैं, गीता मे ही मैं परब्रह्म हू मेरी शरण लो इत्यादि वचन है। उनका अर्थ क्या समझना? ऐसा मन मे प्रश्न होता है, इसका उत्तर ऐसा है, गीता के श्रीकृष्ण जी तो ऐसे हैं जब जीवात्मा मैं यह करू या वह करू ऐसी संशयात्मक दशा में फंसकर किं कर्तव्यता मूढ बनजाता है। तब सन्मार्गदर्शक जो सदसत विवेकबुद्धि (Conciences) या दैवी वाक्, दिव्य स्फूर्ति (Intuition revelation) इत्यादिका प्रतिनिधि है। और इसी प्रतिनिधि के अधिकार से श्रीकृष्ण जी गीता में बोल रहे है। वेद में भी अनेक ऋषि इन्द्र, वाक् आदि देवताओं के प्रतिनिधि रूप से बोलते है, यह एक उत्कृष्ट वैदिक शैली है। उसी पुरातन शैली के अनुसार श्रीकृष्ण जी गीता में दैवी वाक (Conscience revelation) के प्रतिनिधित्व रूप से बोलते है, विशेषत. जब वे बडे जोश में आकर उपयोग करता है। और ऐसे अलंकार को नहीं जानने वाले लोग शब्दार्थ को केवल लेकर वास्तविक तत्व

समाज के उत्थान और पतन के मूल कारण

(लेखिका—श्रीमती पण्डिता शीलवतीदेवी प्राज्ञा, काव्यतीर्थ, आर्योपदेशिका (देहली)

अबसे लगभग ६½ लाख वर्ष पुरानी एक ऐतिहासिक घटना प्रसिद्ध है। राम और रावण का युद्ध हुआ था। युद्ध में राम का विजय और रावण का पराजय हुआ था। युद्ध क्षेत्र में जबकि रावण ने भूतल को अपनी शयनशय्या बना कर सदा के लिये आँख मीच ली और प्रत्येक प्रकार से निश्चिन्त होकर उसका शव शान्त पड़ा हुआ था तो इसकी सूचना पाकर नारी रत्न पतिवृता महाराणी मन्दोदरी रावण की पटराणी अपने पतिदेव लङ्केश को तलाश करती हुई उसके शव के पास आकर रावण के अनेकश गुणों का कीर्तन करती रही है। मन्दोदरी ने रावण के वीर्योचित गुणों का बड़ा बखान किया है। उसकी वीरता का बखान करती हुई मन्दोदरी रावण को कहती है कि—

' हे पतिदेव ! लङ्केश !! जब आपके बल से संसार के सुरासुर सब ही डरके मारे काँपते रहते हैं तब फिर आपकी यह दशा कैसे हो गई ? अर्थात् आपका सामना करने वाला तो इस भूतल पर कोई था ही नहीं। फिर इस दयनीयदशा का क्या कारण है ? मुझे निश्चय है कि बल के, बल पर आपका सामना करने वाला कोई नहीं है। आप तो बल की राशि हैं।

हाँ - एकही कारण ऐसा है कि जिसके कारण आप जैसे बलराशि पर दुबले पतले शरीर वाले बनवासी राम ने विजय प्राप्त कर लिया और वह कारण यही है कि—आपने सती सीता को सताया है। आपने एक सम्मान्या पतिवृता को अपमानित किया है। बस ! उसी सीता के शाप के कारण आप की सारी शक्ति नष्ट हो गई है जिसके कारण आपके इस विशाल शरीर की यह दुर्दशा हो रही है।

इस प्रकार मन्दोदरी ने रावण के गुणों के कीर्तन के साथ ही उस मूलकारण का बड़े ही मार्मिक शब्दों में वर्णन किया है कि जिसके कारण दुर्जय लङ्केश सुजय होकर मृत्यु को प्राप्त हो गया। यह घटना साढ़े नौ लाख वर्ष पुरानी है। ऐसी ही एक घटना अब से पांच हजार वर्ष पूर्व का भी है। दुर्योधन बड़ा बली था। राज्य वैभव सम्पन्न था। उसे अपने परिजन संख्या और ऐश्वर्य का पूरा २ घमण्ड था। अतः उसकी उन्मत्तता का नम्बर उस काल में सब से ऊंचा था।

समझाना बुझाना सब कुछ हुआ किन्तु हुआ सब कुछ निरर्थक ही। अन्त में सब सैन्य एवं

को नहीं समझते हैं। इस बात को हमने "वेद और गीता" नामक लेख में स्पष्ट कर दिया है। वहाँ पर हमने सिद्ध कर दिखाया है कि, वेदों के गहन तत्वों को सामान्य लोगों के सामने रखने का ही गीता का मुख्य उद्देश है। (अपने सर्व कर्म ईश्वरार्पित मनोभाव से अनासक्त बुद्धि से लोकोपकारार्थ करते रहो ऐसा जो परमश्रेष्ट उपदेश वेद से मिलता है उसीको विशद करके साधारण जनता के सामने रखना ही श्रीकृष्ण जी उपदिष्ट गीता का प्रधान हेतु है। हमारे मत से श्रीकृष्ण जी एक परमोच्चकोटि के सत्पुरुष होगये हैं जिन्होंने अनेक प्रकार के सत कार्य किये हैं, जैसे देशरक्षण, जनता की सेवा वैदिक धर्म का पुनरुद्धार और प्रचार देशदेशान्तरों में किया है, और जैसा क्रिश्चन लोग ईसा को और बौद्ध लोग बुद्ध को ही ईश्वर मानकर बैठे हैं, वैसे ही श्रीकृष्ण जी को हिन्दुओं ने ईश्वर माना है।

परिजन नाश के साथ सुविशाल सरोवर के तट पर वीर भीम की गदाघात से टूटी जांघ की दशा में मृत्यु के मुख में पड़ा, युधिष्ठिर के सामने गिड़गिड़ा रहा था। तो उस समय भी वही रावण की मृत्यु वाला दृश्य नजर आ रहा था। अर्थात् रावण की मृत्यु और उसके अधःपतन का जो मूल कारण सती सीता का अपमान था वही मातृ अपमान यहां भी था।

जब भरी सभा में दुर्योधन ऋतुमती पाञ्चाली का यथेच्छ अपमान की धधकती हुई विनाशकारिणी ईर्षाअग्नि ने दुर्योधन के पल मात्र में सुयोधन बना कर मृत्यु के घाट उतार दिया।

ऐसी ही अनेक घटनायें आचारभ्रष्ट एवं मनुष्यता से हीन यवनों के द्वारा सती साध्वी देवियों के अपमान में होती रही है जो कि उनके विनाश में मूल कारण है।

संसार के इतिहास पर ध्यान से दृष्टि पात किया जाये तो मानव समाज के उत्थान और अधःपतन में नारीसमाज का प्रमुख भाग रहा है। आरम्भ से अब तक जितनी बड़ी बड़ी घटनाये घटी है उनमे स्त्रियों का प्रधान भाग रहा है। यह सत्य है।

सृष्टि के आरम्भ में जब बहुत सी संख्या मे स्त्री पुरुष ईश्वर ने उत्पन्न किये थे उस समय मानव समाज की उन्नति के लिये भगवान ने अपना ज्ञान प्रदान किया था। मानवसमाज ने उसी ईश्वर प्रदत्त भाषा और ज्ञान के आश्रय पर अपनी उन्नति की और आगे भी करेगा। उस ज्ञान के प्रचार करने में जहां पुरुष समाज ने काम किया वहां स्त्री समाज ने भी कोई कमी नहीं रहने दी है। प्राचीन आर्य उन्नति के भेद को जानते थे इसी लिये उन्होंने स्त्री समाज को शिक्षित करना ही केवल आवश्यक नहीं समझा था बल्कि उन्नति के लिये शिक्षा प्रचार मे अग्रसर एवं पूर्ण सहयोग भी प्राप्त किया था।

ऋग्वेद के अनेक स्थल ऐसे हैं जिनकी दृष्टा स्त्रियां ही है।

जिन जिन देवियों ने जिन जिन मन्त्रों का अर्थ सर्व प्रथम जाना और उनका प्रचार भी किया उनके नाम और पते वार मन्त्रों का विवरण नीचे लिखे कोष्ट से जानिये—

नाम मन्त्र द्रष्टादेवी	मण्डल	सूक्त	मन्त्र संख्या
रोमशा	१	१२६	७ वाँ मन्त्र
लोपामुद्रा	१	१७६	१ से ६ तक
विश्ववारा	५	२८	१ से ६ तक
शश्वती	८	१	३४ वां मन्त्र
अपाला	८	९१	१ से ७ तक
यमी	१०	१०	मन्त्र १, ३, ५, ६, ७, ११, १३ वां
घोषा	१०३	३९	१ से १४ तक मन्त्र
घोप	१०	४०	१ से १४ तक मन्त्र
सूर्या	१०	८५	१ से ४७ तक
इन्द्राणी	१०	८६	१ से २३ तक
उर्वशी	१०	९५	मन्त्र २, ४, ५, ७, ११, १३, १५, १६, १८ वां मंत्र
दक्षिणा	१०	१०७	१ से ११ वे मन्त्र तक।
सरमा	१०	१०८	२,४,६,८,१०,११ वां मंत्र
जुहू	१०	१०९	१ से ७ वे मन्त्र तक
वाग्	१०	१२५	१ से ८ वे मन्त्र तक।
रात्रि	१०	१२७	१ से ८ तक कुल ८ मंत्र।
गोधा	१०	१३४	७ वां मन्त्र
इन्द्राणी	१०	१४५	१ से ६ तक
श्रद्धा	१०	१५१	१ से ५ तक
इन्द्रमातर:	१०	१५३	१ से ५ तक
यमी	१०	१५४	१ से ५ तक
शची	१०	१५९	१ से ६ तक
सार्पराज्ञी	१०	१८९	१ से ३ तक

इत्यादि मन्त्रार्थ की सर्व प्रथम ज्ञाता और अर्थ प्रचारिका उक्त देवियां हुई है। ब्राह्मण तथा उपनिषद् साहित्य में भी स्थान स्थान पर विदुषी स्त्रियों का वर्णन मिलता है। आर्य जाति के इतिहास में ऐसे

बहुत से उदाहरण उपस्थित है जिनसे स्त्रियों का न केवल पूर्ण शिक्षिता होना ही पाया जाता है प्रत्युत यह भी पाया जाता है कि स्त्रियों ने बड़े बड़े सुधार के कार्य किये है। अनेको योग्य स्त्रियो से समय २ पर बागडोर अपने हाथो में रख कर राज्य करने तथा राष्ट्र सचालन की आदर्श योग्यता भी देखते हैं। शारीरिक बल में देखे तब भी स्त्रियां पुरुषों की

श्रीमती शीलवतीदेवीजी

आप पञ्जाब की विशारद, कलकत्ते की काव्यतीर्थ और ढाका को साहित्याचार्य की संस्कृत की उच्च श्रेणियो तक शिक्षा प्राप्त है। आपने प्रधानाध्यापिका के पद पर हिसार, सरगोधा, लायलपुर, माण्डले (ब्रह्मा) तथा कलकत्ते और कन्या गु० कु० हाथरस आदि स्थानो मे अध्यापनका कार्य किया है। आप वैदिक सिद्धान्तो की अच्छी ज्ञाता और प्रचारिका हैं।

सहगामिनी ही रही हैं। महारानी कैकेयी युद्ध क्षेत्र में महाराज दशरथ की पूर्णसहायकी सहयोगिनी रही है। आध्यात्मिक उन्नति में भी स्त्रियां पुरुषो से पीछे नहीं रही है। महर्षि याज्ञवल्क्य के संवाद मे गार्गी और मैत्रेयी का इतिहास सुप्रसिद्ध ही है।

बल्कि कहीं २ तो जो तत्व भेद स्त्रियोंने जान पाया पाया है उसे पुरुषों ने जान ही नहीं पाया है और जाना तो केवल स्त्रियो की कृपा से ही उनके जताने पर ही जान पाया है।

केनोपनिषद् में एक कथा है। कहते हैं कि एक बार देवताओं को अपनी २ शक्ति पर बिना जरुरत के ही निरर्थक अभिमान हो गया था। प्रत्येक देवता ने अपने को ही बड़ा और श्रेष्ठ मान लिया था। परन्तु ऐसी दशा मे जहाँ सभी पञ्च-मुखिया बनबैठे लड़ाई झगड़ेका होजाना भी स्वाभाविक ही है। सो ही हुआ भी। उनमें खूब झगड़ा हुआ झगड़े के बीचमें हो (उनके मध्यमे से) एक तेजोमय यक्ष प्रकट हो गया जिसे देख कर देवगण ने आश्चर्य से युक्त होकर पारस्परिक झगड़ा तो बन्द कर दिया और इस यक्ष को जानने में लग गये। बहुत यत्न करने पर भी किसी देवताने जब उसे यक्ष को न जान पाया तो उनकी सभा मे प्रस्ताव हुआ कि इसे जानने के लिये जो भी हम मे से समर्थ हो वहां इस के पासजाकर इसका ठीक ठीक भेद जान आवे और जो कोई इस यक्ष को जान आवे वही हम सब में बड़ा व श्रेष्ठ माना जावे। यह प्रस्ताव सर्व सम्मति से पास हो गया। तदनुसार देवताओं की ओर से सर्व प्रथम अग्नि देवता उस यक्ष का जानने के लिये उस के पास पहुंचा। यक्ष ने उससे पूछा कि तुम कौन हो? अग्नि ने उत्तर दिया कि मेरा नाम अग्नि है। मुझे लोग जातवेद भी कहते हैं। मै इस सर्व संसार को भस्म कर सकता हूं। यक्ष ने एक तृण रख दिया और कहा कि इसे जलाओ। अग्नि ने अपनी सारी शक्ति लगादी परन्तु वह तृण न जला। विचारा लज्जित होकर वापिस देव सभा मे आ पहुंचा। देव सभा ने अग्नि का पराजय सुन कर फिर वायु देवता को भेजा। वायु से भी वैसे ही प्रश्नोत्तर हुये और वह तृण को न उड़ा सका। देव सभा ने अन्त मे इन्द्र को भेजा। इन्द्र के जाते ही वह यक्ष अन्तर्धान हो गया। यक्ष था क्या? सो इन्द्र भी कुछ न जान सका। अन्त में निराश होकर

इन्द्र जब लौटा तो एक स्त्री का दर्शन हुआ स्त्री से इन्द्र से पूछा कि देवी! यह यक्ष कौन था सो मुझे बताओ—

"अथेन्द्रमब्रुवन्मघवन्नेतद्विजानीहि किमेतद् यक्षमिति, तथेति, तदभ्यद्रवत्तस्मात्ति रोदधे" ॥ के न० खण्ड ३ । २४ ॥

"स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम बहु शोभमानामुमां हैमवती तां्होवाच किमेतद् यक्षमिति" ॥ केन० । ३ । २५ ॥

वह यक्ष ब्रह्म (परमात्मा) था। यह एक अलङ्कार मात्र है। ब्रह्म शक्ति ही सर्व श्रेष्ठ शक्ति है। शेष अग्नि, वायु, आदि भौतिक शक्तियां तो उस की प्रदत्त शक्ति के द्वारा ही जगत् में कुछ कार्य कर रही है। ये उस यक्ष को क्या तो जान ही सकती है और और क्या उसे तिरस्कृत ही कर सकती है। अर्थात् भौतिक जड़ जगत ब्रह्म को नही जान सकता उसे केवल इन्द्र जीवात्मा ही जान सकता है। परन्तु यह भी कब ? जब कि स्त्री रूपी उमा=बुद्धि की सहायता पावेगा। अन्यथा यह इन्द्र भी उसे नहीं जान सकता है। विद्वान कहते हैं कि यह एक अलङ्कार है। चाहे अलङ्कार ही क्यों न हो परन्तु यह तो ध्रुव सत्य है कि अध्यात्मिक उन्नति मे भी स्त्रियां पुरुषो की न केवल सहायक ही रही है प्रत्युत कई स्थानो में तो बिना स्त्रियों के बताये हुए पुरुष कुछ भी नहीं जान सके हैं। "सा ब्रह्मेति हो वाच, ब्रह्मणो वा एतद् विजये महीयध्वमिति, ततो विदाञ्चकार ब्रह्मेति ॥ केन० खण्ड ४ ॥ १ ॥

प्राचीन आर्य्यों एवं मानव समाज ने स्त्री समाज की उन्नति मे ही अपनी उन्नति समझी थी और इसीलिये मनुष्य समाज के—स्त्री व पुरुष दोनों ही पक्ष समुन्नत भी रहे हैं। परन्तु जिस समय से पुरुष समाज ने स्त्री समाज को केवल अपनी कामवासना की सामग्री मात्र समझ लिया बस तब से ही स्त्री समाज की शिक्षा और स्वातन्त्र्य का अपहरण करके दासता की कड़ी जंजीरों में बिचारी निरपराध स्त्रियों को जकड़ डाला। इससे स्त्री समाज जहां एक ओर शिक्षा हीन और अयोग्य होता गया। वहां साथ में पुरुष समाज भी अवनति को ही प्राप्त होता गया।

स्त्री और पुरुषों का वैयक्तिक जीवन तो ठीक उसी प्रकार से मानव समाज में अपनी स्थिति रखता है जैसे कि हमारे इस शरीर में दोनो फेफड़े। यदि फेफड़े ठीक ठीक कार्य कर रहे हैं तो शरीर की दूसरी क्रियायें भी ठीक होती रहती है। जिसका फेफड़ा बिगड़ा, उसका स्वास्थ्य बिगड़ा और बिगड़े स्वास्थ्य मनुष्य संसार में भला उन्नति का क्या कार्य कर सकता है? कुछ भी नहीं। यही दशा यहाँ मानव समाज शरीर में स्त्री पुरुष के वैयक्तिक जीवन की है। अतएव—

जिस घर की स्त्रियाँ सुशिक्षित, श्रेष्ठ और उन्नत है वह घर (परिवार) नि.सन्देह सुशिक्षित, श्रेष्ठ और उन्नत होगा। जिस जाति तथा राष्ट्र का स्त्री समाज उन्नत है, वह जाति और राष्ट्र अवश्य ही उन्नत रहा है, है और होगा भी। इसी प्रकार जिस परिवार, जाति और राष्ट्र व देश का नारी जीवन पतित और अयोग्य है उसकी सदैव ही पतिताऽवस्था बनी रहती है।

मानव समाज पतित न होकर सदैव उन्नत होता रहे। इसकी आर्य्य ऋषियो को सदैव चिन्ता रहती थी और इसीलिये उन्होने सुधार का आधार-मूल—"मातृमान् पुरुषो वेद" कह कर केवल मातृ-शक्ति (स्त्री समाज) को ही माना था। अर्थात् उत्तम शिक्षिता माता की सन्तान ही उत्तम, श्रेष्ठ और ज्ञानवान बन सकती है।

महाराज मनुजी ने कहा है कि—

"उपाध्यायान् दशाचार्य, आचार्याणां शतं पिता।
सहस्रं तु पितृन् माता गौरवेणातिरिच्यते ॥
मनु० २। १४५ ॥

अर्थात् १० उपाध्यायो के बराबर बड़ाई में एक आचार्य होता है और १०० आचार्यों के बराबर, १ पिता होता है। एवं १००० एक हजार पिताओं के गौरव के समान केवल १ माता होती है।

ऋषि दयानन्द ने लिखा है कि माता जितनी शिक्षा गर्भ से ५ वर्ष की आयु तक सन्तान को दे देती है, बस वही शिक्षा जन्मभर के पुरुषार्थ में सफल होती रहती है। उतनी शिक्षा न पिता दे सकता है और न आचार्य ही दे सकता है।

आर्य्य समाज का ध्येय तो वही प्राचीन वैदिक मर्यादा का है। उसके लिये पुरुषार्थ तो बहुत कुछ किया है। स्त्री समाज की उन्नति में भी आर्य्यसमाज ने बड़ा आदर्श कार्य किया ही है और कर भी रहा है। परन्तु भारत का स्त्री समाज शिक्षा और वैदिक आर्य्य संस्कृति के संस्कारो से बहुत ही दूर जा पड़ा था अतः उन्नति के पथ मे शीघ्रगामी तथा असन्तोषी कई सज्जन सहसा कह बैठते है कि आर्य्यसमाज ने इनके लिये किया ही क्या है। परन्तु यह उनकी भारी भूल है। किया तो समाज ने उनके लिये बहुत है और कर भी रहा ही है किन्तु फिर भी यह अवश्य कहा जा सकता है कि आर्य्य समाज अभी स्त्री समाज मे प्रवेश नही कर सका है जिसके कारण आर्य्य समाज जोवन की दौड़ मे आकर इस समय रुक सा गया है। जहॉ आर्य्यघरो से केवल शुद्ध आर्य्य संस्कृति संस्कार के ही बालक प्रकट होने चाहिये थे वहां स्त्रियो के अवैदिक-संस्कृति-संस्कार जनित अनार्य्य सन्तान आर्य्यों के घरो मे भी देखने में आती है। इसका कारण केवल यही है कि स्त्रियो में अभी तक वैदिक सिद्धान्तो का वैसा प्रवेश नहीं होने पाया है। और इसका कारण भी योग्य स्त्रियो (स्त्री उपदेशिकाओ) का न होना ही है। यदि पुरुषो की तरह ही योग्य स्त्री उपदेशिकाये भी होती तो वर्तमान में होने वाली बहुत सी त्रुटियां आर्य्य-समाज और आर्य्यों के घरो मे नजर न आती। आर्य्य समाज के कई हितचिन्तक रोते हुए ही प्राय: कहते सुने जाते हैं—

"आर्य समाज मर रहा है। गिर गया। कुछ न बना। सिद्धान्तों से बहुत दूर जा पहुँचा। केवल लड़ाई झगड़ों में ही रह गया। यह तो आर्य्य समाज नहीं रहा है—केवल संस्थासमाज ही बन गया है, इत्यादि।

कोई गुरुकुलों पर आंखे तान रहा है तो कोई दूसरे प्रतिनिधिसभाओ को ही अपने क्रोध का निशाना बनाये बैठे हैं। कहां तक कहे। सारांश मे यह है कि वर्तमान चाल ढाल मे सन्तोष की मात्रा कम ही दृष्टि आ रही है। जिनसे कुछ कर जाने की आशा थी वे ही अब कई स्थानो मे स्वयं पैंतरा बदल गये! मार्ग च्युत हो गये! आशा के स्थान मे निराशा के बादलों से घिरे बैठे हैं। हन्त। यह क्या होगया? अभी कल की बात है—१० अप्रेल १८७५ ई० मे समाज की स्थापना हुई थी। अभी कुल ६१ वर्ष ही तो होने पाये हैं। आदर्श का मार्ग तो बहुत लम्बा है किन्तु इतने ही समय मे थक भी गये और आदर्श की पूर्ति मे निराशा भी कर बैठे! क्यो? आज ऋषि को हम से जुदा हुए—केवल भौतिक शरीर से जुदा हुए ५३ वर्ष ही तो हुए हैं! इतने थोड़े काल मे ही इतना अधिक भटक जाना जहां दुखद है वहां चिन्ता जनक भी है। दशा जो कुछ भी है वह तो है ही। सामने दीख ही रही है।

देखो! यह दीपावली है। दिवाली की वह अमावस्या की रात्रि घोर अन्धकार पूर्ण अवश्य है। अतएव कुछ भयंकर भी प्रतीत होती है। परन्तु बिना इसके शुक्ल पक्ष का उदय भी तो नही हो सकता है। जहाँ यह स्वयं अन्धकार पूर्ण है वहाँ आपके सामने उन्नति का आदर्श सचन्द्र शुक्लपक्ष भी उपस्थित कर देती है।

अतः आर्य्य सज्जनो! अपने इन संशयापन्न विचारो को त्याग कर इसी दिवाली से इन कमजोरियों को दूर करने का दृढ़ संकल्प धारण करलो। और मेरी सम्मति मे तो इन सब शिकायतो का केवल यही एक उपाय है कि—योग्य स्त्रियो से सुयोग्य उपदेशिका तैयार करके और नहीं तो कम से कम आर्य्य समाजियो के घरो मे तो पूर्णतयः वैदिक-सिद्धान्तों को पहुँचा ही दिया जावे जिससे स्त्री पुरुष अपने जीवन को आर्य्य जीवन बना कर व्यर्थ के झगड़ों से बच समाजोन्नति के कार्य में लग जायेंगे।

उनकी बात

(लेखकः—स्नातक सत्यव्रत जी वेदविशारद, बम्बई)

युगद्रष्टा दयानन्द ने आज से अर्द्धशताब्दी पूर्व अपनी अमर रचना सत्यार्थप्रकाश में अत्यन्त स्पष्टरीति से उद्घोषित किया है कि देश की, नहीं नहीं सारे मानव समाज की अधोगति का प्रधान कारण वर्तमानकालीन जन्मजात वर्णव्यवस्था है। इसने ऊंच नीच का भेद उत्पन्न होकर समाज में असमानता की भावना को जन्म दिया। और असमानता जनित घोर अपमान ने मनुष्य को मनुष्य का—भाई भाई का—शत्रु बना दिया। विशेषतया इस जन्म के जातिभेद ने हिन्दूजाति की बरबादी करदी, और आर्यों के वंशज स्वाधीनता से हाथ धो बैठे। सारा हिन्दू समाज संकुचित होगया, और धर्म की आड़ में पाशविकता ताण्डव करने लगी। इस बुद्धिहीन जन्मजाति भेद ने धीरे धीरे बालविवाह, बहुविवाह, वृद्धविवाह और बेमेल विवाहों की अभूतपूर्व रचना करदी और आर्यजाति गौरव के उच्च शिखर से अवनति के गर्त में ढकेली गई। महाराज भर्तृहरि ने सच कहा है:—

विवेक भ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः।

विवेक भ्रष्टों का सैकड़ों तरह पतन होता है। तदनुसार हिन्दूजाति ने जब विवेक को तिलाजलि दी, तब उसमें धीरे धीरे चार प्रधान वर्णों से उपवर्ण निकले, और बाद को 'वर्ण' शब्द ही प्रचलित जाति Caste के अर्थ में रूढ़ होता गया। अन्ततः वर्ण–जिसका धात्वर्थ ही "पसन्द करना" वृ to choose of वृञ् वरणे–है–जात्युपजाति और इसके भी अवान्तर कई उपरप उपजातियों में विभक्त होता चला, यहां तक कि केवल समाज के अग्रजन्मा ब्राह्मणों की ही लगभग तीन सहस्र उपजातियां होगई। इसी तरह शेष तीनों वर्णों की सहस्रों उपजातियां आज बनगई जो अपनेको स्वजातिगत अन्य उपजातियों में भी श्रेष्ठ और दूसरों को नीच मानने लग गई!! इस जन्मजात जातिभेद के राक्षस ने हिन्दूजाति के अर्भकों को भक्ष्य बनाया और इसमें रोटीबन्दी और बेटी-बन्दी की शृङ्खला प्रचलित होगई, तहांतक कि आज राज-नीतिक चाल चलने वाले डा० अम्बेडकर भी स्वयं महार होते हुये अपने से नीची जाति के अछूतों को वे समानता

समाज ने शिक्षा आदि संस्थाओं में जितना धन खर्च किया है। यह सत्य है कि उसका शतांश भी वैदिक सिद्धान्तों के—वेद प्रचार में नहीं किया है। यह दूसरी बात है कि आप इस साधनभूत संस्था जाल को ही साध्य समझे बैठे हो और इसे ही असली वेद प्रचार मान बैठे हों। इनके साथ साथ अब केवल वेद प्रचार को ही मुख्यता देनी चाहिये।

क्या ही अच्छा हो कि—हरिद्वार में आर्य्य वानप्रस्थ-आश्रम के निकट ही पड़े हुए स्थान को लेकर वहां पर ४० वर्ष की आयु के आस पास की कुछ शिक्षित देवियों को सिद्धान्त सम्बन्धी विशेष शिक्षा देकर उन्हे सुयोग्य आर्य्य उपदेशिका तैयार की जावे और उपदेश करना, कथा करना, शंकासमाधान करने का विशेष अभ्यास कराकर देश के प्रत्येक प्रान्त में खास करके आर्य्यों के घरोंमें वैदिक सिद्धान्तों का प्रचार और दूषित रूढ़ियों का नाश किया जाये। उक्त स्थान सुरक्षित है। पास में आर्य्य वानप्रस्थाश्रम है। गुरुकुल कांगड़ी और ज्वालापुर महाविद्यालय भी वहाँ से थोड़ी दूर है जहाँ से पुस्तको आदि से पूर्ण सहयोग व रक्षा का सहाय्य प्राप्त किया जा सकता है। मुझे विश्वास है कि यह पुरुषार्थ निष्फल न जायेगा। अन्त में यह कहना अनुचित न होगा कि—

मानव समाज और राष्ट्र का अभ्युत्थान और पतन का मूल कारण उसका स्त्री समाज ही है। अतः इसकी प्रत्येक प्रकार से उन्नति कीजिये।

नहीं दे सकते जो स्वयं उच्चवर्णीयों से मांगते हैं और जिसके न मिलने से धर्मान्तर करने की धमकियां देकर विक्षिप्त हिन्दूजाति को और भी विक्षिप्त कर देते हैं !!! जन्मजाति की भावना ने मानवसमाज में स्पृश्य–अस्पृश्य की कल्पना-तीत सृष्टि खड़ी करदी और एक ही ईश्वर का बेटा, उसी प्रभु के अन्य पुत्र को अछूत कह कर नकारने, फटकारने, करने लग गया ! फलतः विधर्मियों की बन आई, और बहती हुई गंगा में हाथ धोने लगे। संकुचित बाडे बनाये गये, योग्यता की कद्र उठ गई, गुण कर्म बिसार दिये गये, केवल जन्म को अकस्मात ही प्रधान माना गया। फिर तो मूर्ख और पण्डित, वीर और कायर, आलसी और उद्यमी समान जाति में जन्म के कारण एक सरीखे समझे जाने लगे फिर कौन वेदादि शास्त्रों का कठिन अध्ययन करें ? कौन पराक्रम शीलता को अपनावे ? कौन विदेशों में जाकर लक्ष्मी से देश का भंडार भरें ? हां, अपवाद होते रहते हैं, मगर बहु जनसंख्या इसी निष्क्रियता और अकर्मण्यता मे फंस गई। जन्म के महत्व ने उद्यम और पराक्रम को तिलांजलि दिलादी, और भिक्षुकों की तूती बजने लगी। निस्सारता और स्वार्थ ने मैदान मार लिया। सारेका सारा हिन्दूसमाज विशृङ्खल होगया। उसका धार्मिक महत्व लूटा गया, सामाजिक गौरव उठ गया और राजनैतिक सत्व हरा गया। धर्म-समाज और राजनीति के क्षेत्र में वह बिलकुल पराधन और हेय होगया ! उसकी विरोधी ईसायत और इस्लाम की वाटिकाएं दिन व दिन फूलने लगीं। हिन्दूसमाज ने अपनी अपनी नादानी से इस जन्म के दैवयोग को जब से प्रधानता दी तब से इसने एक और नया, स्वविघातक आविष्कार किया और वह 'जाति-बहिष्कार' का ! छोटे छोटे तंग बाड़ों से—संकुचित दायरों से ऊब ऊब कर हिन्दूसमाज के लाखों पुत्र पुत्रियां बहिष्कृत होकर विधर्मी बन गये–बनाते जारहे हैं। किसका पानी पीलिया, करो बहिष्कार। विदेश गमन किया, करो बहिष्कार। किसी का खाना खाया, करो बहिष्कार। अन्यत्र स्वयंवर किया, करो बहिष्कार। किसी ने जबरन मुंह में थूक दिया करो बहिष्कार ! इस बहिष्कार के ब्रह्मास्त्र ने उसके उत्पादक हिन्दूसमाज को ही विनाश करना शुरू किया ! उलटा प्रयोग सिवाय इसके और करता ही क्या ? हिन्दूसमाज की विवेकशीलता पर पत्थर पड़ गया अन्यथा जाति बहिष्कार यहां शब्द कैसे हो सकता है, जब हिन्दू अब भी 'गायत्री' को मानता है, जिसका अर्थ ही—गायन्तं त्रायते, गाने वाले का परित्राण–संरक्षण करती है ? जिसके वहां कभी देशकाल को लक्ष्य में रखकर ऐलान किया गया था कि सौ सौ मील दूर बैठे भी गंगा का नाम लेने मात्र से सब पाप से छुटकारा मिलता है ! फिर उसी गंगा का पिया हुआ पानी, उसी गंगा के द्वारा किया हुआ विदेश गमन, उसी गंगा के जल मे पकाया हुआ अन्न होते हुये एक हिन्दू भाई, हिन्दूजाति से बहिष्कृत कैसे हो सकता है।

जिनके यहाँ स्कन्द पुराण का निम्न अभिशाप मौजूद होते हुये भी कोई पतित, अस्पृश्य, बहिष्कृत और तिरस्कृत कैसे रह सकता है ? देखो श्लोक :—

विशुद्धिं याचमानस्य, यदि नेच्छन्ति नोद्विजाः।
ब्रह्महत्योद्भवं पापं, सर्वेषां तत्र जायते ॥

विशुद्ध होनेकी याचना करने वालेको यदि सत्कर्म की शरण देकर आत्म सात न किया गया तो सबको ब्रह्महत्या पाप का भागी बनना पडेगा ! यह केवल पुराणकारों का ही मत है ऐसा नहीं भगवान वेद तो साफ साफ फर्माते है कि 'यया दासान्यार्याणि वृत्ताकरो वज्रिन् सुतुका नाहुषाणि' जिसमे दस्यु अथवा दासो को–अनार्यो को आर्य बना लेने का विधान है। बहु जन विश्रुत ऋचा–'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्'–सारे विश्वको आर्य बनाओ–की विद्यमानता में जन्मगत जातिका पाखण्ड हिन्दूसमाज मे एक क्षणभर भी कैसे टिक सकता है यह बड़ा भारी आश्चर्य है !

उन्नत बनाना, उठाना, अपनाना–आत्मसात कर लेना यही तो वेद शिक्षा देते हैं।

यथाः—त्वं दस्यूं रोकसो अग्न आज।
उरुज्योतिर्जनयन्नार्याय ॥ ऋ० ५–२–८–६

हे मित्रमह ! तू आर्यपुरुष के लिए अधिक तेज देता हुआ कर्महीन दस्युको हीनस्थान मे उठा अर्थात् दस्यु को उन्नत बना !

जहां विभिन्न गुणकर्म और आदत वा दस्यु–अनार्यों को भी उन्नत कर आर्य बनाने का आदेश मौजूद हो, वहाँ एक विप्र दूसरे विप्रसे, एक राजपूत दूसरे राजपूत से, एक बनिया दूसरे बनिए से, एक महार दूसरे चमार से और एक हिन्दू दूसरे बहिष्कृत हिन्दू से कैसे अलग हो सकता

है ? हाँ, उसने बात कही थी कि आचार–अनाचार और भक्ष्याभक्ष्य का ध्यान रखना चाहिए, जो समाज के स्वास्थ्यके लिए और मानवी आत्मोन्नति को लिए परमावश्यक है, उन्होंने श्रुति–स्मृतिओं के आधारपर यह बलपूर्वक कहा थाकि जन्म से कोई न बड़ा है, न छोटा; न कोई ऊंच है। न कोई नीच ऊंच और छोटा बड़ा बनानेवाले हरएक के गुण कर्म होते हैं, अतः गुणकर्मानुसार ही वर्ण व्यवस्था हो, इसके न होने मे हिन्दू धर्म रसातल को गया, स्वराज्य पददलित हुवा और हिन्दूसमाज परमुखापेक्षी बन न जाँय होगया–जिसके मनमें आता है घूंसा लगा देता है, और ये हिन्दू 'आह' तक नही कर सकते ! धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक और सबसे बदतर मानसिक पराधीनताका कहीं ठिकाना भी है ?

श्रुति सार्वकालिक होती है, मगर स्मृतियाँ तात्कालिक धर्म और देशकी रक्षाके लिए बननी रहती है; वर्तमान देशकालकी परिस्थिति, तो हट सके मानवता के प्रेमीको, स्वतंत्र्य के उपासक को समानता साम्यवाद के हामी को उनकी बात मानने के लिए बाधित करती है। क्योंकि उनकी बात युक्ति और प्रमाणों से परिपुष्ट होने पर अभ्युदय और निःश्रेयस्य की साधिका है, जन्मजात व्यवस्था को मानने वाले सनातनधर्म के नाम की दुहाई देते हैं, मगर उनके लिए 'सनातन' शब्द ही विचारणीय है, अमरकोषकार कहते हैं:—

शाश्वतस्तु ध्रुवो नित्य सदातन सनातनाः।

त्रिकालाबाधित, निश्चित, नित्य, सदातन हमेशा रहने वाला ये सनातन शब्द के पर्याय हैं। अगर एक हिन्दू बदल कर इस्लामी होता है तो उसका 'सनातनधर्म' कहाँ रहता है ? जब सनातनधर्म तो शाश्वत सदा रहने वाला किसी भी परिस्थिति में न बदलने वाला होना है, तब कोई 'सनातनधर्मी' कैसे मिट सकता है ? खाना-पीना या अत्याचार उसे धर्म की ध्रुवता से कैसे मिटा सकता है ? यही सी बात उन्होंने हमारी हितकामना से कही है, फिर उनसे विरोध क्यों ? उपकारक से अन्यमनस्कता ! छिः छिः यह तो कृतघ्नता होगी !!

उनकी बात का समर्थन मनुस्मृति (४–२५३) पाराशर स्मृति (११–२१) वृहद्स्मृति (३–१०) देवलस्मृति आदि कई स्मृतियां करती हैं। मगर उन सब का विस्तार भय से प्रमाण न देकर केवल याज्ञवल्क्य स्मृति का एक ही श्लोक विद्वानों के लिये प्रस्तुत करता हूँ। उपरिनिर्दिष्ट स्मृतियों के प्रमाण वहां वहां पर देख सकते हैं:—

शूद्रेषु दासगोपाल कुलेमित्रार्धसीरिणः।
भोज्यान्ना नापितश्चैव यश्चात्मान निवेदयन् ॥१–१६६

'नापित' शब्द का अर्थ मिताक्षराकार ने "नापितो गृह व्यापारकारयिता" ऐसा किया है। आगे लिखते हैं—
"एते दासादयः शूद्राणां मध्ये भोज्यान्नाः। चकारात्कुम्भकारश्च। गोपनापित कुम्भकारकुलमित्रार्धिक निवेदितात्मानो भोज्यान्ना इति वचनात्"

शूद्रों में गोपालक, नापित, कुम्हार, किसान आदि जो दास माने गये हैं, वे 'भोज्यान्ना.' अर्थात् उनके यहां खानपान हो सकता है ! ऐसा महर्षि प्रमुख याज्ञवल्क्य जी कहते है !

अतः उनकी बात, कोई नूतन और मनगढन्त नहीं है। पुरानी और शास्त्रानुमोदित है, धर्म और समाज की उन्नति का है, समानता और न्याय की परिचायिका है, संगठन और सौख्य की जनयित्री है, सदाचार और उन्नति की पथ-प्रदीपिका है, इह और परलोक की पथ-प्रदर्शिका है ! अतः आओ, इस दीपावली के दिन बुझते हुये उस भौतिक प्रकाश के बदले उस परम कारुणिक महर्षि आत्मिक प्रकाश को धारण कर उनके सच्चे अनुयायी बनकर आर्य जीवन व्यतीत करने का निश्चय करें। इत्योम् शुभम् ॥

मैलेरिया (फ़सली बुख़ार)
और
हवन यज्ञ

(ले०—श्री० डाक्टर फुन्दनलाल एम० डी० डी० एस० एल० एम० आर० ए० एस० 'लन्दन')

वैदिक काल में मैलेरिया एक साधारण रोग समझा जाता था क्योंकि उस समय न तो यह रोग इस तेजी से फैलता था, और इससे लोग मरते ही थे। परन्तु आजकल यह एक बड़ा भयानक संक्रामक रोग समझा जाता है। इस समय संसार मे जितनी मृत्यु होती है उनमे से दो तिहाई केवल इस रोग से होती है। सरकारी रिपोर्ट से विदित होता है कि दस लाख मनुष्य की मृत्यु प्रति वर्ष इस रोग से होती है। रोग की ऐसी भयानकता को देख वर्त्तमान पाश्चात्य साइंस इस विषय में बहुत कुछ खोज कर रही है। पहिले वहाँ यह समझा जाता था कि यह रोग अशुद्ध वायु से उत्पन्न होता है। इसका नाम मैलेरिया इसी कारण से पड़ा क्योंकि वहाँ की भाषा में मैलेरिया अशुद्ध वायु को कहते हैं। उसके पश्चात् खोज से यह बात पाई गई कि इस रोग का कारण एक प्रकार का मच्छर है। इस बात के ज्ञात होने पर अब सारा बल रोग कृमियो के नाश करने मे लगाया जा रहा है। मनुष्यो को रोग से बचाने के लिये वह अब तक रामवाण औषधि केवल कुनैन को मालूम कर सके हैं, जो रोग की अवस्था मे भी देते हैं और उससे बचाव के लिये भी प्रयोग की जाती है। इसमें सन्देह नहीं कि ऐलोपैथी मे मैलेरिया के लिये इससे बढ़ कर कोई औषधि नहीं, और यह भी सत्य है कि लाखो रोगी इस औषधि से लाभ प्राप्त करते हैं। पर अनुभवी चिकित्सक इस बात से भी अनभिज्ञ नहीं है कि असंख्य मनुष्य इस औषधि के कारण नाना प्रकार के अन्य रोगों में फँस भी जाते हैं। लेखक को ऐसे बहुत से रोगी देखने का अवसर मिला है जिनको चिकित्सक ने (Typhoid) ज्वर में कुनैन दे दी और उनको सन्निपात (सरसाम) हो गया, उनमें से कुछ फिर आरोग्य भी न हो सके। पित्त प्रकृति वालों को मैलेरिया ज्वर में भी कुनैन विष के समान प्रभाव दिखलाती हैं। फिर भी आप किसी डाक्टर से मैलेरिया से बचने का उपाय पूछे तो वह मुख्यतया दो बातें बतावेगा, कुनैन का प्रयोग, तथा मच्छरों से बचना। अब यदि बच्चे से लेकर बूढ़े तक नित्य प्रति कुनैन खा भी लें तो हर समय वायुमंडल में घूमने वाले मच्छरो से बचना तो असम्भव ही प्रतीत होता है। वास्तविक बात यह है कि पाश्चात्य साइन्स आपको मैलेरिया से बचने का सुगम उपाय बताने मे असमर्थ हैं। अत: हम आपको प्राचीन ऋषियों का वेद भगवान द्वारा ज्ञात किया हुआ वह तरीक़ा बतलाते हैं, जिस पर आचरण करने से बिना कुनैन खाए और मच्छरदानी लगाए, न केवल मैलेरिया किन्तु समस्त संक्रामक रोगो से बचाव रहे, और साथ ही दूसरो का भी उपकार हो। वही कहावत चरितार्थ हो कि आम के आम और गुठलियों के दाम। पर उस उपाय को बताने से पूर्व पाश्चात् सभ्यता के पुजारियों की श्रद्धा उत्पन्न करने के अभिप्राय से यह बतलाना चाहते हैं कि वर्त्तमान साइंस ने तो केवल सं० १८८० ई० में डाक्टर Louei द्वारा और पूर्ण रूप से सं० १८६५ ई० में डाक्टर Ras द्वारा यह बात जान पाई है कि मैलेरिया मच्छरो द्वारा मनुष्य शरीर मे प्रवेश करता

है पर वेद ने अब से करोड़ों वर्ष पूर्व मच्छर की विद्यमानता स्पष्ट शब्दों में दर्शा दी है। देखिये—

प्रते शृणामि शृङ्गे याभ्यां वितुदायसि।
भिनद्मि ते कुषुम्भं यस्ते विषधानः॥

अ० क, २० सू० ३२ मन्त्र ६।

अर्थ—तेरे सीगों को मैं तोड़े डालता हूं, जिन दोनों से तू चारों ओर टक्कर मारता है तेरे जल पात्र को तोड़ता हूं जो तेरे विष की थैली है।

अब आप किसी डाक्टर से मैलेरिया के मच्छर (Anophiles) की तसवीर लेकर देखें उसके मुँह के सामने दो सींग से होते हैं और बीच मे मैलेरिया विष की थैली। इन्हीं सीगो द्वारा वह टक्कर मारकर अपना विष प्राणी मे प्रवेश करता है। जो लोग इस भ्रम में पड़े हैं, कि पदार्थ विद्या की उन्नति केवल यूरोप में ही हुई है, उसमे पूर्व भारतवर्ष में कुछ न था, वह ध्यान पूर्वक देखे कि जब अब से अरबो वर्ष पूर्व वेद भगवान मैलेरिया के क्रमि की विद्यमानता बताता है और बहुत खोज के पश्चात् नवीन साइन्स वही बात मालूम कर सकी है तो विद्या का भण्डार वेद है या नवीन साइंस। हम ऊपर बतला चुके हैं कि इन क्रमियो से बचने की जो विधि वर्त्तमान साइंस ने बताई है वह त्रुटि पूर्ण है। अतः अब हम इसकी विधि भी वेद भगवान् मे ही खोजते हैं। वेद बतलाता है कि:—

इन्द्रस्य या मही दृषत् क्रमेर्विश्वस्यतर्हणी।
तया पिनष्मि सं क्रमीन् दृषदा खल्वां इव॥

अर्थ का- २ सू० ३१ म० १।

अर्थ—यज्ञ की जो विशाल शिला प्रत्येक कृमि को नाश करने वाली है, उससे सब क्रमियों को यथा नियम पीस डालूं, जैसे शिला से चनो को पीसते हैं।

वेद भगवान खुले शब्दो में उपदेश करते हैं कि यज्ञ से क्रमियों का नाश होता है। अब हम वैज्ञानिक ढंग पर विचार करते है कि मैलेरिया से हमारी किस प्रकार यज्ञ द्वारा रक्षा हो सकती है।

१—पदार्थ विद्या से यह बात सिद्ध हो चुकी है कि किसी वस्तु का अभाव नहीं होता किन्तु रूप बदल जाता है। अतः हवन में जलाई हुई मैलेरिया नाशक तुलसी, जायफल, गिलोय इत्यादि के सूक्ष्म परमाणु जब श्वास द्वारा विशेष रूप से हवन करने वाले और साधारण रूप से अन्य, उन सब लोगो के भी भीतर पहुंच रक्त मे प्रवेश करेगे जो उस वायु में श्वास लेवेगे। तो उन औषधियो का प्रभाव न केवल कुनैन खाने किन्तु कुनैन के इंजेक्शन से भी अधिक होगा। क्योकि इंजेक्शन की दवा कितनी ही सूक्ष्म का जावे फिर भी आग से सूक्ष्म किये गये परमाणुओं के समान सूक्ष्म नहीं हो सकती, फिर सब इंजेक्शन अप्राकृतिक होने से लाभ के साथ हानि भी करते हैं। पर आग में जलाने का तरीका प्राकृतिक होने से कोई हानि नहीं करता।

२—सूक्ष्म मे जो शक्ति है वह स्थूल मे नहीं, यह साधारण बात। सोने का एक रत्ती टुकड़ा किसी आदमी को खिला दो कोई लाभ न होगा, उसीको सूक्ष्म करके वर्क बना कर खिलाओ पुष्टि देगा। उसे आग मे फूंक कर भस्म बना लो, अब केवल एक चावल भर खिलाओ थोड़े ही दिन मे चेहरे पर लाली शरीर में बल, मन मे उत्साह उत्पन्न हो कर वृद्ध भी युवा सदृश्य बन जावगा। वैद्य लोग जानते हैं कि एक माशे दवा की वैसे बहुत कम शक्ति होती है, उसी दवा को यदि एक सप्ताह तक घोट कर सूक्ष्म किया जाय तो उसकी शक्ति कई गुणा बढ़ जावेगी। होम्योपैथी मे इसी नियम के आधार पर औषधियो की पोटेंसी तैयार की जाती है, जिसका प्रभाव बढ़ता चला जाता है, और जब रोगी पर अति शीघ्र प्रभाव करना अभीष्ट होता है तो खिलाने के स्थान मे औषधि सुंघाते हैं। एक मिर्च को वैसे सूंघने से कुछ नहीं होता, कूटने से कई पास के बैठने वालों को खांसी आवेगी, पर यदि उसी मिर्च को आग मे डाल दें तो दूर दूर तक के मनुष्य खांसने लगेगे। इन सब प्रमाणो से यह सिद्ध होता है कि कुनैन चाहे खिलाई जावे, चाहे इंजेक्शन की जावे रोग से रक्षा करने मे इतनी प्रभावशाली कदापि नहीं हो सकती जितनी प्रभाव-

शाली हवन में जलाई हुई उपरोक्त गिलोय इत्यादि औषधियां हो सकती हैं।

३—अन्वेषण से यह बात सिद्ध हो चुकी है कि जितने प्राकृतिक पदार्थ हैं उनके सूक्ष्म परमाणु हर समय गति शील रहते हैं। यद्यपि प्रत्यक्ष में ऐसा दृष्टि गोचर नही होता, परन्तु मनुष्य शरीर, कोठी की दीवार, मेज कुर्सी इत्यादि का प्रत्येक परमाणु गति कर रहा है, और वह गति भी ऊटपटाग नही किन्तु नियम पूर्वक है। प्रत्येक परमाणु की गति एक सी नहीं होती, किन्हीं की गति समान होती है और किन्हीं की एक दूसरे के प्रतिकूल। प्रकृति का यह नियम है कि दो समान वस्तुये परस्पर एक दूसरे को अपनी ओर खीचती है और विरुद्ध वस्तुयें एक दूसरे को भगाती है। अतः जिन वस्तुओ के परमाणु एकसी गति करते है उनमे परस्पर आकर्षण होता है और विरुद्ध गति वाले परस्पर एक दूसरे को दूर हटाते है। आपने देखा होगा कि एक श्रेणी मे एक साथ पढ़ने वाले कई विद्यार्थियो मे से किन्हीं दो मे विशेष मित्रता हो जाती है, शेष में वैसी नही. रेल मे सैकड़ो यात्री साथ साथ यात्रा करते हैं पर उनमे से किन्हीं दो मे ऐसा प्रेम हो जाता है जो जीवन भर निभता है। किन्हीं पति-पत्नियो मे ऐसा गहरा प्रेम हो जाता है कि एक दूसरे पर प्राण न्योछावर करने को उद्यत रहते है जब कि कोई कोई एक दूसरे को घृणा की दृष्टि से देखते हैं। यह सब कुछ इसी नियम के आधार पर है कि जिनके स्वभाव इत्यादि के परमाणु एक सी बात गति करते हैं। उनमे परस्पर आकर्षण और प्रेम हो जाता है। इसी प्रकार जिस मनुष्य के शरीर के परमाणु जैसी गति करते हैं उसी गति वाले रोग व स्वास्थ के परमाणुओं का उसकी ओर खिंचाव हो जाता है. और जो उसके विपरीत होते हैं वह दूर भागते हैं। अतः मैलेरिया के मच्छर भी उसी मनुष्य पर अधिक आक्रमण करते हैं जिसके भीतर रोग ग्राह्य शक्ति विद्यमान हैं। और जिसके भीतर उनके विपरीत तुलसीपत्र, जायफल, और कपूर इत्यादि मैलेरिया नाशक परमाणु विद्यमान हैं उस पर प्रथम तो इसी प्राकृतिक नियमानुसार आक्रमण करेंगे ही नहीं। और यदि करेंगे भी तो निषेधक शक्ति होने से विष का प्रभाव नष्ट हो जावेगा आपने बहुतों को कहते सुना होगा कि मुझे मच्छर बहुत काटते हैं जब कि दूसरे उसी स्थान पर नंगे सोते हैं।

४—अन्वेषण से यह बात सिद्ध हो चुकी है कि रिया दुर्गन्धित सील वाले और अन्धेरे स्थान मे अधिक होता है, और दुर्गन्ध से पित्त बिगड़ कर वमन होती है। हवन से यह सब बाते दूर होती प्रत्यक्ष दीखती है। अनुभव करके देख लीजिये।

५—किसी भी रोग के कीटाणु जब मनुष्य शरीर मे प्रवेश करते है तो हमारे शरीर की रोग निवारक शक्ति जिसे हमारे पूर्वज ऋषि मुनि तो सर्वदा से जानते थे और प्राणायाम तथा ब्रह्मचर्य द्वारा नित्य बढ़ाया करते थे पर अब इस सम्बन्ध मे वर्त्तमान साइंस मे भी कुछ समय से खोज होने लगी है जिसे डाक्टरी में (Immunity) कहते हैं रोग को दूर भगाने को एक प्रकार का उफान खाया हुआ रस तथा रक्तके श्वेत कणोकी सेना जिसे डाक्टरी मे (Phagocytosis) कहते हैं भेजता है यदि यह लड़ाई मे सफल हो जाते हैं तो रोग कीटाणु वहाँ ही समाप्त होजाते हैं और हमे ज्ञात भी नहीं होता कि हम पर किसी रोग का आक्रमण हुआ था। हाँ इनके निर्बल सिद्ध होने पर रोग हमारे शरीर पर अधिकार जमा लेता है। अन्वेषण से यह भी सिद्ध हो चुका है कि (Immunity) रोग निवारक शक्ति कुछ तो जन्म काल से साथ आती है और कुछ मनुष्य को उत्तम भोजन शुद्ध सुगन्धित हवा के मिलने से उत्पन्न है तो हवन से जहाँ उनकी (Immunity) शक्ति बढ़ेगी वहाँ वह उफान रस भी अधिक उत्पन्न होगा क्यो कि गर्मी से उफान शीघ्र आती है। इस प्रकार मैलेरिया के कृमि उन पर आक्रमण करने पर भी रोग उत्पन्न करने मे असफल रहेंगे।

६—जिस प्रकार हमारे शरीर के ऊपर खाल का खोल चढ़ा है उसी प्रकार शरीर के भीतर की ओर एक मुलायम खाल का अस्तर लगा है जो गले से लेकर आँतों के निचले भाग तक विशेष रूप से तर रहता है। जिस मनुष्य की यह खाल व अस्तर बिलकुल ठीक है और उस पर कोई खराश नहीं है, वह स्वस्थ मनुष्य है और उस पर मैलेरिया क्या किसी भी संक्रामक रोग का आक्रमण नहीं हो सकता। इस वैज्ञानिक नियम को समझने वाले बुद्धिमान अनुभवी चिकित्सक सर्वदा रेचक दवा का निषेध करते हैं, क्यो कि इससे आँतो के अस्तर में खराश उत्पन्न होती है। जब रोग कृमि शरीर मे प्रवेश करते हैं तो इन्हीं खराशो द्वारा रक्त में इस प्रकार फैल जाते हैं जिस प्रकार प्रवेश (Inject) कराई हुई औषधि। अब यदि किसी असुविधा से हमारी इस खाल व अस्तर मे कोई खराश होगई है तो बाहर की खराश की चिकित्सा तो अन्य उपायो से भी सुगम है पर भीतर का प्रबन्ध कठिन है पर जो नित्यप्रति हवन करते है उनके भीतर जब घी कपूर और गूगल के सूक्ष्म परमाणु पहुचेंगे तो उस खराश को किस शीघ्रता से भर देंगे इसको समझना कुछ कठिन है जबकि इन्ही वस्तुओ से बाहर की खराश को भरने का अनुभव प्रत्येक मनुष्य करके प्रत्यक्ष देख सकता है।

७—हवन के द्रव्यो का जब जब परीक्षण किया गया तो परिणाम सन्तोष जनक निकला है। जिससे सिद्ध होता है कि नित्य हवन करके न केवल मैलेरिया ज्वर अनेक अन्य रोगो से भी अपने आप को अपने कुटुम्ब को पड़ोसियो को बचा सकते है। कुछ प्रमाण हम नीचे देते हैं:—

फ्रांस के विज्ञानवेत्ता प्रो० टिलरवर्ट कहते हैं कि "जलती हुई खाँड के धुयें म वायु शुद्ध करने की बड़ी शक्ति है' वह कहते है "इससे हेजा, तपेदिक, चेचक, इत्यादि का विष शीघ्र नष्ट हो जाता है" (देखो सरस्वती अक्टूबर सं० १९१९ ई०)

डाक्टर टाटलिट साहब ने मुनक्का, किशमिश इत्यादि सूखे फलो को जला कर देखा है। इनको मालूम हुआ है कि इनके धुयें से टाईफाइड ज्वर (मातीझला) के कृमि आध घंटा मे और दूसरे रोगों के कृमि घंटा दो घंटा मे मर जाते है। देखो भारत सुदशा प्रवर्त्तक जून सं० १९०३)

मदरास के सेनेटरी कमिश्नर डा० कर्नल किंग [R.M.S] कालज के विद्यार्थियों को उपदेश किया है कि घी चावल में केसर मिला कर जलाने से रोग के कृमियो का नाश होता है"।

फ्रान्स का डा० हेफकिन कहता है कि "घी जलाने से रोग कृमि मर जाते है।" हवन यज्ञ की इस उपयोगिता को जान कर ही आर्यो के नित्य कर्म मे हवन यज्ञ रक्खा गया है। ऋषि दयानन्द ने नित्य प्रति यज्ञ न करने वाले को पापी बतलाया है। यदि हमारा आचरण इन ऋषि वाक्यों पर हो तो हम मैलेरिया इत्यादि अनेक रोगो से मुक्त रह कर सुखी बन सकते है।

मैलेरिया नाशक हवन सामग्री का विषेश नुस्खा टिकट लिफाफा आने पर मुफ्त भेजा जावेगा यहाँ हम इस कारण से नहीं लिख रहे है कि हम यह जानना चाहते हैं कि देखे कितने सज्जन इस पर आचरण करने को उद्यत होते हैं।

प्रथम सुधारक

एक सनातनधर्मी की हैसियत से मैं स्वामी दयानन्द को वर्तमान भारत का सर्व प्रथम सुधारक समझता हूँ। स्वामीजी महाराज ने मरणोन्मुख हिन्दू जाति को उठाया और उसका प्राचीन आदर्श बतला कर सत्पथ में प्रवृत्त किया, इसके लिये हमे स्वामी जी का आभारी होना चाहिये।

—राजा बरखण्डी महेश प्रतापनारायणसिंह शिवगढ़-राज्य।

आर्यकुमार क्या हैं

[ले०—श्री प० सूर्यदेव शर्मा साहित्यालंकार सिद्धान्त शास्त्री एम० ए० एल० टी०]
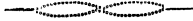
(१)

अहो अरुण के आगम के सम, नव प्रकाश करने हारे।
अविरत अनुपम अतुल उषा में भव्य प्रभा भरने हारे॥
मंजु मरीची से समाज-सर, मे सुख़मा धरने हारे।
मानव-हृत्-सरसिज विकसित कर, शोक-निशा हरने हारे॥

(२)

अहो दिव्य स्वर्गीय विटप के कलित कुसुम क्या टूट पड़े ?
अथवा सुधा-सिन्धु-सीपी से, मुक्ता-मणि-गण फूट पड़े ?
अथवा प्रखर प्रचण्ड प्रभाकर, के प्रस्फोटित खंड बड़े।
चारु चान्द्रमस चमत्कार के, काम्य कलेवर कान्ति अड़े ?

(३)

भारत भू भ्रमणार्थ अवतरित; क्या सुरगण के बालक हो ?
या नचिकेता ऋषिकुमार हो, औपनिषद उद्दालक हो ?
नव स्फूर्ति हो, मंजमूर्ति हो, प्रेम-पुञ्ज-प्रतिपालक हो।
चक्रव्यूह संसार-समर के, सौभद्रक सञ्चालक हो॥

(४)

अथवा ज्योतिर्मय ज्वाला हो, पातक-पुञ्ज-पजारक हो।
उग्र क्रान्ति की चिनगारी क्या, अनय-ओघ संहारक हो॥
वैदिक वायु विश्व मे बनकर, सुख सुरभी संचारक हो ?
अथवा प्रभु-प्रेमा प्लावन हो, पावन पुण्य-प्रसारक हो ?

(५)

अहो ! अतुल अवतार ओज के, निष्ठा के नट नागर हो।
आशा के आगार आप वा, सत्साहस के सागर हो॥
निर्भयता की निश्चल निधि हो, वा उमङ्ग के आकर हो।
जीवित ज्वालामुखी जोश के, वा प्रस्फूर्ति प्रभाकर हो॥

(६)

क्या उत्साह अनल भट्टी के, तुम जलते अंगारे हो ?
अथवा मृदुता-मन्दाकिनि के, तुम कमनीय कगारे हो॥
अथवा संक्षोभित सागर की, लहरों के अम्भारे हो।
वा प्रचंडतम वायु बवंडर के अखंड भण्डारे हो ?

(७)

वृद्ध जनों की आशा पूरित, आँखों के तुम तारे हो ?
दीन दुखी असहाय अनाथों के सर्वस्व सहारे हो।
तमसावृत हृदयों के अथवा, अति उज्ज्वल उजियारे हो॥
वैदिक बोधवारिधारा के, अथवा कलित किनारे हो ?

(८)

आर्य जाति की जर्जर, नौका के या तुम पतवारे हो ?
अथवा देश वाटिका के तुम, सजग सुभट रखवारे हो ?
आरत भारत-माता के वा, दुखहर दिव्य दुलारे हो ?
तुम्हीं बताओ आर्यकुमारो ! क्या हो ? किस के प्यारे हो ?

वेद में मनोयोग चिकित्सा
Mesmeric psychometry.

(ले०—आचार्य पं० द्विजेन्द्रनाथ जी अध्यक्ष वेद संस्थान)

वेद में मन को 'ज्योतिषां ज्योतिः' ज्योतियों का ज्योति महा ज्योति बतलाया है। Mind is a great electrical force, मन एक महान विद्युत्मय शक्ति है यह प्रायः सभी नवीनतम वैज्ञानिकों का मत है। मन से अधिक वेग एवं शक्ति वाला कोई अन्य भौतिक पदार्थ नहीं है। इतना ही नहीं मन को 'प्रज्ञान' और चेतः भी कहा गया है, अर्थात् ज्ञान का कराने वाला तथा चेताने वाला है। यह प्रत्यक्ष सिद्ध ही है। बिना मनोयोग के हमारी सारी ज्ञानेन्द्रियां निकम्मी हो जाती है। चक्षु बिना मन के योग के कुछ भी नहीं देख सकती, श्रोत्र भी सुन नहीं सकता, नासिका सूंघ नहीं सकती रसना भी स्वाद नहीं ले सकती। यदि इन इन्द्रियों के साथ मन का सहकार न हो। इसी लिये शास्त्रकारों ने आत्मा को रथी शरीर को रथ और मन को सारथी—रथ का चलाने वाला माना है। आधुनिक मनोविज्ञान के पण्डित भी यही कहते है कि जितनी क्रियाएं हो रही हैं। वे सब मनःशक्ति के कारण हैं। बिना मन की सहकारिता के क्रिया का होना ही असम्भव है। All conscious actions are done under the direct influence of will सभी एच्छिक क्रिया इच्छा शक्ति मन के अधीन है। यही वेद का सङ्केत है

'येन कर्माणि...मनीषिणो...कृण्वन्ति' (यजुर्वेद)

मननशील विद्वान् जिसके द्वारा सब कार्य करते हैं यही तक नहीं वेद तो स्पष्ट बलपूर्वक कहता है—

'यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते'

तन्मे मनः शिव सङ्कल्पमस्तु (यजु०)

जिसके बिना कोई कर्म किया ही नहीं जा सकता वह हमारा मन शुभ सङ्कल्प वाला हो। यहीं तक नहीं मन को आकाश की तरह एक व्यापक शक्ति माना है—

यस्मिश्चित्तसर्वमोतं प्रजानाम्'

अर्थात् जिसमें प्रजाओं का चित्त ओत प्रोत है। और—'येनेदं भूत भविष्यत्परीगृहीतम्'

जिसने इस भूत भविष्यत को परिगृहीत किया हुआ है अर्थात् भूत भविष्य सब में व्यापक रूप से विराजमान है। इससे स्पष्ट पता लगता है कि मन केवल हमारे शरीरों में ही व्यक्तिगत रूप individual mind) तक ही सीमित नहीं है किन्तु वह सर्वत्र आकाश में भी सूक्ष्मतम अवस्था में व्याप रहा है जो हमारी विचार धाराओं को भूत एवं भविष्यत में भी वायु मण्डल में पकड़े रहता है। जो विचार हमारे व्यक्तिगत मन में उत्पन्न होते है उनका प्रवाह (thought current) वायु मण्डल में भर जाता है और भरा रहता है। उन्हीं विचार धाराओं के द्वारा यदि हमारी मानसिक शक्तिपूर्ण उन्नतावस्था तक पहुंच चुकी तो इस सन्देश के रूप में दूसरों के मनो पर भी असर कर सकते हैं। हम दूसरों को अपने विचार दे सकते हैं तथा उनकी विचार धाराओं को गृहीत कर सकते है इसी तत्व को महर्षि पतञ्जलि ने परमनोविज्ञान कहा है। योगीजन इसी मनःशक्ति के विकाश के द्वारा ही दूसरों के हृदय की बात समझ लेते हैं, योरोप का प्रसिद्ध मानस शास्त्री Psychologist Dr Uried Buchana writes.—

'The perfectly developed mind is omnirelative and is capable of receiving and

reflecting all possible knowledge and power.

अर्थात् पूर्णतया समुन्नत हुआ मन एक व्यापक सम्बन्ध वाला हो जाता है। वह सभी सम्भव शक्तियों एवं ज्ञान को ग्रहण करने के योग्य हो जाता है। यहीं तक नहीं वे आगे लिखते हैं:—

Unive l ether penetrates everything it unites mind with mind, it transmits thought and emotions, it bear- the same relation to mind that the air does to the voice A thought vibrates ether and producing corresponding thought in minds that are attened Minds attainments p 165

जिसका भाव यह है कि सार्वभौम व्यापक ईथर वातावरण सब में व्याप्त हो रहा है। वह मन को दूसरे मन से मिला देता है वह हमारे विचार तथा भावनाओं को एक दूसरे तक पहुंचाता है इसका मन के साथ वही सम्बन्ध है जो शब्द का वायु के साथ है। अर्थात जिस प्रकार वायु शब्द को दूर तक ले जाता है उसी प्रकार सूक्ष्म वायु भी हमारे विचारों को दूर तक पहुचा देता है। विचार आकाशीय सूक्ष्म वायु को प्रेरित कर आन्दोलित करता है और हमारे विचारों को उन मनों तक पहुंचा देता है जो पूर्ण उन्नत होकर समन्ध को प्राप्त होते है।

अथर्ववेद में इसीलिये यह उपदेश दिया गया है।
अग्निमिन्धानो मनसा धियं सचेत मर्त्यः।
अग्निमिन्धे विवस्विभि ॥

(मनसा अग्नि मिन्धानः) मन के द्वारा अन्त. ज्योति को प्रदीप्त करते हुए (मर्त्यः) मनुष्य (धियम्) धारणावती—सर्व ज्ञानधारिका बुद्धि को प्राप्त करे। जिस प्रकार मै (विवस्विभिः) सूर्य किरणों से अग्नि प्रदीप्त करता हूं। भाव यह है जिस प्रकार सूर्य की रश्मियों को आतिशी शीशे मे (convex lance) में केन्द्रित करने से अग्नि उत्पन्न हो जाती है उसी प्रकार मन को ध्यानादि द्वारा ध्येय वस्तु में केन्द्रित करने से अन्तर्ज्योति (latent heat) प्रज्वलित हो जाती है जिसके द्वारा आप यथेष्ट कार्य सिद्धि कर सकते। कारण मन के केन्द्रित हो जाने से अन्तः ज्योति आत्मज्योतिका प्रकाश होगा जो संसार की समस्त शक्ति से बड़ी है उस अमित शक्ति के द्वारा मनुष्य चाहे जो कर सकता है डा० यूरेल भी यही कहते है:—

By the medium of the super conscious mind you are brought into conscious relationship with the infinite power, from which you can draw the energy needed to supply all the demands of your nature.

इस नवयुग के प्रसिद्ध विज्ञानवेत्ता सर ऑलिवर लॉज ने भी अपनी विख्यात पुस्तक 'The survival of men' में येही विचार प्रकट किये हैं—

The thought of one person can became known to another person at a long distance without any apparent medium

अर्थात् एक मनुष्य के विचार दूसरे दूरस्थ मनुष्य को बिना किसी बाह्य उपकरण के ही भली भांति ज्ञात हो सकते हैं।

क्या ये आधुनिक विज्ञान शास्त्रियो के विचार विशद् रूप से उक्त वेद मन्त्रो द्वारा प्रतिपादित नहीं हैं? मनोयुक्त हस्त संस्पर्श से रोगो की चिकित्सा का विधान जब हम वेदों मे देखते है तो हमारे आश्चर्य की सीमा नहीं रहती। मनोबल (Will power and Suggestions) तथा सन्देशो द्वारा रोगों को अच्छा करने की विधि ऋग्वेद के निम्न मन्त्रो में स्पष्टतया दर्शायी गई है।

'अयं मे हस्तोभगवानयं मे भगवत्तरः।
अयं मे विश्वभेषजोऽयं शिवाभिमर्शनः ॥

ऋ० ५ । १० । ६० । १२ ।

(अयं मे भगवान् हस्त.) यह मेरा शक्तिशाली हाथ (अयं मे भगवत्तर) यह मेरा अतिशय ऐश्वर्य वाला हाथ (विश्वभेषजोऽयं) सब रोगों की भेषज

है। (अयं शिवाभिमर्शनः) यह कल्याण एवं आरोग्य की वृद्धि करने वाला है। तथा—

हस्ताभ्यां दशशाखाभ्यां जिह्वा वाचः पुरोगवि।
अनामयित्नुभ्यां हस्ताभ्यां ताभ्यामभिमृशामि ॥ ऋक्

(दश शाखाभ्याम्) दशशाखा अर्थात् दश अंगुलि वाले (हस्ताभ्याम्) दोनो हाथों से (जिह्वा वाचः पुरोगवि) जिह्वा से उच्चारण की हुई वाणी को अग्रेसर करके अर्थात् शुभ वाणी के साथ साथ बोलते हुए सन्देश के रूप में (Suggestion) वाणी से शुभ आशीर्वाद या आशामय सन्देश बोलते हुए (अनामयित्नुभ्याम्) रोग को दूर करने वाले (हस्ताभ्याम्) हाथों से (अभिमृशामि) स्पर्श करता हूं। अर्थात् सन्देश पुरस्सर वाणी द्वारा कर स्पर्श करते हुए रोगी के ज्ञान तन्तुओं तथा मन पर प्रभाव डालने से रोग निवृत्त हो जाता है। यह स्पष्ट संकेत इस मन्त्र में मिलता है। अमेरिका आदि देशो मे Hypnotism के द्वारा रोगों की निवृत्ति की जाती है। इच्छा शक्ति (Will power) का प्रयोग कर, रोगी की मानसिक वृत्ति को बदल कर—मेरा रोग नष्ट हो गया, मै स्वस्थ हो रहा हूँ, ऐसी दृढ़ धारणा से निस्सन्देह रोग नष्ट हो जाते हैं। दृढ़संकल्प के द्वारा शरीर का अणु अणु उसी दिशा मे कार्य करने लगता है कि जिस ओर उसका मन या इच्छा शक्ति उन्हें ले जा रही है। इसी इच्छा शक्ति की महिमा का दिग्दर्शन उक्त मन्त्रो मे कराया गया है। इन मन्त्रों का अनुवाद करते हुए मिस्टर ग्रिफिथ ने निम्न टिप्पणी दी है:—

The stanza is important as showing that the Indians employed touches laying of hands to relieve suffering or to restore health Hyms of Rigveda

अर्थात् इस सूक्त में यह मन्त्र बहुत ही विशेषता रखता है। इससे यह प्रतीत होता है कि भारतीय रोगों की निवृत्ति के लिये या स्वास्थ्य सुधारने के लिये कर स्पर्श का प्रयोग करते थे। ग्रिफिथ को भी उक्त मन्त्रों मे यही भाव प्रतीत हुआ। अब तो यह बात प्रयोगो से भी सिद्ध हो चुकी है कि इच्छा शक्ति (Will power) के द्वारा मनुष्य नीरोगी तथा स्वस्थ बन सकता है। वेद ने—

'मनसा अग्निमिन्धानाधियं सचेत'
"युञ्जते मन उत युञ्जते धिया"

जिसने इस मनोऽग्नि को प्रज्वलित किया बुद्धि एवं मन को योगयुक्त कर लिया उसके लिये कोई अशक्य नहीं। महर्षि पतञ्जलि ने इन्हीं वेदोक्त तत्त्वों के आधार पर योग दर्शन का निर्माण किया। मानवीय शक्तियों को पूर्णतया विकसित एवं प्रकाशित करने के लिये योग से बढ़कर कोई साधन नहीं इसके द्वारा मनुष्य स्वयं उन्नत एवं पूर्णता को प्राप्त कर सकता है तथा दूसरों का पथप्रदर्शक बन सकता है। अपना प्रबल विचारधाराओं के द्वारा सम्पूर्ण वायुमण्डल को स्वर्गीय सुगन्धि से आप्लावित कर सकता है सारी विभूतियों को अपने सामने नर्त्तन करते हुए देखता है। ऋग्वेद मे आता है—

रथेतिष्ठन्नयति वाजिनः पुरो यत्र यत्र कामयते सुषारथिः। अभीशूना महिमानं पनायते मनः पश्चादनु यच्छन्ति रश्मयः। (ऋक् ६। ७५। ६)

अर्थात् मन रूपी सारथी रथ मे बैठा हुआ यथेच्छ रीति से जहाँ चाहे वहाँ जाता है जो चाहे वह करता है।

जिस मनःशक्ति के रहस्य का वेदो ने विशद रूप से प्रतिपादन किया महर्षि पतञ्जलि ने जिसकी प्रक्रिया का विधि पूर्वक निर्माण किया क्या उसी तत्व का आज योरप के विज्ञान एवं मनोविज्ञान के प्रकाण्ड पण्डित मुक्त कण्ठ से अनुमोदन नहीं कर रहे ? क्या यह वेदों की विजय नहीं ?

क्या करें ?

आर्यसमाज का भावी--कार्य्य क्रम

(ले०—रा० सा० मदनमोहन सेठ, जज प्रधान आ० प्र० सभा युक्त प्रान्त)

ऋषि दयानन्द का जिस समय प्रादुर्भाव हुआ था उस समय भारत की अवस्था अत्यन्त ही अन्धकार पूर्ण थी। आर्य्य जाति ने रीति रिवाजो को धर्म्म का स्वरूप समझ रक्खा था, सामाजिक कुरीतियां और अन्धविश्वास इतना अधिक घर कर गए थे कि उनसे छुटकारे का मार्ग दिखलाई नहीं देता था मानसिक दासता इतनी अधिक बढ़ गई थी कि कि स्वतन्त्र विचार की शक्ति ही जाती रही थी। वास्तव में आर्य्य जाति का शुद्ध धार्मिक पहलू सर्वथा नष्ट हो गया था। सर्व साधारण आर्षग्रन्थों को छोड़कर मध्यकालीन मनुष्यकृत अनार्ष ग्रन्थो का ही पठनपाठन करते थे, जिसका परिणाम यह हुआ कि आर्य्य जाति धर्म्म के विशुद्ध आदि स्रोत वेदों से विमुख होकर आर्य्य-संस्कृति को भूल गई और जात पांत के बन्धनो में बँध जाने से वर्णाश्रम व्यवस्था लुप्तप्राय हो गई थी।

ऋषि दयानन्द ने अज्ञानान्धकार को दूर करने के लिए ज्ञानप्रसार के दोनों मुख्य उपायो को ग्रहण किया। जहां उन्होंने सम्पूर्ण भारत में घूम घूम कर व्याख्यान, शास्त्रार्थ और प्रचार कार्य्य द्वारा सर्व साधारण तक वेद का संदेश पहुंचाया और अनार्ष ग्रन्थों को छोड़कर आर्षग्रन्थों के पठन-पाठन की ओर शिक्षित जनता को प्रवृत्त किया, वहां पुस्तक लेखन द्वारा उन्होंने वैदिक धर्म सम्बंधी सत्यार्थ प्रकाश आदि अमूल्य ग्रन्थ प्रकाशित किये। धर्म के स्रोत वेदों का ठीक ठीक तात्पर्य्य समझाने के लिए उन्होंने स्वयं वेदभाष्य का कार्य्य प्रारम्भ किया। इसी समय उन्हें ऐसे संगठन की आवश्यकता अनुभव हुई जो उनके अधूरे कार्य्य को पूरा करने का यत्न करे। इसके लिए उन्होंने आर्य्य-समाज की स्थापना की।

ऋषि दयानन्द के असामयिक देहावसान के बाद आर्य्य समाज ने अत्यन्त उत्साह से कार्य्य प्रारम्भ किया। स्थान स्थान पर स्कूल, कालेज, पाठशालाएं, अनाथालय, गुरुकुल आदि स्थापित किये। आर्य्यसमाज का प्रभाव और क्षेत्र दिन प्रतिदिन बढ़ने लगा और संस्था का संगठन भी अधिक दृढ़ होगया। आर्य्य सज्जनों मे सदाचार, अनुशासन और वैदिकधर्म के लिए त्याग की भावना तथा उत्साह बहुत पाया जाता था। सारा आर्य्यजगत् एक प्रेम सूत्र में आबद्ध था, परन्तु धीरे धीरे आर्य्यसमाज संस्थाओं में आवश्यकता से अधिक फंस गया। अब उसका परिणाम यह हो रहा है कि संस्थाओं के कारण स्थान स्थान पर झगड़े आरम्भ हो गये हैं। अनुभव यह बतलाता है कि जहां संस्थाए अधिक हैं वहीं पर झगड़े भी अधिक हैं। अन्य स्थानों पर समाज अपना कार्य्य शान्तिपूर्वक कर रहा है।

इस समय आर्य्य समाज को तीन बातों पर विशेष बल देने की आवश्यकता है:—

एक गुण कर्मानुसार वर्णव्यवस्था के पुनरुद्धार के लिए विशेष प्रयत्न की आवश्यकता है। जन्म परक वर्ण व्यवस्था के कारण आर्य्य जाति का एक वर्ण समूह दूसरे वर्ण समूह से पृथक् हो गया है, परस्पर सहानुभूति की भावना जाती रही है, सार्वभौम भ्रातृत्व का भाव नष्ट हो गया है और गुणों का आदरकम हो जाने से भारतीय-संस्कृति की आत्मा नष्ट हो रही है। जरा सा भी स्वार्थ जाति के एक भाग को दूसरे भाग से पृथक करने के लिए पर्य्याप्त है। उपजातियों का विष आर्य्य जाति की नस नस में घुस गया है, जो निर्वाचनादि का जरा सा प्रलोभन प्राप्त होने पर भी स्पष्ट झलकने लगता है।

गुणकर्मानुसार वर्ण व्यवस्था की स्थापना के लिए आर्यसमाज ने संस्थाओं द्वारा तथा प्रचार द्वारा यद्यपि मौखिक बहुत कुछ यत्न किया है, किन्तु वास्तव में जात पांत की बेड़ियां इतनी दृढ़ हैं कि इतना प्रयत्न करने पर भी वह ढीली नहीं हुई हैं।

निस्संदेह वर्तमान क़ानून इसमें बहुत कुछ रुकावट पैदा करता है—इसके लिए धारा-सभाओं में आर्य्यविवाह विल आदि बिलों की योजना की जारही है परन्तु फिर भी यह कार्य्य इतना आवश्यक है कि बिना इस ओर पूरा ध्यान दिये न शुद्धि का कार्य्य हो सकता है; न अछूतपतन का कालाटीका आर्य्यजाति के मस्तक से हटाया जासकता और न आर्य्यजाति का संगठन ही वास्तविकरूप में सफल हो सकता है।

दूसरी बात—वेदों और आर्षग्रन्थों का स्वाध्याय करना है। भारतीय-संस्कृति अन्य संस्कृतियों में अपना विशेष स्थान रखती है। जहां भारतीयसंस्कृति में प्रत्येक कर्म कर्त्तव्य की दृष्टि से मुक्तसंग होकर किया जाता है, वहां अन्य संस्कृतियों में कर्म का आधार भोग है। जिसका यह परिणाम होता है कि परस्पर अविश्वास, असन्तोष और लड़ाई-झगड़े बढ़ते ही जाते हैं।

इस समय वेदों का स्वाध्याय न होने के कारण नास्तिकता दिन पर दिन बढ़ती चली आरही है इसका एक मात्र उपाय यही है कि हम वेदों का स्वाध्याय करें और धर्म के शुद्ध स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करें। वैदिक साहित्य के पठन पाठन से जाति का चरित्र निर्मल होगा और सदाचार का आदर्श ऊंचा होगा। यह कितने दुःख का विषय है कि आर्य्यजाति अपने धर्म और संस्कृति के आदि स्रोत वेद का ज्ञान न रखने के कारण वैदिक धर्म से विमुख हो रही है। भाषा और संस्कृति का प्रगाढ़ सम्बन्ध है वेद के स्वाध्याय से देववाणी का पठन पाठन आरम्भ हो जायेगा और इस प्रकार हम अपनी संस्कृति, अपनी भाषा और अपनी जाति को उन्नत करने में समर्थ हो सकेंगे—

तीसरी बात—आर्य्यसमाज का संगठन है। धार्मिक संस्थाओं में आर्य्यसमाज का संगठन बहुत ऊंचा स्थान रखता है। समाज का संगठन जनसत्तात्मक ढंग पर बना हुआ है। आर्य्यसमाज की शाखा, प्रशाखायें फैलकर बहुत विस्तार होगया है। संस्थाओं के कारण अनेक प्रकार के झगड़े भी कहीं कहीं देखने में आते हैं। मुझे यह अनुभव हो रहा है कि आर्य्यसमाज के संगठन को केन्द्रित और दृढ़ करने की भावना का शनैः शनैः ह्रासहोरहा है। आर्य्यसमाजों में जहां एक बार झगड़ा प्रारम्भ हुआ कि उसके मिटाने की सम्भावना जाती रहती है। इस प्रकार के सार्वजनिक संगठन तभी तक सफलरूप से चल सकते हैं जबतक उसके कार्य्यकर्त्ताओं के अन्दर अनुशासन का भाव विद्यमान रहे, इस समय आर्य्यसमाज में अनुशासन कम हो रहा है। किसी भी निर्णय को किसी दल से मनवाने की शक्ति आर्य्यसमाज के संगठन में नहीं है। लोकमत का प्रभाव भी कानूनी हैसियत नहीं रखता है जिसके कारण अनेक उलझनें उत्पन्न होरही हैं।

मेरी सम्मति में अब वह समय आगया है कि संगठन को दृढ़ करने केलिए विधान (कानून) बनवाया जावे जो आर्य्यसमाज की कार्य्य प्रणाली और संगठन के अनुकूल हो। यह तो रही क़ानूनी बात—इसके अतिरिक्त प्रत्येक आर्य्य पुरुष को संगठन का सम्मान करने और अनुशासन का विशेष ध्यान रखने की आवश्यकता है अन्यथा निकट भविष्य में ही आर्य्यसमाज के संगठनके लिए ख़तरा उत्पन्न हो जायेगा।

आज ऋषिदयानन्द के पुण्य निर्वाण उत्सव के अवसर पर आर्य्यसमाज की उन्नति के उपायों पर आर्य्यमन्दिरों में एकत्र होकर यह सोचना चाहिये कि क्या करें।

हिमालय

(ले०—कुँ० हरिश्चन्द्रदेव वर्म्मा "चातक" कविरत्न)

गिरिराज हिमालय अपना
क्या उन्नत भाल दिखाता !
"माथा ऊँचा रखने का"
मानो है मन्त्र सिखाता !

अथवा सुमेरु पर्वत ने—
जब गिरिपति इसे न माना।
तब यह ऊँचा हो उसको
नीचा चाहता दिखाना।

कमलों से युक्त सरोवर
कितने इस पर छवि छाते।
बे जोड़ पाणि पुष्कर को—
मानो हैं इसे रिझाते !

कितने निर्झर झरते हैं—
इस पर कोमल कल कल से।
सुख मानो उमड़ चला है—
इसके बढ़ अन्तस्तल से।

पहले गाया था शिव ने
जो राग सत्य का सुन्दर।
लय हुई मंजु ध्वनि उसकी—
है शेष प्रति ध्वनि निर्झर।

गिरिवर गहरी निद्रा में—
सोगया अचानक थक कर।
है जगा रहे वैतालिक—
निर्झर भैरवी सुनाकर।

ये स्वर्ण शृङ्ग हैं कैसे—
हिम से मण्डित अति सुन्दर।
मैले होने के डर से
मानो ढाँके हो गिरिवर।

या हेममयी लंका पर—
राघव का यश छाया हो।
या पीताम्बर पर हरि ने—
श्वेताम्बर फहराया हो।

कैसी फैली हैं इस पर—
ये संख्यातीत लतायें।
हों मूर्तिमान ही मानो
इसकी अमन्द शोभायें।

पुष्पाभरणों से उनकी—
यों शोभा हुई निराली।
ज्यों हो सत्कवि की कविता—
रुचिरालंकारों वाली।

मलयानिल धीरे धीरे
आकर के उन्हें हिलाता ।
मानो संयमित हमारी
इच्छायें मन विचलाता ।

ये रंग बिरंगे पक्षी—
बैठे उन पर हैं उड़ कर ।
मानो रंगीन प्रलोभन
आये हों मुझ पर जुड़ कर ।

ये कान्तिमती ओषधियाँ
इस पर प्रकाश फैलातीं ।
मानो ये अपने गुण गण—
अपने ही आप दिखातीं ।

अथवा स्पर्द्धा वश ही वे
रत्नों से चमक चमक कर ।
कहतीं के गर्व—कथा—सी—
'तुम से हैं हम बढ़ चढ़ कर' ।

है उछल रही शिखरों से—
गंगा की निर्मल धारा ।
मानो मलयानिल चालित—
गिरि का दुकूल हो प्यारा ।

कैसी क्या बिछल रही हैं—
सरितायें दायें बायें ।
मानो ये टूट पड़ीं हो
गिरि की मुक्ता मालायें ।

या चित्रपटी पर अङ्कित—
चाँदी की हों रेखायें ।
या चन्द्रचूड़ शङ्कर की—
फैली हों सुयश प्रभायें ।

लख इन्हें दौड़ते मन में—
कितनी ही बातें आतीं ।
झाँकी सुन्दर दृश्यों की—
क्या संग लिये ये जातीं ।

या फिर सन्देशा गिरि का
लेकर जाती यह जग में—
"दृढ़ता सीखो तुम मुझ से—
प्रिय बन्धु सत्य के मग में ।"

हैं घूम रहे जंगल मे—
द्विरदों के दल मतवाले ।
मानो मेघों के बालक—
गिरिवर ने हों ये पाले ।

कल्पना यही करते हैं
उनके दाँतों पर कविवर ।
मानो हों दाँत निकाले—
तम ने प्रकाश से डर कर

अथवा काले है तो क्या—
अन्तर तो है उज्वलतर ।
मानो यह परिचय ही वे—
देते हों दाँत दिखाकर ।

विचरण करते घन इस पर—
जब इन्द्र धनुष को लेकर ।
तब भास यही होता है—
मानो है स्वर्ग यहीं पर ॥

भारत का यह रक्षक है
इसकी है बड़ी कथायें ।
छोटी कल्पना हमारी
फिर पार कहाँ से पायें ।

यास्कदृष्ट्या वेदेष्वितिहासः

(लेखकः—आचार्य विश्वश्रवाः)

वेदेष्वितिहास इत्यत्र निरुक्ताध्येतारो विप्रतिपद्यन्ते । तथाहि—

वेदेष्वितिहासो यास्कस्यानभिमतस्तस्य नैरुक्तत्वात् । अन्यो हि नैरुक्तपक्ष इतरश्चैतिहासिक-पक्षः । यथा "त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिकाः, मेघ इति नैरुक्ताः" इत्यत्र ।

अन्ये त्वाहुः—ऐतिहासिकपक्षोऽपि यास्कसंमतो निरुक्ते बहुषु मन्त्रव्याख्यानेष्वैतिहासिकपक्षस्यैव दृष्टत्वान्नैरुक्तपक्षस्य चादृष्टत्वात् यथा ',आर्ष्टिषेणो होत्रमृषिर्निषीदन्" इत्यत्र ।

"इति तु नैरुक्तामगतिककल्पना " 'अतएव नैरुक्ता इत्युक्त न तु वयम्" इति गुरुपादा महामहोपाध्याय श्री ६ दाधिमथा ।

अनभिमतैतिहासिकपक्षा आक्षिपन्ति—"पुरुषविद्यानित्यत्वात् कर्मसंपत्तिर्मन्त्रो वेदे" इत्याद्युक्तोऽपौरुषेयनित्यो यास्कस्य वेदः । ऐतिहासिकपक्षाश्रयणेन तु तस्मिन् पौरुषेयत्वानित्यत्वापत्तिः यदाहुर्बहुषु मन्त्रव्याख्यानेष्वैतिहासिकपक्षस्यैव दर्शनमिति तत्र नैरुक्तपक्षः स्कन्दादिभाष्याद् द्रष्टव्यः ।

यथा—"नित्यपक्षे ऋग्द्वयस्यान्यथार्थयोजना—आर्ष्टिषेणो मध्यमं तत्रभवत्वार्ष्टिषेणो वैद्युतः" इति स्कन्दः । एवमेवाचार्यवररुच्यादयोऽप्याचख्युः ।

अभिमतैतिहासिकपक्षाः समादधते–भूतभविष्यद्वर्तमानपरत्वाद् वेदस्यैतिहासिकपक्षस्वीकारेऽप्युक्तदोषोऽनुपपन्न एव । अपि च बहूनां मन्त्राणां स्कन्दादिवृत्तावपि नैरुक्तपक्षीयव्याख्यानस्यादर्शनमेव । यथा "रमध्वं मे वचसे सोम्याय" इत्यत्र । "एवं नैरुक्तपक्षे योजना कर्तव्या" इति वररुच्याद्याचार्याणां साहसमात्रम्, ब्राह्मणेषु बृहद्देवतादिषु च बहुत्र मन्त्राणामैतिहासिकपक्षस्यैव दर्शनात् । एवं हेतुवादैः साम्प्रतं विद्वत्सु प्रचलितो वादः ।

वयं तु यास्कोक्तमितिहासं त्रिधा विभजामः । "त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिका मेघ इति नैरुक्ताः" इत्येकम् । "कुशिको राजा बभूव" इति द्वितीयम् । "देवापिश्चार्ष्टिषेणः" इति तृतीयम् । प्रथमेऽनर्थान्तरं प्रकारभेदेनोच्यते । तत्को वृत्रः ? इत्यत्र त्वाष्ट्रोऽसुर इत्येवमुच्येत मेघ इति वा समानमुभयम् । द्वितीये वेदश-देभ्य एवादावित्याद्युक्तप्रकारेणाभिहितः कश्चिदुत्तरकालभावी राजादिर्यास्केन मन्त्रे योज्यते । आचार्यप्रवृत्तिरिय यथा—"गर्तारुगिव सनये धनानाम्" इत्यत्र "दक्षिणाजी" इति । नहि दक्षिणापथेविशिष्टदेशधर्मप्रचारोत्तरं मन्त्रनिर्मितिः केनचिदनेन साध्यते । तृतीये मन्त्र एवेतिहासस्थितिः यदि सर्वथेतिहासनिरासस्तर्हि—

"तत्र ब्रह्मेतिहासमिश्र" इत्यादि यास्कवचनस्य का गतिः । अत्र ब्रह्मेतिहासशब्दयोरर्थान्तरवचनं साम्प्रदायिकाहोपुरुषिकामात्रम् । ब्रह्म वेदः, सएवेतिहासमिश्र इत्येव स्वारसिकोऽर्थः । वैद्युतादिपरनैरुक्तार्थप्रदर्शनेनापि नैतिहासिकपक्षनिरास उभयोरपि संभवात् नह्येको द्वितीयस्य बाधकः पृथग्विषयत्वात । भिन्नविषयार्थानामविरोधे दुर्गादयोऽपि संमताः । तथा चात्मानन्दः न च भिन्नविषयाणां विरोधः" इति ।

देवापिः शन्तनुश्चैतिहासिकौ न वेत्यत्र मन्त्र-वर्णास्तटस्था. । लङादिप्रयोगस्त्वैतिहासिकत्वसिद्धयै । तत्र पक्षितौ तन्नामभावत्वमिति हि हृदयम् । आप्तेतिहासप्रसिद्धाश्च त इतिहासा ग्राह्या वेदार्थोपबृंहणाय । वचनानि चैतान्यत्रोहितव्यानि ।

दुर्गः—

"ऐतिहासिकपक्षाभिप्रायोऽयमर्थवादः ।" "अतः दर्शयति मन्त्राणामैतिहासिकोऽप्यर्थ उपेक्षितव्यो ऽस्त्यावपि तेषां विषयः"य. कश्चिदाध्यात्मिक आधिदैविक आधिभौतिको वार्थ आख्यायते दिदृष्यु दितार्थावभासनार्थं स इतिहास इत्युच्यते स पुनरयमितिहासः सर्वप्रकारो हि नित्यमविचलितस्वार्थस्तदर्थप्रतिपत्तॄणामुपदेशपरत्वात् ।

संगीत--सुधा

स्वरकार—श्री० प्रो० बेनीप्रसादजी श्रीवास्तव (भाई)] **राग भैरव** [शब्दकार—पं० धर्मदत्तजी 'आनन्द' प्रचारक, स्वरकार के शिष्य

ताल तीन मात्रा १६ ।

"यह राग औढ़व सम्पूर्ण जाति का है, इसके आरोह म रिषभ और धैवत वर्जित है, और अवरोह सम्पूर्ण है, इसमें रिषभ धैवत कोमल और बाकी सभी स्वर शुद्ध लगते है ।

"वादी" (स्वर) "धैवत कोमल" तथा "समवादी" (स्वर) "रिषभ कोमल" है, मन्द्र तथा मध्य सप्तकों में इस राग के स्वर विस्तार की गति अधिक है ।

गाने का समय प्रातःकाल सूर्य्योदय के पहले है ।

आरोह और अवरोह ।

स ग म प न स । सं न धे प म ग रें स

पकड़

म ग म प — धे — प — म ग रे — स — — —

भजन

स्थाई—ओ३म् नाम नित गावोरे, सुख पावो हर्षावोरे ।

(१) अन्तरा—व्यापक है जो जगत के अन्दर, गाते गुण सब जीव चराचर ।
करता दया सदा ही हम पर, नेह उसीसे लगावोरे ॥ ओ३म् नाम० ॥

(२) ,, —मातु पिता गुरु वही हमारा, भक्त जनो का वो ही प्यारा ।
रूप रंग से रहता न्यारा, हिय बिच जाको पावोरे ॥ ओ३म् नाम० ॥

स्कन्द:—

एवमाख्यानस्वरूपाणां मन्त्राणां यजमाने नित्येषु च पदार्थेषु योजना कर्तव्या । एष शास्त्रे सिद्धान्तः······औपचारिकोऽयं मन्त्रेष्वाख्यानसमयः । परमार्थेनतु नित्यपक्ष इति सिद्धम् ।

वररुचि:—

औपचारिको ऽयं मन्त्रेष्वाख्यानसमयो नित्यत्वविरोधात् । परमार्थेन तु नित्यपक्ष एवेति नैरुक्तानां सिद्धान्तः ।

हरिस्वामी—

एवमपि (इति) हासदृष्ट्यापि व्यवहारमुक्त्वा नैरुक्तदृष्ट्या प्रत्यक्षमिन्द्रवृत्रव्यवहारं दर्शयन्नाह तद्वा एते देवा इति ।

यास्क:—

ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता ।

दयानन्द सरस्वती—

अस्यां परमोत्तमायां रूपकालंकारविधायिन्यां निरुक्तब्राह्मणेषु व्याख्यातायां कथायां सत्यामपि ब्रह्मवैवर्तादिषु भ्रान्त्या याः कथा निरूपितास्ता नैव कदाचित् केनापि सत्या मन्तव्याः ।

सति चैवं महर्षिदयानन्दसरस्वती विजयतेतराम् ।

शमित्योम्

(३) ,, —कैसी अद्भुद् सृष्टि बनाई, नहीं समझ में बात ये आई।
हारे ऋषि मुनि सब गाई, "आनन्द" प्रीति बढ़ावोरे ॥ ओ३म् नाम० ॥

(भारत विख्यात संगीतज्ञ श्री० प्रो० के० के० मुकर्जी (नीलू बाबू) की लेखन पद्धति के आधार पर)

स्थाई

०				१				×२				३			
ता	तिन	तिन	ता	ता	धिन	धिन	ता	ता	धिन	धिन	ता	ता	धिन	धिन	ता
स	—	स	म	—	ग	म	प	धे	—	—	प	म	ग	रे	स
ओ	३	म्	ना	—	म	नि	त	गा	—	—	—	वो	—	रे	—
ग	रे	स	म	ग	रे	म	न्	धे	धे	–	प्	म	ग	रे	स
सु	ख	पा	—	वो	—	ह	र	षा	—	—	वो	रे	—	—	—

अन्तरा

धे	`	म	धे	प	सं	—	सं	सं	रें	रें	रें	सं	न	सं	सं
व्या	—	प	क	है	—	जो	—	ज	ग	त	के	अं	—	द	र
धे	`	म	धे	प	सं	–	सं	सं	रे	रें	रें	सं	न	सं	सं
गा	—	ते	—	गु	ण	स	ब	जी	—	व	च	रा	—	च	र
म	ग	म	प	सं	न	धे	प	म	ग	म	धे	प	सं	सं	सं
क	र	ता	—	द	या	—	म	दा	—	ही	—	ह	म	प	र
सं	रे	सं	न	धे	प	न	धे	प	म	ग	प	म	ग	रे	स
ने	—	ह	उ	सी	—	से	ल	गा	—	—	—	वो	—	रे	—

तानें

(१)—	म	—	स	म	—	ग	म	प	सरे	सग	मप	धेप	नधे	पग	गरे	नस
	ओ	३	म्	ना	—	म	नि	त	आ	—	—	—	—	—	—	—
(२)—	स	—	म	म	—	ग	म	प	संन	धेप	मप	धेप	मग	मप	मग	रेस
	ओ	३	म्	ना	—	म	नि	त	आ	—	—	—	—	—	—	—
(३)—	स	—	स	म	—	ग	म	प	नस	गम	पधे	नसं	नधे	पम	गरे	सम
	ओ	३	म्	ना	—	म	नि	त	आ	—	—	—	—	—	—	—
(४)—	स	—	स	म	—	ग	म	प	गम	पधे	नसं	रेंस	नधे	पम	गरे	सस
	ओ	३	म्	ना	—	म	नि	त	आ	—	—	—	—	—	—	—
(५)—	स	—	स	म	—	ग	म	प	गंगं	रेंगं	गंरें	संन	धेप	मग	रेस	नस
	ओ	३	म्	ना	—	म	नि	त	आ	—	—	—	—	—	—	—

नोट—अन्तरा नं० २ और अन्तरा नं० ३ अन्तरा नं० १ के समान ही गाया बजाया जायेगा।

स्वर लिपि के चिन्ह

१—उदारा सप्तक के स्वरों के लिये नीचे बिन्दु जैसे रिषभ के लिये (ऱ्)

२—मुदारा सप्तक के स्वरों के लिये कोई चिन्ह न होंगे जैसे मध्यम के लिये (म)

वर्त्तमान शिथिलता तथा उसके दूर करने के उपाय

(ले०—श्री बा० श्यामसुन्दरलाल जी एडवोकेट)

मैं उन पुरुषों में से नहीं हूं जो समझते हैं कि आर्यसमाज मृत्युजन्य महानिद्रा में प्रवेश कर रहा है और न उनमें से हूं जिनकी समझ में वह यथेष्ट उन्नति कर चुका है और अब उसको केवल स्वर्ग के तारे तोड़ने शेष रह गये हैं। मेरे विचार में उसने बहुत अंशों में उसने उन्नति तो अधिक नहीं की है परंतु उन्नति के लिये सार्वजनिक प्यास पर्य्याप्त मात्रा में उत्पन्न करदी है। बहुत सी बातों में वह यत्किञ्चित ध्यान भी नहीं दे पाया है किन्तु अपनी इस कमी को वह अब अनुभव करने लगा है। बहुत सी बातों में वह काल के प्रभाव में बह गया है और बह रहा है परन्तु उसके कर्णधार अब इतने सचेत होगये है कि इस प्रवाह को साक्षात् कर सकें जिससे आशा हो सकती है कि शायद उस प्रवाह से त्राण पाने का समय आगया है। परन्तु एक दृश्य लगभग सर्वत्र दिखलाई दे रहा है और वह है शिथिलता का आभास अर्थात समाजों और सामाजिक कामों में किसी धर्म नामी वस्तु के लिये श्रद्धा का भाव तथा तदर्थ उमंग और उत्साह से भरा हृदय और कार्य्य-शीलता का न होना। इस सकारण शिथिलता का विश्लेषण मेरी सम्मति में निम्न प्रकार है।

३—तार सप्तक के स्वरों के लिये मस्तक पर बिन्दु जैसे गंधार के लिये (ग)

४—किसी भी सप्तक के कोमल स्वरों के लिये मस्तक पर (ॅ) का निशान होगा जैसे गंधार कोमल के लिये (ग)

५—किसी भी सप्तक के तीव्र स्वरों के लिये मस्तक पर (') का निशान होगा जैसे मध्यम तीव्र के लिये (म)

६—सम का चिन्ह × है तालियों के लिये प्रत्येक ताली के स्थान पर १, २, आदि के अंक दिये होंगे और शून्य (०) का अर्थ खाली से है।

७—हर एक स्वर तथा अक्षर एक ही मात्रा काल के होंगे तथा जिस स्वर और अक्षर के सामने (—) यह चिन्ह हो उसे एक मात्रा और समझें तथा जितने भी (—) ऐसे चिन्ह रहेंगे उतने ही मात्रा तक उस स्वर तथा अक्षर का ठहराव समझें।

८—एक बँधनी के अन्दर जितने भी स्वर आवे जैसे सर या सन ध इत्यादि।

नोट (१) मात्रा समझने के लिये यह आसान होगा कि एक निरोग मनुष्य की नाड़ी की एक बिट बराबर ठीक एक मात्रा के होगी।

(२) संगीत प्रेमी पाठक यदि ध्यान से स्वर लिपि के चिन्हों के अनुसार मात्राओं की रोक थाम को ठीक ठीक समय देकर उच्चारण करेंगे तभी संगीत का सच्चा आनन्द सच्चा अध्ययन तथा सच्चा संगीत लाभ कर सकेंगे।

महर्षि दयानन्द ने दीर्घकालीन तप, त्याग और अखण्ड ब्रह्मचर्य के पश्चात् देखा कि मनुष्य समाज विविध-कारणवशात् सच्चे धर्म से च्युत होगया है और उसके स्थान में मनुष्यकृत हानिकर रूढ़ियों का साम्राज्य होगया है और प्रतिफल यह हुआ है कि मानव जाति धर्मार्थ काम मोक्ष मनुष्य जीवन के अमूल्य फल चतुष्टय से रहित हो नाना प्रकार के दुःख और संताप में निमग्न होगया है। अतः उन्होंने ओजस्वी शब्दों में घोषित किया कि मनुष्य को वेदों की ओर लौटने की आवश्यकता है। वेद जहां उच्च से उच्च विज्ञान [साइन्स] के विरोधी नहीं किन्तु उसके सम्पोषक और समर्थक हैं वहा वह उस ज्ञान के भण्डार हैं जिसके बिना मनुष्य जीवन निस्सार और प्राणहीन है। उन्होंने बतलाया कि वह धर्म धर्म नहीं है जो केवल मनुष्य की वाणी का भूषण बन गया हो किन्तु धर्म वही है जो मनुष्य के मस्तिष्क और हृदय दोनों का अंग बन गया हो अर्थात उसके चरित्र में परिणत होगया हो और उसीका नाम वैदिक धर्म है।

महर्षि की यह घोषणा बहरे कानों पर नहीं पड़ी। संसार के बड़े बड़े विद्वानों ने किन्हीं शब्दों में और किन्हींने किन्हीं शब्दों में महर्षि के उसी भाव को दुहराया।

डी० पाल (D. Paul) अपने ग्रन्थ "वैदिक धर्म का स्रोत" नामी में निम्न प्रकार कथन करते हैं:—

"Vedic Dharma may be called the mother of all religions which were ever preached in the world and all this instructively and intuitively came into them (early Aryans) by the inscrutable laws of nature and undefinable love of that Great one whom we do not and cannot really understand"

अर्थात्—"वैदिक धर्म को उन सब धर्मों की माता कहा जा सकता है जिनका संसार में कभी भी प्रवचन किया गया है। वह पूर्व आर्यों के पास प्राकृतिक रहस्यमय नियमों और उस परमात्मा के वर्णनातीत प्रेम द्वारा पहुँचे जिसको पूर्णतया समझने के लिये हम कभी भी समर्थ नहीं हैं।"

बिशप् हेरान्, (Bishop Heran) ने भी अपने ग्रन्थ "हिन्दुओं की महानता" नामी में यही उद्बोधन दूसरे शब्दों में किया है कि:—

"The Vedas alone stand serving as Beacon of Divine Light for the onward march of humanity"

अर्थात्—केवल वेद मनुष्य जाति के उत्तरोत्तर आगे आगे बढ़ने के लिये ईश्वरीय ज्योतिस्तम्भ का काम दे रहे हैं।

प्रोफ़ैसर ब्लूमफ़ील्ड (Professor Bloom field) अपनी पुस्तक "वेदों का धर्म" में उसी भाव को इस प्रकार प्रकट कर रहे हैं:—

"The Veda is the oldest book we have in which to study the first beginning of our language and all that is embedded in language. We are by nature Arya, Indo-Europeans and not semetic, our spiritual Kith and Kin are to be found in India and not in Mesopotamia"

अर्थात्—"वेद हमारे प्राचीन तम पुस्तकें हैं जिनमें हमारी भाषा और जो कुछ भाषा में है उस सबका आदि स्रोत उपस्थित है। हम स्वभावतः आर्य्य अर्थात् हम आर्य्यावर्त्तीय यूरुप निवासी हैं न कि सैमीटिक। हमारे आत्मिक पारवारिक पुरुष भारतवर्ष में है न कि मैसोपोटे-मिया में।"

मोरिस फ़िलिप्प (Morris Philips) अपने ग्रन्थ "वेदों की शिक्षाएँ" नामी में उसी भाव को इस प्रकार प्रतिध्वनित कर रहे हैं।

"We are justified, therefore, in concluding that the higher and purer conception of the Vedic Aryans were the results of primitive revelation"

अर्थात—"अतएव हम इस सिद्धान्त पर न्यायतः पहुँचते हैं कि वैदिक आर्य्यों के उच्चतर और पवित्रतर विचार उनके ईश्वरीय प्रदत्त ज्ञान के फल थे"

आरम्भ में भारतवर्ष के आर्यसमाजी इसी वैदिक आदर्श के पुजारी थे। उनके हृदय इसी उक्त आदर्श के प्रेम में ओत प्रोत होगये थे और इसलिये वह बड़े से बड़े सांसारिक

वैभव को तुच्छ और उक्त आदर्श को अपना और संसार का पथप्रदर्शक अनुभव करते थे। कुछ समय के लिये तो वह सत्य के ऐसे व्रती और इतने कर्तव्य परायण होगये थे कि बाह्य संसार भी उनके इस गुण की सराहना करने लगे थे।

परन्तु शोक है कि उन्होंने स्वाध्याय और आत्मचिन्तन रूप हविद्वारा इस आन्तरिक ज्योति को साक्षात् करने के विशेष विधान का आश्रय नहीं लिया और वह ज्योति क्रमशः मन्द पड़ती गई। सुना हुआ देखने के सदृश नहीं हो सका, इस कहावत के अनुसार उस अन्तर्ज्योति का मन्द और मलिन पड़ जाना अवश्यम्भावी था। महर्षि के स्वर्गारोहण के पश्चात् उचित नेतृत्व के समुपस्थित न होने, किन्तु दूषित पाश्चात्य चाल ढाल में रंगे नेताओं के नेतृत्व में नीयमान होने के कारण शनैः शनैः बाह्य मनोवृत्ति ही सब कुछ रह गई तथा संस्थाओं और केवल समाज सुधार का काम और वह भी अधिकतर केवल वाचिक रूप में उनके पुरुषार्थ का लक्ष्य बन गया। धर्म की सच्ची श्रद्धा और लगन के स्थान में बाह्य आडम्बर का प्रभुत्व होगया। संस्थाओं के योगक्षेम के लिये धन के भूखे आर्यों की दृष्टि में "टका धर्मः टका कर्मः" अर्थात् चन्दे का मांगना और एकत्रित कर सकना उनकी उन्नता का मापक बन गया और बहुत अंश तक अब तक बन रहा है। इसी के साथ साथ अभाग्यवश विशेष परिस्थिति ने उनको ऐसी खण्डनात्मक उपदेश प्रणाली का ग्राहक बना दिया जिसमें यदि किसी बात की विशेषता थी तो शुष्क तर्कवाद की, न कि हृदय की विमल धाराओं की, जिनका अपेक्षाकृत अभाव सा होगया था। संख्या वृद्धि की लालसा ने उनको स्वभावतः हिन्दुओं के तादात्म्यभाव में अधिक अधिक दृढ कर दिया।

उधर आधुनिक प्रकृति पूरा रूप सभ्यता जिसके प्रथम चरण को महर्षि ने अपने ओज और बल से रोक दिया था उक्त नेतृत्व और परिस्थिति में अधिक बल पकड़ती गई, यहां तक कि यह कहना अयुक्त न होगा कि अब तक उसके तीन नहीं तो कम से कम दो चरण सम्यक् दृढ होगये हैं और अब यदि चौथा नहीं तो तीसरा चरण शीघ्रतर वर्तने वाला है और प्रत्येक प्रगति को जो देश में काम कर रही है और विशेषतः आर्यसमाज को जिसकी दशा उक्त प्रकार की बन गई थी प्रभावित किये बिना नहीं छोड़ सकी। और अब दशा यह है कि हम में से बहुत अधिक भाग में न धर्म का जागृत रूप है और न उसके लिये श्रद्धा शेष है।

क्या आजकल के पाश्चात्य विज्ञान ने कुछ अधिक उन्नति कर आर्य्य समाज की उस धारणा को जो उसकी वेद विषय में थी निराधार सिद्ध कर दिया है? मेरा उत्तर है कि कदापि नहीं। पाश्चात्य विज्ञान तो जैसा जैसा उन्नत होता जाता है वेदों के भावों और विचारों का अधिक अधिक अनुगामी होता जाता है यहां तक कि अनेकानेक पाश्चात्य विज्ञान के सिद्धान्तों और आविष्कारों की सहायता से वेदों के बहुत से मन्त्रों का अर्थ इस प्रकार खुल जाता है कि मानो पाश्चात्य विज्ञान की उक्त शृङ्खलाएं काल के प्रभाव से हमारे भीतर से कभी न कभी लुप्त होगई हैं।

तो फिर वर्तमान आर्य्य समाजियों के हृदय में वेदों का वह उत्कट प्रेम कहां चला गया जो उनको आरम्भ में केन्द्रीभूत कर रहा था? मेरा नम्र उत्तर यह है कि उन हृदयों के रखने वाले आर्यसमाजी उत्पन्न ही नहीं किये गये। जैसी टकसाल वैसे सिक्के। आर्यसमाजियों ने जैसी संस्थाएं खोलीं उसी प्रकार के हृदय रखने वाले उनका आर्य्य पुरुष मिल रहे हैं। शायद कहा जायगा कि लगभग पौने दो शताब्दियों से तो गुरुकुल भी कार्य्य कर रहे हैं। फिर शिकायत क्यों है? मेरी सम्मति में प्रथम तो पर्य्याप्त धनादि साधनों के अभाव के कारण गुरुकुलों का वह रंग रूप सम्यक् प्रकार से हो ही नहीं पाया जो अभीष्ट था। द्वितीय उसके नेतागण तो उन्हीं पूर्व स्थित टकसालों के निकले हुए सिक्के हैं। तृतीय वर्तमान आधुनिक सभ्यता के साम्राज्य में दूषित प्रभावों से बचना बचाना अति दुस्तर है जब तक कि सब आर्य्य एक हृदय होकर विशेष उग्र प्रयत्न न करें। चतुर्थ अभी वह समय भी नहीं आया है जब कि प्रचुर मात्रा में योग्य अनुभवी स्नातकों की सृष्टि उपस्थिति हो सकती थी। जब तक गुरुकुलों को इतना समय व्यतीत न हो जावे कि अच्छी संख्या में पचास वर्ष की आयु के गुरुकुल स्नातक उपलब्ध हो सकें तब तक उन आचार्यों का मिलना नितान्त असम्भव है जो आदर्श रूप बन कर आदर्श ब्रह्मचारियों को उत्पन्न कर सकें, क्योंकि मेरे विचार में कालिज से निकला हुआ बीस बाईस वर्ष से लेकर पच्चीस वर्ष तक का अनुभव शून्य ग्रैज्यूएट चाहे

वह एम० ए० ही क्यों न हो उसी प्रकार टीचर, प्रोफेसर वा प्रिन्सीपैल बनने के अयोग्य है जिस प्रकार कि उसी आयु का गुरुकुल का स्नातक चाहे वह विद्यालंकार, वाचस्पति, आचार्य आदि किन्हीं पदवियों से क्यों न विभूषित हो अध्यापक और आचार्य्य बनने के अयोग्य होता है हम आर्य्यसमाजियों ने वास्तव में एक बहुत अनुचित दृश्य उत्पन्न कर दिया है कि आयु को जिसके साक्षात् अनुपात से अनुभव की सिद्धि होती है अपने व्यवहार में किसी महत्व के ही योग्य नहीं समझा जाता और समय असमय चट यह श्लोक भाग उद्धृत कर दिया जाता है "अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः" और यह विचार नहीं किया जाता कि आज का निकला हुआ ग्रैज्यूएट वा स्नातक उस ग्रैज्यूएट वा स्नातक की समता किस प्रकार कर सक्ता है। जिसको ग्रैज्यूएट वा स्नातक बने २५ वर्ष हो चुके हैं और इसी कारण से जिसका अनुभव बहुत अधिक बढ़ चुका है। अनुभव के विकाश का प्रवाह तो सदा से ही अन्य बातों के सम होते हुए आयु के अनुपात से ही चलता आया है और भविष्य में भी चलता रहेगा। यदि हम लोग उक्त श्लोकार्ध के पश्चात् निम्न श्लोकार्ध और मिला लिया करें तो शायद परिणाम में विपर्यय का प्रसंग न हो। अर्थात् "ज्ञोऽपि अनुभव शून्य अज्ञोहि प्रतिभासते" अथवा "आयुजन्यानुभव शून्यः ज्ञोप्यज्ञो प्रतिभासते" आयु द्वारा प्राप्त अनुभव विहीन पुरुष भी एक प्रकार का अज्ञ ही है।

अतः मेरी सम्मति में यदि वर्तमान शिथिलता को दूर करना है तो निम्न उपायों को प्रयोग में लाना अत्यावश्यक है।

[१] स्वाध्याय, आत्मचिन्तन और आत्मसंशोधन का एक प्रकार का बिगुल बजा देना चाहिये। वास्तव में यही कमी है जिस ने हमारी मनोवृत्तियों को परिवर्त्तित कर दिया है। यही त्रुटि है जिसके कारण जनता अपने में और हम में कोई अन्तर प्रतीत नहीं करती। यदि उपर्युक्त साधनजन्य हमारे व्यवहार में सत्य की अधिक प्रतिष्ठा हो जावे तो आज ही वह खोई हुई सम्पत्ति अर्थात् वेदों में हमारी श्रद्धा और लोगों के हृदयों में हमारे लिये श्रद्धा प्राप्त होने से नहीं रह सकती और ऐसा करने पर लोगों का समाज की ओर आकर्षण स्वमेव होने लगेगा। वीतराग वयोवृद्ध वैदिक धर्म से असाधारण प्रेम रखने वाले सन्यासियों को तत्काल इस ओर ध्यान देने की आवश्यकता है ताकि उनके विवेक पूर्ण हृदयग्राही उपदेशों से आर्य्यसमाज में नवीनजीवन का संचार हो। मेरी सम्मति में आजकल की प्रथा सर्वथा त्याज्य है जिसमें बहुत से सन्यासी और उपदेष्टा महोदय समाचार पत्रों की रास्ता देखते रहते हैं और वार्षिकोत्सवों के नाम से प्रख्यात समारोहों पर पहुंच कर यथोचित समय भी न पाकर थिएटर की भांति प्रवचन का दृश्य दिखलाकर उपदेश के तत्व को निम्न करते हैं। उपदेश का कार्य वास्तव में अति महान् है जिसका उद्देश्य उन नवयुवक अनुभव शून्य प्रवचन कर्त्ताओं द्वारा पूर्ण नहीं हो सकता चाहे वह कालिज से निष्णात हुए हों वा गुरुकुल से, जिन्होंने अपने विद्यालयों को छोड़कर विशेष काल तक प्राकृतिक विद्यालय में निदिध्यासन नहीं किया है।

हमको वैयक्तिक और सामाजिक दोनों क्षेत्रों में सत्य को प्रतिष्ठित करने में भरसक प्रयत्न करना चाहिये। प्रत्येक आर्यसमाजी में पूर्ववत् इस अभिमान की पुनर्जागृति उत्पन्न होजाना चाहिये कि वह उस वेद का मानने वाला है जो आदि अन्त और मध्य सर्वत्र सत्यस्वरूप है तथा उनके सारे व्यवहार इसी सत्य के चित्र में चित्रित हो जाना चाहिये।

(२) समाज के प्रत्येक कार्य में चाहे साप्ताहिक अधिवेशन हो वा वार्षिक, चाहे कोई पर्व हो वा उत्सव, कृत्रिमता और बाह्यआडंबर से पृथकता तथा सादगी, गम्भीरता और हार्दिक श्रद्धा का विशेष समावेश होना चाहिये। प्रत्येक कार्य में हमारा लक्ष्य यह होना चाहिये कि हम और हमारा परिवार किस प्रकार चरित्र और व्यवहार में अधिक अधिक उत्तम बनें और किस प्रकार हमारे ग्राम कस्बा और शहर के सहवासियों के हृदय हमारे सत्य किन्तु प्रिय उपदेश और उचित साहित्य से अधिक अधिक परिमार्जित हो सच्चे वेदानुयायी हो जावें। और हमारे चरित्र सद्व्यवहार से उनके भीतर यह भाव उत्पन्न हो जावे कि आर्यसमाज का सम्बन्ध वास्तव में प्रत्येक पुरुष को ऊंचा उठाने वाला है, प्रत्येक अधिवेशन के लिये चाहे साधारण हो वा असाधारण प्रत्येक कार्यों की पहले से तय्यारी करके

समुपस्थित करना सफलता का विशेष साधन है, इस बात को सदैव ध्यान में रखने की आवश्यकता है।

(३) प्रत्येक आर्यसमाजी को अपने हृदय में मनुभगवान् का बतलाया यह मानदण्ड जागृत करना चाहिये कि धन, बन्धु, आयु, कर्म और विद्या पाँचों ही प्रतिष्ठा की वस्तुएं हैं परन्तु धन सबसे न्यून, बन्धु उससे उच्चतर, आयु बन्धु से भी उच्चतर और कर्म आयु से उच्चतर तथा विद्या सबसे उच्चतम है। उक्त पांच प्रतिष्ठा की वस्तुओं में से जितनी अधिक वस्तुओं का संग्रह किसी व्यक्ति के पास है उतना ही अधिक वह अन्यों की तुलना में हमारे मान का भाजन होना चाहिये। समझने के लिये यदि हम धनादि के सम्मुख क्रमशः १, २, ३, ४ तथा ५ के अंक स्थापित करें तो उनका योग १५ होगा और उससे मानदण्ड का अनुपात विचार करने से सरलतया निकाला जा सकता है। इन पाँचों में धनादि की असाधारण मात्रा से तात्पर्य्य है। मनु० अध्याय २ श्लोक १३६ से १३९ तक में बड़ा उत्तम वर्णन किया हुआ है। जो लोग इस प्रकार के सन्देह उत्पन्न करते हैं कि कोई विद्वान् दुराचारी हो तो क्या हो अथवा जो अन्य इसी प्रकार के सन्देह करते हैं उनको विचारना चाहिये कि मनु की वर्णव्यवस्था तो शूद्र तकके लिये भी दुराचारी होना सह्य नहीं समझती। यथा

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः,
एतत्सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन् मनु.।

अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच और इन्द्रियनिग्रह यह पाँचों बातें तो मनु के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चारों के लिये साधारण धर्म हैं अर्थात् इन्द्रिय निग्रह के विना शूद्र भी इस वर्णव्यवस्था में नहीं टिक सकता। विचार करने पर उक्त प्रकार के सन्देह स्वयं निवृत्त हो सकेंगे।

(४) कम से कम कुछ समय के लिये जहाँतक संभव हो समाजों के अधिकारीगण और अन्तरंग सदस्यों के पदपर वकील, मुख्तार तथा उनके मुहर्रिर अथवा उन मुख्तार आम आदि लोगों को नियुक्त न किया जावे जो रात दिन सत्य को असत्य और असत्य को सत्य सिद्ध करने में केवल धनके लालच से निमग्न रहते हैं। ऐसे महानुभावों में सत्य की प्रतिष्ठा का अभाव जो धर्म का विशेष अंग है साधारणतया असम्भव सा है।

(५) आर्य्यसभासदों की वार्षिक सूची तैयार करने में भी उक्त विचार सम्मुख रखना चाहिये क्योंकि आर्यसभासदों द्वारा ही संख्या ४ में वर्णित निर्वाचन का प्रसंग आता है।

(६) यह अमूल्य उपदेश मनुमहाराज का सदा ध्यान में रखना चाहिये अर्थात्—

"सभायां न प्रवेष्टव्यं वक्तव्यवा समञ्जसम्
अब्रुवन् विब्रुवन् वापि नरोभवति किल्विषी
यत्र धर्मोह्यधर्मेण सत्यं यत्रानृतेन च
हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासदः।

अर्थात्—सभा में या तो जावे नहीं और यदि जावे तो सत्य का ही अवलम्बन समुचित प्रकार से करे क्योंकि चुप रहने वा उसके विरुद्ध बोलने पर मनुष्य पातकी होजाता है। तथा जहाँ धर्म को अधर्म से और सत्य को असत्य से हनन किया जाता है और सभासद लोग वैसा होते देखते रहते हैं वह सब सभासद समझना चाहिये कि मृत्युपरायण होगये क्योंकि—

धर्मएव हतोहन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मानो धर्मोहतोवधीत्।

(७) आजकल के वार्षिकोत्सव के अवसरों पर जो भाँति भाँति के सम्मेलनों की नुमायशी प्रथा चल निकली है। वह कृत्रिमता और श्रद्धाहीन रूढ़ियों का रंग पकड़ती जाती है। यदि हम उनको श्रद्धापूर्वक नहीं मना सकते हैं तो विहतर हो कि जब तक अपने आपको सचमुच उन्नत न करले उस समय तक उनको न्यून करें क्योंकि श्रद्धा रहित काम नुमायशी होकर आगेके लिये अश्रद्धा उत्पन्न करता है।

हिन्दू–मुसलिम

(रचयिता—श्री गोवर्द्धनदास जी त्रिपाठी 'करुण')

हम काफ़िर हैं तुम मुसलमान, भ्रम है भ्रम है यह तो अजान

[१]

सब विश्व विभव के साथ साथ
आदर्शों का लेकर निचोड़
है धर्म आर्य यह रचा गया
उस पुरुष प्रकृति का सार जोड़

कागज चिथड़ों पर नहीं बना
है अमर श्वास पर रचा वेद
जिसकी शिक्षा दीक्षा कहती
मानव मानव में नहीं भेद

तमतोम पुञ्ज को हटा रहा, बिखरा प्रकाश अपना महान
हम काफ़िर है तुम मुसलमान, भ्रम है भ्रम है यह तो अजान

[२]

तुम कहते हो है खुदा जुदा
मन्दिर मसजिद है अलग अलग
काबा काशी अजमेर गया
यदि एक ज़िमीं तो एक फ़लक

कुरआन का है अरमान यही
बाजा बजना है कुफ्र सदा
भाई को भाई ही कहना
जीवन में भीषण शाप सदा

है खूंरेज़ी ही मानवता, दानवता से ही शानबान
हम काफ़िर है तुम मुसलमान, भ्रम है भ्रम है यह तो अजान

[३]

यह ध्यान रहे पर, देख चुके
हम औरंगज़ेबी अनाचार
क्या छिपे कभी ? हैं बता रहे
इतिहासों के वे पृष्ठ चार

हम राम राज्य के आदी हो
कर, भी इस दुख के भोगी हैं
सुख, दुख की शिक्षा हमें मिली
मानवता साधक योगी हैं

हैं भारतीय मौलिक हम ही, कहते हैं, इसका हमें मान
हम काफ़िर हैं तुम मुसलमान, भ्रम है भ्रम है यह तो अजान

[४]

क्या शाहजहाँ को भूल गए
आदर्श हमारा जो लेकर
रोया था खुलू पानी को,
निज राज पाट सारा देकर

क्या प्राप्त पुत्र की सेवा का
मिल सका उसे उपहार कभी ?
सोचो ! आँखो को खोल ज़रा
रोलो आँसू दो चार अभी

सम्भव प्रायश्चित दिखा सके, उस पाक खुदा का तुम्हें भान
हम काफ़िर हैं तुम मुसलमान, भ्रम है भ्रम है यह तो अजान

[५]

गोविन्द, प्रताप, शिवाजी की
सोती अब भी है शक्ति यहाँ
थे इसी कौम में जगे कभी
'बन्दा' से अनुपम वीर यहाँ

मत छेड़ो उबल न जाय कहीं
यह अतल सिन्धु अरमानों का
हम मान पान म पले हुए
लेंगे बदला अपमानों का

हम आर्य वीर है ले लेंगे, खोया स्व, स्वत्व, अभिमान मान
हम काफ़िर हैं तुम मुसलमान, भ्रम है भ्रम है यह तो अजान

——+——

नृसिंह दयानन्द

भक्त भगवान के अशक्त प्रहलाद से थे,
राजा था विधर्म पाप-दाप को उभाड़ के।
चारों ओर रोक राम-नाम जपने की हुयी,
बैठा धर्म-द्रोही था कुधर्म-ध्वजा गाड के।
आहन-घसा सा बड़े बल से कसा सा हाथ,
चक्रमित करके लगाया जभी ताड के।
रम्भा के समान टूटा खम्भा जो अधर्म का तो,
निकले नृसिंह दयानन्द थे दहाड के॥

——:०::——

प्राचीन शिक्षा प्रणाली और आर्यसमाज

[ले०—श्री पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु]

इस युग में प्राचीन शिक्षा प्रणाली अथवा 'गुरुकुल शिक्षा प्रणाली' का नाद आर्यसमाज के प्रादुर्भाव काल से ही आरम्भ हुआ है जैसे कि "स्वराज्य" तथा स्वदेशी की भावना ऋषि दयानन्द के मस्तिष्क की उपज है वैसे ही यह भी। विज्ञ भारतवासी इस बात का भली प्रकार जानते और मानते हैं।

प्राचीनता के पुनरुत्थान के लिये ऋषि दयानन्द की प्रेरणा ने आर्य पुरुषों के अन्दर अद्भुत विद्युत शक्ति का संचार किया।

इस प्रणाली का जिन महान उच्च आदर्शों को लेकर आरम्भ किया गया था वह वास्तव मे देश के भविष्य को उज्ज्वल बनाने मे परमावश्यक साधन थे और अब भी है। आर्य पुरुषो की निष्काम सेवायें तथा सतत परिश्रम व्यर्थ कभी नहीं जायगा यह निश्चय है। इस "प्राचीन गुरुशिष्य प्रणाली" की ओर सारा संसार खिचा चला आरहा है तभी तो भारत के विभिन्न प्रान्तों मे आर्यसमाजेतर सम्प्रदायो ने भी "कन्या गुरुकुल" "पुत्र गुरुकुल" "ऋषिकुल" ब्रह्मचर्याश्रम" आदि अनेक संस्थाओ की स्थापना की है। विदेशो मे भी इस ओर पर्याप्त प्रयत्न होरहा है। वहाँ भी Residential Schools की स्थापनायें हो रही हैं यह सब आर्य समाज का ही पुण्य प्रताप है। इसमें कौन सन्देह कर सकता है।

यह सब होते हुए भी आर्यसमाज मे भावना शुद्ध होने पर भी संचालकों के पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त होने के कारण इस 'प्राचीन शिक्षा प्रणाली' में विपुल मात्रा में बाह्य अंश (Foreign matter) घुस गया है और घुसता चला जा रहा है विशेषकर पुत्रियों की शिक्षा मे यह विष अत्यन्त ही घातक दुष्परिणाम पैदा कर रहा है तथा करेगा। राज्य के आधीन चाहे परीक्षाओ के लोभ से, अथवा आरामतलबी से घर बैठे (aid) सहायता मिल जाने से सारी शिक्षा पर विदेशी गवर्नमेण्ट का पूरा अधिकार है। जिसको हमारी संस्कृति नाश करने की चिन्ता भले ही हो पर उसके उत्थान की लेशमात्र भी चिन्ता नहीं। हो भी कैसे ! संसार का इतिहास तो यही कहता है कि जातियो का नाश उनकी संस्कृति के नाश से हुआ करता है। मेकाले तथा दूसरे नीतिज्ञो की यह स्कीमें भारत को पराधीन बनाने मे सफल हो चुकी है।

वर्त्तमान शिक्षाक्रम

अंग्रेजी राज्य मे शिक्षा की उन्नति हुई यह एक ऐसी भ्रान्ति है जिसको कि साधारण लोग समझते भी नहीं। केवल बंगाल प्रान्त मे ही अंग्रेजी शासन प्रारम्भ होने के पूर्व ४० हजार पाठशालाये थीं जहां अब केवल २० हजार हैं।

अब हम लगभग ५० वर्ष से प्रचलित शिक्षाक्रम को लेते हैं। वर्तमान मे तीन प्रकार के क्रम चल रहे हैं—प्रथम तो काशी का क्रम है जहाँ एक ही नगर मे लगभग दस हजार विद्यार्थी संस्कृत का अध्ययन कर रहे हैं, जिनके भोजन का प्रबन्ध लगभग ३६० क्षेत्रो में समस्त भारतवर्ष के अनेक दानियो द्वारा चल रहा है। "क्षेत्र" या "सत्र" ऐसे भोजनालय का नाम है जो किसी सेठ दानी की ओर से २०-२५-५०-१०० छात्रों के लिये अपने किसी प्रबन्धक के द्वारा एक समय (कहीं २ दो समय के लिये भी) साधारण भोजन या कभी २ सेठ आगये तो विशेष भोजन भी करा देना—साथ ही हर एक छात्र को) एक पैसा दक्षिणा भी प्रति दिन मिलती है। वस्त्र तथा

पुस्तक भी कहीं २ मिल जाती हैं कहीं २ नहीं। इन क्षेत्रों मे कोई भी ब्राह्मण छात्र (आर्यसमाजी नहीं) जा सकता है, कोई विशेष प्रतिबन्ध नहीं—हाँ अपनी २ जाति के ब्राह्मणो का पक्ष तो अवश्य रहता है। अब भोजन से निश्चिन्त यह विद्यार्थी जहाँ तहाँ अपनी इच्छा से गुरुजनो के पास पहुंचते हैं। वे गुरुजन स्वतन्त्र अपने अपने घरों पर या विद्यालयों मे ही आये उन छात्रों को यह कुछ न पूछ कर कि तुम कहाँ रहते हो तुम्हारे खाने पीने का क्या प्रबन्ध है तुमने आज भोजन किया या नहीं जो आया (प्रायः आर्यसमाजी को छोड़कर) उसे पढ़ा देते हैं। उसने पाठ याद किया या नहीं पाठ पूरा समझ मे आया या नहीं इसका भी पूरा ध्यान नहीं रखते। यह भी ज्ञात रहे कि उच्च से उच्चकोटि के विद्वान भी किसी से कुछ भी शुल्क आदि नहीं लेते। हाँ गुरु पूर्णिमा (व्यासपूजा) के दिन प्रत्येक छात्र यथाशक्ति फल पुष्प, समर्थ हुआ तो एक आध रुपया भी भेंट कर देता है। यह गुरुजन जहाँ बड़े बड़े विद्यालयो मे २—३ घण्टे पढ़ाकर २००) या ३००) रुपये मासिक पाते है वहाँ अपने घर पर ७ ७ या ८—८ घण्टे पढ़ाते हुए भी एक पैसा भी किसी से नहीं लेते। कितना उच्च त्याग है।

कहीं कहीं इसके साथ साथ यहां गुरुजन अपने अपने घरो मे भी कुछ छात्रों को भोजन वस्त्र देते हैं गुरुपत्नियाँ पुत्रवत् उन छात्रो का पालन करती हैं गुरुपत्नियाँ भाइयो के समान उनसे स्नेह करती हैं इस प्रकार के गुरुओं के ये कुल "गुरुकुल" शब्द को सच्चे अर्थों मे चरितार्थ कर रहे है। इस छात्रों की गुरुओं में अनन्य भक्ति होती है गुरुजन भी शिष्य शीघ्र विद्वान् हो जावे ऐसी भावना रखते हैं। यह एक पवित्र परिवार के रूप मे 'विद्यायोनि सम्बन्ध' दोनों के चलाने वाले बनते है अर्थात् इस गुरु का परम्परा या वश चलता रहता है।

यह क्रम दक्षिण भारत महाराष्ट्र बंगलादि मे अधिकतर मिलता है। संयुक्त प्रान्त (काशी को छोड़कर) तथा राजपूताने मे बहुत कम। पंजाब से तो यह प्रक्रिया लुप्त प्राय ही हो गई है। हाँ, केवल अमृतसर तथा मुलतान मे इसके चिन्ह अवशिष्ट है।

इस ही गुरुजनो के निर्वाहार्थ देवालयों और मन्दिरो के साथ बड़ी २ सम्पत्तियाँ (जायदादें) लगाई जाती थी दुर्भाग्य से जो वर्त्तमान मे मठो के प्रायः अयोग्य अधिकारियों की सम्पत्ति के रूप मे परिणत हो गई है।

यह प्रक्रिया भारत मे चिरकाल से चली आरही है इत्सिङ्ग' के काल मे भी लगभग ऐसी ही प्रक्रिया चली आ रही थी। बौद्ध-विहारो—विद्यालयो के लिये राजा लोग गाँव के गाँव दान दे देते थे। ह्वेनसाङ्ग के लेखानुसार केवल नालन्दा विश्वविद्यालय के ही अधीन २०० से अधिक ग्राम थे। विद्यालय मे एक प्रधान आचार्य होता था उसके विद्वान् शिष्य ही उपाध्याय या प्रोफेसरो के रूप मे छात्रो की फीस नहीं ली जाती थी अपितु सारी वस्तुएं उन्हे मुफ्त दी जाती थी। बड़े बड़े राजे लोग उन आचार्यों के चरणों पर गिरते थे उनको हर प्रकार से सहायता देने को तैयार रहते थे।

ब्राह्मण गुरुजनो की आज्ञा का पालन करना यह भारतीय सभ्यता का एक उज्वल पहलू सदा से रहा है। हां अनधिकारियो के लिये प्रतिबन्ध भी राज्य की व्यवस्था से होता था।

(२) मुल्लाओं के मकतब—मुसल्मानो के राज्य मे मुल्लाओं द्वारा शिक्षा होती रही है जिसका प्रभाव आज से ५० वर्ष पहिले तक पर्याप्त था। बा० भगवानदासजी (काशी) आदि नेता इसके ज्वलन्त प्रमाण है। मसजिदो मे बैठे चार छै घरो से रोटी मांगकर बालको को उर्दू अरबी फारसी पढ़ाने वालो की संख्या आज भी बहुत बड़ी है। हमारे विचार मे मुल्लाओं की यह प्रक्रिया हमारी ही प्रक्रिया का रूपान्तर है।

(३) स्कूली शिक्षा—अंगरेजी राज्य के भारत मे जमने पर क्लर्कों के लिये अंगरेजी शिक्षा का प्रारम्भ हुआ। वास्तव में जिस कूटनीतिज्ञ मस्तिष्क

से भारतीय संस्कृति के नाश करने के लिये यह सूझ निकली अंगरेजों की दृष्टि से तो वह नीतिज्ञ अवश्य ही प्रातः स्मरणीय रहेगा। जैसे अंगरेजो ने बिना ही कोई बड़ा युद्ध किये कूटनीति से राजाओं को परस्पर लड़ाकर सारा भारत हथिया लिया उसी प्रकार इस शिक्षा के जरिये बिना कुछ विशेष परिश्रम किये भारतीय मस्तिष्क को पाश्चात्य पूर्व (Europeanised) कर दिया दूसरे शब्दों में उन्होंने भारतीयमस्तिष्क पर सफलतापूर्ण विजय प्राप्त की। यह हमारी मूर्खता तथा उनके भाग्य का खेल है।

विदेशी शिक्षा की हानियाँ अब कुछ भारतवासियों की समझ में आने लगी है। अब भी चेत जावें तो बहुत कुछ बन सकता है।

वर्तमान में शिक्षा के ये तीन क्रम देश में प्रचलित हैं जिसमें प्रथम तथा तृतीय ही मुख्य हैं।

तीनों प्रक्रियाओं की विवेचना

मन्दिरों देवालयों का सम्पत्ति निजी समझी जाने लगी। महन्त मठाधीशों ने इस जातीय धन को निजी समझ कर कर्म-अकर्म दुष्कर्म में व्यय करना शुरू कर दिया इन पर कुछ भी आतङ्क न रहा। माँस मदिरा और वेश्यागमन तक में भी यह धन व्यय होने लगा। ऐसी व्यवस्थाये राज्यशासन से इस समय भी एक ही दिन में ठीक हो सकती हैं जहाँ सब कानून है वहाँ एक ही क़ानून से यह सुधार भी हो सकता है। सार्वजनिक सम्पत्ति सार्वजनिक कामो में न लगने पर प्रत्यक्ष अनाचारी प्रबन्धकों के होने पर जब्त होकर उनका प्रबन्ध राज्य की ओर से होने लगा। जैसे राजा लोग अयोग्य होने पर हटा दिये जाते है और रियासतें "कोर्ट आफ वार्डस" के आधीन हो जाती हैं ऐसे ही यह सार्वजनिक जातीय सम्पत्तियाँ भी कोर्ट ही सकती है। पर गवर्मेन्ट को क्या पड़ी है रियासतों से तो उसे अपना लाभ है पर यह कोयलों की दलाली कौन करे।

उपर्युक्त काशी की प्रक्रिया में यह भी दोष आ गये हैं कि यदि प्रबन्धक ब्राह्मण हुआ तो दानी समझ लेते है चलो यदि प्रबन्धक खा भी गया तो क्या, ब्राह्मण ही तो है। (जन्म की वर्ण व्यवस्था का यह कैसा भयंकर दुष्परिणाम है) छात्रों को धन का उचित प्रबन्ध होने पर भी भोजन अच्छा नहीं मिलता। मठों के महन्त छात्रों के नाम पर धन एकत्र कर बहुत थोड़ा उनके लिये व्यय कर शेष सब हड़प कर जाते हैं।

व्यक्तियों के दूषित होने से यह परम्परा भी दूषित हो गई है। दानी यदि समझ से काम लेना शुरू करदे तो बहुत शीघ्र इन दोषों का सुधार हो सकता है।

अंगरेजी शिक्षा प्रणाली के दोष विस्तार भयात् अधिक क्या लिखें संक्षेप से यही है कि भारतीय संस्कृति का नाश—भारतीय आदर्शों से विमुखता—नौकरियो द्वारा दासता की भावना का नस २ में संचार—भारतीय पारिवारिक व्यवस्था का नाश—नारी जीवन की पवित्रता का लोप—अपने इतिहास परम्पराओं से घृणा—जीवन की शुद्धता से उपरति। इस शिक्षा से गुण भी लिया जा सकता था लोग विदेशों में जाते नाना प्रकार के शिल्प तथा व्यापार में कौशल प्राप्त करते विविध यन्त्रों की रचना सीख कर आते। प्रति वर्ष लगभग ५००० हजार विद्यार्थी बाहर जाते हैं पर अधिक सफल हुए तो एक 'रमणी' ले आये। यहाँ आकर देश को परतन्त्र बनाने में परम सहायक होते हैं। यदि धनिक लोग योग्य देशहित रखने वाले असमर्थ छात्रों को वृत्तियाँ देकर भेजे तब भी देश का परम हित साधन हो सकता है। वस्तुतः अंगरेज पूरे नीतिज्ञ है उन्होंने जिस नीति से देश में अंगरेजी शिक्षा का आरम्भ किया उसमे वे पूर्ण सफल हुए।

आर्य समाज ने ऐसे ही उद्देश्य बतलाकर स्कूलों और कालेजो की स्थापना की थी। यहाँ तक कि काशी जैसे संस्कृत विद्या के केन्द्र में भी संस्कृत विद्या के नाम पर रुपया इकट्ठा करके स्कूल की ही स्थापना की जिससे वहाँ के विद्वानों की भी यही धारणा है कि "आर्यसमाज ने भी पाश्चात्य शिक्षा का ही तो प्रचार किया नहीं तो काशी में संस्कृत विद्या की

उन्नति की कोई विशाल योजना बनाते" भला इन कालेजों या स्कूलों से शिक्षा प्राप्त कितने छात्र विदेशों से शिल्प कलादि की उच्च योग्यता प्राप्त करने गये? जाते भी कैसे यह लक्ष्य होता तब तो।

आर्यसमाज की वर्त्तमान शिक्षा-प्रणाली पर विचार

ऋषि दयानन्द ने जिन उद्देश्यों को लेकर आर्य-समाज की स्थापना की कालेज और स्कूल उस उद्देश्य के अन्तर्गत सीधे तो आते ही नहीं। ऋषि के निर्वाण के पीछे जिस दिन इस विषय की योजना अजमेर मे निश्चित की गई आर्यसमाज के दुर्भाग्य का वह प्रथम दिन था।

इन स्कूलो और कालेजो से कुछ भी लाभ नहीं हुआ यह कहना तो भूल है। बाह्यरूप से कुछ लाभ हुआ है यह ठीक है। पर यह चाहते या न चाहते हुए भी गवर्नमेंट रूपी मशीनरी के पुर्जे ही बन गये है। प्राचीन शिक्षा प्रणाली को लक्ष्य में रखकर दीर्घ-दर्शी मस्तिष्को ने "गुरुकुल प्रणाली" की योजना की। यह देश का परम सौभाग्य था। उसमें किसी हद तक सफलता भी हुई। जनता के सामने एक नया आदर्श आ गया, कई बातें जो असम्भव प्रतीत होती थीं वे सम्भवता में परिणत हो गईं यह कम बात नही थी। "प्राचीन शिक्षा प्रणाली" की धूम आर्यसमाज ने भारतवर्ष मे फैला दी।

यह सब होते हुए भी मुख्य कार्य कर्त्ताओं के "प्राचीन शिक्षा प्रणाली" दूसरे शब्दो मे "आर्ष प्रणाली या "आर्ष ग्रन्थो" से लगभग सर्वथा अनभिज्ञ होने, उधर पाश्चात्य शिक्षा दीक्षा के ज्ञाता होने, तथा जिन सभाओ के आधीन यह कार्य आरम्भ किये गये उनमें संस्कृत विद्या शून्य सभासदों के होने से 'प्राचीन शिक्षा प्रणाली' या 'गुरुकुल शिक्षा प्रणाली' की यह गाड़ी कुछ एक कदम ठीक दिशा में चल कर उलटे ही मार्ग में पड़ गई है।

हमारी प्रक्रिया में दोष

सब से प्रथम दोष यह रहा कि हमने बिना योग्य विद्वान् आर्य अध्यापक पैदा किये इस प्रणाली को आरम्भ कर दिया। इसका परिणाम स्वभावतः ही पौराणिक विद्वानों का आश्रय लेना ही होना था। यदि दृढ़ आर्य विचार के ५—१० व्यक्ति पौराणिक विद्वानों से लाभ उठा कर योग्य बन जाते तो बहुत लाभ होता।

जैसाकि गवर्नमेन्ट से (aid) सहायता लेकर आर्य भाई प्रसन्न होते हैं मुझे तो खेद होता है कि गवर्नमेन्ट ने थोडा सा रुपया देकर आर्यों को मोल ले लिया है जो वह कहेगी वही हमे पढाना होगा।

इसी प्रकार पौराणिक विद्वानों ने जब देखा आर्य समाजियो का धन और आर्य समाजियो के बच्चे उलटे मार्ग पर डालने का ऐसा सुवर्ण अवसर वह कैसे हाथ से जाने दे सकते थे। मियांजी की जूती मियांजी के सिर पर—

जिस आर्य पाठविधि का नाम लेकर आर्य समाज चला था उसका सर्वथा नाश हो गया। जिन ग्रन्थो को दयानन्द और विरजानन्द फाड़ २ फैंकते और फिकवाते रहे वही अनार्ष ग्रन्थ प्रायः सर्वत्र अब तक भी पाठ्य ग्रन्थो के मुकुटमणि बने हुए हैं। सनातनधर्मी विद्वान कहते हैं यदि तुम लोगो का स्वा० दयानन्द के लिखे पर विश्वास है तो हमारे पास आकर हमारे ही ग्रन्थो को क्यो पढ़ते हो!! इससे स्पष्ट है कि स्वामी दयानन्द ने जो लिखा वह ठीक नहीं"!! हमी से पढते हो और हमे ही आंखें दिखाते हो बड़े २ नेता भी जब किसी को अपनी ओर से संस्कृत अध्ययनार्थ काशी आदि स्थानो में भेजते हैं वे भी वही कौमुदी आदि पढ़ने ही भेजते हैं। आर्यसमाज की संस्थाओ में इन पौराणिक विद्वानों द्वारा आर्य पाठविधि की खूब गत बनाई गई। और मूर्ख आर्यसमाजी यह समझते रहे कि भला हमे कौन धोखा दे सकता है।

उन पौराणिक विद्वानों ने छिपे छिपे आर्ष पाठ विधि की यह दुर्गत की हो यह बात नहीं उन्होंने तो स्पष्ट धोखा की—"यदि स्वामी दयानन्द कृत पाठविधि से पढ़ाना चाहते हो तब छात्र विद्वान नहीं बन सकते। यदि विद्वान बनाना चाहते हो तो आर्ष

नहीं रह सकते"। भला जब रक्षक ही भक्षक हों तो क्या ठिकाना।

इतना ही नहीं कि अपितु आर्ष पाठविधि के विरुद्ध एक झूंठा वायुमण्डल (atomosphere) पैदा कर दिया गया है कि यह हो ही नहीं सकती। इनमें प्रमाणी भूत इन संस्थाओं में अनार्य अध्यापको से अनार्ष पाठविधि से शिक्षित छात्र तो होते हैं। एक आर्य पाठविधि के परम भक्त म० छज्जूराम पेशावर निवासी ने लगभग ८—१० हजार रुपया आर्यसमाज पेशावर को दिया कि यह अष्टाध्यायी महाभाष्य पर व्यय किया जावे परन्तु दानी की इच्छा के सर्वथा विपरीत अनार्य ग्रन्थ कौमुदी आदि के पठन मे व्यय किया गया। इससे घृणित और क्या हो सकता है।

यह सब पौराणिक विद्वानों को आधीनता तथा अपने जाली विद्वान न पैदा करने का ही परणाम है

विचित्र मिश्रण

आर्यसमाज का गुरुकुल शिक्षा प्रणाली न तो विशुद्ध प्राचीन प्रणाली ही है नहीं अङ्गरेजी स्कूलो या कालिजों की ही प्रणाली यह प्रणाली इन सबका विचित्र संकट है। पर प्राचीन प्रणाली की अपेक्षा स्कूल या कालेज की शिक्षा प्रणाली के अधिक निकट है।

बताइये? यदि एक ब्रह्मचारी १४ या १५ वर्ष गुरुकुल मे रहा इस बीच में कितने ही आचार्य बदले अब उसने जिस आचार्य से प्रारम्भ में दीक्षा ली थी समावर्तन के समय तक तो पुराने आचार्य वकालत या दूकानदारी या किसी स्कूल या अपने घर के काम मे लग गये अन्तिम दीक्षा के समय आरम्भ के "मम व्रतेते हृदयं दधामि" में अपने हृदय को तुम्हारे हृदय के अनुकूल बनाता हूं इस प्रतिज्ञा का कुछ भी अर्थ या मूल्य हो सकता है। हाँ यों ही मुख मस्तीति वक्तव्यं हो तो दूसरी बात है।

सभायें आचार्यों को नियत करें ऐसा किसी शास्त्र मे लिखा नहीं मिलेगा बदलने का अधिकार भी सभा को है इसका भी कोई प्रमाण नहीं। सभा या राजा तो उन के सेवक तथा पोषक है उनको बदलने का अधिकार नहीं। हां अनर्थ होने पर राजा पूरा दण्ड भी दे सकता है।

जब आचार्य ही नहीं गुरु ही नहीं तो भला "गुरुकुल" कैसा? उनका तो नाम ही 'गुरुकुल' नहीं हो सकता। वर्तमान में आर्यसमाज की ये संस्थायें न "गुरुकुल" है न "पाठशाला" न "स्कूल" ये इन सब प्रणालियो का अद्भुत संकर (mixture) है। क्या किसी भी गुरुकुल मे (व्यक्ति स्वयं निजरूप से करें इसको छोड़कर) बच्चों के साथ पुत्रवत् व्यवहार होता है? कदापि नहीं यह मैं निश्चय से कह सकता हूँ। कोई करने वाले हो और करना भी चाहे तो प्रक्रिया मे दोष होने से कर भी नही सकते। भला जब बच्चे को यह पता लग जावे कि मेरे मा या बाप किसी दूसरेके यहां चला जायगा या मां चली जायगी मेरा बाप या गुरु कोई गुरु कोई नया आने वाला है तो भला स्नेह कभी हो सकता है!!! इसी लिये तो बीमार होने पर बालकों को यथोचित देखरेख तक नही हो पाती। हो ही नहीं सकती। धन की कमी न होते हुये भी प्रक्रिया ठीक न होने से यथोचित व्यवस्था बने भी कैसे।

"ध्वांक्षेण क्षेपे" अष्टाध्यायी के इस सूत्र पर महाभाष्यकार पतञ्जलि मुनि लिखते हैं—

"यथा तीर्थेकाकान चिरंस्थानारो भवन्त्येवंयो गुरुकुलानिगत्वानं चिरंतिष्ठति सउच्यतेतीर्थ काक इति"।

यदि शिष्य 'तीर्थकाक' हो सकता है तो आचार्य को क्या कहा जाय?

अरे साहब? इन आचार्यों का हाल भी सुन लीजिये किसी भी वेदाङ्गका पूरा ज्ञान नही। रुपया मांगने में वर्ष भर नहीं तो ८ मास बाहिर पढ़ने पढ़ाने से शत्रुता (पढ़ाने की सामर्थ्य हो तब तो पढ़ावे) लैटरपेपरपर आचार्य अमुक विद्यालय छपानेमें लगता ही क्या है। बड़े २ विद्वान कुछ रुपयोंमें ही इन रुपयों वालों को मिल भी जाते हैं। बस पाठविधि बनाने आज्ञा निकालने पार्टियाँ बानाते रहना दफ्तरी

शासन, फाइलों का अपटूडेट बनाकर रखना बस यह काम तो होता रहता है। होना ही हुआ क्यों कि योग्यता ही इतने मात्र की है।

हां "आचार ग्राहयति आचिनोत्यिर्थाना चिनोति बुद्धिमिति वा" शास्त्र के इस वचनानुसार यदि केवल आचार्य ही ग्रहण करा सकते तब भी पर्याप्त था। सो बाहिर रहने से नहीं बन सकता। जिन महानु-भावो ने इतना भी पालन किया है वे सब हमारे धन्यवाद के पात्र हैं।

यदि कहीं एकही व्यक्ति आचार्य-मुख्याधिष्ठाता हुआ तब तो भला, नहीं तो पार्टियों का बाजार और भी गरम रहता है। जो धन लाने मे चतुर (चाहें वह किसी तरह भी आये) पार्टीबाजी में पटु अधिकारियों को फंसाये रहे वही इस पद के योग्य हो सकता है।

ऋषि दयानन्द के विपरीत

गुरुकुल मे आचार्य बदलने की बात ऋषि के लेख में तो क्या सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य मे भी कहीं नहीं मिलेगी। आर्यसमाज या आश्रय संस्थाओं की चन्दाचयन की वर्तमान प्रथा ऋषि के भाव सर्वथा विपरीत है।

विद्वानो पर, सभाओ समाजो या का जो शासन चल रहा है वह ऋषिके अभिप्राय के सर्वथा विरुद्ध है ऋषि ने लिखा है—

"अव्रतानाममन्त्राणां जातिमात्रोपजीविनाम्।
सहस्रशः समेतानां परिषत्वं न विद्यते ॥"

जो ब्रह्मचर्य सत्य भाषणादि व्रत वेद विद्या या विचार से रहित जन्ममात्र से शूद्रवत् वर्तमान है उन सहस्रों मनुष्यो के मिलने से भी सभा नहीं कहाती। सत्यार्थ प्रकाश पृ० १४७।

कहां—'एकोऽपि वेद विद्धर्मयं व्यवस्येद्द्विजोत्तमः' की व्यवस्था कहाँ वेद ज्ञान से शून्य बाबुओं का शासन।

आर्य समाज मे जब तक सदाचारी, निर्भीक, विद्वान ब्राह्मण, आचार्य, पुरोहित तथा सन्यासी नहीं होंगे तबतक आर्यसमाज के झगड़े कभी नहीं समाप्त होंगे। ऐसे निष्पक्ष सदाचारी जबतक समाज का संचा-लन न करेंगे तब तक त्रिकाल में भी कल्याण नहीं हो सकता।

जब आर्यसमाज के वोटिङ्ग मे म्युनिसिपैलिटी तथा कौंसिल के वोटिङ्ग की तरह सत्यासत्य का कुछ भी विवेक नहीं रहा तो आर्यसमाज का जीना सम-झना अपने को धोखा देना है।

इस प्रकार जब तक सभायें या समाजे विद्वानो का समुचित आदर न करेंगी शिक्षा प्रणाली मे ऋषि दयानन्द कृत पाठविधि का आसन नहीं किया जायेगा—ऋषि प्रदर्शित सिद्धान्तो के सच्चे भक्त सदाचारी आर्य विद्वानो या सन्यासियों को गुलाम न समझते हुए उनकी आज्ञाओ को शिरो धार्य नहीं किया जायेगा, काशी जैसे क्षेत्र में प्राचीन रीति नीति पर विशाल योजना नहीं बनाई जावेगी, इस प्रकार के आर्य विद्वानो की एक परिषद् न बन जायगी। प्रान्तीय या निज सस्थादि के पक्षपात की भावनायें न मिट जायेंगी तब तक आर्यसमाज का स्वरूप उज्ज्वल नहीं बन सकता।

जब तक आर्यसमाज जैसा समुन्नत समुदाय उज्ज्वल न बनेगा तब तक देश का भविष्य भी अन्धकार मय रहेगा।

लगभग २० वर्ष इसी आर्यप्रणाली मे यथा शक्ति काम करते प्राप्त अनुभव के नाते शुद्ध भावना से उपस्थित किये गये इन विचारो से सम्भव है कि कुछ लाभ हो सके। प्राचीन भारतीय संस्कृति के पुनरुद्धार के लिये कृत प्रतिज्ञ आर्यसमाज ही अर्वा चीन पाश्चात्य संस्कृति का उपासक बन जाये तब तो प्राचीन संस्कृति के उद्धार की आशा सदियो के लिये छोड़ देनी पड़ेगी।

इन विचारों के साथ मैं अपने इस लेख को समाप्त करता हूं. और आशा करता हूं कि आर्य सज्जन मेरे इन विचारो को सद्भावना से विचारेंगे।

ऋषि ऋण से उऋण होने के साधन

(ले०—श्री पं० मुक्तिरामजी उपाध्याय)

(१) सब आर्यसज्जन कम से कम वेद के एक मन्त्र का अर्थ सहित स्वाध्याय नित्य करे।

(२) जो सज्जन सिद्धान्तों का जितना ज्ञान रखते हैं, वे दिन में कम से कम एक बार अवश्य अपने विचारों को दूसरे के हृदय पटल पर अङ्कित करने की चेष्टा करें।

(३) हम अपने सिद्धान्तों को आचरण मे लाने के लिये पहिले और कहने के लिये पीछे आगे बढ़े।

(४) हमारी सभाएँ आर्य-सिद्धान्तो के विरुद्ध लिखे गये एक भी काले अक्षर का उत्तर पहिले दें और पीछे और काम करें। इन प्रश्नों और उत्तरों की एक एक कापी प्रत्येक आर्य समाज मे पहुंच जानी अनिवार्य हो।

(५) आर्य पुरुषों का परस्पर घनिष्ट प्रेम हो, और इस के लिये हम हर्ष और शोक-काल के लिये जाति बन्धन के ढग के कोई सामाजिक बन्धन नियत करे और किसी भी समाज या सभा का कोई भी अधिकारी एक वर्ष से अधिक काल के लिये सर्व सम्मति के बिना नियत न हो।

(६) हम अपने गुरुकुलों से विभिन्न मतो के लिए विद्वान् प्रस्तुत करने के लिये साधनों पर दृष्टि पात करें।

(क) इस्लाम के लिये प्रस्तुत किये जाने वाले ब्रह्मचारी इस्लाम के सारे इतिहास उसके सारे साहित्य और अरबी तथा फारसी भाषा के तो पूरे अभिज्ञ हो ही इसके साथ ही वे अपने वैदिक साहित्य के भी अच्छे विद्वान् हो और इसी प्रकार अन्य मतवादियों की आलोचना के लिये भी इसी दृष्टि से विद्वान् प्रस्तुत किये जावें।

(ख) वैदिक साहित्य के लिये जीवन देने वाले, और वैदिक अनुसन्धान के लिये ही सन्नद्ध होने वाले ब्रह्मचारियों को वेद सम्बन्धी सम्पूर्ण साहित्य का ही परिशीलन कराया जावे।

(ग) हमारे दान विभाग की सब आय उपरोक्त "क" और "ख" विभाग ब्रह्मचारियों पर ही खर्च की जावे।

(घ) गुरुकुल के आयुर्वेद, शिल्प आदि अन्य विभागो का पृथक् व्यावहारिक विद्यालय का रूप देदिया जावे और उस विभाग के ब्रह्मचारियो के सब के सब व्यय उनके संरक्षकों से लिया जावे।

(७) हम अपने कालिजों और स्कूलों मे दृढ़ आर्य विचारों के विद्वान ही अध्यापक नियत करे।

(८) वेदानुसन्धान विभाग का कार्य सब सभाएं सम्मिलित धन राशि एकत्रित कर चुने हुये आर्य विद्वानो की सर्वसम्मति अथवा बहु सम्मति से सम्पादित करायें। सब सभाओं का सम्मिलित एक ही वेद भाष्य भी प्रस्तुत हो। विभिन्न विद्वानो के किये गये विभिन्न वेद भाष्यों पर यदि विभिन्न सभाओं ने अपनी अपनी मुद्रा लगादी तो निश्चय ही ये वेद भाष्य आर्य समाज के लिये घातक सिद्ध होंगे।

(९) हमारी सब पुत्री पाठशालाओं का एक ही पाठ्यक्रम हो, और उसमे धार्मिक भाग प्रधान हो।

(१०) प्रचार के विभाग मे आचार की प्रधानता पर और भी अधिक बल दिया जावे।

वेदचतुष्टय का प्रकाश

(ले० — पं० जगदेव शास्त्री, आर्य्यमहाविद्यालय किरठल)

य. पावमानीरध्येत्यृषिभि. संभृतं रसम् ।
तस्मै सरस्वती दुहे क्षीरं सर्पिर्मधूदकम्॥ सामवेद उ०
५,२,२॥

वेद ज्ञान आनन्दघन है। पवित्रात्मा ऋषि इसको हृदय मे ग्रहण करते है। जो मनुष्य इस पावन ज्ञान का अध्ययन करता है, वेद वाणी उसके लिये सर्वकल्याण अर्थात वेद चतुष्टय का रहस्य (सार) देकर उसकी मनःकामना पूर्ण कर देती है।

भगवान् दयानन्द का परमोद्देश्य वेद का प्रचार ही था। इसी शुभ कार्य को बढाते रहने के लिये आर्य्यसमाज को जन्म दिया। सौभाग्य से यह पुरुषार्थ आज सफल हो रहा है। देश-विदेश सर्वत्र वेद विषयक चर्चा सुनाई पड़ती है। गूढ़ अन्वेषण इस विषय मे होरहा है। यद्यपि निम्नलिखित विषयों मे अभी विद्वानो मे मतभेद है। (१) वेद अपौरुषेय है अथवा पौरुषेय (२) मूलसंहिता भाग ही वेद संज्ञक है अथवा ब्राह्मण भाग भी। (३) मूल संहिताएं चार हैं, तीन हैं अथवा एक ही। (४) वेदज्ञान सर्गारम्भ में चार ऋषियों के हृदय मे ही प्रकाशित होता है अथवा मनुष्यमात्र को, इत्यादि। उपर्युक्त विषयों में अपना मन्तव्यामन्तव्य महर्षि दयानन्द ने स्वरचित ग्रन्थों में स्पष्ट कर दिया है। स्वाध्याय प्रेमी महानुभाव उससे भली प्रकार परिचित हैं। हमारा ध्रुव सिद्धान्त है कि वेद अपौरुषेय अर्थात् ईश्वरीय ज्ञान है। केवल मूल सहिता भाग का नाम ही वेद है। मूल संहिता चार है जो कि सर्गारम्भ में मनुष्योत्पत्ति काल के समय ही भिन्न भिन्न चार ऋषियों अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा के हृदयों मे प्रकाशित होती हैं। मैं इस लेखमें यही विषय स्पष्ट करने का प्रयत्न करूंगा कि चारों मूल संहिताएं आदि से ही पृथक् पृथक् अपनी सत्ता रखती हैं और उपर्युक्त एक एक ऋषि द्वारा संसार मे प्रकाशित होती हैं। यह मेरा कोई नवीन प्रयास नहीं है अपितु ऋषि दयानन्द प्रदर्शित वैदिक सिद्धान्त की दृढ़ता के लिये ही है। इस लेख में केवल वेद और ब्राह्मण ग्रन्थों के ही प्रमाण रक्खे जारहे हैं। पिष्टपेषण दोष की निवृत्ति रहे अतः प्रमाण भी नवीन ही प्रस्तुत किये जाते हैं। यह भी ध्यान रहे कि मैं "रचना" शैली पर विचार नहीं कर रहा अपितु ज्ञान विभाग पर ही लिख रहा हूं। अस्तु—

वेद चार हैं—ऋक्, यजुः, साम और अथर्व ॥—
यत्र ऋषयः प्रथमजा ऋचः साम यजुर्मही ।
एकर्षि यस्मिन्नर्पितः स्कम्भं त ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥
अथर्व० १०,७,१४

ऋचा कुम्भ्यधिहिताविज्येन प्रेषिता ।
ब्रह्मणा परिगृहीता साम्ना पर्यूढा ॥ " ११।३।१४,१९
यज्ञ ब्रूमो यजमानमृचः सामानि भेषजा ।
यजूंषि होत्रा ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ " ११।६।१४॥
ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह ।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवाश्रिताः ॥ " ११।७।२७॥
विद्याश्च वा अविद्याश्च यच्चान्यदुपदेश्यम् ।
शरीरं ब्रह्म प्राविशदृचः स माथो यजुः॥ " ११।८।२३॥
ऋचः प्राञ्चस्तन्तवो यजूंषि तिर्यञ्चः ॥ वेद आस्तरणं ब्रह्मोपबर्हणम् ॥ सामासाद उद्गीथोपश्रयः ॥" १५।
३।६,७,८॥
तमृचश्च सामानि च यजूंषि च ब्रह्म चानुव्यचलन् ॥"
१५।६।८ ॥
ऋचां च स साम्नां च यजुषां च ब्रह्मणश्च प्रियं धाम भवति य एवं वेद॥" १५।६।६॥
ऋचं वाचं प्रपद्ये मनो यजुः प्रपद्ये साम प्राणं प्रपद्ये चक्षुः श्रोत्रं प्रपद्ये॥यजु० ३६।१॥

इन प्रमाणों में ऋक्, यजुः और साम नाम तो स्पष्ट हैं इनमें तो किसी भी विज्ञ को विप्रतिपत्ति नहीं होसकती। चौथी संहिता अथर्ववेद के लिये यहां मही, ब्रह्म भेषजानि, पुराण और चक्षु आदि पद व्यवहृत हुए हैं। इसी प्रकार स्वयं अथर्ववेद मे ही अथर्व के लिये इतिहास, गाथा, नारा-

शैली, वाकोवाक्य, कुं बी, अथर्वन् और अङ्गिरस् आदि पद प्रयुक्त हुए हैं। यह बात अत्यन्त विचारणीय है कि स्वयं अथर्ववेद में एक स्थल को छोड़कर अन्यत्र अथर्ववेद नाम नहीं आया है। वह मन्त्र भी स्कम्भ सूक्त का ही है जिसमें "अथर्वाङ्गिरसो मुखम्" आया है। यह मन्त्र ब्रह्मर्षि भगवान् दयानन्द ने ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में देदिया है। यह ब्रह्म, पुराण और गाथा आदि पद अथर्ववेद की अनेक विद्याओं के ज्ञापक हैं। इसी बात को प्रकट करने के लिये एक मन्त्र उपस्थित किया जाता है कि मन्त्र में वर्णित पुराणादि शब्द किन्हीं नवीन कपोलकल्पित ग्रन्थों के वाचक नहीं हैं अपितु विज्ञान विशेष के द्योतक हैं.—

येन आसीद् भूमि पूर्वायामद्वातय इद् विदुः।
यो वै तां विद्यान्नामथा स मन्येन पुराणवित्॥ अथर्व० ११। ८७

अर्थात् सृष्टि की उत्पत्ति के पूर्व जो अवस्था बतलाने वाला वेद भाग है उसे पुराण कहा जाता है और उसके ज्ञाता को पुराणवित् कहते हैं। यही गति अन्य नामों की भी समझनी चाहिये। इसी भाव को पूर्णतया जानने के लिये शतपथ ब्राह्मण के १३ वें काण्ड में चतुर्थ अध्याय के सम्पूर्ण ब्राह्मण को देखना चाहिये। लेख के बढ़जाने के भय से मैं इसे नहीं लिख रहा। चूंकि गोपथ ब्राह्मण का सम्बन्ध तो अथर्ववेद से ही है अतः उसको छोड़कर यजुर्वेदीय शतपथ ब्राह्मण से भी अथर्ववेद की सिद्धि की जावेगी। यहां इस बात का ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है कि प्रत्येक ग्रन्थ अपनी अपनी प्रतिपादन शैली और परिभाषाएं भिन्न भिन्न रखता है। तदनुसार ही विचार करने से तदगत अर्थ जाना जासकता है। शतपथ का प्रसिद्ध स्थल ११। ५। ८ देखिये। "यदृचा हौत्रं क्रियते यजुषाध्वर्यवं साम्नोद्गीथोऽथ केन ब्रह्मत्वमित्यनया त्रय्या विद्ययेति ह ब्रूयात्।" अर्थात् ऋग्वेद से होतृकर्म, यजुर्वेद से अध्वर्यु कर्म, साम से उद्गातृ कर्म होता है किन्तु ब्रह्मा का कार्य किस से होता है। (यह प्रश्न इसलिये उपस्थित हुआ क्योंकि शतपथ पहिले । २। ० में कह चुका है "एभिर्वेदैर्यज्ञं तन्वते यजुर्भिरेवाध्वर्युः ऋग्भिरेव होता सामभिः" अर्थात् इन ही तीन वेद ऋक्, यजुः और साम से यज्ञ को विस्तृत करते हैं)। फिर उत्तर दिया कि त्रयीविद्या से ब्रह्मत्व किया जाता है। यह त्रयीविद्या क्या है इसको भी वहीं ११। ५। ८ में देखिये—त्रीणि शुक्राण्यजायन्त भूरित्यृग्वेदाद्भुव इति यजुर्वेदात्स्वरितिसामवेदात् यदेव त्रय्यै विद्यायै शुक्रं तेन ब्रह्मत्वमथोच्चक्राम"। अर्थात् ऋग्वेद से भूः, यजुः से भुवः, साम से स्वः शुक्र प्रकट होता है और जो शुक्र त्रयी विद्या से बनता है उससे ब्रह्मत्व किया जाता है। भूः शुक्र से हौत्र, भुवः से आध्वर्यव और स्वः से उद्गातृत्व किया जाता है। यद्यपि इनका अर्थ सरलतया नहीं किया जासकता। फिर भी विषयानुसार भूः को ज्ञान, भुवः को कर्म और स्वः को उपासना समझना चाहिये। त्रयीविद्या से जो शुक्र होता है वह विज्ञान है। इन्हीं चार काण्डों में वेद चतुष्टय विभक्त है। अब त्रयीविद्या पर भी थोड़ा विचार कर लीजिये। शतपथ में एक ही ब्राह्मण स्थल के निम्नस्थ वचन हैं "एतावान् सर्वो यज्ञो यावानेष त्रयोवेदः।" एतेन त्रयेण वेदेन यज्ञमारभते।" एकर्षिमिव्यद्वेकेन यजुषैकेन साम्ना तत्रेवागः कुर्यात्किमु य त्रयेण वेदेन तस्मादुहेनयापि भिषज्येत।" क्रमशः तीनों का अर्थ देखिये। (१) यज्ञ उतना ही है जितना कि त्रयवेद। ठीक है वास्तव में ब्रह्मा ही यज्ञ में मुख्य है और उसके अधीन ही ऋत्विक् (तीनों होता—आदि) कार्य करते हैं। यज्ञ की सर्वस्वता ब्रह्मा में ही निहित है, उसका वेद ही त्रयवेद है। (२) त्रय वेद से ही यज्ञ आरम्भ होता है। यह भी सर्वथा सत्य है। ब्रह्मा वरण के पश्चात् ही 'अपां प्रणयन' आदि यज्ञ आरम्भ होते हैं। ब्रह्मा ही यज्ञ की प्रतिष्ठा है। वह त्रय वेद से ही कार्य आरम्भ करता है। (३) जब एक ऋक्, यजुः और साम से अपराध (त्रुटि कार्य) होता है तो त्रयवेद से क्या? उत्तर है कि इससे भी किया जाता है। इसी तीसरे भाव को शतपथ ११। ५। ८ भी खूब स्पष्ट करता है। वहां बताया है कि जो भिषक्तम हो वही ब्रह्मा होता है अन्य नहीं। यही वचन "ब्रह्मा वै ऋत्विजां भिषक्तम" शत० १। ७। ४। १९ और १४। २। २। १९ में है। ब्रह्मा अन्य ऋत्विक् का कार्य नहीं करता जैसे लिखा है—न वै ब्रह्मा प्रचरति न स्तुते न शंसति" वह तो यज्ञ का मन से संस्कर्ता है। इससे स्पष्ट है कि ब्रह्मा ऋक्, यजुः और साम से कार्य नहीं करता, और त्रय वेद से पावक है तो यह त्रयवेद अथवा त्रयीविद्या अथर्व

वेद ही है। यद्यपि त्रयीविद्या में पूर्व तीनों वेदों की सत्ता है और यह उन तीनों में ओतप्रोत है तो भी अपनी सत्ता भिन्न रखते हुये हैं इसी कारण त्रयवेद और भिन्न शुक्र का वर्णन शतपथ ब्राह्मण कर रहा है। यहां थोड़ा व्याकरण और न्याय दर्शन से भी सहारा लेना अप्रामाणिक न होगा। अष्टाध्यायी सूत्र ५। २। ४३ (द्वित्रिभ्यां तयस्यायज्वा) से त्रयम् श-द अवयवी अर्थ में त्रिसे तयप् के स्थान पर अयच् करने से होता है। अर्थात् जिसके तीन अवयव हों और वह तीनो मे गया हुआ हो। ऋक्, यजुः और साम-तीनों अवयव है। यह इस त्रयवेद (अथर्व) मे हैं और अथर्व (त्रयवेद) इनमे है। जैसे कि अवयव अवयवी रहते हैं। यदि तीनों के समूह मात्र का नाम त्रय रखवें तो भिन्न शुक्र नही बनसकता। साथ ही न्यायदर्शन मे और वात्स्यायन भाष्य मे सिद्ध किया है कि "नावयव्यवयवाः।" अर्थात् अवयवी अवयवों से भिन्न सिद्ध होता है। यदि भिन्नता न होवे तो अवयव किसके कहावें। इसी कारण त्रय वेद की व्यापकता को देखकर शतपथ मे अथर्ववेद को, आप., सर्व, सामवेद, सुब्रह्म, स्वेद ब्रह्म और अन्येवेदाः आदि नामों से याद किया गया है। सर्व शब्द के लिये शतपथ १२।३।४ मे देखिये—"ऋग्वेदो वै भर्ग., यजुर्वेदो-महः, सामवेदोयश , येऽन्येवेदास्तत्सर्वम्।" यहां स्पष्टतया तीनो वेदों से भिन्न "अन्येवेदाः" अथर्व को माना है। यहां बहुवचन अथर्ववेद की विशाल व्यापकता को बतला रहा है। शतपथ के १४ वे काण्ड मे स्पष्ट "ऋग्वेदो यजुर्वेद साम-वेदोऽथर्वाङ्गिरस·" लिखा है। साथ ही अथर्व के अवान्तर विषय भी बतलाये हैं। यही अथर्वाङ्गिरसः शब्द ठीक इन्हीं अर्थोंमे अथर्ववेद मे आया है। इससे स्पष्ट है कि शतपथकार अथर्ववेद को भली प्रकार स्वीकार करता है। यह बात बडे महत्त्व की है कि शतपथ यजुर्वेद के मन्त्रों के विनियोग पूर्वक करता हुआ अथर्वाङ्गिरस् आदि शब्दों को खोलता है। अथर्वाङ्गिरस् , पुराण, गाथा आदि का वर्णन अथर्ववेद को छोड़कर शेष तीनों वेदों में नहीं है। इससे साफ होगया कि शतपथ इन नामों से अथर्व की महत्ता प्रकट कर रहा है। यही नहीं शतपथ का आधार भूत व्याख्येय यजुर्वेद भी १७।६० में ब्रह्मा को "चतुः शृङ्गः" अर्थात् चारों वेदों का ज्ञाता मानता है। अतः यजुर्वेद की दृष्टि में भी अथर्ववेद की सत्ता सिद्ध होगई। ब्रह्मा का सम्बन्ध अथर्ववेद से है इसके लिये अथर्व० ७। २। १ में "अथर्वाणं पितरं देव-बन्धुम्···। य इमं यज्ञं मनसा चिकेत·· "॥ में देखिये। अर्थात् जो इस यज्ञ को मन से शुद्ध रखता है वह अथर्वा है ऋग्वेद १।८३।५ के भाव को ही शतपथ ६।४।२।१ प्रकट करता है। यजुः ३४।१२ में "त्वमग्ने प्रथमो अङ्गिरा ऋषिः" अङ्गिरा ऋषि स्पष्ट है। इससे सिद्ध है कि अथर्ववेद के ज्ञाता को ब्रह्मा, अथर्वा और अङ्गिरा आदि नामों से पुकारा जा सकता है। शतपथ के इस प्रकरण में कोई कह सकता है कि प्राण ही अथर्वा है। यह ठीक है। परन्तु वहीं यह भी तो लिखा है "ऋषयो वै प्राणा.। शतपथ साधारण ग्रन्थ नहीं है। वह प्रत्येक कण्डिका मे आधिदैविक, आध्यात्मिक और आधिभौतिक अर्थ उपस्थित करता है। इसी कारण लोग कहीं जड़ को चेतन और कहीं चेतन को जड़ समझ बैठते है। जो देवजगत मे प्राण है वही भौतिक जगत् मे अथर्वा भी है। यजुर्वेद इसी को अङ्गिरा कह रहा है। यह नही भूलना चाहिये कि वेद के शब्द के शब्द यौगिक अने-कार्थ द्योतक और नित्य है। अथर्ववेद "छन्दो ह जज्ञिरे" में छन्दः शब्द से अथर्ववेद का ग्रहण है इसी भाव को ऋग्वेद ९।११३।६ कितना साफ करता है—"यत्र ब्रह्मा पवमानः छन्दस्यां वाचं वदन्" यह सारे ही पद अत्यन्त गूढ़ार्थ के बोधक हैं परन्तु अप्राकरणिक होने से छोड़ता हूं। केवल यहीं दिखलाना अभीष्ट है कि (ब्रह्मा) चतुर्वेदज्ञः (पवमानः) संस्कर्त्ता (छन्दस्यांवाचम्) अथर्व वेदमयी वाणी को (वदन्) उच्चारण करता है। सामवेद का जो मन्त्र मैंने सब से पूर्व दिया है उसमें भी "क्षीर" पद से वाकोवाक्य रूप अथर्ववेद का ग्रहण शतपथ के अनुसार होजाता है। जैसे ११।५।७।५। में—"मधु ह वा ऋचः, घृतं ह सामान्य-मृतं यजूंषि·· वाक्यो वाक्यं क्षीरौदनम्।" यहां सामवेद के इस मन्त्र से चारों वेद सुप्रकट हैं। इस प्रकार ऋग्वेद, यजुः वेंद; सामवेद और अथर्ववेद से अथर्ववेद की सत्ता सिद्ध हो गई है। साथ ही शतपथ ब्राह्मण से भी प्रचुर प्रमाण दे दिये गये हैं। इसी प्रकार से अन्य गोपथ आदि ब्राह्मणों से समझना चाहिये।

अब अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा नामों की पड़-ताल करते है। यह ध्यान रहे कि वेदमें कोई भी ऐतिहासिक

नाम नहीं हो सकता। वहां सब नाम गुण और क्रियावाचक हैं। लोक में सब नाम वेद से ही रक्खे जाते हैं। यदि वेद नाम न बतलाता तो संसार में कहां से आते। जब किसी बच्चे का नामकरण संस्कार किया जाता है तो पूर्व उपस्थित नामों में से ही रख दिया जाता है। अर्थ और शब्द का सम्बन्ध सांकेतिक एवं नित्य है। अत. यह चारों नाम वेद में इसीलिये ही नहीं पाये जाते कि यही वेदों के प्रकाशन द्वार हैं। अपितु वेदों में इन नामों का और इन नामों के गुण कर्मों का वर्णन है, तदनुसार ही वेद के प्रकाशन द्वार भूत चारों ऋषियों को यह नाम देदिये जाते हैं। जैसे "अग्निर-प्रणीर्भवति" जो मुख्य हो उसको अग्नि कह सकते हैं। इसी प्रकार अन्य समझें। चारों ही संहिता सज्ञाए और चारों ही ऋषि सज्ञाए विशेष सम्बन्ध रखती हैं। वेद और ऋत्विक् सम्बन्ध दिखलाया जा चुका है। जैसे ऋक् = होता, यजु = अध्वर्यु, साम = उद्गाता और अथर्व = ब्रह्मा। अब शतपथ १२।३।४ को देखिये—

अयं वा लोको भर्गः, अग्निर्वै भर्ग., ऋग्वेदो वै भर्गः।
अन्तरिक्षलोको मह., वायुर्महः, यजुर्वेदो मह.।
द्यौर्यशः, आदित्यो यशः, सामवेदो यशः।
येऽन्ये लोकास्तत्सर्वम्, येऽन्ये देवास्तत्सर्वम्, येऽन्ये वेदास्तत्सर्वम् ॥

इसीप्रकार शतपथ ११।५।८ में लोक, देव (ज्योतिः) और वेदका संबन्ध दिखलाया हुआ है। यहाँ प्रत्येक वेद का प्रत्येक देवके साथ गौणिक सम्बन्ध है। उपादानोपादेय भाव नहीं है। यह देव अथवा ज्योतिः ही ऋषि है। जो महाशय यहाँ अग्ने ऋग्वेद आदि में कारण कार्य भाव मानकर अग्नि की जड़ता समझते हैं वह वास्तव में "पश्यन्नददर्श वाच श्रृण्वन्न श्रृणोत्येनाम्" वाली लोकोक्ति (यह वचन ऋग्वेद का भी है) चरितार्थ करते हैं। ज्ञानाधिकरण चेतन ही हो सकता है इस बात को न्याय के प्रवेशिका के छात्र भी समझते हैं। अग्नि आदि ऋषि और ऋगादि वेद में द्वार द्वारी भाव सम्बन्ध है। अब शतपथ की तालिका (१२।३।४) से स्पष्ट सिद्ध होगया कि अग्नि का ऋग्वेद, वायु का यजुर्वेद, आदित्य का सामवेद और अङ्गिरा का अथर्व से विशेष गौणिक सम्बन्ध है। और भी देखिये—

अग्निं होतारमीळते यज्ञेषु मनुषो यशः ॥ ऋ० ६।१४।२

ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान्गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु। ब्रह्मा त्वो वदति जात विद्यां यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उत्व.। ऋ० १०।७१।११

पहिले मन्त्र में अग्नि को होता रूप से माना गया है। इसी प्रकार अन्य वायु आदि को भी अध्वर्यु आदि समझें। दूसरे मन्त्र में स्पष्ट ऋक् और होता, साम और उद्गाता, ब्रह्मा और जाति विद्या (अथर्ववेद) तथा यजु. और अध्वर्यु का सम्बन्ध बतला दिया है। यहाँ अथर्व को जात विद्या अर्थात् अशुद्धि निवारक कहा है। इसी भाव को लेकर महर्षि दयानन्द ने ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में अथर्व वेद का प्रयोजन शेष तीनों वेदों की पूर्त्ति करने से रक्षक और उन्नायक माना है। यह बात ऋग्वेद और अथर्ववेद के मन्त्रों में पाठ भेद से स्पष्ट हो जाती है। इसके लिये सब वेदों में पुरुष सूक्त देख जावें। पता चल जावेगा कि अथर्ववेद किस प्रकार गूढ़ भावों को सरल कर देता है। यहीं रक्षा एवं उन्नति है। यही यज्ञ की पूर्त्ति है। अस्तु

अग्निश्च पृथिवी च सन्नते ते मे सन्नमनामदो वायुश्चान्तरिक्षं च सन्नते आदित्यश्च द्यौश्च आपश्च वरुणश्च। यजु० २६।१

यहाँ भी लोक और देव सम्बन्ध सुज्ञेय है। और भी स्पष्ट प्रमाण ऋग्वेद १।८३।६ का लीजिये। "अर्को वा श्लोकमाघोषते दिवि।" अर्थात् द्युलोक में (अर्क.) आदित्य (श्लोकम्) मन्त्र (आघोषते) उच्चारण करता है। यहाँ आदित्य और द्युलोक का सम्बन्ध बहुत स्पष्ट है। शतपथ ब्राह्मण तो कहता है ८।७।३।१२ "वायुरेव यजुः" वायुर्वा अध्वर्यु.। यहाँ वायु और यजु. का सम्बन्ध बतलाया गया। आदित्यो वा उद्गाता। सूर्य उद्गाता।" गोपथ में भी आदित्य और उद्गाता का सम्बन्ध दिखाया गया है। अङ्गिरा के लिये पहिले भी पर्याप्त विवेचन हो चुका है। कुछ प्रमाण शतपथ के और भी देखिये—

चन्द्रमा वै ब्रह्मा ॥ शत० १२।१।१।२ अग्निरेव ब्रह्मा ॥ शत० १०।४।१।५ अङ्गिरा उ ह्यग्नि. ॥ शत० १।४।१।२५ चक्षुर्वै ब्रह्म ॥ शत० १०।६।१०।८ चक्षुर्वै प्रतिष्ठा ॥ शत० १४।६।२।३ ब्रह्मास्य सर्वस्य प्रतिष्ठा शत० ६।१।१।८

इनसे तथा पूर्वोक्त प्रमाणों से स्पष्ट होगया कि अंगिरा, ब्रह्मा और अथर्व आदि का परस्पर गौणिक सम्बन्ध है।

प्राचीन वेदान्त में नवीन वेदान्त का स्थान

(लेखक—पं० गोकुलचन्द्रजी दीक्षित)

गीता प्रेस गोरखपुर से इस वर्ष जो वेदान्ताङ्क निकला है, उसमे वेदान्त सम्बन्धी विभिन्न सम्प्रदायो के विचारो पर अनेक विद्वानो ने सुलेख लिखे है । प्रथम लेख गोवर्धन पीठाधीश्वर श्री भारती कृष्णतीर्थजी का है, उन्होंने अपने विस्तृत लेख मे बौद्धिक तथा नैतिक रूप से आर्यसमाज तथा जैन धर्म को विशेष रूप से स्मरण किया है और लिखा है कि (१) प्राचीन धर्मों मे जैन धर्म और आधुनिक समाजो मे आर्यसमाज ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता न मान कर ही (ईश्वर ने सृष्टि को किस उपादान से रचा) इस कठिनाई को दूर करने की चेष्टा करते हैं। (अ) उक्त सन्यासीजीने जैनधर्म का दृष्टिकोण आर्यसमाज से कहीं अच्छा है यह भी माना है क्योंकि जैनाचार्य सर्वज्ञ दयालु ईश्वर के द्वारा ऐसे पाप पूर्ण दुख मय संसार की सृष्टि नहीं हो सकती ऐसा मानते है। प्रतीत होता है कि उनकी बुद्धि पाप के महान् प्रश्न को हल नहीं कर सकी जो सभी अध्यात्मवादियों के लिये हौआ हैं। किन्तु ईश्वर को सृष्टि कर्त्ता मानने मे उनका हेतु बुरा नहीं है ''(स) नैतिक दृष्टि से भी उनकी यह मान्यता अनुचित नहीं है। (२) क्यो कि आर्य समाजियो की भाँति यह अपने को वेदवादी विख्यात नहीं करते बल्कि खुल्लमखुल्ला अपने को अवैदिक स्वीकार करते हैं इस लिये उनके विषय में हम यह नहीं कह सकते कि (द) वे मानते कुछ और कहते कुछ है। अथवा उनके सिद्धान्तो मे परस्पर विरोध आता है। (३) किन्तु आर्य समाजियो मे यह दोनो ही बाते देखने मे आती हैं·········इत्यादि। (४) अब केवल हम तार्किकदृष्टि से उनकी युक्ति की आलोचना करें और देखे कि उनमें कितना दम है। (५) आर्यसमाजी ईश्वर मे विश्वास करने का दावा करते हैं ··· किन्तु साथ ही (ह) उसे सृष्टि कर्त्ता न मान कर यह भी घोषित करते है कि प्रकृति भी नहीं (सारे विश्व को अपने गर्भ मे लेकर) ईश्वर के साथ अनादि काल से विद्यमान थी और इसलिये वह ईश्वर की सृष्टि नहीं है ···(न) उन पदार्थों को जो उनके अन्दर पहिले से ही मौजूद रहते है फिर से केवल सजा भर देते हैं··· ···इत्यादि। (६) ··· ···यदि ईश्वर और प्रकृति दोनो ही अनादि होते और उनके अलग २ स्वतन्त्र गुण होते तो ईश्वर के कार्यो मे प्रकृति के स्वतन्त्र गुणो को लेकर परतंत्रता आ जाती और फिर वे सर्व शक्तिमान आदि कुछ भी नहीं रह जाते, यदि वे वास्तव मे ऐसे ही सृष्टि करते है कि जैसा उन्हें आर्यसमाजी लोग मानते हैं तो उनका कर्त्तापन उसी कोटि का होगा कि जैसा कुम्हार का वर्त्तन के प्रति आदि ·······
उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि शंकर सम्प्रदाय में स्वयं तो यह निर्णय नहीं हो सका कि (१) इस सृष्टि की रचना का क्या कारण है ? (२) किस वस्तु से सृष्टि बनी ? (३) और प्रलय फिर किस भाँति होती

इस प्रकार यह भी सिद्ध होगया कि ऋग्वेदादि चारों वेद जिन पर सर्गारम्भ में प्रकाशित होते हैं उनके अग्नि आदि नाम सार्थक हैं। अस्तु ।

प्रतिज्ञात विषय पर विचार हो चुका। आशा है आर्य भाई उचित का ग्रहण करेंगे। इस विषय मे जो कुछ शङ्काएं उठती है उनका भी उत्तर यथा सम्भव "आर्यमित्र" के किसी भावी अङ्क में देने का यत्न करूंगा। परम पिता परमात्मा से प्रार्थना है कि वह हम आर्यों को सामर्थ्य दे कि जिससे हम भगवान् ब्रह्मर्षि दयानन्द के ऋण को चुका सकें।

हैं किन्तु उसी उलझे हुये सिद्धान्त को कि क्या सृष्टि में निमित्त और उपादान कारण भी कोई स्थान रखता है। अथवा निमित्त और उपादान दोनो ही एक है एक नई रचना अभिन्ननिमित्तोपादानकारण की कर डाली। अब क्रमशः दार्शनिक रीति से श्रीकृष्ण भारती तीर्थ जी की उठाई आपत्तियों पर विचार किया जाता है। (१) यह आपत्ति करना कि आर्य समाज ईश्वर को सृष्टि कर्ता नहीं मानता सर्वदा सर्वथा और सर्वांश में निमूल कथन है। उसके दस नियमों मे ईश्वर को सृष्टि कर्त्ता माना गया है और जैनियो के ईश्वर न मानने के दृष्टिकोण की केवल आप जैसे ही आचार्य पीठ ठोक कर सराहना कर सकते हैं। क्योंकि भविष्यपुराण अ० २६३ श्लो० ७५ मे इसी लिये तो कहा गया है कि --

वेदार्थवन्महाशास्त्रं, मायावादमवैदिकम्*
मयैव कथितं देवि, जगता नाशकारणात्।

विशेष कर आर्यसमाजियो से जैनमत इसी लिये आपकी दृष्टि मे अच्छा है कि आर्यसमाज ईश्वर को सृष्टि का निमित्त कारण मानता है न कि अभिन्न निमित्तोपादानकारण जो सर्वथा नवीन कल्पना है और जिसका प्राचीन वेदान्तमे कहीं नाम तक नहीं आता। जैनियो का ईश्वर को सृष्टि कर्त्ता न मानने मे आप को उनका हेतु इस लिये बुरा नहीं लगा कि शंकर और जैन सिद्धान्त दोनो ही ईश्वर सृष्टिकर्त्ता पक्ष मे एकसा विचार रखते हैं और इसीलिये ही आप नैतिक दृष्टिमे उनकी इस मान्यता को अनुचित नहीं मानते। यह स्पष्ट हैं कि आर्यसमाज अहेतुक विषय को सहेतुक बता कर कभी भी सिद्धान्त-रक्षा नहीं करता कि जिस प्रकार शंकर मत मे किया जाता है भविष्य पुराण अध्याय २६३ श्लोक ७१ मे यही भाव स्पष्ट किया गया है।

*यह मायावाद वेदार्थ की भाति बहुत बड़ा शास्त्र है किन्तु वास्तव में सर्वथा अवैदिक है क्योंकि इसके समस्त सिद्धान्त वेद प्रतिकूल हैं। मैंने इसे जगत के नाश के लिये बनाया है।

अपार्थश्रुतिवाक्यानां दर्शयंल्लोकगर्हितम् †
कर्मस्वरूपत्याज्यत्वमत्र च प्रतिपद्यते।

आर्यसमाजियो पर यह आरोप मात्र है कि वे मानते कुछ और कहते कुछ हैं उनके सिद्धान्तों में कदापि किसी प्रकार का विरोध नहीं है। भारती तीर्थ जी कहते है यदि ईश्वर और प्रकृति दोनों ही अनादि होते और उनके स्वतन्त्र अलग अलग गुण होते तो ईश्वर के कार्यो मे प्रकृति के स्वतन्त्र गुणों को लेकर परतन्त्रता आ जाती और फिर वे सर्व शक्तिमान आदि कुछ न रह जाते ...... आदि। अभी ईश्वर, जीव, और प्रकृति के स्वरूप के प्राचीन दार्शनिक सिद्धान्तों के अनुसार आपने इस प्रश्न को कसौटी पर कसा नहीं प्रतीत होता। वेदों मे स्पष्ट अक्षरों मे उपदेश है कि "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया, समान वृक्ष परिषस्वजाते। तयोरन्य. पिप्पल स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभि चाकशीति" तथा अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां वह्वीः प्रजा. सृजमानां स्वरूपा अजोह्येकोजुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोन्य। इनमे तीनों भिन्न भिन्न गुण, कर्म, और स्वभाव वाले तीन अनादि पदार्थ बतलाये है फिर यदि कुम्हार और वर्तन का सम्बन्ध हो तो दोष ही क्या है! जब कि प्राचीन वेदान्त इसी प्रकार के सम्बन्धो को मान कर, निमित्त, उपादान और साधारण कारण मानता है। यह तो केवल मायावादियो मे ही बुद्धि भ्रम फैला है कि वह केवल एक ब्रह्म मे ही सारी सृष्टि रचना इस प्रकार अलौकिक अचिन्त्य रूप मे मानते है कि जहां जड़ चेतन के गुण कर्मो को, न कार्य मे न कारण मे कहीं भी किसी प्रकार का विरोध नहीं माना जाता यहां तक कि सदृश और विसदृश परिणाम मे भी अनिर्वचनीय कल्पना के आश्रित विवर्त्तवाद के तर्क शिला आधार पर सिकता-भवन निर्माण किये जाते है। हम आगे

† श्रुति वाक्यो के प्रतिकूल अर्थ करके और उन्हे उलटी युक्तियो से सिद्ध करके दिखलाया है इसका भाव केवल जगत का नाश करना नहीं है तो क्या है?

यह सिद्ध करेंगे कि वैदिक सिद्धान्त अथवा प्राचीन वेदान्त सिद्धान्त मे जिस प्रकार सृष्टि-रचना का वर्णन किया है उसकी संगति बिना अभिन्न निमित्तो-पादानकारण के माने ही बैठ जाती है और प्राचीन वेदान्त को नवीन वेदान्त की क्लिष्ट कल्पना से सुरक्षित रखती है। आर्यसमाजी मायावादियोंकी भाँति सब कुछ उसी ब्रह्म का रूपान्तर है ऐसा नहीं मानते। कारण के गुण कार्य मे आते है। परन्तु चेतन ब्रह्म के गुण जो सृष्टि मे आने चाहिये थे वह नहीं आये। यदि ब्रह्म का परिणाम यह ब्रह्माण्ड या प्रकृति है तो ब्रह्म चेतन का विसदृश परिणाम अचेतन कैसे हो गया? चेतन का परिणाम चेतन होना चाहिये था। दूसरे वह अपरिछिन्न है। परिणामधर्मशील है ही नहीं। यदि वह एक रूप से अनेक हो गया तो आप यह बतलावे कि वह कौन सा प्रयोजन था कि जिसके लिये इतना महान परिणाम सुख स्वरूप ब्रह्म को दुख स्वरूप सृष्टि रूप करना पड़ा। और जब यह जीव उस दुख स्वरूप ब्रह्म को भोगना हो तो उसे आनन्द मानना चाहिये था न कि दुख क्योंकि वह तो सुख स्वरूप का ही तो परिणाम है। यदिजीव अपनी अल्पज्ञता से यदि ऐसा नहीं मानता तो उसके कृत कर्म का दण्ड विधानभी करना वृथा हो जाता है परन्तु आर्यसमाजी यह जानते हैं कि आपके ही सिद्धान्त मे भविष्योत्तर पुराण के लेखानुसार अर्थ बदले जा सकते है सुसंगत का असंगत अर्थ मे प्रयोग किया जा सकता है यथा—

ब्रह्मणोऽस्य परं रूपं, निर्गुणं दर्शितं मया।
सर्वस्य जगतोऽप्यस्य, नाशनार्थं कलौ युगे॥

अर्थात् मायावाद मे मैंने ब्रह्म को निर्गुण अर्थात् सृष्टिकर्त्ता आदि गुणों से शून्य बतलाया है और कर्म को सर्वथा छोड़ देने का उपदेश किया है परन्तु वैदिक मतानुयायी इस प्रकार का ब्रह्म मानते हैं कि जिसमें आपके समान भ्रम को तनिक भी स्थान नहीं है। सांख्य शास्त्र में उपादान कारण पर विचार किया गया है उपादान कारण सदैव कर्त्ता के आधीन अथवा आश्रित कार्य करता है वह कभी स्वतन्त्रकर्त्ता नहीं हो सकता और वेदान्त शास्त्र आदि मूलकर्त्ता के ऊपर विचार करते हैं जो कभी परतन्त्र नहीं होता इसलिये प्रकृति को स्वतन्त्र कारण मानने मे स्वामित्व से ही बिना किसी कर्त्ता के स्वयं बन जाती है ऐसा माना जाना महान दोष है और ब्रह्म को अभिन्न निमित्तोपादान कारण कर्त्ता और वहीं मूल (प्रधान प्रकृति) है ऐसा मानने मे दोष आ जाता है। स्वतन्त्रता और परतन्त्रता दो विरोधी धर्म एक ही वस्तु मे एक समय रहना केवल मायावादियों की ही बुद्धि को समाहित कर सकते हैं। जिन्हों ने शास्त्रों के आशय नहीं जाने और परमेश्वर को 'अद्वैत' सिद्ध करने के अभिप्राय से उन्हे उपादान कारण और अभिन्ननिमित्त कारण दोनो मानने पड़े। इसका यह भयकर परिणाम निकला कि ऐसे सिद्धान्तवादी सांख्य और वेदान्त के पद से ही नहीं गिर गये किन्तु कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड और उपासनाकाण्ड सेभी बिरहित शुष्क वेदान्ती स्थाणुवत् मुक्ति का स्वप्न देखने लग गये। ईश्वर जगत का निमित्त और प्रकृति उपादान कारण है यही वेदादिसच्छास्त्रों मे वर्णन आता है। पर "या वेद बाह्यास्मृतय. याश्च काश्च कुदृष्टयः" के अनुसार वेदानुकूल प्रमाण गृहीतव्य और शेष प्रमाण गौण रूप त्याज्य होते है क्योंकि बुद्धि पूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे' के अनुसार वेद वाक्य बुद्धि पूर्वक हैं वही शिष्टों को मन्तव्य होना चाहिये। दूसरे परमात्मा भी उसी अवस्था मे परमात्मा कहलावेगा कि जब उसका व्याप्य प्रकृति को माना जावेगा यदि व्याप्य न हो तो उसे व्यापक गुण धर्मवान नहीं कहा जा सकेगा। अतः यदि आर्य-समाजी प्रकृति का पुरुष के साथ मानते हैं तो दोष ही क्या है! क्योंकि—श्रुति है कि,'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया· समानं वृक्ष परिषस्वजाते" मे 'ब्रह्म' जीव ईश्वर प्रकृति अलग अलग बतलाये हैं। क्या कोई नवीन वेदान्ती बतलायेगा कि यह श्रुति ब्रह्म के शुद्ध-रूप को वर्णन करती है अथवा वही कारण और वही कार्य है इस भाव की द्योतिका है? आर्य-समाजियों के सिद्धान्त मे ब्रह्म ज्यों का त्यों अद्वैत ही बना रहता है और ऐसे ब्रह्मको संग दोषयुक्त माया

वादी भी नहीं कह सकते। परन्तु यह नवीन वेदान्ती वेदान्त दर्शन की आड़ में उन श्रुतियों के अर्थ करने में जो गड़बड़ी करते हैं उसीके कारण शुद्ध अद्वैत ब्रह्म में कल्पना का किला खड़ा करना पड़ा है। जिस ब्रह्म को वह अद्वैत अपने मत में मानते हैं वहां उनके यहां सजातीय विजातीय और स्वगत भेद से रहित है ऐसा माना है परन्तु यह अर्थ भ्रांत है। ब्रह्म स्वगत शून्य अवश्य है परन्तु ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों नित्य होनेसे सजातीय हैं केवल जड़त्व धर्मेण प्रकृति विजातीय है और जीव अल्पज्ञ होने से तथा ईश्वर सर्वज्ञ सर्व व्यापकत्व धर्मेण विजातीय है। इसमें शंका करना ही भ्रम है यह सिद्धान्त कि "ईश्वर ही सब कुछ बन गया" उसे सर्व शक्तिमान बनाने के स्थान में दोषयुक्त भ्रम पूर्ण परिणामी पुरुष बनाना है और अद्वैतवाद को शून्यवाद से मिलाना है और इसी कारण अन्तमें शून्यवाद से शंकरवाद मिल जाता है। सम्भव है उन्हे इसीलिये कहा गया हो कि—

"मायावादमसच्छास्त्रं, प्रच्छन्नं बौद्धमेव च"

कि मायावादी प्रच्छन्न (छिपे) हुये बौद्ध हैं। अभिन्न निमित्तोपादान कारण के अस्वीकार करने वाले आर्य समाजी नास्तिक नहीं कहे जा सकते। कि जैसा दबे शब्दों में भारती जी ने अपने लेखमें लिख दिया है आर्यसमाज का सिद्धान्त कि प्रकृति से ईश्वर ने सृष्टि की रचना की सर्वथा संगत युक्त अनुसरण और वैदिक सिद्धान्त है। और इसीलिये वह परम आस्तिक सिद्धान्त है।

———

———सुप्रसिद्ध वैद्य वर्य हरिदास जी ने जो अपने चिकित्सा चन्द्रोदय तथा तैल आदि का मूल्य अधुना कम करदिया है वह पुस्तक बिकने के लालच वश नहीं किन्तु सार्वजनिक मांग और लोकप्रियता के कारण कि सर्व साधारण के हाथों में स्वल्प मूल्य में पहुँचे। और प्राणी उस से लाभ उठावें मूल्य न्यून करदिया है। इसी पुस्तकका विज्ञापन अन्यत्र दिया गया है उससे पुस्तक की उपयोगिता टपक रही है। —मैनेजर

———

स्वामी दयानन्द

जिस समय लोग अपने धर्म को छोड़ इधर उधर विधर्मी होते चले जा रहे थे उस समय विश्वास था कि अब हिन्दू धर्म का नाम लेवा मिलना कठिन होगा। उस समय अपने नियमानुसार परम पिता परमात्मा ने धर्म व जाति की रक्षा के लिये अपने परम भक्त और प्यारे पुत्र बाल ब्रह्मचारी स्वामी दयानन्द को भेजा—जिन्होंने हिन्दू जाति का तो विधर्मी होने से बचाया ही किन्तु भूल से गये हुए भाइयों के वापिस लेनेका भी मार्ग दिखाया इसी से आज हिन्दू जाति का नाम मौजूद है—हमें इस के लिए स्वामी जी महाराज को धन्यवाद देना चाहिए। विद्या और शिक्षा के बारे में जो काम स्वामी जी ने किया है वह अनुकरणीय है। —श्री प्रिन्स नरेन्द्र शमशेर जंग राना बहादुर,

———

महर्षि दयानन्द

मैं स्वामी दयानन्द सरस्वती को सदैव गत शताब्दी के उन महान् पुरुषों में से एक समझता रहा हूं जिन्होंने परमहंस रामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द जैसे महान् पुरुषों की तरह नवीन हिन्दू धर्म की गहरी और दृढ नींव डाल दी और इसको पौराणिक भ्रांतियों से शुद्ध कर दिया —एस० एल मिकाएल पूना।

———

कक्षीवान् का इतिहास

(ले०—श्री पं० प्रियरत्नजी आर्ष वैदिक संस्थान गुरुकुल वृन्दावन)

रुक्त में आये 'कक्षीवान्' शब्द वाले मंत्र और उस पर यास्क के विवरण का देख वेद मे इतिहास मानने वाले विद्वान कहते है कि मंत्र मे कक्षीवान् का इतिहास है वह और उस पर यास्क का विवरण निम्न प्रकार है।

सोमानं स्वरणं कृणुहि ब्रह्मणस्पते।
कक्षीवन्तं य औशिज. (ऋ० १.१८.१)
'कक्षीवान कक्ष्यावान औशिज उशिजः पुत्रः'
(निरुक्त ६। १०)

विदित हो कि यहाँ मन्त्र और यास्क के विवरण मे 'कक्षीवान्' नाम के किसी मनुष्य का इतिहास सिद्ध हो रहा है यह बात नहीं है। मात्र 'उशिजः पुत्र.' को देखकर इतिहास मान लेना ठीक नहीं है। यहाँ 'उशिक्' किसी देहधारी व्यक्ति का नाम नहीं है, जब कि यास्क यहां स्वयं कहता है कि 'उशिग्वष्टेः कान्ति कर्मणः' उशिक् शब्द कान्ति अर्थ वाले 'वश' धातु से बना है। सायण ने भी (ऋ० १। १३१। ५) पर "उशिजो धर्मं कामयमानाः जनाः" अर्थ किया है, तथा "उशिक् मेधावि नाम" (निघण्टु ३। १५) पुत्र कह देने से भी इतिहास किया जाना ठीक नहीं वेद में "सहसस्पुत्रोऽग्निः" (ऋ० ३। १४। १) अग्नि को सहस् का पुत्र कहा है। यहाँ सहस् शब्द से किसी मनुष्य का ग्रहण नहीं किया किन्तु संघर्षण बल या रगड़बल का मान सहस् है उससे अग्नि उत्पन्न होती है अतएव वह "सहस् पुत्र." है। ऐसा ही सम्बन्ध प्रस्तुत "उशिज." पुत्र मे भी है।

अर्थ करने वाले विद्वान् इस स्थल पर एक बड़ी भूल यह करते हैं उक्त 'य औशिजः' प्रथमान्त शब्द को 'कक्षीवन्तम्' इस द्वितीयान्त के साथ पूर्वान्वित करते हैं परन्तु सूक्त के मूल मन्त्रों की शृंखला में यह प्रथमान्त 'य औशिजः' शब्द उत्तरान्वयी है अगले मंत्र से अन्वित होता है अर्थात् ब्रह्मणस्पते कक्षीवन्तं सोमानं स्वरणं कृणुहि। य औशिजो योरेवान् यो अमीवहा वसुवित्पुष्टिवर्धनो यस्तुरः स न. सिषक्तु॥ मन्त्रो म 'य' और 'सः' शब्दो की सापेक्षता दिखाना भी 'य औशिजः' के उत्तरान्वय का कारण है। तथा जिस प्रकार उत्तर मन्त्र मे रेवान अमीवहा वसुवित्पुष्टिवर्धनः तुरःशब्द इतिहास की गन्ध से रहित अपितु धर्म वाचक हैं एवं 'औशिजः' भी धर्म वाचक शब्द है। अस्तु।

अब प्रस्तुत मन्त्र को निरुक्तानुसार आधिभौतिक आधिदैविक और आध्यात्मिक इन तीनों दृष्टियों से इस लेख में खोलते है। इससे भली भांति विदित हो जावेगा कि इस मन्त्र मे इतिहास नहीं है अपितु अन्य शिक्षाप्रद मार्मिक बाते है।

आधिभौतिक दृष्टि से—

(ब्रह्मणस्पते) ओ वेद के रक्षक विद्वान् वेदाचार्य! (कक्षीवन्तम्) कक्ष्या घोड़े की रज्जू तत्सदृश इन्द्रियरूप घोड़ो को संयमन करने वाला मन जिसके पास हो वह 'मनः प्रग्रहवान नर' संयतेन्द्रिय ब्रह्मचारी कक्षीवान है। "कक्षीवान कक्ष्यावान्" (निरुक्त ६-१०) 'कक्ष्या रज्जुरश्वस्य" (निरुक्त २—२) "मन. प्रग्रहमेव च। इन्द्रियाणि हयानाहुः" (कठो० ३।३।४) उन संयतेन्द्रिय ब्रह्मचारी को। अथवा। "अपित्वयं मनुष्यकक्ष एवाभिप्रेतः स्यात्" निरुक्त ६।१०)। "कक्ष आचार्यकक्ष सेवते वेदाध्ययनाम स कक्षीवान" वेदाध्ययन के लिये आचार्य के कक्ष में रहने वाला होने से भी ब्रह्मचारी कक्षीवान्

है। तथा 'कक्षा श्रेणिरस्त्यस्मिन् ब्रह्मचारी कक्षावान' कक्षा श्रेणि (class) को कहते हैं एवं कक्षा अर्थात् श्रेणि (class) में पढ़ने वाला होने से ब्रह्मचारी कक्षीवान् है। 'कक्षीवन्तम्' आपके पार्श्व में आपकी श्रेणि में पढ़ने वाले ब्रह्मचारी को (सामानम्) यज्ञों में सोमरस और जीवन में सौम्य गुणों का सम्पादन करने वाला "सोमानं सोमानं सोतारम्" (निरुक्त ६।१०) तथा (स्वरणम्) विद्या प्रकाश वाला 'स्वरण प्रकाशवन्तम्' (निरुक्त ६।१०) (कृणुहि) कर बनादे (य औशिजः) जो कान्ति तेजायुक्त मेधावी आप विद्वान् का विद्यापुत्र। तथा (यो रेवान्) जो ऐश्वर्य वाला बनावा। और (यो अमीवहावसुवित्पुष्टिवर्धनः) जो रोगों पर विजय पाने वाला, पृथिवी आदि आठ वसुओं का वेत्ता भूगोल खगोल विद्या का जानकार, पुष्टिबल का बढ़ाने। अपिच (यस्तुरः) जो शीघ्रकारी प्रमादालस्य रहित कर्मशील भी बन जावे (सः) वह ऐसा ब्रह्मचारी (नः) आपके यहां से पढ़ कर हमको (सिषक्तु) प्राप्त हो।

आधिदैविक दृष्टि से—

कक्षीवान के साथ दो सम्बन्ध विशेषण लगते हैं एक "दीर्घतमः" दूसरा "औशिज" "तास्याभ्यां पञ्चाधिका कक्षीवान् दीर्घतमस उशिकप्रसूत आश्विन वै" (ऋग्वेदीया सर्वानुक्रमणी। ८) एवं "दीर्घतमाः" और "उशिक्" इन दोनों से उत्पन्न हुआ पदार्थ कक्षीवान है। कक्षीवान् का शब्दार्थ भी यही है। कक्ष शब्द सामान्य रूप से सन्धि (मेल जोड़) का अर्थ देता है एवं कक्षीवान भी 'दीर्घतमाः और 'उशिक्' की सन्धि से उत्पन्न होता है। दीर्घतमा और उशिक् क्या है प्रथम इस पर विचार करते हैं।

दीर्घतमा :—दीर्घतमाः उस अन्धकार का नाम है जो आकाश में सर्वत्र फैला हुआ है और जो सूर्योदय से पहिले ही नहीं किन्तु सूर्य के प्रादुर्भूत होने से से पहिले भी था।

उशिक्—उशिक् सौर प्रकाश और 'उशिजः' (बहुवचन) सूर्य रश्मियों को कहते हैं।

इन्द्रः स्वर्षा जनयन्नहानि जिगायोशिग्भिः पृतनाअभिष्टिः। प्रारोचयन्मनवेकेतुमह्नामविन्दज्ज्योतिर्बृहते रणाय॥ (ऋ० ३।३४।४)

अर्थ—(इन्द्र. स्वर्षा अहानि जनयन् उशिग्भिः पृतना जिगाय) आदित्य ने "स्वः—साः" द्यु स्थान में युक्त हो अहर्गणों को उत्पन्न करने के हेतु 'लक्षणहेत्वोः क्रियायाः" (अष्टा० ३।२।१२६) प्रकाशमय किरणों से विधर्मी पदार्थों के साथ वर्तमान सग्रामों को जीता। पुनः (अभिष्टिरह्नां केतुं मनवे प्रारोचयत्) उस अभिभावुक आदित्य ने अहर्गणों के प्रकाश संग्रह को मनु अर्थात् मन्वन्तर बनाने के लिये चमकाया। और (बृहते रणाय ज्योतिरविन्दत्) बड़े रमणकाल अर्थात् कल्पान्त के लिये ज्योति को प्राप्त किया।

इस प्रकार 'उशिज' (उशिक्) सूर्य रश्मियों का नाम है तथा वह समुद्र रूप में सौर प्रकाश बन कर उशिक् नाम से कहा जा सकता है।

कक्षीवान—इस प्रकार 'दीर्घतमा' अर्थात् पूर्व से प्राप्त लम्बे अन्धकार में 'उशिक्–उशिज' अर्थात् सूर्य प्रकाश के सम्बन्ध से दोनों की कक्षा अर्थात् सन्धि में उत्पन्न हुआ उनका भेदक और संयोजक सूत्रवृत (पृथिवी पर प्राप्त प्रकाश और अन्धकार की सन्धि का सूत्रगोल कक्षीवान है।

प्रश्न—आपने इस जगह अहोरात्र वृत्त के मध्यवर्ती सूत्रगोल को कक्षीवान बताया पर महर्षि पाणिनि ने अष्टाध्यायी में "आसन्दीवदष्ठीवच्चक्रीवत्कक्षीवद्रुमण्वच्चर्मण्वती" (अष्टा० ८।२।१२) में संज्ञावाचक बतलाया है अतः यह 'कक्षीवान्' शब्द तो किसी मनुष्य का नाम होना चाहिये।

उत्तर—संज्ञा का अर्थ यह नहीं है कि वह किसी मनुष्य का नाम हो, अपितु किसी वस्तु का नाम ही संज्ञा समझा जाता है जैसे अग्नि, वायु सूर्य आदि नाम इन प्रसिद्ध वस्तुओं की संज्ञाएं ही हैं इन संज्ञाओं का वेद में आजाना कोई आपत्ति जनक

नहीं है एवं 'कक्षीवान्' आदि सूत्रपठित संज्ञाओं का आना भी आपत्ति जनक नहीं हो सकता इसलिये संज्ञा कह देने से किसी मनुष्य का नाम समझना भूल है। वेद की भी इसमें स्वय अन्तःसाक्षी है क्यो कि उक्त सूत्र के केवल दो शब्द ही चारो वेदों में आए हैं एक 'कक्षीवान्' दूसरा 'अष्ठीवान' देखिये वेद में 'अष्ठीवान्' शब्द जानु (घुटने) के ऊपर अस्थिमय (हड्डी वाले) भाग का नाम आया है—

उरुभ्यां ते अष्ठीवद्भ्या पार्ष्णिभ्यां प्रपदाभ्याम् ।
यक्ष्मं श्रोणिभ्या भासद्भ्संसो विवृहामि ते ॥
(ऋ० १०।१६३।४, अथ०)

सूत्र का तात्पर्य यही है कि ये 'कक्षीवान''अष्ठीवान्' आदि शब्द मतुप प्रत्ययान्त है जा सदा विशेषण वाचक ही होते है जैसे 'धनवान-बुद्धिमान, बालक। एव यहाँ 'कक्षीवान, अष्ठीवान' आदि सूत्र पठित शब्द विशेषण वाचक है पर वे किसी वस्तु के नाम समझे जावें। जैसे अग्नि, वायु, सूर्य आदि।

प्रश्न-यह ठीक है पर 'कक्षीवान' तो स्वयं वेदने ही ऋषि बतलाया है। फिर यहाँ कैसे गति होगी ?

उत्तर—मन्त्रो मे आया ऋषि शब्द 'आर्ष' वाद के अनुसार विश्व के भौतिक आदि प्रगतिशील मूल पदार्थों का वाचक है—

त आयजन्त द्रविणं समस्मा ऋषय. पूर्वे जरितारो न भूमा। असूर्तेसूर्तेरजसिनिषिक्ते ये भूतानि समकृण्वन्निमानि ॥ (ऋ० १०।८२।४)
भूतकृत ऋषय. परिविविरे (अथ० ६।१३।३।५)
अग्ने ···भूमिरस्यृपिकृत ॥ (ऋ० १।३१।१६)

(विशेष विवरण तथा विस्तार के लिये देखो हमारी लिखी 'वेद मे इतिहास नहीं' पुस्तक का 'आर्षवाद' प्रकरण) इसी प्रकार 'कक्षीवान्' भी अहोरात्र के मध्यवर्ती प्रगतिशील सूत्रगोल का नाम हो सकता है। इसी भाव का प्रदर्शक निम्न मन्त्र भी है—

अयं स्तुतोराजावन्दिवेधा अपश्चविप्रस्तरति स्वसेतुः। स कक्षीवन्तं रेजयत् सो अग्निं नेमि न चक्रमवर्तो रघुद्रु ॥ (ऋ० १०।६१।१६)

इस मन्त्र में अग्नि अर्थात् सूर्य के ज्वालासमूह या रश्मिसमूह को और उससे सम्बद्ध कक्षीवान् को चक्र और उससे सम्बद्ध नेमि (भूमिस्पर्शी चक्रप्रान्त) के सदृश परिवर्तित करने का वर्णन है। इस प्रकार यह यहाँ का 'कक्षीवान्' हमारा वर्णित अहोरात्र का मध्यवर्ती सूत्रगोल हो सकता है। वह प्रगतिशील भूतनिर्माता है अतः ऋषि है।

कक्षीवान के स्पष्टीकरण के अनन्तर निरुक्त में दिये 'सामान स्वरणं ····' मन्त्र का अर्थ यह होगा कि हे आदित्य !* तू इस स्वप्रकाश और लम्बे अन्धकार की सन्धि मे या पृथिवी पर दिन और रात की सन्धि मे उत्पन्न हुए सूत्रवृत रूप (सूत्र गोल) कक्षीवान को प्रकाशवाला तथा ओषधियो को उत्पन्न करने वाला बना दे। यह सूत्रवृत्त रूप कक्षीवान पृथिवी पर अहोरात्र के साथ साथ परिक्रमण करता रहता है। यही कक्षीवान पृथिवी पर नानाविध ओषधियो तथा प्राणि-सृष्टि की उत्पत्ति का निमित्त है। यह एक पदार्थ विद्या दर्शाई गई है।

आध्यात्मिक दृष्टि से—

दीर्घतमाः—दीर्घतमा. के सम्बन्ध मे निम्न मन्त्र देखिये—

दीर्घतमा मामतेयो जुजुर्वान्दिशमे युगे। अपामर्थं यतीना ब्रह्मा भवति सारथिः॥ (ऋ० १।१५८।६)

अर्थ—(मामतेयो दीर्घतमा दशमे युगे जुजुर्वान्) ममता से उत्पन्न हुआ दीर्घतमा. दशवे युग मे जीर्ण हो जाता है। 'ममेदम् अहमिदम्' यह मेरा है वह मेरा है, मै ऐसा मै वैसा हूँ इस ममतावृत्ति से शरीर में अहङ्कार रूप अन्त.करण उत्पन्न होता है। यह दीर्घकाल तक जीव के चैतन्य स्वरूप को अन्धकार में डाले रखना है अतएव दीर्घतमः है। दसवें युग दस युग अर्थात् दस युगल संख्या है और १० युग (दहाई) संख्या है पुनः यह दस गुणित होकर या दस बार आवृत्ति में आकर दशम युग की संख्या

---

* एषवै ब्रह्मणस्पति यं एष (सूर्यः) तपति (१४।१।२।१५)

१०० बन सकेगी। एवं १०० वर्षों में जाकर यह शरीराभिमानी अहङ्कार युक्त शरीर जीर्ण हो जाता है (ब्रह्मा यतीनामपामर्थ सारथिर्भवति) यह अहङ्कार रूप दीर्घतमाः शरीर मे गमन करने वाले प्राणो के अर्थ सारथि बनता है। "प्राणाः व आपः" (तै० ३।२।५।२) । ब्रह्मा अहङ्कार को कहते हैं। इसके लिये सूर्य सिद्धान्त का प्रमाण है, "सोऽहङ्कारं जगत्सृष्ट्यै ब्रह्माणमसृजत्प्रभुः" (सूर्यसिद्धान्त १२।२०)।

यह मन्त्र में वर्णित अहङ्कार रूप दीर्घतमाः प्राकृतिक जड वस्तु है।

उशिक्—उशिक् के सम्बन्ध मे निम्न मन्त्र देखिये—

उशिक्पावको अरतिः सुमेधा मर्तेष्वग्निरमृतो निधायि। इयर्ति धूममरुषं भरिभ्रदुच्छुक्रेण शोचिषा द्यामिनक्षन ॥ (ऋ० १०।४५।७)

अर्थ—(उशिक्पावकोऽरतिः सुमेधा अमृतोऽग्निर्मर्तेषु निधायि) उशिक् अग्नि चेतन, पवित्र, गतिशील मेधायुत न मरने वाली है और जो मरण धर्मी शरीरों मे निहित है, विराजमान है। वह (शोचिषा शुक्रेण द्यामुदिनक्षन भरिभ्रदरुषंधूममियर्ति) दीप्यमान शुक्र के द्वारा धुरूप ऊर्ध्वाङ्ग मे व्याप्त हो शरीर को धारण करती हुई आगाचमन धूम अर्थात् अपने चैतन्य व्यापार को प्रगट करती है।

कक्षीवान्—इस प्रकार दीर्घतमः अर्थात् अनात्म जड़ रूप शरीराभिमानी अहङ्कार य अन्तः करणरूप कारण शरीर के साथ उशिक् अर्थात् आत्मरूप चेतनाग्नि के सम्बन्ध मे जीव या जीवधारी उत्पन्न हो कर बन्धन आकक्षीवान् कहलाता है इसी आशय का कक्षीवान के सम्बन्ध में निम्न मन्त्र भी देखिये—

अधश्वेतं कलशं गोभिरक्तं कार्ष्मन्ना वाज्यक्रमीत्ससवान्। आहिन्विरे मनसा देवयन्तः कक्षीवते शतहिमाय गोनाम् ॥ (ऋ० ६।७४।८)

अर्थ—(कार्ष्मन् गोभिरक्तं श्वेतं ससवान् वाज्यक्रमीत्) सर्वत्र विलासयत शरीर मे नाड़ियों से व्यक्त हुये श्वेत शुभ्र भूरे रंग के कलश अर्थात् रक्त प्रवेश निकास से कल कल शब्द करने वाले या शरीर कलाओं के आश्रयस्थान हृदय पर शमन करने वाला वाजी अर्थात् जीव आक्रमित हुआ। 'इन्द्रो वै वाजी (ए० ३।१८) "स्वया वाजिस्तन्वं कल्पयस्व स्वयं यजस्व स्वया जुषस्व (यजु० २३।२५ (शतहिमाय काक्षीवते मनसा गोनां देवयन्त आहिन्विरे) उस शतहिम अर्थात् सौ हेमन्त सौ वर्ष जीवित रहने वाले कक्षीवान अर्थात् जीवधारी के लिये उसके मन से संगत हुई 'गोनाम् = गाव.' नाडियां दिव्य धर्म से विद्यमान होकर शरीर को आगे ले चलें। शतहिमाय शतशारदाय इत्यादि शब्द सौ वर्ष के वाचक वेद में आते हैं।

इस प्रकार जीव या जीवधारी शरीर कक्षीवान् है। एवं इसके परिचय के अनन्तर निरुक्त मे दिये हुए 'सोमान स्वरणं ... ' मन्त्र का अर्थ यह हुआ कि ओ ब्रह्माण्ड के स्वामिन् परमेश्वर! यह जो प्राकृतिक अहङ्कार और चेतनात्मा के योग से उत्पन्न हुआ जीव शरीर है इसका बुद्धि आदि से प्रकाशमान तथा अन्नादि ओषधियों क इस ग्रहण करने मे समर्थ बना।

हमारे ऋषि का वेदार्थ

[ले०—श्री प० बिहारीलाल जी शास्त्री]

बाइबिल को देखने से पता चलता है कि यहूदी लोग अपने देवता यहोवा को बैल भेड़ कबूतर आदि पशु पक्षी ही नहीं किन्तु मनुष्य रक्त से भी तृप्त किया करते थे। लाखो गाय बैल भेड़ बकरियों की चरबी जलाना मास भूनना यही यहूदियों की ईश्वर पूजा थी। प्रत्येक शुभाशुभ कर्म मे जीवहिंसा इनका आवश्यक धार्मिक अग रहता था अपनी लड़कियो को भी यहोवा के नाम पर अग्नि मे डाल देते थे। फिर मनुष्य बलि कम होकर दूसरे रूप म चल पडी मनुष्य को मारते नहीं थे किन्तु यहोवा का सेवक बना देते थे। और इन्हें (नाज़ीर) ईश्वर की नज़र (भेंट) किया हुआ कहते थे। योशू की माता मरियम नज़ीर थीं यरूपलम के मन्दिर पर यह चढ़ाई गई थी। मदरास की देवदासी प्रथा के समान ही यह प्रथा है। सम्भव है मद्रासियो ने यहूदियों से सीखी हो। बाइबिल की प्रारम्भिक कथा से यहोवा रक्तप्रिय सिद्ध होता है। आदम के दो बेटोंमे से कैन की अनाज की भेट यहोवा ने स्वीकार न की। और हाबिल की भेड़ की भेंट यहोवा ने स्वीकार की। वास्तव मे यह अरण्यचारी लोग वेद जैसे किसी भी प्रेरित ज्ञान से तो रहित थे। अपनी कल्पना से ही भगवान् और उसके गुण कर्म स्वभाव की कल्पना कर लेते थे। जसे स्वय आमिष प्रिय थे, वैसेही भगवान् को इन्होंने समझ लिया था। जिसप्रकार पशुओं के पहलौटे बच्चो को अपनी सम्पत्ति होने के कारण वे लोग भेंट देते थे उसी प्रकार अपने बच्चों को भी तामस भक्ति के आवेश में यहोवा की भेंट कर डालते थे। इब्राहीम होम की कथा प्रसिद्ध है। यह अपने पुत्र की बलि देने को तैयार होगये थे। जब भारत में वेद का पठन पाठन कम हो गया, आर्यजाति प्रमादवश वेद और उसके प्रचारक ब्राह्मणों से विमुख होगई तब ब्राह्मण भी तप मे लग गये और इन धर्म विमुखों से उपेक्षा करने लगे तब आर्यों का और भी पतन हुआ और वे वृषलत्वगत सत्र ब्राह्मण दर्शनेन च। आखिर फिर इन लोगों का धर्मभावना जागी तो इधर उधर भटकने लगे। श्रीकृष्ण जी का पोता साम्ब यहाँ पर शाक द्वीप (ईरान या मध्य एशिया का काई भाग) सूर्यपूजकों को लाया। यह कथा भविष्यपुराण मे है। इसी प्रकार सम्भव है व्यापार निपुण यहूदियों ने मद्रास में आगमन किया हो और उनके प्रसंग से वेद विमुख आर्यों में आसुरी देव पूजा चली हो और यज्ञो मे पशुबध और मनुष्यबध होने लगा हो। इन्हीं यहूदियो मे से किन्हीने राक्षसी यज्ञों के विधायक ग्रन्थ लिखे होंगे या आर्षग्रन्थों मे ही मिलावट की होगी। मद्रास मे जिस प्रकार राबर्ट दि नोबली ने यीशू वेद के नाम से इञ्जील का प्रचार किया। आगाखानियो ने अवतारवाद का आश्रय लेकर लाखों हिन्दुओं का भ्रष्ट कर डाला इसी प्रकार उसनिमिराच्छन्न काल मे किया होगा। बरना स्वभाव से ही अहिंसाप्रिय आर्यजाति मे हिंसात्मक यज्ञ की भावना नहीं उठ सकती। अन्ततोगत्वा आर्यजाति को फिर भी हिंसाविधायक यज्ञ न रुचे और महात्मा बुद्ध द्वारा आर्यजाति की धार्मिक क्रियाओं से इन बाह्यापतित कुरीतियों का बहिष्कार किया गया। वर्त्तमान मे आर्यजाति के जो लोग पशु बलिदान में विश्वास भी रखते हैं स्वभावत वे भी इसे क्रूर कर्म जरूर मानते हैं। वेदोंमें तो यज्ञों का वह रूप देख नहीं पड़ता जो पुराणों मे बनाया गया है। यजुर्वेद के १८ वें अध्याय मे वाजश्चमे प्रसवश्चमे से लेकर स्व॑ाश्चाअगत्यामृता अभूम प्रजापते प्रजा अभूम वेट स्वाहा तक अनेक पदार्थों के नाम आये हैं और उस यज्ञ द्वारा उन सबके समर्थ होने की प्रार्थना की है।

१७ वें अध्याय में मन्त्र है—

स्वर्यन्तो नापेक्षन्त आद्या॑ रोहन्ति रोदसी।
यज्ञ य विश्वतोधार॑ सुविद्वा॑ सोवितेनिरे।

अर्थ स्पष्ट है कि जो विद्वान् विश्वतोधार यज्ञ का

विस्तार करते हैं वे स्वर्ग को जाते हुये (किसी पदार्थ की) उपेक्षा नहीं करते हैं और जरा मृत्यु को रोकने वाले द्युलोक तक चढ़ जाते हैं। वा जो स्वर्गलोक को जाने वालों की समान सुख की अपेक्षा करते हैं वे द्युलोक पृथिवीलोक आदि सब में जा पहुंचते हैं। अव्याहत गति स्वतन्त्र अर्थात् मुक्त होजाते हैं। इस मन्त्र में यज्ञ का फल वर्णन किया है। ३१ वें अध्याय पुरुष सूक्त में यज्ञ का कई वार वर्णन है मंत्र ६,७,९,१४,१६, मे "यज्ञ" शब्द आया है और भी अनेक स्थानों पर यज्ञ शब्द आता है। सूत्र ग्रन्थों के विश्वासियों ने यज्ञ से केवल अग्नि में आहुतियों देने का तात्पर्य ही "तं यज्ञं वर्हिषिप्रौक्षन्" मे इस यज्ञ को मानसिक मानने पर याज्ञिक लोग बाध्य हुये है। बस जब यज्ञ का केवल हवन ही मान लिया, तब जहाँ कही यज्ञ के साथ पशु आगया तब वहाँ पशु मारकर हवन में डालने की कल्पनायें करली गयी। ऋषि दयानन्द ने यज्ञ शब्द के पाराणिक अर्थ हवन और पूजनीय परमेश्वर धर्मानुष्ठान, धर्मपालन, सत्यधर्म की उन्नति करने रूप उपदेश, सत्य भाषाणादि व्यवहार, सुनियमानुष्ठान, सुख की सिद्धि करने वाला ईश्वर, सब रस और पदार्थों की वृद्धि करने वाला ईश्वर, सब रस और पदार्थों की वृद्धि करने वाला कर्म, प्रसस्त धन प्रापक ईश्वर शम दमादि युक्त योगाभ्यास, संगति करने योग्य व्यवहार पुरुषार्थानुष्ठान, विद्या और ऐश्वर्य की उन्नति करना वायुविद्या का विधान आदि किये है (देखो अध्याय १८)

केवल हवन क्रिया के नही। वैदिक साहित्य देखने से पता चलता है कि जिस प्रकार धर्म शब्द के अर्थ असीम हैं, उसीप्रकार "यज्ञ" शब्दके अर्थ भी बहुत विस्तृत हैं। मध्यकालीन याज्ञिकों ने सकुचित अर्थ लेकर केवल हवन में यज्ञ शब्द को सीमित कर दिया। ब्रह्मयज्ञादि पञ्चयज्ञ ही बताते हैं कि हवन के अतिरिक्त कर्म भी यज्ञ कहाते है। पुरुष सूक्त को देखिये यज्ञ पुरुष विराट् से ही सब की उत्पत्ति दिखाई गई है उसी यज्ञ पुरुष की साध्य और ऋषियों ने हृदयों में पूजा की है।

तं यज्ञं वर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः।
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्चये॥

उसी मे यज्ञ किया है हृदय की वेदी पर विराट् पुरुष से साध्य और ऋषियों ने यज्ञ किया है। यही पुरुष मेध है विराट् पुरुष ईश्वर है जो इस जगत् की रचना रूप में अपने को प्रकाशित कर रहा है विराट जगत् रचना के बाद अधि पुरुष कहलाता है इसी अधि पुरुष ने सब सृष्टि रच दी।

"तत्सृष्ट्वा तदेव प्राविशत्" इस जगत् को रच कर वह इसी में समा गया है। यही सर्व मेध है उसने सब को जीवन देकर पवित्र कर दिया है यही पुरुष मेध है।

परमात्मा इस सब यज्ञ रूप संसार में काम कर रहा है। यही यज्ञ शब्द का अर्थ है। मनुष्य ने भी अपनी व्यष्टि को उस समष्टि में जोडने के लिये व्यष्टि में समष्टि भावना का रस प्रकट करने के लिये यज्ञों का अभिनय प्रारम्भ किया। स्वार्थ त्याग और हित, देव पूजा पदार्थों की संगति करने और दान से ही होती है।

इसलिये लोक हितकारी सब ही काम यज्ञ है। यह यज्ञ संसार में ईश्वर कर रहा है। मनुष्य भी यथाशक्ति उसका अनुकरण करता है।

उपकारक कामों के लिये साधन भी चाहिये और उपयोगी पदार्थ भी मनुष्य यज्ञीय पदार्थों को दो ही तरह प्राप्त कर सकता है भूमि से और पशुओं से ही अन्न फल, फूल, वस्त्र, सोना, चादी रत्नादि तथा ऊन, दूध, घी आदि पदार्थ प्राप्त होते है। यह है परोपकार की सामग्री इसलिये बिना पशुओं के यज्ञ निष्पन्न नहीं हो सकता। अतएव यज्ञ करने वाले को पशु अवश्य बांधने चाहिये। संसार के प्रबन्ध में भी पशुओं की आवश्यकता पडती ही है। मशीनों का इतना प्रचार हो जाने पर भी घोडा अभी व्यर्थ नही हुआ है। पशुओं के अतिरिक्त मनुष्यो की भी आवश्यकता है। अनेक प्रकार के मनुष्यों का सग्रह राष्ट्र संचालनार्थ करना पड़ता है। प्रकृति ने नाना स्वभाव के मनुष्य अनेक प्रकार के पशु पक्षी और कीट पतंग बनाये हैं। संसार में अनेक प्रकार के धातु और रत्न और औषधें हैं। संसार का हितेच्छु को सब का सग्रह करके उनका ठीक उपयोग लोकहित मे करना चाहिये। यही यज्ञों का प्रयोजन है १८ वे अध्याय में बराबर यजुर्वेद ने यही उपदेश दिया है और भौतिक जगत से लेकर आध्यात्मिक जगत् तक मनुष्य को विचार यज्ञ से ही पहुंचा दिया है। आदि सृष्टि जब सूक्ष्म अवस्था मे थी तब पुरुष विराट् को पशु मान देवताओं ने यज्ञ किया। उस समय आध्यात्मिक उपकार ही

यज्ञ था । वह विराट् पुरुष से ही पूरा हो सकता था । जिस प्रकार ब्रह्माण्ड का यज्ञ विराट् पुरुष रूपी पशु से सम्पन्न हुआ जब कि देवताओं ने (अग्नि वायु आदिकों ने) अपने में विराट् पुरुष को बाँध लिया उसकी गति शक्ति अपने में धारण करली तब यह संसार रूपी यज्ञ होने लगा । इसी प्रकार पिण्ड में जब इन्द्रिय देवों ने जीवात्मा रूप पुरुष पशु को आबद्ध कर लिया तब पिण्ड देश में यज्ञ होने लगा । विराट् पुरुष रूप पशु संसार के लिये बलिदान होरहा है । उसका अपना स्वार्थ कुछ भी नहीं है इसी प्रकार जीवात्मा जब स्वात्म त्याग करता है तब विराट से मिल जाता है यही पुरुषमेध है ।

पशु शब्द क्यों आया है यह भी यौगिक शब्द है । पश्यतीति पशुः देखने वाला जीवात्मा और परमात्मा दोनों ही देखने वाले हैं । ज्ञानी हैं (दृश धातु का अर्थ देखना और ज्ञान पाना है) यजुर्वेद के ३० वें अध्याय में ऋषि दयानन्द ने ब्रह्मणे ब्राह्मणं क्षत्राय राजन्यं मरुद्भ्यो वैश्यं तपसे शूद्रं इत्यादि—

इस मन्त्र का यज्ञ के ठीक तात्पर्य को समझ कर कैसा सुन्दर अर्थ किया है देखिये—

(ब्रह्मणे) वेदेश्वरविज्ञानप्रचाराय (ब्राह्मणम्) वेदेश्वरविदम् (क्षत्राय) राज्याय पालनाय वा (राजन्यम्) राजपुत्रम् (मरुद्भ्यः) पश्वादिभ्यः प्रजाभ्यः (वैश्यम्) विक्षु प्रजासु भवम्) (तपसे) सन्तापजन्याय सेवनाय (शूद्रम्) प्रीत्या सेवकम् शुद्धिकरम् ।

अर्थात् वेद ईश्वर के विज्ञान के लिये ब्राह्मण राज्य रक्षार्थ क्षत्रिय कृषि पशुपालनादि के लिये वैश्य और कठिन सेवा के लिये शूद्र को ईश्वर ने रचा और राजा को भी योग्यतानुसार विभाग करके काम लेना चाहिये । और महीधर तथा उव्वट जी ने वही सूत्र ग्रन्थ प्रचारित यज्ञों की धारणा को लेकर इस मन्त्र तथा इस आगे के मन्त्रों में कहे हुये मनुष्यों को यूपों (खम्भों) में बंधवाया है*हाँ इतनी पर की है कि इनको अन्त में छोड़ देने को लिख दिया है । क्योंकि उस समय मनुष्य बलि बन्द होगई होगी । यूपों को बाँधने से भाव तो वहां रहते हैं । यह मन्त्र तो बताते हैं कि राष्ट्रपति अच्छे बुरे अति बुरे सभी प्रकार की प्रवृत्तियों के मनुष्यों को जान कर उनसे ठीक ठीक काम ले । संसार में अमृत और विष दोनों हैं । उनका उपयोग ठीक ठीक करो तो विष अमृत का काम दे और घृतादि अमृत पदार्थ विषवत् हो सकते हैं । इसलिये भगवान ने राष्ट्ररूप यज्ञ के संचालनार्थ [illegible] यज्ञ में मनुष्य ब्रीहयश्च इत्यादि मे अन्न यज्ञ अश्मा च मे इत्यादि में पवन शतञ्च मे इत्यादि में शुभगण । इन सब पदार्थों की जानकारी का उपदेश दिया । और इनकी संगति [illegible] कर अर्थात् गुण कर्म स्वभाव के अनुकूल उनका उपयोग [illegible] यही यज्ञ । अश्वमेध गोमेध पुरुषमेध और सर्वमेध यज्ञों का यही तात्पर्य है कि तत्तत्पदार्थों का उपयोग [illegible] यज्ञ का संकुचित अर्थ लेकर यह [illegible] हुई कि पशु और मनुष्य तक मारकर अग्नि में डाले जाने लगे । और विस्तृत अर्थ लेने से [illegible] का सच्चा आशय नष्ट होने लगा ।

*तत प्रतियूपमेककमेकादशिनं नियुज्य इत्यादि तत सवान् ब्राह्मणादीन् यूपेभ्यो विमुच्य सृजति ।

जगद्गुरु दयानन्द

मेरी राय में स्वामी दयानन्द एक सच्चे जगद्गुरु और सुधारक थे अर्थात वह उन महान पुरुषों में से थे जिन्होंने न केवल मनुष्य जीवन के उद्देश्य का चित्र साफ़ साफ़ देख लिया है बल्कि जिनमें इस कदर सामर्थ्य और प्रेम भी था कि जिससे यह इस योग्य होते हैं कि इस चित्र को बहुत से मनुष्यों को बतला और समझा सकें । ऐसे मनुष्य बहुत हैं जिन्होंने मनुष्यजन्म के उद्देश्य की झलक देख ली है परन्तु ऐसे बहुत कम हैं जिनमें इन सब उत्तम गुणों का समावेश हो ऐसा एक पुरुष दयानन्द था ।

— मिस्टर फौक्स पिट जनरल सेक्रेटरी
मॉरल राजूकेशन लीग लण्डन

व अदालत स्पेशल जज बहादुर दर्जा अव्वल गोरखपुर।

इजलास जनाब पं० रघुनाथप्रसाद त्रिवेदी स्पेशल जज दर्जा अव्वल गोरखपुर।

नम्बर मुकदमा ४२ सन् ३६

ता० पेशी १०—२—३७

बाबू रामाशंकर सिंह वल्द बाबू बद्रीनारायणसिंह सा० कस्बे सार तथा बलीआ परगना मझौलपुर मझौली जिला गोरखपुर साथल

हस्बाल सायलान ने दरख्वास्त दफा ४ ऐक्ट ०२ सन् १९३४ ई० अदालत हाजा में जरिया जनाब साहब कलक्टर बहादुर जिला गोरखपुर गुजरानी है और मिनजानिब अपने बयान तहरीरी हस्ब दफा ८ कानून मजकूर अदालत हाजा मे दाखिल कर दिया है लेहाजा बुमला अशखास को जिनका कोई प्राईवेट कर्जा डिगरी शुदा या गैर डिगरी शुदा मुतअल्लका सायलान की जात व जायदाद के खिलाफ होवे वह अन्दर तीन माह तारीख शाया होने गजट में अपना बयान तहरीरी मिसबल अपने कर्जा के दाखिल करें वरना कोई उजुर बाद में काबिल समाअत न होगा और दरख्वास्त बगैर हाजिरी करजख्वाह एकतरफा समाअत और फैसल होगी।

आज बतारीख २८ माह १० सन १९३६ ई० मेरे दस्तखत और मोहर अदालत से जारी किया गया।

मुहर अदालत

द० कालीप्रसाद मुन्सरिम।

[कर्जा चुकाने के लिये

नमूना नम्बर १९

फार्म इश्तिहारनामा हस्ब दफा ९ ऐक्ट जायदाद हाय मकरूजा संयुक्त प्रान्त।

इस्पेशल जज दर्जा अव्वल आगरा

मुकद्दमा नम्बर २०४ सन् १९३६ ई०

ता० पेशी मुकद्दमा इश्तिहार १ फरवरी १९३७

हरगाह एक दरख्वास्त हस्ब दफा ४ ऐक्ट जायदाद हाय मकरूजा संयुक्त प्रान्त सन १९३४ ई० (ऐक्ट २५ सन् १९३४ ई०), जैसा कि बजरिये ऐक्ट ४ सन १९३५ ई० तर्मीम हुआ है।

जैनदास व धर्मदास वल्द बनवारीलाल वीरेन्द्रकुमार व नरेन्द्रकुमार नाबालिगान वल्द धर्मदास व वली जैनदास खुद कौम वैश्य जैनी सा० करहल जि० मैनपुरी सायलान

बनाम

१—भोलाप्रसाद वल्द सांवले आ० २—ठाकुरदास वल्द मूलचन्द आ० ३—भगवानदास वल्द सांवले आ० ४—भगवतीप्रसाद वल्द ज्वालाप्रसाद आ० सा० शाहपुर प० बाह जि० आगरा।

ने इस गरज से पेश की है कि ऐक्ट जायदाद हाय मकरूजा संयुक्त प्रान्त के अहकाम उस पर लगाये जायें। लिहाजा इस तहरीर की रूसे हस्ब दफा ६ (१) ऐक्ट जायदाद हाय मकरूजा संयुक्त सन १९३४ ई० जैसा कि बजरिये ऐक्ट ४ सन् १९३५ ई० तर्मीम हुआ है, इत्तला दी जाती है कि सब लोग जो सायल मजकूर की जात या जायदाद के खिलाफ हर दो डिग्री किये हुए और बिना डिग्री किये हुए निज के कर्जों के मुताल्लिक दावे रखते हों वे गजट में इस इश्तिहार के छपने की तारीख से तीन मास के भीतर अपने दावों के मुताल्लिक तहरीरी बयानात उस हाकिम के सामने पेश करें जिसके दस्तखत नीचे दिये हुए हैं। और ऐसा न करने पर हर एक दावा डिग्रीशुदा या गैर डिग्रीशुदा खिलाफ सायल मजकूर जुमला अगराज व मौरकाबात के लिये जेर दफा १३ ऐक्ट मजकूर बाजाब्ता बेबाक मुतसव्विर होगा।

C. M. Rogh line मुन्सरिम
स्पेशल जज दर्जा अव्वल जिला आगरा।

मैनेजर मुद्रक तथा प्रकाशक पं० प्रेमशरण प्रणत श्री भगवानदीन आर्यभास्कर प्रेस, आगरा।